CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ORIGIN AND EVOLUTION OF RELIGION

by

E. W. Hopkins

TRANSLATED INTO HINDI

by

Dr. Tulsiram Sharma

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

धर्म का उद्भव और विकास

मूल लेखक

ई० डब्ल्यू० हॉपकिन्स

रूपान्तरकार

डॉ० तुलसीराम शर्मा

अध्यक्ष, संस्कृतविभाग

श्रीगुरुतेगबहादुरखालसाकॉलेज

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

भारतीय विद्या प्रकाशन

दिल्ली वाराणसी

(भारत)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रकाशक :

१. © भारतीय विद्या प्रकाशन,
१, यू० बी०, जवाहर नगर,
बैंग्लो रोड़, दिल्ली-११०००७

२. पोस्ट बॉक्स नं० १०८, कचौड़ी गली,
वाराणसी-२२१००१

प्रथम संस्करण : जुलाई, १९८४

मूल्य : १००.०० (सौ रुपये)

मुद्रक :
रघु कंपोजिंग एजेन्सी द्वारा सूरज प्रिंटिंग प्रेस,
शाहदरा, दिल्ली-११००३२

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

समर्पण

प्यारी बेटी सुपर्णा को
जो भविष्य की आनन्दमयी लहर को
असमय में छिन्न-भिन्न कर न जाने
कहाँ विलीन हो गयी !

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भूमिका

आज विश्व में अनेक धर्म प्रचलित हैं। सभी धर्मों का अपना इतिहास है। धर्म शब्द बहुत व्यापक है तथा इसकी सही-सही परिभाषा करना भी बहुत ही कठिन कार्य है। विभिन्न धर्मों के अनुसार इसकी भिन्न-भिन्न ढंग से परिभाषा की जा सकती है। भारत एक धर्म-प्राण देश है जबकि अनेक पश्चिमी देशों में धर्म का सम्बन्ध प्राचीन रीति-रिवाजों तथा बर्बर व्यक्तियों की दैनन्दिन चर्या से जोड़ा जाता है। कुछ विद्वान् धर्म का सम्बन्ध जादू तथा झाड़-फूंक से भी जोड़ते हैं।

हॉपकिन्स धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में एक प्रतिष्ठित लेखक हुए हैं। बहुत समय पहले उन्होंने विश्व के सभी धर्मों के उद्भव एवं विकास को लेकर एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना अंग्रेजी भाषा में की थी। अंग्रेजी भाषा में लिखित यह ग्रन्थ अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण समझा जाता है तथा इस ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में रूपान्तरण अनेक दृष्टियों से वाँछनीय है। धर्म के क्षेत्र में हॉपकिन्स की दृष्टि काफी पैनी तथा व्यापक है। अपने मूल ग्रन्थ में उन्होंने विश्व के सभी धर्मों की चर्चा की है तथा धर्म से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों को उठाया है। धर्म की उत्पत्ति विषयक अनेक सिद्धान्त, पत्थर, पहाड़ी, वृक्ष, पौधों, सूर्य, मानव, पशुओं, प्राकृतिक संघटना तथा पूर्वजों की पूजा, रूह, आत्मा, यज्ञ, कर्मकाण्ड, धर्माचार्य तथा धर्मस्थल, धर्म एवं देवशास्त्र, धर्म एवं नैतिकता, धर्म एव दर्शन, त्रयी, हिन्दू त्रिमूर्ति, बौद्ध त्रिमूर्ति, ईसाई त्रिमूर्ति तथा धर्म का यथार्थ—ऐसे नानाविध विषय हैं जो इस ग्रन्थ को विशिष्ट महत्त्व प्रदान करते हैं। सर्वप्रथम धर्म सम्बन्धी विभिन्न उत्पत्ति के सिद्धान्तों की चर्चा करने के पश्चात् यह प्रतिपादित किया गया है कि कोई भी सिद्धान्त धर्म के उद्भव का सही-सही ब्यौरा प्रस्तुत करने में सक्षम नहीं है। धर्म का सम्बन्ध मूलतः प्राचीन रीति-रिवाजों से है। धर्म से सम्बन्धित अनेक विषयों के प्रसग में हॉपकिन्स कई प्रकार के अनुशासनों (डीसिप्लिन्स) का प्रयोग करते हैं। इतिहास, समाजशास्त्र, नृतत्त्वशास्त्र, राजनीति, मनोविज्ञान तथा दर्शन जैसे अनेक विषय हैं जो उनके धर्म विषयक अध्ययन के व्यापक क्षितिज के अन्तर्गत आते हैं। स्थान-स्थान पर वे धर्म का अध्ययन इन विभिन्न दृष्टियों से करते हैं। इसका एक भयंकर परिणाम सामने आया है कि

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कभी-कभी उनके विचार इतने जटिल तथा संश्लिष्ट हो जाते हैं कि उनको पृथक्-पृथक् करके उनकी तह तक जाना सम्भव नहीं हो पाता। इसके दो कारण हैं—(१) हॉपकिन्स के विचारों की संश्लिष्टता तथा (२) पाठक की सीमित समझ। यदि उन सभी संश्लिष्ट विचारों को आज के सन्दर्भ में समझने का प्रयत्न किया जाए तो ऐसा लगता है कि हॉपकिन्स की अनेक मान्यताएं अब शिथिल पड़ चुकी हैं। परन्तु इन सब सीमाओं के बावजूद भी उनको निरर्थक मानकर नकारा नहीं जा सकता। इधर आधुनिक शोध के परिणामस्वरूप धर्म के विषय में अनेक नए विचार सामने आए हैं।

हॉपकिन्स ने धर्म के विभिन्न आयामों पर विचार करने के लिए अपने सामने एक व्यापक फलक को रखा है। उनकी मान्यता है कि धर्म का सम्बन्ध मूलतः असभ्य व्यक्तियों के प्राचीन रीति-रिवाजों से है। धर्म के जितने भी उत्पत्ति विषयक सिद्धान्त हैं, वे सभी धर्म की उत्पत्ति को सही प्रकार से बतलाने में असमर्थ हैं। मनुष्य प्राकृतिक जगत् से प्रेरणा प्राप्त करता है तथा सभी प्राकृतिक संघटनाओं से भयभीत भी होता है। इसके परिणामस्वरूप वह प्रकृति के तत्त्वों की पूजा करता है। इस पूजा में टोटम एक महत्त्वपूर्णं भूमिका निभाता है। टोटम एक प्रकार से प्रकृति की विभिन्न शक्तियों का प्रतीक बन जाता है। क्रमशः ये प्राकृतिक शक्तियां ही मनुष्य के लिए देवी-देवताओं का रूप धारण कर लेती हैं। धर्म के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि क्या मनुष्य इन देवी-देवताओं के प्रति प्रेम के कारण श्रद्धानत होता है या भय के कारण उसके मन में इनके प्रति श्रद्धा पैदा होती है। इस प्रश्न के उत्तर में हॉपकिन्स का स्पष्ट कथन है कि मनुष्य के मन में इन देवी-देवताओं के प्रति पहले भय पैदा होता है और बाद में प्रेम पैदा होता है। मनुष्य अपने पितरों को या तो भूत-प्रेत की कोटि में स्थापित कर देता है या उनको देवता-सदृश मानकर उनकी पूजा करता है। मनुष्य उनको श्रद्धा का पात्र मानकर उनका मन-पसन्द भोजन श्राद्ध में प्रदान करता है। हॉपकिन्स का कथन है कि भूत-प्रेत में विश्वास सार्वभौम है। विश्व के सभी धर्मों एवं दार्शनिक पद्धतियों में एक प्रकार का चैतन्य आत्मा में विश्वास पाया जाता है। हॉपकिन्स चैतन्य आत्मा से भिन्न रूह नाम की एक सत्ता को स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त उनकी मान्यता है कि शरीर के प्रत्येक अवयव के एक पृथक् रूह होती है जैसे जिगर की रूह, मन की रूह, आंख की रूह तथा बाल की रूह। इन सभी रूहों से पृथक् एक आत्म तत्त्व भी है। हॉपकिन्स का कहना है कि रूह के समान ही आत्मा सन्देशवाहक के रूप में देवताओं के पास जाती है। मनुष्य के सभी कर्म उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होते हैं और उस रूप में मानसिक होते हैं। उसके कर्म उसकी रूहें होती हैं। क्रियाशील अवयव रूह-स्थान ही होता है। वैदिक विश्वास के अनुसार मरने वाले की आंख सूर्य के पास जाती है। उसका श्वास हवा में मिल

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जाता है। उसकी विचार शक्ति भी उसी प्रकार विकीर्ण हो जाती है। मनुष्य की आत्मा फिर भी नष्ट नहीं होती है। रूह की संख्या तीन चार या तीस भी हो सकती है।

जरथस्ट्री विचारधारा में असभ्य व्यक्तियों के विचारों का प्रतिरूप आधुनिक स्वरूप में उपलब्ध होता है। अच्छाई रूह बुराई को चुनने वाली रूह आत्मा होती है। वह जीवन रहते हुए आरमुज्द या आहरिमन की ओर लड़ती हुई तथा मृत्यु के उपरान्त निर्णय के सेतु को पार करके अपने भाग्य को प्राप्त हो जाती है। परन्तु अनेक आध्यात्मिक अंशों द्वारा इसका निर्माण किया जाता है, पहला श्वास है अन्हु, क्रियाकलाप के शरीर के रूप में आत्मा, दएन या चैतन्य बुद्धि। इसके साथ कभी-कभी दएन की अदला-बदली हो जाती है, इच्छा रूह उरवन और अन्त में मेधा या फ्रावशी, प्राक् रूप श्रेष्ठ प्रकार की रूह। जीवन में किए गए कर्मों के लिए उरवन उत्तरदायी है। फ्रावशी मृत्यु के उपरान्त इसके साथ जाती है और एक वकील के रूप में इसके लिए बोलती है। चैतन्य बुद्धि भी उरवन के साथ जाती है।

यज्ञ विभिन्न प्रकार के भय तथा इच्छाओं के कारण किया जाता है— प्राप्त करना, छुटकारा पाना, सन्तुष्ट करना, संलाप करना एवं प्रायश्चित करना। ऋग्वेद में पूजा करने वाला औपचारिक रूप से अपने देवता का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट करता है कि यज्ञ करने से वह "अपनी बाँहों को फैला रहा है", ग्रहण करने के लिए नहीं अपितु अनुनय करने के लिए और देवता के सामने सीधा लेट जाता है। किसी यज्ञ को इस अर्थ में आदिम नहीं कहा जा सकता कि यह प्रागेतिहासिक आदमी की मानसिक अवस्था को प्रतिबिम्बित करता है। नीग्रो की भेंट को हम "बलि" या "वंचना का यज्ञ" (प्रत्येक बलि एक वंचना है) या "संलाप का प्रयत्न" कह सकते हैं, जिसका तात्पर्य केवल सम्प्रेषण है। एक आदमी, जिसने एक देवता के प्रति अपराध किया है, देवता के पास जाता है और एक दूसरा सन्तोषप्रद वध्य (पशु आदि) देकर अपने जीवन को लेकर बच जाता है। श्रेष्ठ प्रकार के धर्मों में देवता स्वयं वध्य को दे देता है या स्वयं भी वध्य बन जाता है। देवताओं के लिए यज्ञ एक भोज है—यह विचार कहीं भी इतना अधिक व्यक्त नहीं किया गया है परन्तु भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य में इसकी स्पष्ट रूप से पर्याप्त अभिव्यक्ति हुई है।

कर्मकाण्ड भावना एवं विश्वास या दोनों की मिली-जुली तथा घिसी-पिटी अभिव्यक्ति है। कर्मकाण्ड एक ऐसा ढांचा है जो धर्म को सुरक्षित भी रखता है तथा इसको प्रदर्शित भी करता है, परन्तु जिसे यह सुरक्षित रखना चाहता है, यह प्रायः उससे कहीं अधिक समय तक चलता है। कर्मकाण्ड ही मिथ को जन्म देता है। कर्मकाण्ड सामान्यतया जीवन की अवस्थाओं को बहुत गहराई से व्यक्त करता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

परिस्थितियों के अनुसार मूल धर्माचार्य एक आध्यात्मिक सत्ता, एक भविष्य वक्ता (मन्त्रों का गायक जिनका अर्थ जादू है) या एक ऐसा व्यक्ति होता था जिसमें ये सभी कार्य शामिल थे। उसका दूसरा कार्य सुन्दर मौसम का निर्माण करना था। जो धर्माचार्य ऐसा नहीं कर सकता था, उसका विश्वास नहीं किया जाता था। अच्छा धर्माचार्य उसको समझा जाता था जिसका वर्षा करने वाली शक्तियों पर प्रभाव होता था।

मिथ कहानियां होती हैं। वे सच्ची या झूठी हो सकती हैं। क्या मिथ या इसको उदाहृत करने वाला कर्मकाण्ड पुराना है, यह बात वातावरण पर निर्भर करती है। कर्मकाण्ड से एक कहानी बनती है। लोगों के विस्तृत कर्मकाण्ड की उत्पत्ति किसी मिथ के स्रष्टा द्वारा हुई है—इस बात को मानने की सम्भावना प्रबल है या जैसे आस्ट्रेलिया एवं भारतवर्ष में उनका सम्बन्ध पितरों के एक वर्ग से बतलाया गया है। ब्रह्माण्ड विषयक मिथकों का सामान्यत: धर्म पर बहुत थोड़ा ही प्रभाव पड़ता है परन्तु वे सर्वसाधारण मिथ होते हैं और अपने आप कभी-कभी परवर्ती धार्मिक विश्वासों पर छा जाते हैं।

आचार संहिता सामाजिक मेल-जोल का तार्किक परिणाम होती है। वहाँ सामाजिक एवं बौद्धिक स्तर पर बहुत ही कम अन्तर होता है, जैसे-जैसे बौद्धिकता बढ़ती है तथा समाज का घेरा व्यापक होता है तथा आचार संहिता इसी स्तर की ओर मुड़ने लगती है। भारतीय, कॉन्फुशियन, हिब्रू तथा मिस्री नैतिकता की तुलना यह प्रदर्शित करती है कि एक जाति दूसरों की अपेक्षा एक बिन्दु पर अधिक बल देती है।

"सर्वसमन्वित एकता के ज्ञान के प्रति आकांक्षा" की अभिव्यक्ति ही दर्शन है और यह आकांक्षा ही दर्शन में पैदा होती है। तीन की संख्या "पवित्र कैसे बन गयी"—यह काफी समय से ऊहापोह का विषय रहा है। एक आधुनिक सिद्धान्त यह सुझाव देता है कि क्योंकि मनुष्य की अँगुली के तीन पोर हैं, उसकी गिनती का प्रादुर्भाव उसकी अंगुलियों से हुआ है और तीन की संख्या गणना पद्धति का एक आधार बन गयी है। अत: यह पवित्र है।

हिन्दू त्रिमूर्ति बौद्ध त्रिमूर्ति से भिन्न होने के साथ-साथ दोनों ही रूपों में ब्राह्मणवादी है परन्तु वास्तव में इसका प्राचीन रूप पुरोहितीय एवं परम्परावादी होने की अपेक्षा लोकप्रचलित अधिक है। भारतीयों की वास्तविक महत्त्वपूर्ण त्रिमूर्ति, जैसा प्रत्येक त्रिमूर्ति को होना चाहिए, किन्ही ऐतिहासिक, पौराणिक एवं स्थानीय परिस्थितियों पर आधारित नहीं है परन्तु सार्वभौम सत्यों से ही त्रिमूर्ति का निर्माण होता है। ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव—ये तीन देवता इस त्रिमूर्ति के सदस्य हैं। ऐसा देखा गया है कि त्रिमूर्ति के सदस्यों में कोई मौलिक आपसी संबंध नहीं होता है। ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव का आपस में कोई पारिवारिक सम्बन्ध नहीं

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

है। जब सबसे पहले त्रयी का निर्माण हुआ था तो ये देवता भूत, भविष्य एवं वर्तमान को अभिव्यक्त नहीं करते थे। प्रत्येक सदस्य एक के ही एक विशिष्ट पक्ष को अभिव्यक्त करता था परन्तु केवल वह मात्र इसी प्रकार अभिव्यक्त करता था जैसे अन्य सदस्य भी करते थे। इनको आकस्मिक रूप से जोड़ने पर वे एक पक्ष को अभिव्यक्त करते थे। इस वर्ग में कुछ भी दार्शनिक नहीं था। सभी दिव्य पक्षों का यह मात्र एक पौराणिक उदाहरण ही था।

"बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि।"

बौद्ध त्रिमूर्ति का यही सार तत्त्व है। जापानी लेखक निचिरेन महोदय के अनुसार जापानी तत्त्व ज्ञान ही बौद्ध धर्म की आधुनिक अभिव्यक्ति है। ये तीन—शाश्वतता का अधिपति, करुणा की आत्मा एवं गौतम बुद्ध—यह एक त्रिमूर्ति है। पहला जीवन का अधिपति है, एक असीम भव्यता को लिए हुए है—अमिताभ। दूसरा करुणा का अधिपति है। तीसरा शक गौतम है परन्तु ये तीनों एक हैं तथा यह एक तीन हैं। ईसाई त्रिमूर्ति की अन्तिम परम्परागत परिभाषा अधिकांशतः गिरिजाघर की राजनीति का विषय रही है। जीसिस क्राइस्ट में कितना दिव्यत्व है और उसमें कितना मानवत्व है—इन विषयों पर अनन्त वाद-विवाद के बाद उस परिभाषा को प्राप्त किया गया था। जब उनकी दिव्यता का प्रारम्भ हुआ तो क्या वे प्राणी थे, क्या वे एक स्रोत थे या ईश्वर थे या ईश्वर के साथ एक मूर्ति थे, क्या वे पवित्र आत्मा से एकाकार थे और अन्तिम रूप से क्या एक ज्ञान सम्बन्धी पद का उद्देश्य त्रयात्मक सम्बन्धी की परिभाषा देना था या नहीं—यह इन सभी प्रश्नों के सन्दर्भ में तत्त्व ज्ञान की बाल की खाल निकालना ही था। सीधे-सादे ईसायिओं का यही विश्वास था कि जीसिस क्राइस्ट पृथ्वी पर ईश्वर हैं।

इस प्रकार हमारे पास ब्राह्मण, बौद्ध तथा ईसाई त्रिमूर्तियों में भक्त तथा दार्शनिक की दोहरी शृंखला है। यह दोहरी शृंखला है, अर्थात (१) ईश्वर प्रमुख, उत्पादक आत्मा, रूह तथा (२) परम तत्त्व, उत्पादक आत्मा तथा रूह। इस परवर्ती शृंखला में आत्मा ही वास्तव में पितृ-स्रष्टा के रूप में ईश्वर का एक सक्रिय रूप होता है। परन्तु त्रिमूर्ति मौलिक रूप में धार्मिक होती है जबकि पूर्व या पश्चिम में इसका दार्शनिक रूप एक नहीं होता। धार्मिक व्याख्या सर्वत्र एक जैसी ही होती है। दूसरे शब्दों में धार्मिक अभिव्यक्तियों के रूप में तीनों त्रिमूर्तियाँ सम-रूप हैं। प्रत्येक में एक सर्वोच्च प्राणी एवं पितृ-ईश्वर त्रिमूर्ति के प्रमुख रूप में विद्यमान है। दूसरा सदस्य आत्मा है जो मानव बनकर त्रिमूर्ति के तीसरे सदस्य के रूप में जन्म ग्रहण करता है। कोई यह कह सकता है कि मैं देव-प्रमुख के रूप में ईश्वर में विश्वास करता हूँ, मैं दिव्य अवतार में विश्वास करता हूँ और एक ईसाई, वैष्णव या बौद्ध के रूप में सर्जनात्मक पवित्र आत्मा में करता हूँ। तीन

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

त्रिक् एक हैं। धर्म के साम्राज्य में कोई जातीय सीमाएँ नहीं हैं जैसा पॉल ने कहा था, "वह जिसकी तुम अबोध रूप में पूजा करते हो, वह ईश्वर है।"

एक क्षण के लिए पहले हमें इस कथन पर विचार कर लेना चाहिए कि धर्म सार्वभौम है। जब एक मुविज्ञ लेखक ऐसा कहता है तो उसका आशय यह नहीं होता कि सभी असभ्य व्यक्ति ईश्वर तथा अमर आत्मा में विश्वास करते हैं परन्तु इसका आशय यह होता है कि असभ्य व्यक्तियों के "ऊँचे प्राणियों के विषय में कम से कम प्रारम्भिक अवस्था से सम्बन्धित उनके कुछ विचार हैं" (टेलर)। या कोई भी ऐसी जाति नहीं है जो "धर्म के सम्पूर्ण विचार से रहित है" (जेवान्स)।

जीवन जो अब इस रूप में स्थित है, वह अपार्थिव शक्ति, अनन्त ऊर्जा या इच्छा की व्याख्या खोजता है। यह इच्छा ब्रह्माण्ड में कार्यरत है तथा इसका नियमन करती है। जीवन, जिस प्रकार भूतकाल में रहा है, यह प्रकट है कि कोई भी शक्ति सत्ता में क्यों न हो, यह जीवन को एक ऊँचे धरातल के लिए निर्देशित करती है। चैतन्य रूप से एक इच्छा शक्ति से युक्त होकर एक बौद्धिक शक्ति ही ब्रह्माण्ड को नियंत्रित करती है तथा इसके विकास का निर्देशन भी करती है। एक वैज्ञानिक के रूप में लॉर्ड कैलविन का कहना है, "यदि आप अतीव दृढ़ता से विचार करते हैं तो विज्ञान के द्वारा तुमको ईश्वर के विषय में बाध्य कर दिया जाएगा।" यह जानना रुचिकर है कि विज्ञान भौतिकवाद से विलग हो रहा है। यथार्थ एवं आदर्श में अब कोई विरोध नहीं रह गया है। सम्भवतः केवल यथार्थ ही आदर्श होता है।

व्यक्ति का विनाश हो चुका है, शारीरिक कष्ट ही शेष रह गया है परन्तु जाति का विकास ही इसका परिणाम है। हम पाने के लिए खोते हैं। अधिक पाने के लिए बलिदान करते हैं। ईश्वर शून्य के लिए कुछ भी नहीं देता है। शारीरिक एवं नैतिक दोनों ही रूप में जो कुछ भी जाति प्राप्त कर पाती है, व्यक्ति का उसमें हिस्सा होता है। अन्ततोगत्वा धर्मों का इतिहास वैयक्तिक आत्मा की प्रकृति के विषय में हमें बहुत कम ही शिक्षा प्रदान करता है। यह केवल उन नियति सम्बन्धी विचारों को ही बतलाता है जो मानव के विषय में अब तक रहे हैं।

विकास की यह शृंखला मानव आत्मा के अमरत्व की ओर भी संकेत करती है। यहाँ पदार्थ धीरे-धीरे नियन्त्रित करते वाली शक्ति नहीं रह जाता है, जैसे उपनिषदों की भाषा में आत्मा अन्त में अपने आपको पदार्थ से बिल्कुल मुक्त कर लेती है, "जैसे उत्तम कोटि का एक महान् अश्व जमीन में गढी खूँटी से काफी समय तक बँधे रहने के बाद अपने आपको मुक्त कर लेता है, तब संघर्ष करता हुआ तथा बन्धन के नैराश्य से ऊपर उठता हुआ अन्त में इसको (बन्धन को) तोड़ देता है और इस प्रकार सभी बन्धनों से मुक्त होकर उछल जाता है।"

जैसा पहले ही बतलाया जा चुका है, हॉपकिन्स ने सभी धर्मों का अध्ययन

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विभिन्न आयामों की दृष्टि से किया है। मेक्सिको, पेरु, मिस्र, परशिया, बेबिलोनिया, यूनान, आस्ट्रेलिया, अमरीका, अफ्रीका, चीन, जापान तथा भारत जैसे अनेक देश हैं जिनके धर्मों की चर्चा उन्होंने अपने ग्रन्थ में की है। उनके अध्ययन की दृष्टि बड़ी पैनी तथा व्यापक है। इन सभी देशों की अविकसित अवस्थाओं से सम्बन्धित उन देशों के निवासियों के आदिम विश्वासों, रीति-रिवाजों तथा परम्पराओं का अध्ययन उन्होंने धर्म के अन्तर्गत किया है। धर्म का जो रूप आज विश्व में विद्यमान है, उस रूप का सम्बन्ध उनके आदिम विचारों, रीति-रिवाजों तथा परम्पराओं से जोड़ा जा सा सकता है। जिन देशों की ऊपर चर्चा की गयी है, वे सभी धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से सम्पन्न रहे हैं और आज भी सम्पन्न हैं। धर्म के उद्‌भव एवं विकास के अन्तर्गत उन्होंने हरबर्ट स्पेन्सर, जे० जी० फ्रेजर, डरखेम, टेलर, सौसाये, टी० एच० ग्रीन, गिलबर्ट मुरे, सोक्रेटीज, जेवान्स, प्लुटारख, अरिस्टोटल तथा मैक्समूलर आदि अनेक विद्वानों के मतों का उन्होंने यथावसर खण्डन-मण्डन भी किया है। हिब्रू, केल्ट, सेमिटिक, अजेटेक्स, माओरी, ट्यूटौनिक तथा पोलिनेशियाई आदि अनेक जन-जातियां हैं जिनके रीति-रिवाजों, विश्वासों एवं धार्मिक परम्पराओं का विश्लेषण किया गया है। जुडाइज्म, ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म, हिन्दु धर्म, लामावाद, ताओवाद, शामानी धर्म, जरस्थुस्टवाद तथा ईस्लाम जैसे अनेक विश्व धर्म हैं जिनका यहाँ बहुत गहराई से अध्ययन किया गया है।

प्रत्येक अनुवाद की कुछ न कुछ सीमाएँ होती हैं तथा एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करना बहुत कठिन होता है। वास्तव में अनुवाद के रूप में हम भावानुवाद ही करते हैं। अनुवादक को दुधारी तलवार पर चलना होता है। यदि वह भाषा का शब्दकोष आदि का सहारा लेकर मात्र तकनीकी अनुवाद करता है वो मन्तव्य भ्रष्ट हो जाता है और मात्र मन्तव्य पर दृष्टि रखने से असफल अनुवादक कहे जाने का खतरा उसके सामने बना रहता है। इस रूपान्तरण को करते समय मैंने यथामति हॉपकिन्स के संश्लिष्ट विचारों को समझकर उनका अनुवाद करने का प्रयास किया है। इसके बावजूद भी यदि रूपान्तरण में कहीं अस्पष्टता का भाव झलकता हो तो वह हॉपकिन्स के विचारों को सही प्रकार से न समझने के कारण सम्भव हो सकता है। इस रूपान्तरण को करते समय अनेक अवसरों पर पर कठिनाईओं का सामना करना पड़ा, परन्तु धीरे-धीरे अपने आप सही दिशा मिलती चली गयी। रूपान्तरण के बाद ग्रन्थ के अन्त में पाठकों की सुविधा के लिए एक विस्तृत शब्दानुक्रमणिका भी जोड़ दी गयी है।

भारतीय विद्या प्रकाशन के मालिक श्री किशोरचन्द जैन का मैं धन्यवाद प्रदान करता हूँ जिन्होंने कुछ समय पहले हॉपकिन्स के इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रूपान्तरण की योजना मेरे सामने रखी। इसके रूपान्तरण से मुझे व्यक्तिगत रूप से

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

बहुत लाभ हुआ है तथा मेरे मन की धर्म सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियों का निराकरण भी हुआ है। अन्त में मैं रघु कंपोजिंग एजेंसी का धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने अक्षर विन्यास, प्रूफ संशोधन आदि मुद्रण संबन्धी कार्यों में सहायता देकर इस ग्रंथ के शीघ्र प्रकाशन में योगदान किया। इस कार्य में यदि अनवधानवश कुछ मुद्रण सम्बन्धी त्रुटियां रह गयी हों तो विद्वज्जन उन्हें क्षमा करेंगे, ऐसी मेरी पूर्ण आशा है।

१ जुलाई, १९८४ —तुलसीराम शर्मा

ईशा वास्यम्,
२१८, वैशाली पीतमपुरा,
दिल्ली–११००३४

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विषय-सूची

भूमिका	VII—XIV
अध्याय :	पृष्ठ संख्या
१. धर्म का उद्भव : सिद्धान्त	१—१०
२. पत्थरों, पहाड़ियों, वृक्षों एवं पौधों की पूजा	११—२७
३. पशुओं की पूजा	२८—४०
४. तत्त्वों तथा स्वर्गिक घटना की पूजा	४१—५०
५. सूर्य-पूजा	५१—५८
६. मनुष्य की पूजा	५९—६३
७. पूर्वजों की पूजा	६४—७८
८. धार्मिक प्रेरणा	७९—९८
९. रूह	९९—१२५
१०. रूह के रूप में आत्मा	१२६—१३९
११. यज्ञ	१४०—१६७
१२. कर्मकाण्ड	१६८—१९०
१३. धर्माचार्य तथा पूजा स्थल	१९१—२११
१४. धर्म एवं देवशास्त्र	२१२—२२९
१५. धर्म एवं नैतिकता	२३०—२५६
१६. धर्म एवं दर्शन	२५७—२७२
१७. त्रयी	२७३—२८३
१८. हिन्दु त्रिमूर्ति	२८४—२९८
१९. बौद्ध त्रिमूर्ति	२९९—३१३
२०. ईसाई त्रिमूर्ति	३१४—३२७
२१. धर्म का यथार्थ	३२८—३३७
शब्दानुक्रमणिका	३३९—३५२

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अध्याय १

धर्म का उद्भव : सिद्धान्त

प्रत्येक धर्म मानव-विकास की उपज होता है एवं सामाजिक वातावरण से प्रभावित होता है। चूँकि मनुष्य बर्बरता की स्थिति से भी नीचे की स्थिति से विकसित हुआ है एवं एक समय वह केवल बौद्धिक पशु ही था। यह मानना युक्तिसंगत होगा कि उस स्थिति में उसकी धार्मिक चेतना पशु की धार्मिक चेतना के बराबर ही थी। तब इतिहासकार यह प्रश्न करते हैं कि वे कौन से घटक हैं एवं वे कौन से साधन हैं जिनके द्वारा मानवता ने अपने आपको धर्म की सीमा में बन्द कर रखा है, जिनको लगभग सभी स्थानों पर सामाजिक ढाँचे का सुरक्षात्मक विकास समझा गया है।

इस प्रश्न का सबसे साधारण उत्तर यह रहा है कि मनुष्य केवल पशु ही नहीं है, परन्तु पशु से भिन्न भी है एवं इसमें एक अमर आत्मा तथा एक धार्मिक प्रवृत्ति विद्यमान है। इसका तर्क निम्नलिखित है—यह मानकर चलें कि कोई ऐसी जाति नहीं है जिसको बिल्कुल धर्मविहीन बताया जा सके। सार्वभौम होने के कारण हमें इस मानव-विचार के तत्त्व को आवश्यक रूप में ग्रहण करना चाहिए; अत: आवश्यक होने के कारण आत्मा में विश्वास एवं आध्यात्मिक जीवन में विश्वास ये दोनों ही मानव-प्रकृति के एक अंग ही हैं, इस स्वाभाविक धारणा पर आधारित धर्म मनुष्य की धार्मिक प्रवृत्ति की उपज है।

परन्तु इतिहासकार न तो धर्म की सार्वभौमिकता (क्योंकि मनुष्यों के झुण्ड होते हैं जो इस मान्यता को संशययुक्त प्रामाण्य वाला बना देते हैं) को मानते हैं और न ही आत्मा की सत्ता को मानते हैं; क्योंकि इस प्रकार की मान्यता के लिए 'धार्मिक प्रवृत्ति' की भी आवश्यकता नहीं होती है। अत: स्वयं प्रवृत्ति को भी नहीं माना जा सकता है और न ही ऐसी कोई प्रवृत्ति सम्भव है। बच्चों में न तो धार्मिक विचार होते हैं और न ही उनमें धार्मिक संस्कार होते हैं। छान-बीन करने वाला व्यक्तिगत रूप से ईश्वर, आत्मा एवं भविष्यमय जीवन में विश्वास करे या न करे, परन्तु यह दिखलाना ही उसका एकमात्र कार्य होता है कि इसमें तथा धर्म के अन्य खण्डों में कैसे विश्वास जागृत हुआ तथा सभी उपलब्ध तथ्यों

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

को केवल एक सिलसिलेवार क्रम में व्यवस्थित करके ही वह इस कार्य को कर सकता है।

फिर भी यह अनिवार्य है कि इस अध्ययन के लिए अंगीकृत मानव को भूतकाल तथा वर्तमानकाल के सन्दर्भ में समझा नहीं जा सकता और प्रागैतिहासिक मनुष्य की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को भी नहीं समझा जा सकता। इस प्रकार अत्यधिक बाधाओं के कारण इतिहासकार को दो में से एक प्रकार की गलती में पड़ने की सम्भावना रहती है; या तो यह मानने की कि आदिम मानव आजकल प्राचीन रूप से विदित मानव का प्रतिरूप था या यह तर्क देने की कि मनुष्य सर्वप्रथम तर्क-प्राक् था। वह उस समय हमारी आजकल की समझ से बिल्कुल बाहर था। इसके अतिरिक्त जिसे सामान्यतया आदिम कहा जाता है वह प्राय: स्पष्ट रूप में आदिम नहीं है। उदाहरण के लिए नीग्रो या आस्ट्रेलिया लोगों की तुलना में रक्त-धर्म वाले लोग (अमरीकी भारतीय) प्राचीन असभ्य व्यक्तियों से काफी दूर हैं। तब कभी-कभी यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या आपातत: आदिम समूह किसी ऊँची स्थिति से पुनरावर्तित तो नहीं हुआ है।

फिर भी इस खतरे को पहचानने में किञ्चित् सुरक्षा बनी रहती है और धर्म के निम्न रूपों को कला के निम्न रूपों के समान मानने में इतिहासकार सामान्यतया सहीं हैं तथा धर्म के ये रूप तुलनात्मक दृष्टि से आदिम हैं। उसका यह तर्क देना भी सही है कि आजकल असभ्य व्यक्तियों में उपलब्ध होने वाले धर्म के सबसे नीचे वाले रूप सम्भवतया धर्म के उन रूपों को प्रतिबिम्बित करते हैं जो सुदूर प्राचीन युग में विद्यमान थे एवं उन असभ्य व्यक्तियों को ज्ञात भी थे।

धर्म के उद्भव के कारण एवं विकास की व्याख्या करने वाले अनेक सिद्धान्त हैं। कट्टरपन के कारण प्राचीन भारत में ऐसा समझा जाता था कि एक प्रेरित धर्म था और सभी दूसरे धर्म इसके ह्रासोन्मुख स्वरूप ही थे, जबकि ई० पू० छठी शताब्दी में वाममार्गी भारतीय लोग ये कहते थे कि पुरोहितों ने अपने स्वार्थ के लिए सभी धर्मों का आविष्कार किया है। कई शताब्दियों बाद यूरोप में वे ही सिद्धान्त स्वतन्त्र रूप से उठ खड़े हुए। उन सिद्धान्तों तथा अन्य सिद्धान्तों के विषय में इतना कहना ही पर्याप्त है कि वे अपरिपक्व थे परन्तु सम्भवतया वे अपर्याप्त जानकारी पर आधारित सच्चे अनुमान थे। निकट के भूतकाल में व्यापक सर्वेक्षण एवं गहरे ज्ञान पर आधारित नानाविध सिद्धान्त पैदा हो गए हैं। इस समय केवल उन्हीं पर ध्यान देना है क्योंकि वे अगणित सावधानपूर्ण अवधारणाओं पर आश्रित हैं और समर्थ अन्वेषकों की विभिन्न विचारधाराओं द्वारा स्वीकृत भी हैं।

अनेक समाज शास्त्रियों द्वारा अभी तक स्वीकृत पहला सिद्धान्त सर एडवर्ड टेलर और हरबर्ट स्पेन्सर के नामों से सम्बद्ध है। सामान्तया इसे अध्यात्म-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वाद कहा जाता है और यह तथ्यों एवं अनुमानों पर आधारित है। असभ्य व्यक्ति यह विश्वास करता है कि जो सक्रिय है, वह जीवित है और जीवित होने के कारण एक वस्तु, पशु या पार्थिव—इनमें उसी प्रकार की आत्मा विद्यमान है जिसको मनुष्य अपने आप में पहचानता है। अतः वह संसार को आत्मयुक्त वस्तुओं से आबाद मानता है। वह यह भी सोचता है कि जब वह स्वप्न देखता है, उसकी आत्मा सुदूर उन कार्यों को करती है जिनकी कल्पना वह स्वयं स्वप्न में रहते हुए करता है। अतः उसको अपने शरीर में स्वतन्त्र एक आत्मा का भाव प्राप्त होता है और वह दूसरे पुरुषों, पशुओं एवं वस्तुओं को एक अपने जैसी आत्मा तथा आध्यात्मिक शक्ति से युक्त मानता है। फिर, जब वह स्वप्न में मृत पुरुष को आपाततः अभी तक सक्रिय देखता है, वह यह अनुमान लगाता है कि मृत व्यक्ति की आत्मा अभी तक जीवित है और वह स्वयं मृत होने पर भी जिन्दा रहेगा तथा उसके पशु एवं शस्त्र भी इसी प्रकार जिन्दा रहेंगे। क्योंकि अभी तक जिन्दा रहने वाली आत्माएँ द्वेषपूर्ण हो सकती हैं, असभ्य व्यक्ति इन सम्भाव्य शत्रुओं को प्रसन्न करता है; अतः वह प्रेतों को आहुतियाँ प्रदान करता है। प्रेतात्माएँ धीरे-धीरे और अधिक अतिमानवीय शक्ति से युक्त होती जाती हैं और फिर देवताओं के रूप में श्रद्धास्पद बन जाती हैं।

इस सिद्धान्त में मुख्य आपत्तियां हैं—(१) अधिकांश प्राचीन असभ्य व्यक्तियों के पास शरीर से भिन्न आत्मा का कोई विचार नहीं है, जैसा यहाँ विवक्षित है; (२) यह तर्क प्राकृतिक जगत् की सीधी उपासना के संशयहीन विषयों की सन्तोषजनक रूप में व्याख्या नहीं कर सकता है; (३) यदि यह सिद्धान्त सही होता तो प्रेतों का एक सार्वभौम सम्प्रदाय होता, जो किसी की तरह से ऐसा नहीं है।

दूसरा प्रकृतिवाद का सिद्धान्त है, जिसके साथ सामान्यतया मैक्समूलर का नाम जुड़ा हुआ है, परन्तु दूसरे अन्य जर्मन विद्वान भी इसे व्यापक रूप से मानते हैं—अंग्रेजी अध्यात्मवाद की तुलना में इसे जर्मन सिद्धान्त भी कहा जा सकता है। झरना, झंझावात् या एक भव्य वृक्ष जैसे प्राकृतिक एवं शक्तिशाली वस्तुओं के प्रति असभ्य व्यक्तियों का भय एवं पूजा का जो रवैया है, यह सिद्धान्त उनके उस रवैये पर आधारित है। वे इन सभी को जीवन से युक्त मानते हैं, इनको प्रकृति का मानवीकृत रूप मानते हैं। वे उसी प्रकार श्रद्धास्पद मानवीय जगत, राजाओं एवं मायावी की पूजा करते हैं और वे कल्पित राजाओं एवं मायावी लोगों के माध्यम से प्राकृतिक जगत् के देवताओं के रूप में आकाश को आबाद मानते हैं, एवं उनके अनुजीवी उसी प्रकार पृथ्वी पर विद्यमान हैं। मनुष्य नैसर्गिक रूप से सूर्य को एक महान् व्यक्तित्व समझता है और चन्द्रमा एवं तारों को बच्चों के रूप में समझता है या इनको गडरिया और भेड़ समझता है। मनुष्य

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रकृति की सभी वस्तुओं का मानवीकरण करता है, जो भी भयावह है वह उसकी पूजा करता है।

इस सिद्धान्त में ये मुख्य आपत्तियाँ हैं कि यह मानवीकरण के प्रति असभ्य व्यक्ति के अत्यधिक प्रखर रवैये को स्वीकार करता है और यह अध्यात्मवाद की बिल्कुल ही उपेक्षा करता है या यह मानता है कि आत्माओं में विश्वास गौण या नगण्य है; यहाँ प्राकृतिक जगत् के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण को पूरे धर्म का आधार बनाया गया है। मैक्समूलर ने परवर्ती पीढ़ियों द्वारा मिथकों को न समझने वाले कुछ उद्धरण दिए हैं। इसके कारण निराशाजनक धार्मिक विचार पैदा हो गए हैं। इसको मैक्समूलर ने ऐसा सिद्धान्त बताया है कि भाषा की बीमारी के कारण धर्म का प्रादुर्भाव हुआ है; परन्तु यह गलत है; क्योंकि इस सिद्धान्त में भाषा का प्रश्न अनिवार्य नहीं है।

"धर्म जादू का बच्चा है"—यह सिद्धान्त जे० जी० फ्रेजर द्वारा प्रतिपादित किया गया है, इस नियम को इस मान्यता के साथ समझाया गया है कि मनुष्य सबसे पहले प्रकृति को मायावी साधनों से नियन्त्रित करने का प्रयास करता है और इसको असम्भव पाने पर अभ्यर्थना की शरण लेता है, यह जादू से भिन्न रूप में धर्म का प्रमाण-चिह्न है। परन्तु यह धर्म के सिद्धान्तों की कोई व्याख्या नहीं है; क्योंकि जादू स्वयं अधिकांश रूप में धार्मिक ही है। वास्तव में डरखेम द्वारा उठाई गई आपत्ति के विषय में बहुत कुछ कहना है; धर्म जादू का बच्चा है, इसकी अपेक्षा बल्कि यह कहना चाहिए कि जादू धर्म का बच्चा है।

डरखेम के अपने सिद्धान्त का, जो सामान्यतया फ्रेन्च सिद्धान्त है, अपना कोई औपचारिक अभिधान नहीं है परन्तु इसे समष्टिवाद कहा जा सकता है, हालांकि मायावाद ही इसके लिए सही नाम होगा। यह टोटमवाद को धर्म के सबसे प्राचीन रूप में मानता है। यह आनुषंगिक रूप में यह भी स्वीकार करता है कि टोटम-अभिधान किसी पास में रहने वाले सुलभ पशु से आया है और वर्जित या पवित्र एवं साधारण के भेद के आधार पर पूरी धार्मिक सामग्री का निर्माण करता है। वर्जित वस्तुओं के विषय में एक मानव-समूह का सामूहिक प्रतिनिधित्व ही धार्मिक विश्वास है; और शक्ति या टोटम-शक्ति के प्रति वह विश्वास नैतिक शक्ति के रूप में कार्य करता है। टोटम एक वर्ग तथा टोटम सम्बन्धी शक्ति का भी प्रतीक है, यह एक ऐसी शक्ति है जो समुदाय का देवता बन जाती है। चूंकि यह समाज तथा देवता का तुरन्त प्रतीक बन जाता है; अतः देवता और समाज में तादात्म्य होना चाहिए। वास्तव में यह देवता ही कबीले के रूप में मानवीकृत हो जाता है। क्योंकि टोटम से उद्भूत सभी धर्म उन्हीं स्थितियों से गुजरते हैं, इसका तात्पर्य यह है कि देवता और समाज एक रूप हो जाते हैं। सभी धार्मिक संस्कार उत्पत्ति के समय सामाजिक ही होते हैं और पवित्र वस्तुओं के प्रति आचरण के

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नियमों का प्रदर्शन करते हैं। पवित्र वस्तुओं के समूह के प्रति एक सामूहिक प्रतिनिधित्व ही पवित्र वस्तुओं के एक स्वीकृत संसार को जन्म देता है और यही अद्वितीय शक्तियों को पैदा करता है। चूंकि मुख्य रूप से सामूहिक प्रतिनिधित्व सामाजिक उल्लास से उत्पन्न होता है; इसका तात्पर्य है कि धर्म मानसिक आलोड़न से पैदा होता है। एतदनुसार यह मात्र विचार या भ्रम है परन्तु क्योंकि इसके कुछ प्रभाव होते हैं तो कहा जा सकता है कि इसमें भी वास्तविकता है।

इस सिद्धान्त को इतने प्रचुर ब्योरे एवं ऐसे उत्साह के साथ प्रतिपादित किया गया है कि इसने कई परधर्मावलम्बी व्यक्तियों को पहले ही जीत लिया है और जिन्होंने धर्म त्याग नहीं किया है उन पर इसने एक गहरी छाप छोड़ी है। इसके विरोध में एक बहुत वजनदार आपत्ति यह है कि यह टोटमवाद को धर्म के सभी स्वरूपों को ऐतिहासिक आधार के रूप में स्वीकार करता है; शक्ति एवं प्रतीक के बिना टोटम समाज के सामूहिक प्रतिनिधित्व का एक आध्यात्मिक शक्ति के रूप में कोई प्रारम्भिक बिन्दु ही नहीं हो सकता है।

परन्तु इस सिद्धान्त को अन्तिम रूप से जड़ से उखाड़ने वाली मूलभूत आपत्ति यह है कि यह बिना कारण ही मनुष्य को वर्ग के सामने उपेक्षित करता है या उसको कम कर देता है। यह कर्मकाण्ड एवं नैतिक आचरण के विषय में सही है कि वे सामान्यतया एक वर्ग की उत्पत्ति होते हैं—इसी बात को यहां आदिम विचार तथा भाव में परिवर्तित कर दिया गया है। अब यह बिल्कुल सही है कि काफी हद तक वातावरण ही धार्मिक मूल्यों का निर्धारण करता है, उन मूल्यों का पूरे तौर पर वर्ग पर असर पड़ता है और व्यक्ति भी उसी में सम्मिलित है। भारतवर्ष में गाय पवित्र है और टोडा-जाति में एक भैंस का सम्प्रयाय है; दोनों ही पशु भोजन के स्रोत के रूप में अतीव महत्त्वपूर्ण हैं। आस्ट्रेलिया के लोगों की खाद्य सामग्री का अधिकांश भाग इन पशुओं से प्राप्त होता है जिनको वहाँ के निवासी मारते हैं, और वे कल्पना करते हैं कि इनके मूलरूप ही उनके पूर्वज रहे होंगे। आस्ट्रेलिया के एक कबीले के अधिकांश धार्मिक या जादूई क्रिया-कलाप का सम्बन्ध इनके संरक्षण एवं प्रचार से है। परन्तु जैसा कि प्रोफ़ेसर किंग ने उल्लेख किया है कि अफ्रीका में जहाँ बिना प्रयत्न के ही भोजन सुलभ है, शिकार का कोई धार्मिक महत्त्व नहीं है। इस प्रकार एक कबीले के सामूहिक—सामाजिक क्रिया-कलाप पर वातावरण का प्रभाव पड़ता है और कोई भी जादूई या धार्मिक व्यवस्था मूलत: इसके आर्थिक एवं सामाजिक जीवन से उत्पन्न होती है। जहां तक यह कहना बिल्कुल ठीक है कि समाज (मानव-समूह) का धर्म पर प्रभाव पड़ता है और उदाहरण के लिए यह संकेत करना सरल कार्य है कि हीब्रु जाति के विशाल धार्मिक अनुष्ठान, राजनयिक दावतें एवं उत्सव अब भी प्राचीन आर्थिक स्थिति को ही बतलाते हैं। मौसम के पहले फल एवं फसल के बिना ऐसी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कोई भी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है; अँगूर आने के पुराने मौसम को आज भी एक धार्मिक उत्सव के रूप में मनाया जाता है।

फिर भी, सामाजिक अर्थव्यवस्था से प्रभावित धर्म एक व्यवस्था के रूप में एवं मन की व्यक्तिनिष्ठ धार्मिक अवस्था में एक अन्तर है। यह सिद्धान्त इसकी उपेक्षा नहीं करता है अपितु यह मानकर प्रतिरोध करता है कि मनुष्य का मन सम्पूर्ण रूप से उसके सामाजिक वातावरण की उपज है। परन्तु जब यह दर्शाया जाता है कि राजकीय धर्म आर्थिक जीवन का केवल एक अंग ही है; किसी भी तरह इसका यह तात्पर्य नहीं है कि व्यक्ति के धार्मिक विचार एवं भावना वर्ग की मनोदशा के मात्र प्रतिबिम्ब होते हैं। निस्सन्देह यह सही है किसी एक व्यक्ति की मानसिक दशा कमोबेश अन्य लोगों के मेलजोल से प्रभावित उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की ही उपज होती है। जो वर्ग खोजता है वही व्यक्ति खोजता है; इसका उद्देश्य वही होता है; इसकी रूचियाँ और अभिरूचियाँ वही होती हैं। अन्यथा वह शीघ्र ही हठात् वर्ग से बिछुड़ जाता है।[1] एकरूपता वर्ग का बन्धन है एवं व्यक्तिगत मन वर्ग के मन को प्रतिबिम्बित करता है। फिर भी वर्गिक जोर-जबरदस्ती व्यक्ति का बिल्कुल गला नहीं घोंट सकती है, न ही व्यक्ति की धार्मिक भावना पूर्ण रूप से वर्ग पर आश्रित होती है, इसकी अपेक्षा कहीं अधिक अचानक भयाकान्त हुए असभ्य व्यक्ति का भय भी वर्ग-प्रभाव की उपज ही होता है। न तो सामाजिक और न ही आर्थिक स्थितियाँ उनके रवैये को निर्धारित करती हैं, और इसका प्रमाण यह तथ्य है कि भय या आशा को अभिव्यक्त करने वाला उसका रवैया सार्वभौमिक रूप से असभ्य जीवन में उपलब्ध होता है, आर्थिक या सामाजिक वातावरण चाहे जो भी हो। अस्वीकृति, एक रूढ़िवादी धार्मिक रवैया—ये सभी चीजें वस्तु या घटना की उपस्थिति में अधिकांश असभ्य व्यक्तियों में समान रूप से पायी जाती हैं।

अतः जब यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि धार्मिक विचार सामान्यतया एक मनुष्य की बसती तथा वर्ग को प्रतिबिम्बित करते हैं, यह कल्पना करना बड़ी भारी गलती है कि जिस बसती या वर्ग में वह पैदा होता है वह उसके मन की धार्मिक स्थिति को उत्पन्न करते हैं। फ्रेन्च सिद्धान्त इस बात पर बल देने में संकोच नहीं करता है कि मनुष्य एक व्यक्ति के रूप में बिल्कुल सोचता ही नहीं है; व्यक्तिगत मनोदशा जैसी कोई वस्तु नहीं होती है एवं परिणाम स्वरूप सभी धार्मिक विचार सामाजिक होते हैं। परन्तु यह केवल विशुद्ध मान्यता ही है कि

---

१. यह पशुओं एवं पुरुषों दोनों के विषय में सही है, व्यक्ति की विषमता या असमानता उसको नैसर्गिक आपत्ति के कारण वर्ग से बहिष्कृत करवा देती है, जो इसके स्थायित्व के लिए विपरीत होती है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वर्ग का मन इतना जबरदस्त रूप से दबाऊ होता है कि व्यक्तिगत मन इसके पूर्णतया अधीनस्थ बन जाता है। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि सामाजिक वातावरण का धार्मिक चेतना पर प्रभाव पड़ता है। कमोवेश डरखेम के साथ काम आने वाले फ्रेन्च विद्वान तथा अधिकांश रूप में उससे प्रेरित होते हुए कहते हैं कि "पूरी धार्मिक चेतना सामाजिक वातावरण की उपज है।" सामूहिक चेतना के अंग के अतिरिक्त वे व्यक्ति को विचार के लिए अक्षम एवं अकेला कोशाणु मात्र मानते हैं। वर्ग पूरी तरह इकाई के रूप में सोचता है, जैसे भीड़ एक इकाई के रूप में कामना करती है। भीड़ की मनोदशा भीड़ की भावना के समान ही शक्तिशाली होती है। व्यक्ति के केवल अपने विचार ही नहीं होते हैं, वह कोई विचार को जन्म देने में असमर्थ भी होता है।[२]

"धर्म सामाजिक संमिश्रण की उपज है", इस निष्कर्ष सम्बन्धी एक भिन्न विचारधारा कुछ लेखकों में पाई जाती है। वे धार्मिक तथ्यों को वास्तव में बहुत कम करके उनका अधार्मिक रूप में अनुमान लगाते हैं। अतः यह तर्क दिया जाता है कि जब एक असभ्य व्यक्ति एक खतरनाक वस्तु से प्रार्थना करता है; वास्तव में यह धार्मिक कृत्य नहीं है परन्तु यह केवल "धर्म के प्रति एक बीच-बचाव वाला पहला कदम होता है", "जब हम नंगे तार को सावधानी से छूते हैं", हम तब भी इसी कदम को उठाते हैं। यह कुछ बढ़िया उदाहरण नहीं है; क्योंकि हम तार को प्रसन्न करने के विषय में नहीं सोचते हैं। उसी प्रकार यद्यपि यह स्वीकार किया जाता है कि ह्यूरो जाति के लोग तम्बाकु या वसा की बलि "कुछ देवता या देवताओं के लिए अपना आदरभाव प्रकट करते हुए दिया करते थे। इन कृत्यों को धार्मिक नहीं कहा जा सकता है और ये मुश्किल से केवल व्यवहारिक उपायों से ज्यादा कुछ भी नहीं हैं।"[3] परन्तु यदि देवता के प्रति बलि देने का कृत्य धार्मिक कृत्य नहीं है तो यह क्या है? इस प्रकार की बलि देना यह मानना है कि वह वस्तु या शक्ति जिसे बलि दी जाती है, उसमें सहायता करने या हानि पहुँचाने का संकल्प है और उसे सन्तुष्ट किया जाना चाहिए। निश्चित रूप से यह वह रवैया है जो सामान्यतया अधिकांश धार्मिक संगठनों में पूजा करने वाले लोग ग्रहण करते हैं।

फिर, यद्यपि डरखेम के सिद्धान्त में सामूहिक प्रभाव को काफी बढ़ा-चढ़ाकर बतलाया गया है एवं धर्म तथा धर्म के प्रति "पहले कदम का अन्तर" अप्रत्यक्ष

---

२. इस सिद्धान्त की आलोचना के लिए देखिए क्लीमेण्ट सी० जे० वेब, ग्रुप थिएरीज ऑफ रीलिजन् एण्ड दी इण्डीविजुअल् लंदन, १६१६

३. इरविंग किंग : दी डेवेलपमेण्ट ऑफ रीलिजन्, न्यूयार्क, १६१०, पृ० ६५, ८१, ८२

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

है। यह सारगर्भित तथ्य है कि धर्म सामाजिक क्रिया-कलाप का एक जैविक अंग है। यह विचार कि धार्मिक चेतना सामाजिक उल्लास एवं मदहोशी से पैदा होती है, जिसमें मनुष्य पहली बार अपने आपको अमानव समझने लगता है एवं सामान्य दुनिया से भिन्न एक दूसरी दुनिया की कल्पना करता है (क्योंकि डरखेम के सिद्धान्त का यही सार है) इन तथ्यों से पुष्ट नहीं होता है; तथा यह बिल्कुल नया भी नहीं है; क्योंकि इससे पहले ग्रुपे का एक अद्वितीय सिद्धान्त था कि धर्म का प्रारम्भ तब हुआ जब सीरिया के कुछ लोग शराब के नशे में मदहोश हो गए तथा मदहोशी में अपने आपको दैविक समझने लगे। वर्ग के प्रभाव को भी काफी समय से स्वीकार किया गया है; परन्तु फिर भी यह स्मरण करना उचित होगा कि जिसे धर्म कहा जाता है उसका अधिकांश भाग दृढ़ रूप में सामाजिक ही है। नियम कैसे धार्मिक मूल्य एवं मान्यता ग्रहण करते हैं? उदाहरण के लिए भारतवर्ष को लें, वहाँ आचरण को प्रेरित समझा गया है। क्योंकि सभी नियम मूलत: रीति-रिवाज ही होते हैं, वे वर्ग के द्वारा स्वीकार की गई अस्थायी व्यवस्था ही होते हैं, और यह हमें फिर अतीव पुराने जमाने में वापिस ले जाता है जहाँ वह पूर्व उदाहरण की सत्ता से धार्मिक स्वरूप प्राप्त करता है, वहाँ पितरों के रीति-रिवाजों का उलंघन करना पाप समझा जाता है, वे पितर याददास्त के रूप में वर्ग के सदस्य के रूप में आप भी सत्तावान बने रहते हैं। ऐसे विषयों में जहाँ प्रमाण का अभाव होता है, आजकल जो पाप कहलाता है, वह ही कबीले की सामूहिक चेतना पर चोट पहुँचाता है। भारतवर्ष में प्राचीन स्मृतिकारों ने यह घोषणा की थी कि अमुक-अमुक कार्य पाप युक्त हैं क्योंकि वे प्राचीन रीति-रिवाजों को तोड़ते हैं। इस प्रकार उन्होंने कुछ कृत्यों को "उत्तर में पापयुक्त" कहकर उनमें भेद कर दिया था, वे कृत्य "दक्षिण में पापयुक्त" नहीं माने गए और जो उपर्युक्त पापयुक्त कर्म नहीं (स्थानीय) करेंगे उनको शाश्वत शान्ति मिलेगी। फिर वे जब इससे भी सन्तुष्ट नहीं हुए तो यथासम्भव उन्होंने देवताओं का उदाहरण प्रस्तुत किया, जैसा कि आख्यान से विदित है, उनके नियम मनवाने के उदाहरण प्रस्तुत किए। उन्होंने प्राचीन प्रामाण्य के ऊपर एक दिव्य उदाहरण के रूप में पर्याप्त बल देकर हमेशा ही यह कहा "प्राचीन देवता ऐसा किया करते थे।" जैसा कि वातावरण से देखा जा सकता है कि इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि नियम यह है "क्योंकि प्राचीन देवताओं ने ऐसा किया" या "क्योंकि प्राचीन ऋषियों ने ऐसा किया"। दोनों ही सन्दर्भों में धार्मिक उद्देश्य एक जैसा ही था; पाप समुचित रूप से स्थापित रीति-रिवाज का व्यतिक्रम ही था। इसलिए पहले धार्मिक एवं राजकीय कार्यों में अन्तर नहीं किया जाता था और जैसे प्राचीन युग की सभ्य जातियों एवं असभ्य जातियों में राजा की भावना तथा धार्मिक नेतृत्व की भावना एक दूसरे में घुल-मिल गए थे, वे वैसे ही आजकल भी घुल-मिल गए हैं। इसी कारण से ही आदिम

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

समाज में नैतिकता एवं नियम दोनों मिलकर एक सम्पूर्ण इकाई बनाते हैं और यह सम्पूर्ण इकाई ही धर्म है। इस प्रकार कोई भी केवल धार्मिक नैतिकता एवं धार्मिक नियम या संश्लिष्ट धार्मिक नैतिक नियमों की ही चर्चा कर सकता है। इसलिए कर्मकाण्ड एवं अनुष्ठान मूलत: सामाजिक या आर्थिक या दोनों ही धार्मिक बन जाते हैं तथा उनके भागीदार व्यक्ति को सामाजिक रूप से धार्मिक कहा जा सकता है। नृत्य जैसा मनोरंजन, मुखावृत्त नर्तकों द्वारा फसल के अवसर पर नाटकीय अभिनय के रूप में किए गए आर्थिक उत्सव जैसे धार्मिक अनुष्ठान—ये मूलत: सामाजिक उत्सव ही हैं जिन्होंने धार्मिक महत्त्व प्राप्त कर लिया है।

पशु के समान अपने मुँह को ढकने वाला यह साधारण रिवाज इस प्रश्न को विचारार्थ प्रस्तुत करता है कि क्या इस प्रकार के आदिम जादू में पात्र के सन्दर्भ में सभ्य व्यक्ति की अपेक्षा एक भिन्न प्रकार की मनोदशा पाई जाती है। पूर्वोक्त फ्रेन्च विद्वानों द्वारा यह तर्क दिया गया है कि आदिम मानव वास्तव में हमसे इतना भिन्न था कि वह आज दुर्बोध है। उसका मन तर्क-प्राक् था जिसका आशय यह मालूम पड़ता है कि वह रहस्यवादी था। उदाहरण के लिए उसका यह विश्वास था कि वह मनुष्य एवं पशु दोनों ही था और शत्रु के नाम को जानने के बाद उसका दुरुपयोग करके या एक आकृति को चोट पहुँचाने से वह शत्रु को चोट पहुँचा सकता था। परन्तु एक साथ मनुष्य एवं भेड़िया होने का यह तर्क एक पूर्व धारणा रखता है कि असभ्य व्यक्ति को भेड़िये से भिन्न मनुष्य का एक स्पष्ट भान है; अन्यथा यह विश्वास करना असंगत नहीं होगा कि एक मनुष्य भी भेड़िया हो सकता है। अत: एक हिन्दु पुरोहित यज्ञ के समय अमानव बन जाता है एवं यज्ञ की समाप्ति पर वह औपचारिक रूप से फिर "मानव बन जाता है।" अत: शत्रु को नुकसान पहुँचाने की दृष्टि से एक आकृति को तोड़ना या एक नाम से काम चला लेना जैसे कि इससे नाम के मालिक पर असर पड़ेगा—ये असंगत कार्य नहीं हैं, जब कोई यह विश्वास करता है कि आकृति और नाम व्यक्तित्व के अंग हैं। असभ्य व्यक्तियों की तर्क-प्राक् मनोदशा को सिद्ध करने के लिए इनको तथा अन्य प्रसंगों को उद्धृत किया गया है; ये प्रसंग उन लोगों में भी पाए जाते हैं जिनके विषय में तर्कयुक्त मनोदशा को नकारना असम्भव होगा। कुल मिलाकर कोई यह कह सकता है कि असभ्य व्यक्ति उसको सही रूप में स्वीकार कर लेता है जिसको सिद्ध नहीं किया गया है। परन्तु वह न तो सिद्ध या असिद्ध करने का प्रयत्न करता है; जो वह विश्वास करता है, उसके कार्य तर्कपूर्ण रूप से उसका अनुगमन करते हैं। जैसा हम जानते हैं, असभ्य व्यक्ति किसी भी प्रकार से असंगत नहीं होते हैं। अत: इस सिद्धान्त से निकाले गए निष्कर्ष में कोई दम नहीं है कि तर्कातीत सामूहिक प्रतिनिधित्व को तर्कशून्य होना चाहिए तथा इसीलिए ही इस पर आधारित सम्पूर्ण धर्म मायावी होता है। इस सिद्धान्त में पूरे रहस्यवाद के बारे में आज यह

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

समझा जाता है कि यह तर्कातीत अवस्था से उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ है। इसके उपरान्त डरखेम भी धर्म को इस आधार पर एक प्रकार की वास्तविकता प्रदान करते हैं कि भ्रम पर आधारित कोई भी मानव संस्था टिक नहीं सकती थी, यद्यपि जो टिक पाता है वह वास्तव में सामाजिक क्रिया-कलाप की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सामूहिक प्रतिनिधित्व मूलभूत रूप में मिथ्या नहीं होता है। यद्यपि वह तर्क-प्राक् मनोदशा पर आधारित होता है, क्योंकि वे कुछ ऐसी अभिव्यक्ति करते हैं जो कभी विद्यमान थी अर्थात् समूह का क्रिया-कलाप तथा यथार्थ, इसी यथार्थ को हम धार्मिक कहते हैं।[४]

सबसे नीचे की मनोदशा में जो वास्तव में उपलब्ध होता है वह तर्क का अभाव नहीं है परन्तु मन एवं शरीर में भेद करने की अक्षमता है। प्राचीन व्यक्ति के लिए सभी तत्त्व नहीं हैं; न पार्थिव और न ही अपार्थिव। अत्यधिक प्राचीन लोग इन दोनों को पृथक् नहीं मानते थे। सभी पदार्थ संवेदनशील होते हैं एवं इनमें मनोदशा होती है। सभी आत्माएँ पुरुषों के मन के समान होती हैं, अर्थात् एक शरीर में बन्द, या जिस पदार्थ में दिखाई पड़ती हैं वे उसमें अविच्छन्न रूप से एकरूप होती हैं। असभ्य व्यक्ति किसी भी वस्तु में स्पष्ट रूप से आत्मा को पहचान नहीं पाते हैं, जिस वस्तु को वे पहचानते हैं उसे आत्मयुक्त वस्तु, शक्ति से सराबोर पदार्थ कहना चाहिए। शरीर से भिन्न रूप में पदार्थ की कोई शक्ति नहीं होती है परन्तु वह स्वयं शक्तिशाली होता है। प्रत्येक पदार्थ में एक भिन्न शक्ति होती है और असभ्य व्यक्ति के लिए ऐसी कोई सार्वभौम शक्ति नहीं है जिसे कोई एकाकी वस्तु एक अंग के रूप में प्रस्तुत कर सके। विश्व शक्ति के रूप में मन की इस प्रकार की मिथ्या व्याख्या की चर्चा अश्वयमेव आगे की जाएगी। इस समय यह समझना महत्त्वपूर्ण है कि अखण्डीकृत सम्पूर्ण में विश्वास से पहले शरीर के कुछ भिन्न रूप में आत्मा में विश्वास की पूर्ण स्थिति रहती है। पूजनीय वस्तुओं के अध्ययन से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाएगी।

---

४. प्रासगिक रूप से यह कहा जा सकता है कि डरखेम कारण, तत्त्व, काल एवं आकाश के भावों को भी सामूहिक प्रतिनिधित्व से व्युत्पन्न मानते हैं, जो मूल रूप में सामाजिक एवं धार्मिक हैं, अतः मायावी हैं। परन्तु जिस वर्गीकरण को यहाँ समूह के कारण रूप में प्रारम्भ होता दिखलाया गया है, वह वर्गीकरण स्वयं समूह को स्वीकार करने में पहले से ही विद्यमान है। देखिए वेब, वही पृ० १७, फुटनोट।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अध्याय २

पत्थरों, पहाड़ियों, वृक्षों एवं पौधों की पूजा

मनुष्य ने पृथ्वी की सभी वस्तुओं की पूजा की है जिसमें वह स्वयं पत्थर, पहाड़ियां, फूल, वृक्ष, नदियां, कूए, समुद्र और पशु सम्मिलित हैं। उसने पृथ्वी के नीचे स्थित सभी वस्तुओं की पूजा की है—धातु, गुफाएं, सांप और पाताल के भूत। अन्तिम रूप से उसने पृथ्वी और स्वर्ग के बीच स्थित सभी चीजों की पूजा की है और स्वर्ग के ऊपर सभी चीजों, कुहरा, हवा, बादल, इन्द्र-धनुष, तारे, चांद, सूरज और स्वयं आकाश की भी पूजा उसने की है। उसने इन वस्तुओं की आत्माओं की पूजा केवल खण्ड रूप में ही की है। मनुष्य के अविश्वास के लिए इतनी चौंकाने वाली वस्तुओं के ढेर होने के बावजूद भी उसने अपने विश्वास के लिए किसी भी चीज की पूजा नहीं की है। उसने केवल उनकी पूजा की है जिसकी कल्पना वह इन जागतिक दृष्यों के पीछे करता था, वह चीज जिसे वह चाहता था वह वस्तु जिससे वह डरता था—शक्ति।

श्रीमान् सौसये महोदय का वर्गीकरण, जो पूजा की धार्मिक वस्तुओं को स्वर्ग सम्बन्धी और पार्थिव के रूप में विभाजित करता है या मैक्समूलर का वर्गीकरण, जो 'ग्रहणीय अर्धग्रहणीय और अग्रहणीय के रूप में है, जैसे पत्थर, पहाड़ी और एक तारा—ये वर्गीकरण उपयोगी नहीं हैं। यह वर्गीकरण एक झूठी सिलसिलेवार शृंखला प्रस्तुत करने से भी ज्यादा बेकार मालूम होता है। सबसे नीचे के कुछ असभ्य लोग तारों की पूजा करते हैं और अर्धसभ्य व्यक्ति आजकल पत्थरों की पूजा करते हैं। सभी लोगों द्वारा कोई ऊर्ध्वगामी मापदण्ड नहीं अपनाया गया है। परन्तु हमें अपनी सुविधा के लिए इन वस्तुओं की एक-एक करके परीक्षा करनी होगी और हम पत्थरों और पहाड़ियों की पूजा से ही पहले प्रारम्भ करते हैं। ये चीजें आपाततः अधिकांश रूप में निर्जीव मालूम पड़ती हैं। इन विभाजनों के लिए ये भारी-भरकम शीर्षक निम्न प्रकार के होंगे—शिलालेख-पूजा, शैल-पूजा, वृक्ष-पूजा, नक्षत्र-पूजा, पशु-पूजा, अग्नि-पूजा, मेघ-पूजा, सर्प-पूजा आदि। पूजा हमेशा ही उपासना का पर्याय नहीं है; यह वास्तविक पूजा के बिना भी एक विधि भी हो सकती है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पत्थरों और पहाड़ियों की पूजा

पत्थर पूजा के द्वारा मात्र एक पत्थर, एक जड़ पदार्थ, एक टोटम, एक मूर्ति या एक प्रतीक की आराधना की जा सकती है। पत्थर एक कंकर, एक चट्टान, अकेली या अन्यथा विशिष्ट, या एक चकमक पत्थर का शस्त्र या उलकाश्म भी हो सकता है। जहाँ तक प्रत्येक सम्प्रदाय को ये स्वरूप विदित हैं—फिनलैण्ड के लोग, लैप्स, दक्षिणी समुद्र के निवासी, अफरीकी लोग, रक्त चर्मवासी, पेरू के लोग, यूनानी, रोमन, दूसरे आर्य लोग, सीरीयाई लोग, द्रविड़, मिस्र के लोग और चीनी लोग भी इन पत्थरों की पूजा करते हैं। आजकल भी दक्षिणी भारत में कटेरी के निवासी एक पत्थर की पूजा करते हैं और यदि लापरवाही हो तो जाए वह पत्थर एक जंगली बैल बन जाता है। उत्तरी भारत में न केवल जंगली कबीले अपितु सभ्य समाज की जानी-मानी जातियाँ पत्थरों की पूजा करती हैं। उनके विषय में उनका विश्वास है कि वे जीवित हैं और उनमें अनुग्रह प्रदान करने की क्षमता है।[1] नाईजीरिया में आज भी बिमारियों का इलाज करने के लिए पत्थरों को भोजन एव पेय पदार्थ भेंट किए जाते हैं। वहाँ इन सभी सन्दर्भों में आतमा का कोई भाव नहीं है। यह स्वयं पत्थर शक्तिशाली, इच्छायुक्त होने के कारण पूजा जाता है।

यदि कोई यान्की किसान से पूछे कि उसके खेत में हर साल पत्थरों की फसल क्यों उग आती है (वे वास्तव में हर वर्ष सतह पर प्रगट हो जाते हैं) तो वह कहेगा कि वे नीचे से ऊपर उग आते हैं। वह बिल्कुल यह विश्वास करता है कि वे अपने अनुग्रह के कारण यह करते हैं। मध्य युग में किसान इससे भी कहीं ज्यादा विश्वास किया करते थे, क्योंकि उनका विचार था कि जीवित प्राणियों की तरह पत्थरों में भी हिलने-डुलने की शक्ति थी। हमारे अपने पूर्वज भी उनके सामने प्रतिज्ञाएँ किया करते थे। अफरीका के कुछ कबीले, लैप्स, पेरू के लोगों, अमरीका के भारतीयों तथा यूनानियों का यह विश्वास हैं कि पत्थर स्वयं प्रजनन कर सकते हैं और स्वयं मानव जाति पत्थरों से ही पैदा हुई है। दक्षिण-पश्चिम लोगों में विशेष रूप से कैनिनिइट्स और आर्यों में केल्ट लोग पत्थरों की पूजा करते थे तथा उन पर तेल लगाते थे। उसी प्रकार जैकब ने पत्थर को एक तकिए की तरह इस्तेमाल करके उस पर तेल लगाया था और रेकल ने तम्बू में पत्थर छिपाए

---

१. भुवनेश्वर में आठ फुट लम्बी जमीन में गढ़ी हुई भुरभुरे पत्थर की आकृति में एक देवता है। ब्रह्मपुत्र में कामाख्या में एक टेढ़ी-मेड़ी दरार वाली चट्टान एक देवी को व्यक्त करती है। जिन अधिकांश पत्थरों की पूजा की जाती है वे अनिर्मित चट्टानें हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

थे, सम्भवतः "पत्थरों को देखो" (जेन २२ : ११—२२; ३१ : ३४)।

पत्थर पृथ्वी के बच्चे हैं इस विचार की अदला-बदली पत्थर पृथ्वी की हड्डियां हैं—इस विश्वास से हो जाती है। दोनों ही दृष्टिकोण इस मान्यता को लेकर चलते हैं कि पृथ्वी एक जैविक सम्पूर्ण (वस्तु) है और पत्थर पृथ्वी माता के टुकड़े हैं। परन्तु एक अकेला पत्थर या विचित्र-सा पत्थर अपने आप में पूजा जाता है और सबसे प्राचीन देवताओं में गिना जाता हैं। अपनी आकृति से ही अश्लील दिखाई देने वाला एक प्रतीकात्मक पत्थर लिंग का काम करता है। पहले वह देवता के लिंग के रूप में नहीं होता परन्तु स्वयं वह अपने आप में पूज्य होता है। इसलिए दूर से मानव आकृति जैसे लगने वाली चट्टाने स्वयं देवता बन जाती है, इससे पूर्व कि इसको एक ऊंचे देवता या मूर्ति के रूप में पहचाना जाए। अतः यूनान में साइबेले या अथेन (मेटेनिया पर एक चौकोर पत्थर) या आरगीव हेरा की प्रस्तर प्रतिमा पूजा की वस्तु थी जिसका इनमें से एक के अनुसार इसका नाम पड़ गया था।

दिव्य पत्थर उत्पत्ति में भिन्न होते हैं और उनको जन्म से ही देवत्व प्राप्त हुआ है। चमकीला पत्थर पृथ्वी से टकराने पर हमेशा ही भय को पैदा करता है और बाद में धार्मिक श्रद्धा या पूजा की वस्तु बन जाता है; जैसा कि कई जाने-माने स्वर्गिक पत्थरों के विषय में सही हैं (सम्भवतः मक्का में काबा का पत्थर इसी तरह का है)। सीरिया से क्रेट के रास्ते होते हुए यूनान में स्थानान्तरित होने पर बैंटलोई नाम साधारणतया इन दिव्य दर्शकों के लिए इस्तेमाल किया जाता था। रोमन, फिनलैण्ड के लोग तथा यूरोप के अन्य लोग इसकी विविध नामों से पूजा करते थे और सम्भवतः इस कोटि की अनेक अधिक पूजनीय वस्तु ब्लेक मेयर और क्रेटन बेटल के नाम से पश्चिम में आई। बाद में डेलफी के पत्थर को एक देवता समझा गया था जिसे रिहा ने क्रोनोस को दे दिया था। फिर इनके साथ-साथ वज्र-पाषाण नामक दूसरे पत्थर थे जो वास्तव में उलकाश्म नहीं थे, परन्तु प्रस्तर युग की यादगार थे। ये ताबीज के रूप में धारण किए जाते थे, यद्यपि यह माना जाता था कि वे आकाश से गिरे हैं। मध्य अमरीका में मयस के पवित्र पत्थर निश्चित रूप से दिव्य ही थे परन्तु उनको पृथ्वी देवियों के रूप में पहचाना गया था तथा उनको उसी प्रकार देवत्व प्रदान किया गया था। जैसा कि सैमेटिक उत्पत्ति के नाम से ही मालूम पड़ता है–यूनानियों का जूएस कसिओस् एक उलकाश्म था। भारत में शिव के स्वरूपों में एक चट्टान है; परन्तु सम्भवतः यह उसके पहाड़ी स्वरूप के समान ही इन वस्तुओं के एक प्राचीन संप्रदाय से एक रूपान्तरण (चट्टान के सन्दर्भ में) है। उसकी कोई दिव्य उत्पत्ति नहीं है परन्तु वह अपने आप में पूजनीय हैं। भारत-वर्ष और अमरीका में खून जैसे रंगवाला लाल रंग (सिंदूर) इन पत्थरों पर मला जाता है। जैसे सीरिया और यूनान में वैसे ही भारत में उलकाश्म लिंग का प्रतीक

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

बनने के योग्य है।[२] पत्थर पूजा जातीय नहीं है और न ही केवल समय में यह आदिम है। आज तक बंगाल में एक पत्थर की पूजा होती है जो १८८० में गिरा था; इस समय यह एक "अलौकिक देवता" है।[३] ग्रीनलैण्ड में भी उसी समय एक उलकाश्म गिरा था और तभी से यह एक धार्मिक श्रद्धा की वस्तु बन गया है। जो उलकाश्म पत्थर नहीं है, उनके प्रति रवैये को हिन्दु किसानों के सम्दर्भ में दर्शाया जा सकता है। उनका यह विश्वास नहीं है कि आत्मा एक प्रत्थर है परन्तु वे यह मानकर उसको श्रद्धास्पद मानते हैं कि उसमें व्यक्तित्व, जीवन, क्रिया-कलाप एवं अनुग्रह है। भारतवर्ष में यूरोप के पत्थर-चक्रों के समान ही पाँच पत्थरों का एक झुण्ड कभी-कभी उपलब्ध हो जाता है (यूनान में तीस पत्थरों का)। यह झुण्ड अमरीकी भारतीयों द्वारा स्थापित किए गए पत्थरों के झुण्डों के समान भी होता है यद्यपि हमेशा ही इनकी संख्या नियत नही होती या इनको बारीकी से एक चक्र में स्थापित नहीं किया होता है। इन पत्थरों का उद्देश्य हमेशा ही एक जैसा नहीं होता। कुछ सन्दर्भों में वे नक्षत्रीय ज्ञान को अभिव्यक्त करते हैं परन्तु इसे एक सीदी-सादी व्याख्या मानकर हमें अपने आपको सतर्क कर लेना चाहिए। उदाहरण के लिए बर्मा में पत्थर लघुरूप चित्रित स्टोनहेञ्ज के समान उदित होते हैं। इतना होने पर भी इनका घेरा तय नहीं होता है परन्तु बढ़ता रहता है क्योंकि महान व्यक्ति की मृत्यु के बाद घेरे में जोड़ा गया प्रत्येक पत्थर उस महान् व्यक्ति के लिए एक स्मारक बन जाता है। वह वेस्टमिनिस्टर जैसा बन जाता है जिसमें पवित्र एवं धार्मिक भावनाएँ मिली होती हैं। मरे हुए लोग छोटे-छोटे देवता होते हैं और बर्मा का यह उबड़-खाबड़ घेरा वास्तव में मूलतः एक जैन मन्दिर के समान है, जहाँ साधुओं की मूर्तियों को देवता के रूप में स्थापित किया गया है। वह स्थल पवित्र स्थान होता है जहाँ किसान उसको नमस्कार करता है। यूरोप के तीन पत्थर वाले प्रतिष्ठान शायद मकबरे हो सकते हैं और लाट पत्थर इस तरह की यादगार हो सकती है। ऐसा पत्थर एक टोटम भी हो सकता है और पूजनीय बनने से पहले यह पूजा स्थली स्वयं एक देवता रही हो।

रोमन लोगों में पत्थर फेंकने के उत्सव को जूपिटर का आह्वान समझा जाता था और तब से यह माना जाने लगा है कि स्वयं जूपिटर एक समय पत्थर था। कुछ अन्य कारणों से विद्वानों ने जूपिटर की व्याख्या ओक के रूप में की है। परन्तु देवता और उत्सव की एक वस्तु में तादात्म्य स्थापित करने से ज्यादा और कोई भ्रामक बात नहीं हो सकती। फिर, यद्यपि जूपिटर एक पत्थर नहीं था, रोम में एक

२. लेनोरमेण्ट द्वारा अपन लेख में "लेस बेटल्स" में इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया (रेव्यु दे ला हिस्टोरिए देस् रीलिजियन्स, iii पृ० ३१)
३. क्रूक, दी पोपुलर रीलिजन एण्ड फोकलोर ऑफ् नारदन इण्यिया I, पृ० ८२

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पत्थर और जूपिटर में तादाम्य स्थापित कर दिया गया, जैसा कि यूनान में जूएस के साथ किया गया और इस पत्थर को देवता मानकर रोमन लोग शपथ लेते थे।

पत्थर को एक गवाही के रूप में मानने की भारत की साधारण परम्परा का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। यदि कोई दोषी को अदालत में खींचना चाहता है तो वह एक पत्थर को पकड़ लेता है और इसको एक अधिकारी मान लेता है। हिन्दु विवाह-संस्कार में जिस पत्थर पर पैर रखा जाता है, वह मूलत: एक चक्की का पत्थर था और यह केवल सातत्य या सहनशीलता का ही प्रतीक मालूम पड़ता है। यद्यपि आजकल की प्रथा में शिव की पत्नि, या खेत और परिवार के दिव्य संरक्षक के साथ इस पत्थर का तादात्म्य स्थापित किया जाता है।

एक पत्थर अर्धमानव हो सकता है और फिर भी धार्मिक भय तथा श्रद्धा जगाने के लिए दिव्य होता है। इस तरह के वे पहले पत्थर हैं जो सफेद पर्वतों में प्रोफाइल रॉक् के समान होते हैं। आदमी से कहीं ज्यादा और फिर भी मानव जैसे चेहरे की कल्पना किए बिना कोई भी भारतीय चट्टान के इस स्पष्ट चेहरे को देख नहीं सकता था। ऐसा भयावह, ऐसा शक्तिशाली और ऐसा सजीव रूप आवश्यक रूप से श्रद्धास्पद ही था। वैसा ही चेहरा केस्टिन के पास निकला हुआ है; अमरीकी भारतीयों द्वारा इसकी पूजा की जाती थी परन्तु यह कभी भी एक देवता नहीं बन सका। यह कुछ अस्वाभाविक रूप से खतरनाक था और आदिवासियों के सरदार का सिर समझा जाता था। यह पूजनीय भी था परन्तु फिर भी केवल अर्ध दिव्य ही था। 'लाट की पत्नी' के बारे में दूसरों स्थानों पर एक ऐसा ही अन्धविश्वास पाया जाता है। एक चट्टान के बारे में भी एक अन्धविश्वास पाया जाता है कि भारत में यह चट्टान एक समय एक ऋषि की पत्नी थी, जिसको चट्टान बनने का श्राप इसलिए दिया था कि इसने अपने पति को धोखा दिया था। पेरू में ऐसे पत्थर हैं जो पहले मानव थे परन्तु "वे अपवित्र बन गए और उनको प्रस्तरित कर दिया गया।" ये अब भी मानव हैं। परन्तु भारत में एक चट्टान भी है जो रम्भा नामक अप्सरा की अवशेष है, जिसने एक ऋषि को मोहित करने का प्रयत्न किया तो उसको चट्टान बना दिया गया, यद्यपि वह समुद्र से उत्पन्न होने वाली सबसे सुन्दर अप्सरा थी। यूनान में एक समानान्तर आकृति है जिसको निओबा फिङ्ग्टर लपेड़िया कहा जाता है।

जब हम यह सुनते हैं कि वर्षा लाने के लिए एक पत्थर को पानी में डाला गया है तो हमेशा ऐसा नहीं होता है कि पत्थर में कोई जादूई ताकत होती है। कभी-कभी वह पत्थर एक दिव्य शक्ति को अभिव्यक्त करता है। इसके विपरीत यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि पत्थर एक पवित्र शक्ति है क्योंकि वह चमत्कार पैदा करता है। चक्की का पत्थर जादूई ढंग के कारण प्रभावशाली नहीं होता है परन्तु इसमें होने वाले सुराख के कारण प्रभावशाली है। ऋग्वेद में हम

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पढ़ते हैं कि एक देवता ने एक लड़की को अपने रथ के पहिए में से निकालकर ठीक कर दिया था। इसलिए ही कोई भी सुराख वाली मणि दुगुने रूप में मूल्यवान् होती है। नाक और कान में पहले कुण्डल पहनने के लिए सुराख नहीं किए जाते थे अपितु कुण्डल सुराख को खुला रहने के लिए पहने जाते थे। सुराख वाले सिक्के मणियों के समान रोग निरोधक होते हैं। शालिग्राम आजकल विष्णु को अभिव्यक्त करता है। मूलतः यह अपने आप में एक पवित्र पत्थर था परन्तु सुराख करने पर वह दुगुना पवित्र हो जाता था।

पाइरेनिस के निवासियों द्वारा पूजे गए पवित्र पत्थर आधे जड़ पदार्थ एवं आधे दिव्य स्वरूप वाले हैं। हेब्रीदेस तथा द्रविड़ों द्वारा साधारण रूप में पूजे गए पत्थरों के विषय में भी वही बात सत्य है। अफ्रीका का पूजा का पत्थर भी अपने मूल रूप में आत्मा वाला कोई सांसारिक वस्तु नहीं है अपितु एक सजीव प्राणी है और फुसलाकर या सहायता के लिए पीटकर इसके साथ ऐसा ही व्यवहार किया जाता है जैसा हेरमस् नामक पत्थर के साथ यूनान में व्यवहार किया जाता था। चाहे हम ऐसे पदार्थों को देवता कहें या न कहें उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। वे अतिमानवीय शक्तियां, सक्षम एवं अनुग्रहवान होते हैं। निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि जब उलकाश्म आकाश से गिरता है और देवता या जड़ पत्थर बनने वाला होता है, (आकाश से गिरते समय) रास्ते में गिरती हुई आत्मा समझा जाता है। जैसा भारत में या दक्षिणी अफ्रीका में यह अभी भी देवता की जलती हुई सिगार का एक टुकड़ा समझा जाता है।

गांव वाले के लिए अकेला पत्थर एक संरक्षक देवता होता है। गांव वाले के लिए जो एक चट्टान है वही एक बड़े समुदाय के लिए पहाड़ी बन जाती है। यह एक जीवित प्राणी है जो सहायता करने या नुक़सान पहुँचाने का सामर्थ्य रखती है। चीनी लोग पहले पहाड़ियों की आत्माओं को बलि नहीं चढ़ाया करते थे परन्तु स्वयं पहाड़ियों को शक्ति मानकर उनको बलि दिया करते थे। कहने का तात्पर्य है कि पत्थर और पहाड़ी में केवल मात्रा का ही अन्तर है। ऊँची बुद्धि के लोग पहाड़ी को पवित्र इसलिए मानते हैं क्योंकि वहाँ आत्मा रहती है या वह भविष्यवाणी करती है। अपरिपक्व मन के लिए पहाड़ी स्वयं दिव्य है। उराल पर्वत में रहने वाले ठूंठ किसान भी उनको आज ऐसा ही समझते हैं; पहाड़ी एक जीवित देवता है; वह देवत्व का स्थान नहीं है। शपथ-पर्वत उनके लिए स्वयं गवाह है एवं झूठी गवाही देने वाले को दण्ड देने वाला है। भारतवर्ष में केवल हजार वर्ष पहले यह विश्वास किया जाता था कि पर्वत जीवित रहते हैं और विवाह करते हैं और उनके नदियों से बच्चे होते हैं। अवतारवाद किसी भी प्रकार से आवश्यक रूप में मानवतावाद से पहले नहीं माना जा सकता। पहाड़ी में मानव आकृति नहीं होती परन्तु इसमें मनुष्य का भाव होता है और वह दिव्य होता है, अर्थात् मानवीय

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शक्ति से कहीं ज्यादा दिव्य देवताओं के स्थान के रूप में पहाड़ियाँ निस्सन्देह दुगुनी पवित्र होती हैं और जैसा कि हिमालय के सन्दर्भ में हैं। वे आकाश में लीन हो जाती हैं तो उनको पृथ्वी का हिस्सा नहीं समझा जाता है परन्तु स्वर्ग का भाग समझा जाता है। जब एक यात्री पर्वत से नीचे उतर आता है तो भारतीय काव्य में यह कहा जाता है कि "वह पृथ्वी पर लौट आया है।" गर्तों के समान पहाड़ियों को भी प्रायः आत्मा के रूप में पूजा जाता है।

अनेक बर्बर जातियों के लोग सृष्टि उत्पत्ति के सन्दर्भ में पृथ्वी को माता मानकर और आकाश को पिता मानकर उनको नाम मात्र की श्रद्धा प्रदान करते हैं। परन्तु असभ्य व्यक्ति के लिए पृथ्वी मात्र उतनी ही है जितना वह उसके विषय में जानता है। वह पृथ्वी को दिव्य मा के रूप में श्रद्धा देने को तैयार नहीं है। उलटे वह पहाड़ियों और गड्ढों (पाताल को जाने वाले) को श्रद्धास्पद मानता है। छुट-पुट असभ्य व्यक्तियों (आस्ट्रेलियाई और प्राचीन जर्मन) का विश्वास है कि नदियों[४] के रूप में बच्चे बाहर निकलते हैं और प्राचीन जर्मन लोगों में मातृ-देवी का एक सम्प्रदाय था जिसे वे पृथ्वी समझा करते थे।

कृषि के आगमन ने पृथ्वी और सूर्य इन दोनों के लिए विधि-विधान एवं श्रद्धा को बढ़ा दिया है। एक प्रकार कीं जंगली खेती की कुदाली उतनी ही प्राचीन है जितना कि पशुओं को उठा ले जाना। परन्तु लोगों के पक्के घरों तथा बाग-बगीचों के बनाने तक, उनकी पृथ्वी में कोई खास धार्मिक श्रद्धा नहीं होती है। उस समय भारतवर्ष में तथा अन्यत्र उपलब्ध होने वाले सीमा-देवताओं तथा खेत के संरक्षक देवताओं का उदय हुआ है। सामान्यतया आदिकालीन मातृ-देवी प्रायः पृथ्वी का मानवीकरण ही है। परन्तु यद्यपि ऐसी मातृ-देवी की उपासना प्राचीन एशियाई तथा यूरोपीय सभ्यताओं में पायी जाती है, यह निश्चित नहीं है कि यह देवी पृथ्वी माता को ही अभिव्यक्त करती है। भारतवर्ष में १९०१ के बाद के समय में बंगाल में जनगणना में एक जिले में "पृथ्वी, सूर्य, दिव्य नदियों, सर्पों तथा बिमारी देवी के पूजक" अंकित मिलते हैं।

जब आत्मोपासना ने जीवित एवं अनुग्रहवान् वस्तुओं की उपासना को पीछे छोड़ दिया है तो पत्थर आत्मा का घर बन गया है, जैसा कि आइसलैण्ड और परवर्ती जड़-स्वरूपों में देखा जा सकता है। जब एक दिव्य वस्तु किसी अधिक दिव्यतर आत्मा, प्रस्तर-स्तम्भों में परिवर्तित होती है तो यह तीसरी अवस्था का सूचक बन जाती है। ये प्रस्तर-स्तम्भ मूलतः पवित्र होने के कारण मन्दिरों के पास स्थित होते हैं। पहले समय में भूत या देवता, बलि-वेदी तथा

४. पृथ्वी की आदि उपासना के लिए देखिए, अलब्रेख्ट डाईट्रिस, मुटर एरड़े (१९०५)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पत्थर भी वर्षा लाने का काम किया करते थे। मृतक या देवताओं के सम्बन्ध के कारण ही पत्थर के अनेक स्मारक भी पवित्र बन गए हैं। प्रत्येक शिला-स्तम्भ अपने आप में दिव्य नहीं था। इसीलिए चबूतरे तथा पत्थर के मकबरे मृतकों से सम्बन्धित होने के कारण पवित्र बन गए हैं। यद्यपि मकबरों को वास्तव में पूजा जाता था जैसा कि नार्वे के पत्थरों के स्तूपाकार टीलों से मालूम पड़ता है। तक्षित आकृतियाँ, मूर्तियाँ स्वाभाविक मूर्तियों से परवर्ती हैं। वास्तव में कुछ सन्दर्भों में कृत्रिम आकृतियाँ इतनी आदिम मालूम पड़ती है कि वे सबसे प्राचीन स्मारकों जैसी प्रतीत होती हैं। कुछ अति प्राचीन दक्षिणी अमरीका के कबीलों का केवल धार्मिक प्रतीक वे आकृतियाँ हैं जिनको राक्षसों को डराने के लिए बनाया गया है। उत्तर पाषाण कालीन युग में भी आनुमानिक रूप में धार्मिक या जादूई प्रभाव रखने वाली ये तक्षित मूर्तियाँ पहले से ही विद्यमान थीं। अफ्रीका में एक नग्न स्तम्भ एक आत्मा को अभिव्यक्त करता है। कभी-कभी आत्माओं को आकर्षित करने के लिए इस पर तेल मला जाता है। मूर्ति-पूजा लगभग सार्वभौम है परन्तु अन्तिम रूप से सभी महान् धर्मों इस्लाम, रोमन, कैथोलिक आदि द्वारा वर्जित है या वे एक कमजोर मन के लिए इसको मानने के लिए अपनी स्वीकृति प्रदान करते हैं। अत: भारत के प्राचीन रोमन कैथोलिक मिशीनरी ड्यू बोइस का कथन है कि साधारण लोग निश्चित रूप से स्वयं मूर्ति की पूजा करते हैं परन्तु अच्छे पढ़े-लिखे लोग ऐसी पूजा का तिरस्कार करते हैं। मिशीनरी के अपने धर्म के विषय में भी यही बात सही है। दक्षिणी यूरोप में जो अशिक्षित किसान मूर्ति के सामने झुकता है, विशेष रूप से जब वह मूर्ति अपनी आँख हिलाती है या वह अन्यथा जीवित मालूम पड़ती है। निश्चित रूप से वह उस वस्तु की पूजा करता है जिसे वह देखता है। एक भारतीय व्यक्ति द्वारा यह मामला लेखक के सामने संक्षेप रूप में रखा गया था। उसने इस भोंडे प्रश्न के उत्तर देने की कृपा की कि जिस मूर्ति के सामने वह झुकता था क्या वह वास्तव में उसकी पूजा करता था। उसने उत्तर दिया, "यह केवल बुद्धि की बात है। पूर्ण रूप से विकसित होने के कारण मैं केवल अपनी ही[५] पूजा करता हूँ परन्तु उदार भाव से सामान्य अन्धविश्वास को स्वीकार करता हूँ। बुद्धि की कमी के कारण और विकसित न होने कारण मेरी

---

५. "बनारस के उस तत्कालीन साधु" ने यह भी समझाया कि एक दिव्य आत्मा के रूप में वह "केवल अपनी ही पूजा करता है।" मूर्ति-पूजा बौद्ध धर्म का एक परवर्ती लक्षण है जो निस्सन्देह रूप से प्राचीन भग्नावशेषों एवं बुद्ध की मूर्ति के प्रति प्राचीन श्रद्धा के बाद में उदय हुआ है। इन भग्नावशेषों तथा मूर्तियों ने चैत्य के लिए रास्ता बनाया है। इसको ब्राह्मणों ने अपना लिया और यह मन्दिर बन गया। यह प्राचीन भारत में अविदित था।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पत्नी केवल मूर्ति की पूजा करती है।"[६]

वृक्षों एवं पौधों की पूजा

वृक्षों की पूजा सबसे प्राचीन है; क्योंकि यह सबसे अधिक विस्तृत पूजा के स्वरूपों में से एक है। यह उन सब में अत्यधिक परवर्ती है जिसने धर्म के उच्चतर प्रकार को जन्म दिया है। यह उस असभ्य आदमी को अपील करती है जो जंगल से डरता है। उस बर्बर आदमी को अपील करती है जो वृक्ष में उत्पत्ति की आत्मा का दर्शन करता है और उस सभ्य व्यक्ति को अपील करती है जिसके लिए वृक्ष दिव्यता का प्रतीक है। पौधों एवं अन्न का दैवीकरण वृक्षों की अपेक्षा परवर्ती है। किसी एक वृक्ष की पूजा की अपेक्षा सम्भवतः वृक्ष-संसार समग्र रूप से एक प्राचीन पूजा की वस्तु था; क्योंकि असभ्य व्यक्ति जंगल की शक्ति से डरता है और उसको ज्ञात किसी भी वृक्ष की अपेक्षा जंगल को सन्तुष्ट करता है। जंगल समग्र रूप से एक अधिक विकसित अध्यात्मवादी के लिए भी खतरनाक है। वह जंगली आत्माओं से डरता है। यद्यपि वे आत्माएँ उसी प्रकार जगल में रहने वाली परियों एवं पिशाचिनयों की संतान हो सकती हैं। इन स्वयं वृक्षों के भिन्न रूप में ये उनकी पहली वृक्षीय आत्माएँ हैं। परन्तु वृक्ष स्वयं लाभप्रद या अनिष्टकारी भी होता है और उसका ऐसा ही व्यवहार होता है। यह लाभप्रद छाया या फल प्रदान करता है या वह जहरीला होता है और दुखित करता है। फिर, कुल मिलाकर अकेले वृक्ष की अपेक्षा सम्भवतः जंगल को एक भयावह वस्तु के रूप में सबसे पहले धार्मिक श्रद्धा मिली है। ज्यों ही मनुष्य ने आत्माओं के सन्दर्भ में सोचना प्रारम्भ किया, उसने गलतफहमी पैदा करने वाले और जंगल में शोर मचाने वाले राक्षसों की कल्पना की। इनकी तुलना रेगिस्तान या पहाड़ों के जिन्नों से की जा सकती है। अमेजन नामक कबीला केयर नामक राक्षस के अतिरिक्त किसी भी आत्मिक शक्ति को नहीं मानता जो "एक चक्र में लोगों का अगुआ बनता है जब वे जंगल में खो जाते हैं।" यहाँ यह ध्यान देना चाहिए कि यह भूत नहीं है परन्तु प्रकृति की आत्मा है। इसकी तुलना समुद्र से उत्पन्न होने वाली समुद्र कन्या से की जा सकती है। जब मनुष्य एक प्रभाव को देखता है तो वह प्राकृतिक कारणों का मानवीकरण आसानी से कर लेता है। लगभग तीन हजार साल पुराना एक वैदिक सूक्त, (ऋग्वेद १० : १४६) इस बात को यह कहकर भद्दे रूप में अभिव्यक्त करता है कि यदि कोई गाड़ी के टूटने की आवाज या वृक्ष के टूटने जैसे जंगल के शोर से

---

६. पत्थर की मूर्ति कभी-कभी प्राचीन प्रतिमा होती है परन्तु प्रायः ऐसा होता नहीं है; पत्थर के सामने वृक्ष के तने या जड़ को इस आकृति में चीर दिया जाता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

डरता है तो यह इस कारण होता है कि एक जंगल की कन्या वहाँ खेल रही होती हैं। वह किसी को चोट नहीं पहुँचायेगी यदि कोई उसका पीछा न करे। इस जंगली पशुओं की माता के लिए एक भेंट देना श्रेयस्कर होता है। मुख्य रूप से यह भारतीय देवी दयालु प्राणी हैं और रुष्ट होने पर ही चोट पहुँचाती है। वास्तव में जंगल के शोर से इसका निर्माण होता है। वह सभी वन देवताओं, पशुदेवताओं और तरूदेवताओं के अन्य साथियों का पूर्वरूप है। ये तरुदेवता ट्रोलेसे वाईल्ड-फेण्गर के समान ही जंगल के साथ ही मर जाते हैं। भारतीय राक्षसों के समान वे भी कुछ उग्र होती हैं। इस प्राचीन युग के अनेक विश्वास आधुनिक काल में भी चले आ रहे हैं। चीखता हुआ पौधा एवं खून बहाता हुआ पेड़ एक जैसे प्राणी हैं और इससे यह प्रगट होता कि एक पौधे में सम्पूर्ण आत्मा का वास है इस विचार की अपेक्षा, आत्मा पौधे में निवास करती है, यह विचार अधिक आधुनिक है। झाड़ी की रूह का मामला अलग है। इस विचार में मानव प्राणी 'झाड़ी' (जंगल) एक जड़ी-बूटी या किसी शाखा में विद्यमान रहने वाले किसी तत्त्व से अपनी रूह को जोड़ लेता है। वह ऐसा इस विश्वास के साथ करता है कि जब तक यह पवित्र खजाना सुरक्षित रहेगा वह भी अपने आपको सुरक्षित समझेगा। यह एक बहुत ही साधारण विचार है। इसका टोटमवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है यद्यपि रूह को पशु पौधों के साथ जोड़ा जा सकता है।

भारत में वृक्षों के विवाह सामान्य रूप में होते हैं। पत्नि जिसको अपने पति की ओर से तीसरे विवाह का दोष मिलता है, वह एक स्थानापन्न वृक्ष पर अपना दोष इस विश्वास के साथ डाल देती है कि वह स्वयं चौथी बन जाती है। यह एक साधारण से रिवाज की आधुनिक यादगार है। इसके अनुसार एक वृक्ष[७] का वास्तव में तदनुरूप मानवीकृत प्राणी से विवाह होता था। इस प्रकार भारतीय काव्यों में बच्चों की कामना करने वाली स्त्री एक वृक्ष का आलिंगन करती है। काव्य में वृक्षों को दयालु एवं अनुग्रह प्रदान करने वाला समझा गया है, यद्यपि अन्यत्र स्वय उनको पवित्र प्राणी नहीं माना गया है परन्तु उनमें आत्मा का निवास माना गया है। यह एक परवर्ती बौद्धों का बुद्धिगम्य विश्वास था, अर्थात् जैसा कि ब्राह्मण लोगों ने समझाया है कि वृक्ष जीवित प्राणी नहीं हैं परन्तु वनदेवी कही जाने वाले आत्माओं का निवास है। इनको "वृक्षों में उत्पन्न देवियाँ कहा जाता था और बच्चों को पाने वाले लोगों द्वारा इनकी पूजा की जाती थी।" उत्तरी यूरोप के समान यहाँ पर भी उलटा किया गया वृक्ष (इसकी शाखाएँ स्वर्ग में हैं) जीवन का दिव्य वृक्ष है। जो इसकी पूजा करता है वह भगवान की पूजा

---

७. तुलसी के पौधे का शालिग्राम पत्थर से विवाह एक धार्मिक रहस्य है। इसमें तुलसी का पौधा मानव रूप में वर है और दिव्य पत्थर वधू है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

करता है। एक गाँव में सभी जगह एक अकेला पेड़ ही श्रद्धा की वस्तु होता है। कुछ वृक्षों की पूजा या तो उनकी उपयोगिता के कारण की जाती है या क्योंकि उनके पत्तों की सरसराहट को दिव्य समझा जाता है। उनकी देवताओं के समान आवाज या ध्वनि यह बतलाती है कि आत्माएँ वहाँ पर कानाफूसी कर रही हैं। पीपल (जिसको विष्णु का निवास-स्थान मानकर पूजा जाता है) के प्रत्येक पत्ते में एक देवता का घर होता है। यद्यपि यह सम्भव है कि इसके टोटम जैसे विश्वास ने इसकी दिव्यता को और मजबूत बना दिया हो, जैसा कि नीम के पेड़ के विषय में होता है। सम्भवत: अनेक वृक्षों एवं पौधों के प्रति श्रद्धा उनकी औषधीय (जादूई) शक्ति के कारण पैदा होती है, जैसा तुलसी के पौधे के विषय में है, इसको विष्णु के लिए पवित्र माना गया है। शिव चन्दन के वृक्ष में समाविष्ट हैं और वैसे ही उनका तादात्म्य जीवन के संसार-वृक्ष के साथ स्थापित किया जाता है।[८]

इन सभी भारतीय तथ्यों में एक सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व यह है कि स्वयं वृक्ष में एक आवश्यक शक्ति विद्यमान रहती है (वृक्ष की आत्मा में नहीं)। ऐसा वृक्षों के विवाह से भी प्रदर्शित होता है। यह बतलाता है कि वृक्ष से विवाह करने वाली स्त्री स्वयं इसके प्राणों को अपनी ओर खींच लेती है। इस प्रकार वृक्ष स्वयं एक उत्पादक शक्ति है और इसमें से एक ऊर्वरक शक्ति निकलती है। यही कारण है कि पुनर्जन्म और पुनरुत्पादन की आत्मिक या आवश्यक शक्ति मई-वृक्ष से जुड़ी हुई है। उसी कारण स्त्रियाँ तथा देवियाँ बच्चे के जन्म पर वृक्षों से चिपकती हैं,

---

८. य्ग्ग्द्रेसिल (प्रभूर्ज का सदाबहार वाला वृक्ष) या ओडिन एवं जीवन के वृक्ष की एक जड़ आकाश में, एक राक्षस-भूमि में एवं पाताल में रहती थी। भारत के जीवन-वृक्ष की जड़ें आकाश में रहती हैं और इसका सिर नीचे होता है, यही जीवन है। जब वैदिक कवि यह पूछता है कि इस संसार को किस वृक्ष से बनाया गया है तो उसका तात्पर्य द्रव्य से होता है। जापान में संसार-वृक्ष, स्वर्ग का वृक्ष और अमृतत्व का वृक्ष—ये सभी एक में ही सम्मिलित हैं। उत्पत्ति की कहानी में जीवन के वृक्ष एवं ज्ञान के वृक्ष का तादात्म्य है। उसमें दिव्य फल दोनों प्रकार के दिव्य लक्षण प्रदान करता है। यह कहा जा सकता है कि बौद्धों का तथाकथित "ज्ञान का वृक्ष" बोधि-वृक्ष ज्ञान-प्रदान करने वाला वृक्ष नहीं है परन्तु केवल एक वृक्ष है जिसके नीचे गौतम को बैठने का अवसर मिला और उन्होंने वहाँ पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। गया का प्रसिद्ध अक्षय वट भी मूलत: एक अनश्वर वट-वृक्ष नहीं था, जैसा आजकल समझा जाता है परन्तु यह एक ऐसा वृक्ष है जो पितरों को अनश्वर आहूतियाँ प्रदान करता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जैसा यूनान और भारत में दिखलाया गया है।[६] "उसके स्तन से एक गुलाब का फूल पैदा हुआ", ऐसे लोकगीत के आवागमन में दृढ़ विश्वास का यह तात्पर्य होता है कि बलि फिर दोबारा एक पौधे के रूप में पैदा हो जाती है। गुलाब स्वयं एक लड़की होता है।

वन्य-आत्माएँ दयालु होती हैं या नहीं, यह वातावरण पर निर्भर करता है। फिनलैण्ड के निवासी उनको उदार मानते हैं। वे वन्य-आत्मा को "जंगल का उदार देवता" कहते हैं और "मधु देवी" को उसे पत्नि के रूप में प्रदान करते हैं। अमरीकी भारतीयों की तरह उनकी आत्मा एक भयानक क्रूर राक्षसी थी तथा रूसियों की वन्य देवी हिंस्रक एवं भ्रामक थी यद्यपि स्वीडन एवं जापान में भी ऐसे रूप वाली राक्षसी दिखलाई पड़ती हैं। स्वीटजरलैण्ड में वन्य-आत्माएँ क्रूर होने की अपेक्षा, वे चालाक, दूध और बच्चों को चुराने वाली हैं। इसके अतिरिक्त वे मनुष्यों की खोई गाय को उन्हें पुन: प्राप्त करवा देती हैं।

जहाँ तक सम्भव है, हम एक उत्तरोत्तर क्रम की परीक्षा करते हैं। यह परीक्षा सामाजिक विकास के द्वारा सम्भव है और इसका निश्चय आर्थिक तथ्यों द्वारा ही होता है। हम देख चुके हैं कि ब्राह्मण-धर्म बौद्ध-धर्म से पहले आता है। एक आत्म सत्ता के रूप में ब्राह्मणों का प्राचीन वृक्ष पूजा का सम्प्रदाय पहले आता है और बौद्धों का तरु-देवता तथा वन देवी की पूजा का सम्प्रदाय बाद में आता है। वृक्ष-पूजा से सामन्यतया पौधे की पूजा परवर्ती है, क्योंकि जंगली शक्ति का भय पौधों एवं अन्न की पूजा से परवर्ती है। पेटेगोनिया का निवासी, जिसे फसल की आत्मा का कोई भान नहीं है, केवल वृक्ष की पूजा करता है। मेक्सिको का अधिक विकसित व्यक्ति उसी आत्मा को पहचानता है जिसे मिश्र तथा सेमिटिक लोग पूजते थे अर्थात् फसल की आत्मा प्रकृति की एक महान शक्ति संभवत: मातृ-देवी। भारत में वृक्षों की पूजा इतनी प्रसिद्ध थी कि यूनानियों ने कहा है, "ये भारतीय लोग विशेष रूप से वृक्षों की पूजा करते हैं", तथापि उद्यान की देवियों को बहुत चाहते हैं और इसके परिणामस्वरूप अन्न पूजा का एक प्रतिद्वन्द्वी सम्प्रदाय पैदा हो गया। सम्भवत: जापानी मन्दिर के सामने छिली हुई सलाखें हमें वैसे ही वृक्षों की पूजा की ओर वापिस ले जाती है। यूरोप में स्तम्भों एवं छिली हुई सलाखों का प्रयोग इसका वैसा ही प्रतीक था। यह एक ऐसा तथ्य है जिसे हम भूल सकते हैं। इसी प्रकार हम यह भी भूल गए हैं कि इसकी पूजा कितनी अर्वाचीन है।

---

६. इसी कारण एक गर्भवती स्त्री एक शमी-वृक्ष की पूजा करती है। इस वृक्ष में अग्नि-देवता निवास करता है। आजकल यह आम संस्कार है। आहूति, दीपक तथा चतुस्पद की प्रक्रिया से पूजा होती है। यह पूजा गर्भ को सुरक्षा एवं गर्मी देता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

केवल कुछ शताब्दियों पूर्व ही यूरोप में हमारे पूर्वज पत्थरों, मकबरों, पौधों, वृक्षों, झरनों, नदियों तथा पहाड़ों की पूजा किया करते थे। उनके लिए गाय और पक्षियों के श्रद्धास्पद रूप के विषय में कहना अनावश्यक है। लोकप्रिय संस्कारों में इनके चिह्न आज भी अवस्थित हैं। विशेष रूप से यह कहा जा सकता है कि ईसाई धर्म के उदय होने से बहुत पहले की बात नहीं है कि जब वृक्षों के प्रति प्रकट होने वाला आदर भाव तिरोहित हो गया है। नार्वे के निवासी प्रथम उत्पन्न होने वाले लोगों को वृक्षों से[10] उद्भूत मानते थे और बाद में वृक्षों से पैदा होने वाले देवताओं की पूजा करते थे। भारत में ब्रह्मा कमल से पैदा हुए हैं और तुलसी का पौधा पौधों के समूह में से एक है जो मूलतः दिव्य थे। बाद में वे महान् देवताओं के साथ जुड़ गए थे, जैसे एक अशेरा वृक्ष मन्दिर के पास स्थित होता है तथा पुराना देवता नए देवता का प्रतीक बन जाता है। "वह जो झाड़ी में रहा करता था", जैसे ओक् में ज़ुएस् निवास करता है, एक परवर्ती देवता पुराने देवता में निवास करता था, उसी प्रकार मिस्र का अंजीर-देवता वृक्ष के अत्यधिक प्राचीन देवत्व को सुरक्षित बनाए रखता था। यूनान एवं परशिया के मिथक के "बात करने वाले वृक्ष" का प्रतिबिम्ब दैवज्ञों के वृक्ष में दिखलाई पड़ता है (जजिज् ९-३७, परिवर्धित संस्करण देखिए)। हम (राजाओं के हाथ में धारण किए जाने वाले) पवित्र दण्ड की तुलना वरगुला डिवाइना से कर सकते हैं।

फिर, वृक्ष पूजा का सम्प्रदाय सार्वभौम नहीं है। यद्यपि वृक्षों के पास फसल के देवता अपने क्षीण रूप में रहते हैं, तथापि चीन में ऐसा नहीं है। इसमें केवल उधार लिया हुआ मिथक ही है और वह जीवन का वृक्ष रूपी मिथक है। वृक्षों को पूजने वाले देशों में भी वृक्ष-पूजा का सम्प्रदाय इतना विस्तृत नहीं है जितना कुछ विद्वान् हमें विश्वास दिलाते हैं। पुराने सभी महान् देवता पौधों एवं वृक्षों से पैदा नहीं हुए हैं; उदाहरण के लिए न ही कार्तिकेय और न ही अपोलो वृक्षों से पैदा हुए हैं यद्यपि पहले को उद्भिज्ज देवता कहा गया है तथा दूसरे को दैवीकृत सेव कहा गया है। साधारणतया वृक्षों की पूजा करने वाले सेमिटिक लोगों में भी देवताओं का वृक्ष उसे समझा जाता था जहाँ एक देवता को रहने का अवसर मिलता था। उदाहरण के लिए, इसी कारण सुरद्रुम दूसरे देवताओं के लिए पवित्र समझा जाता था। बेबिलोनिया, यूनान, जर्मनी तथा भारत के महान् देवताओं की उत्पत्ति उद्भिज्ज नहीं है, न ही ओसरिस एवं एडोनिस वृक्ष थे परन्तु वे फसल की आत्मा के रूप में थे। यह एक दूसरा ही मसला है। ओल्ड टेस्टामेण्ट में आधे दर्जन सन्दर्भ आते हैं जो पैगम्बर एवं पवित्र वृक्षों[11] में विश्वास

---

१०. यह मिथक सिओवस भारतीयों, यूनानियों तथा पारसियों में पाया जाता है।
११. तुलना करें साम १४ : २ और २२ : ६; २ सार ५ : २४ एक्स ३ : ४

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

को अभिव्यक्त करते हैं। यदि हम हिब्रु येवाह के उत्पत्ति सम्बन्धी तथ्यों की तुलना सेमिटिक स्रोतों के सादृश्यों से करें और कहें कि येवाह की उत्पत्ति एक स्त्रीवाची खर्जूर से हुई है तो इस चौकाने वाले तथ्य का अनुमोदन करने के लिए हमारे पास पर्याप्त तथ्य नहीं हैं। स्याम में वृक्ष-आत्मा से सम्बद्ध एक सुन्दर अन्ध-विश्वास है। घर के ऊपर रहने वाली और घर में रहने वालों की सुरक्षा करने वाली गृह-आत्मा एक स्वतन्त्र सत्ता होती है। परन्तु वृक्ष की आत्मा दयालु भी होती है और जब मकान बनाने के लिए पेड़ को काटा जाता है तो यह आत्मा इससे बनने वालों तख्तों में निवास करती है तथा वहाँ से परिवार पर निगाह रखती हैं। शरीर के अंग के समान दिखने वाले या शरीर जैसे दिखने वाले अनेक वृक्षों को औषधि के रूप में प्रयोग में लाया ज़ाता है, क्योंकि वे आध्यात्मिक शक्तियाँ होने के कारण (शक्लसे दिखने वाली) राक्षसी बीमारी का विरोध करती हैं। इस प्रकार एक राक्षस दूसरे राक्षस की क्षति-पूर्ति करता है।

भारत, परशिया तथा मेक्सिको में मादकता देने वाले पौधों या अन्न का दैवीकरण हुआ है। मादकता पैदा करने वाले सोम के पौधे को एक शक्ति के रूप में समझा गया है। भारत तथा परशिया दोनों देशों में ही सोम का चन्द्रमा के साथ तादात्म्य स्थापित करके इसकी पूजा का संवर्धन किया गया है। चन्द्रमा के साथ इसका रंग तथा इसका बढ़ना समान है तथा चन्द्रमा एव सोम दोनों ही समान रूप से आह्लादक हैं। इस प्रकार वास्तव में यह दूसरे ही क्षेत्र में पहुँच गया है। यह प्रकाश, शक्ति एवं सत्य का देवता बन गया है। इसने आकाश की एक योद्धा-रूपी आत्मा बनकर अनेक युद्धों को जीता तथा यह प्रीति-विषयक भी बन गया है। एक धार्मिक पान-गोष्ठी से भारतीय देवता सम्मानित होता था। उसी प्रकार अमेजन के भारतीय लोग संगीत के साथ मदिरोत्सव मनाया करते थे और भारतीयों के समान ही इसको बहुत अच्छे प्रभाव वाला नहीं समझा जाता था। उसी प्रवृत्ति के एक घटियां रूप ने आज भारत में वारूणी सम्प्रदाय को अग्रणी बनाया है।[१२] जोरास्टर के परवर्ती सम्प्रदाय में होम जीवन का पौधा बन गया है; जो अमृतत्व प्रदान करता है। यह सम्पत्ति, शक्ति, बुद्धि तथा लड़कियों को पति प्रदान करने के अतिरिक्त सभी सांसारिक वस्तुएँ प्रदान करता है। भारत में केवल पुरोहित ही इस रहस्यमय दिव्य रस को ग्रहण कर सकते हैं। यह दिव्य रस एक पौधे की उत्पत्ति होने के साथ-साथ एक देवता भी है। केवल वे ही जो इसे ग्रहण करते हैं "पृथ्वी पर देवता" समझे जाते हैं। दैवीकृत वारूणी को पीना दिव्य बनना है। कोई भी व्यक्ति देवत्व को उसी प्रकार आत्मसात कर लेता है जैसे एक टोटम-पूजक अपनी शक्ति का नवीनीकरण करता है। ज्वार या मक्का जैसे

१२. ओमन : दी ब्राह्मन थीइस्ट, एण्ड मुस्लिम ऑफ इण्डिया, पृ० १७३

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दूसरे पौधे भी धारण-शक्ति प्रदान करते हैं और ये श्रद्धास्पद होते हैं। सेमिटिक लोगों में इनकी समुचित पूजा होती है। इस प्रकार टोटम-पौधे मूलतः अर्ध माता-पिता थे और उसी प्रकार जीवन भी प्रदान करते थे। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि धान्य-देवियाँ तथा पुनरुत्पादन सम्बन्धी कर्मकाण्ड टोटमवाद को सिद्ध करते हैं। यूनानियों के आईराजोन के उत्सव में फसल की आत्मा की उसी प्रकार पूजा होती है और परिणामस्वरूप आशीर्वाद मिलता है जैसे उत्तरी यूरोप में फसल सम्बन्धी उत्सवों में होता है।

यूरोप में वृक्षों के धार्मिक महत्त्व का अवशेष मुख्यतता गण्डे-तावीज एवं मई-वृक्ष जैसे छोटे-छोटे अन्ध-विश्वासों तक ही सीमित रह गया है। लकड़ी को तीन बार थपथपाने से त्रयी के आह्वाहन के साथ-साथ क्रास में आश्रय ग्रहण करना सांकेतित होता है। क्रिसमस पेड़ पहले सेण्ट मार्टिम (हमारी भारतीय गर्मी) एवं सेण्ट एनड्रियु (नवम्बर ११ से ३०) के बीच के दिनों में सर्दी में दोबारा खिलने वाले पेड़ों का प्रतीक था। यह उत्सव पहले जर्मनी में सत्तहरवीं शताब्दी में मनाया जाता था। यह उत्सव एक साधु के एक गर्मी के दिन को सर्दी वाले दिन में बदलने को संकेतित करता था। पेड़ के पास उस समय प्रकाश नहीं होता था। बाद में यह उत्सव सेण्ट निकोलास के दिन के साथ ईशा के दिन के रूप में सम्बद्ध हो गया। एक प्राचीन वृक्षोत्सव एटिस-सम्प्रदाय (२५ मार्च) से सम्बन्धित था; इस पेड़ को सजाया जाता था।[13] मध्यकालीन नाटकों में क्रिसमस पेड़ स्वर्ग के वृक्ष से सम्बन्धित था। इसे स्वर्ग के वृक्ष का अंग समझा जाता था। धूप का प्रयोग पूर्व से यूनान में आया है। इस प्रकार धूप-अगरबत्ती का प्रयोग ईसा से एक हजार वर्ष यूरोप में पहुँचा। भारत में प्रत्येक देवता की अपनी मन-पसन्द और घृणित धूप होती है। इसलिए एक देवता की गन्ध दूसरे देवता के लिए दुर्गन्ध बन जाती है। भारतीय कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में उन लकड़ियों का सावधानी से वर्णन किया गया है जिससे वह धूप बनती है। धूप-अगरबत्ती का प्रारम्भिक प्रयोग बुरी आत्माओं को दूर रखने के लिए झाड़-फूंक के लिए रहा होगा। धूप-अगरबत्ती का प्रयोग एक प्रकार का कर्मकाण्ड बनने के बाद इसकी एक (देवता के प्रति) सेवा के रूप में नयी व्याखया प्रस्तुत की गई, जैसे नृत्य देवताओं के लिए एक सेवा है।

---

१३. एटिस-सम्प्रदाय का सजा हुआ देवदारू का पेड़ वासन्ती फसल के स्वामी के रूप में स्वयं एक देवता को प्रकट करता था। यद्यपि क्रिसमस दिवस को २५ मार्च से २५ दिसम्बर में परिवर्तितत कर दिया गया था; स्वयं क्रिसमस पेड़ इस सम्प्रदाय से उधार लिया हुआ मालूम नहीं पड़ता है। एक सजा हुआ "विजय का पेड़" लोकप्रिय भारतीय उत्सव के अंग के रूप में माना जाता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

देवता यज्ञ की महक के समान उनको समर्पित किए गए भोजन से प्रसन्न होते हैं। तम्बाकू के द्वारा दी जाने वाली आहूति के सन्दर्भ में यही बात सही है। चीनी विवाह में बुरी आत्मा को दूर भगाने के लिए धूप-अगरबत्ती का प्रयोग अभी तक होता है।

एक पवित्र वाटिका आत्माओं के लिए घर है—इससे मन्दिर का विचार सामने आता है। इससे हम बात पर लौट जाते हैं कि रहस्यमयी शक्तियों का निवास जंगल था। उदाहरण के लिए देवताओं के लिए ऐसी औपचारिक कबरें स्थित थीं। असीरियन, रोमन, यूनानी तथा भारतीय लोगों को इनका ज्ञान भी था। काव्य में इनके "दिव्य जगल" तथा "देवताओं की वाटिका" विख्यात हैं। जैसा मायावी तथा लौकिक सन्दर्भों द्वारा बतलाया गया है, मन्दिरों के रूप में वाटिका का स्वरूप और ज्यादा प्राचीन है। कैरोलाइन द्वीपों में फाइस नामक द्वीप में पोलेनेशियाई देवता का कोई मन्दिर नहीं था, परन्तु किसी समय पर उसकी एक विशेष वाटिका थी। उस वाटिका में उस देवता के रहने पर बातचीत करना एक वर्जना थी। बेबिलोनिया का मूल नाम तिन्तिर है और इसका अर्थ "देवताओं की वाटिका" है। यहाँ अनेक वृक्ष-आत्माओं की पूजा की जाती थी। आस्ट्रेलियाई लोग भी अपने धार्मिक उपकरणों को एक पवित्र स्थान पर रखा करते थे। यह स्थान चट्टानों या पेड़ों से छिपा होता था। मन्दिर का यह रूप देव-गृह से पहले रहा होगा। एक पार्थिव स्थान के रूप में समुचित मन्दिर का विचार एक दिव्य प्रदेश के अनुकूल रहा होगा, इसका चयन दिव्य लोगों द्वारा किया जाता था। यह मन्दिर-मकबरे या कबर पर बने गुंबज से भी प्राचीन रहा होगा।

हमारी धार्मिक भावना के लिए पुनरुत्थान का विचार सेण्ट पॉल की अपील से जुड़ा हुआ है। यह धान्य के समानान्तर पुनरुत्थान के समान है। भूमध्य-सागर के चारों ओर तथा मध्य यूरोप में सुदूर उत्तर में पॉल के दिनों से काफी पहले पौधों के जीवन के पुनरुत्थान को धार्मिक संस्कारों का बिन्दु बना दिया गया था। पुनरुत्थान के इस रहस्यमय यूनानी संस्कार में इस सादृश्य पर भी काफी बल दिया गया है। ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी में इस संस्कार में भाग लेने वालों, मातृ-देवी, इसकी पुत्री तथा धान्य पर भी काफी बल दिया गया था। दैवी ज्ञान द्वारा मनुष्य को यह शिक्षा दी गई थी कि इन संस्कारों में भाग लेने के कारण वह स्वयं "पुनरुजीवित हो जाएगा।" पुनरुत्पादन होने वाले मरणशील देवता दक्षिण में भली भाँति विदित थे। उत्तर में धान्य-देवी के भविष्य के जीवन के विषय में आश्वस्त होने के लिए कर्मकाण्डी विधि विद्यमान थी। कभी-कभी इसको वर्ष या वर्ष के राक्षस की मृत्यु तथा इसे पुनरुत्पादन के रूप में बतलाया गया है। परन्तु इसकी तह में वर्ष का विचार इतना गहरा नहीं था जितना धान्य एवं फसल का भाव इसकी तह में था। धान्य एवं फसल की मृत्यु तथा इसके पुनरुत्पादन में ही

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

लोगों की दिलचस्पी थी। यूरोप में यह सब इतना सर्वविदित है कि यहाँ विस्तार से कहने की आवश्यकता नही है। परन्तु यह कहना आवश्यक है कि अमरीका में भी धान्य-माता एवं उसकी पुत्री के विषय में भी वही विचार उपलब्ध है। जहाँ खेती-बाड़ी होती है और सर्दी का भयंकर प्रभाव होता है, ये विचार और भी प्रमुख हो जाते हैं। कई बार एडोनिस एवं डेमिटर आदि की कहानियों के समान इनको भी मिथकों में शामिल कर लिया गया है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अध्याय ३

पशुओं की पूजा

असभ्य व्यक्ति के लिए मनुष्य तथा पशु में केवल भाषा का अन्तर हैं; दूसरे रूप में पशु मनुष्य का "छोटा भाई" है जैसा भारतीय लोग कहते हैं। यह ऐसा नहीं है कि वह देवताओं को राक्षसों का छोटा भाई मानता है परन्तु क्योंकि वह पशु को भी अपने जैसा ही जीव मानता है। वह उसमें वही भावनाएँ, इच्छाएँ और आवश्यकताएँ पाता है, परन्तु मनुष्य भाषा एवं अन्य रहस्यमयी शक्तियों से युक्त होता है। कुछ सन्दर्भों में मनुष्य किसी उत्कृष्ट प्रकार के वैदुष्य से भी युक्त होते हैं। इन रहस्यमय शक्तियों के कारण ही मनुष्य पशु के पास धार्मिक श्रद्धा से युक्त होकर जाता है। प्रकृति का पहला फकीर भी असभ्य व्यक्ति ही है जो पशुओं की बुद्धि का, पशुओं की मनुष्य से संगति का, पशुओं के प्रजननकर्ता एवं सृष्टा के रूप का, समझदार साँपों का और मेढकियों के मनुष्यों से विवाह का लेखा-जोखा छापता है। एक जीवित एवं मृत आदमी की आत्मा एक पशु तथा देवता के शरीर में वैसे ही गुजर सकने योग्य है जैसे एक जानवर के शरीर में। अन्ततः पशु आदमियों के एक कबीले का पूर्वज हो सकता है या जैसे आस्ट्रेलिया में माना जाता है कि एक पौधा एक आदमी में विकसित हो सकता है।

संक्षेप में पशु-पूजा का ऐसा ही दर्शन है। महान् जीवित शक्तियों के रूप में पशुओं की पूजा की जाती है तथा भूतों की भी वैसे ही पूजा की जाती है जैसे मनुष्यों की पूजा की जाती है। इसके अतिरिक्त पशु में कुछ और अधिक रहस्यमयी शक्तियों का बल तथा चालाकी होती है। इसे मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकते। अत्यधिक शक्तिशाली या बर्बर पशु अपनी शक्ति के कारण, सार्वभौम रूप से श्रद्धास्पद हैं। अफ्रीका में शेर, भारत में चीता, अमरीका में गिद्ध तथा भालू और येजो में भालू श्रद्धास्पद हैं। शक्ति और पौरुष के लिए यूनान और मिस्र में बैल की पूजा होती थी। उद्‌बिलाव के सामने उसकी समझदारी के कारण अमरीकी भारतीय नतमस्तक होते थे। ये पशु कभी पुरुष भी थे। सारे संसार में जिन पशुओं ने मनुष्यों को भोजन दिया है, जीवन एवं धारणा शक्ति के दाता के कारण उनकी पूजा की जाती है। भारत, अफ्रीका और स्कैण्डेनेविया में गाय, दक्षिणी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भारत में भैंस, आस्ट्रेलिया में कँगारू आदि की पूजा की जाती है। कई पशुओं की व्यक्तिगत पूजा में दुर्घटना भी एक सहायक कारण है। कारटेन अपने पीछे एक बीमार घोड़ा छोड़ आया था, उस पशु का दैवीकरण हुआ, उसको मांस की बलि दी गई। परिणामस्वरूप उसे भूखे मारना पड़ा। बाद में उसका एक सम्प्रदाय बन गया और वह "बिजली के देवता" के रूप में पूजा जाने लगा। अफ्रीका में आयात किए गए गधे को कुछ कबीले के लोगों द्वारा, जिन्होंने ऐसा पशु कभी नहीं देखा था, एक समझदार देवता समझ लिया गया था और वे उससे एक भविष्य वक्ता के रूप में सलाह-मशवरा किया करते थे। प्राचीन जर्मन लोग घोड़ों को देव-वचनों के समान समझा करते थे और भारतीय कुम्भी लोग उनको खून की बलि देते हैं। प्राचीन काल में भारत में स्वयं घोड़ों की बलि दी जाती थी जैसा स्याम के लोगों द्वारा आज भी दी जाती है। उनका विश्वास है कि वे आत्मा को वहन करते हैं। भिन्न-भिन्न कारणों से भारत में बिल्ली एवं कुत्तों की पूजा की जाती है। बिल्ली जन्म-राक्षस का वाहन है और कुत्ता भी एक देवता का वाहन है, परन्तु कुत्ता इसलिए श्रद्धास्पद है क्योंकि इसका सम्बन्ध आत्माओं से है (जो क्रमशः चन्द्रमा से जुड़ी है और इस पर कुत्ता भोंकता है)। यह घर का रक्षक है, न केवल चोरों से अपितु आत्माओं से भी। आत्माओं से सम्बन्धित होने के कारण कुत्ता जुदा होने वाली आत्माओं का स्लाव लोगों में संरक्षक बन गया है। इसी कारण ही तिब्बत में मृतकों के शरीरों को कुत्तों को खाने के लिए दे दिया जाता है। इसके अतिरिक्त एक पशु के रूप में "जीवित रहने पर उपयोगी और मरने पर खाने के लिए बेकार कुत्ते को अभी हाल में बंगाल के बावरियों[1] द्वारा एक 'टोटम' के रूप में चुना गया था। भारत में कुछ वैयक्तिक संदर्भों में एक कुत्ते का कई बार दैवीकरण किया गया है। उदाहरण के लिए बंगलोर में एक राजा के कुत्ते का मन्दिर एवं मकबरा भी हैं। वह कुत्ता राजा की इतनी सेवा किया करता था कि कुत्ते की मृत्यु के बाद से उसके लिए एक सम्प्रदाय ही स्थापित कर दिया गया और इसकी सेवा-सत्कार के लिए वैतनिक पुजारियों को रखा जाता है। सामान्यतया कुत्ते के आत्माओं से

---

१. क्रुक, वही II पृ० २२२, कैम्प बैल द्वारा दिए गए विपरीत आधार पर क्रुक कुत्ते के देवत्व को समझते हैं। उनका सोचना है कि कुत्तों की पूजा इसलिए होती है क्योंकि वे आदमियों को मारते हैं। कुत्ते की मानसी तड़क-भड़क के लिए 'स्वर्ग की कुतिया' सरमा (हेरमम् ?) को तुलना करें, और शायद वैसे ही रूप वाला केरबोरस्, यूनान और भारत में नरक या मृत्यु का कुत्ता। यह इस बात का संकेत करता है कि बहुत पहले शवों को कुत्तों के खाने के लिए फेंक दिया जाता था। हेकटे के सिर पर मूलतः कुतिया का सिर था, देखिए• पेटन, स्पीरिटिज्म एण्ड दी कल्ट ऑफ दी डेड इन एण्टीक्यूरी, पृ० १९३

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मेल-जोल के कारण भारतीय इसको अपवित्र मानते हैं।[२] भारतीय काव्य (महाभारत) में नायक (युधिष्ठिर) के बारे में बहुत कुछ कहा गया है। उसने कुत्ते के बिना स्वर्ग में जाने से इंकार कर दिया था, परन्तु यह घटना बाद की घटना है (उसके स्वर्गारोहरण के क्षण तक उसके पास कोई कुत्ता नहीं था)। यहाँ कुत्ता केवल देवता का आभास मात्र है। कुछ अमरीकी भारतीय एक कुत्ते तथा स्त्री से व्युत्पन्न हुए थे, परन्तु एक मेहमान का सत्कार करने के लिए सबसे बहुमूल्य वस्तु कुत्ते की बलि देते थे।

असभ्य व्यक्ति पशुओं के झगड़ों में पक्षपात नहीं करता है। एक अफ्रीकी एक बकरे और इसके शत्रु की निष्पक्ष भाव से पूजा करता है। वैसे ही एक अमरीकी भारतीय भली आत्माओं बुरी आत्माओं एवं बकरे के शत्रु की पूजा किया करता था क्योंकि वह उसके बकरे के गुस्से को रोक देता है, क्योंकि वह उसको भोजन देता है और क्योंकि वह अजीब ढंग से काँपता है (इसलिए एक काँपने वाले पेड़ की पूजा होती है)।

पक्षियों में हंस अँग्रेजों के लिए वर्जित था और रोमन लोग उसकी पूजा करते थे। बत्तक मेक्सिको तथा सेमिटिक लोगों के लिए पवित्र थी। बाज कुछ अरबों तथा अमरीकी भारतीयों के लिए श्रद्धास्पद था (कभी-कभी सृष्टा के रूप में)। उल्लु जर्मन लोगों के लिए पवित्र था, अफ्रीकी तथा अमरीकी भारतीय इसकी पूजा किया करते थे और उसको तम्बाकु भी भेंट दिया करते थे। हंस को भारत में दुगुना आदर प्राप्त हुआ है। भारतीयेतर कबीलों के लिए यह एक टोटम था। भारतीय दार्शनिक इसे एक प्रकार की रूह तथा देवता समझते थे। दार्शनिकों ने जंगली हंस की जाति के टोटम को देवत्व के प्रतीक रूप में नहीं ग्रहण किया है, जैसा कुछ नृवंशवेत्ता कहते हैं, परन्तु इसको स्वतन्त्र रूप से खोजा गया है। उनका यह विश्वास नहीं है कि यह पक्षी उनका पूर्वज है परन्तु इसकी एकाकी तथा ऊँची उड़ान एक उन्नत आत्मा का प्रतिनिधित्व करती है।

पशु और पक्षियों की आकृति के पशु जैसे स्वरूप वाले मानव मुख वाले देवता और पशु मुख वाले मानवाकृति वाले देवता होते हैं। किन्नर, असीरीयाई सिंह, मिस्र देश का देवकुल, वैसे ही चरित्रवाले बेबिलोनिया के राक्षस, अमरीकी भारतीयों का पवित्र कछुआ और पितामह सर्प—ये सभी मानवाकृति वाले देवता होते हैं। समुद्री अप्सराएँ मानवाकृति वाली देवियाँ नहीं हैं क्योंकि वे पंखों

---

२. अपवित्र पशु सामान्यतया वे होते हैं जिनमें या तो आध्यात्मिक शक्ति निवास करती है या वे उनका प्रतिनिधित्व करते हैं, विशेष रूप से भूत यूनान एवं हिब्रु के अपवित्र पशु भी उनका प्रतिनिधित्व करते हैं; बाद वाले सन्दर्भ में तात्पर्य यह है कि येवाह का विरोधी सम्प्रदाय इस पशु से अभिव्यक्त होता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वाली रूहे हैं। भारत में कौवे ही वास्तविक समुद्री अप्सराएँ होती हैं। सम्भवतः प्राचीन लौकिक काल में उनको शकुन विचार में उसी विश्वास के अन्तर्गत अपोलो के साथियों के रूप में अर्ध दिव्य समझा जाता था और वे पुर्नजीवित मानव रूहें ही थीं। मरे हुए महान् पितर इसी रूप में भारतीय योद्धाओं की सहायता किया करते थे। वे युद्ध क्षेत्र में पक्षी के रूप में आकर अपनी ठंडी पंखों से उनके गर्म चेहरे पर हवा करके योद्धाओं की सहायता करते थे।

सीरियाई लोगों के लिए पवित्र मछलियों में शार्क प्रशान्त महासागर में सबसे अधिक पूजनीय है क्योंकि सही तौर पर वह बहुत भयावह होती है। कुछ असभ्य व्यक्ति मछली से व्युत्पन्न हुए हैं जैसे लोग मेंढक, कछुए, मगरमच्छ, सर्प एवं पतंगों से व्युत्पन्न हुए हैं। परन्तु इसके परिणाम स्वरूप टोटम-पूजा उनके वंशजों तक ही सीमित हैं और यह पूर्वजों के विशिष्ट लक्षणों में भी स्वतन्त्र है। मनुष्य एवं मछलियों को जोड़ने वाली कुछ मत्स्य-कथाएँ टोटेमिक हो सकती हैं परन्तु इसे एकदम सही नहीं मान लेना चाहिए। मनु नामक भारतीय नौह को एक मछली ने जल-प्लावन से बचाया था और आधुनिक टोटम-विद्वान् कहता है, "सम्भवतः यह एक मत्स्य टोटम है।" परन्तु इतिहासकार यह संकेत करते हैं कि मूल कथा में एक कृतज्ञ मत्स्य को एक पूर्वज के रूप में संकेतित नहीं किया गया था परन्तु उसको एक ऐसी मछली के रूप में बतलाया गया है जिसको एक बार मनु ने मृत्यु से बचाया था। क्रमशः इसी मछली ने मनु को भी मृत्यु से बचाया था। जब ब्रह्मा एक महान् देवता बन चुके थे तो यह कथा उनके सिर मढ़ दी गई। ब्रह्मा ही 'मत्स्य रूप में' रक्षक थे। फिर विष्णु ने ब्रह्मा को पीछे छोड़ दिया। तब क्रमशः विष्णु मत्स्य रूपी देवता बन गए। टोटमवादियों द्वारा इसको एक टोटम कहे जाने तक यह कथा विष्णु के गौरव के अनुकूल ही बनी रहती है। यद्यपि भारतीयों के यहाँ टोटम नहीं थे और मूल कथा में इसका कोई संकेत भी नहीं है। कृतज्ञता के बन्धन के अतिरिक्त मछली किसी भी प्रकार से मनु से सम्बन्धित नहीं थी। दूसरी मत्स्य कथाओं में आधे तौर ही धार्मिक अभिरुचि पायी जाती है। इसी प्रकार एक भारतीय मछली एक आदमी या स्त्री को निगल जाती है या एक आदमी तथा उसकी नाव को निगल जाती है। इन भारतीय मछलियों में से एक मछली एक व्यापारी को निगल गई थी और वह पेट में जिन्दा बच जाता है।[3] लगभग पूरा मत्स्स टोटमवाद भारतवर्ष में सर्पमीन टोटम के रूप में जुड़ा हुआ है। यह टोटमवाद आर्यों का नहीं है अपितु जंगली कबीलों का है; परन्तु दिखावे वाला टोटमवाद प्रचुर मात्रा में मिलता है। इस प्रकार ख्वाजा खिज्र के बारे में एक मजेदार किस्सा है। इसे शिया मुसलमानों में "एक प्रकार का टोटम" कहा जाता है। वह

३. कूक, वही II, पृ० २५३

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मुसलमान फकीर था जिसके पास अमृतत्व के पानी की जिम्मेवारी थी। वह इस तरह बंगाल में जल-देवता बन गया और हाल ही में उसको एक सम्प्रदाय के 'टोटम' के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। इतिहास से अनभिज्ञ नृवंशवेत्ता इसको बड़े हल्के-फुल्के ढंग से टोटमवाद के उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं। प्राचीनकाल में आर्यों के पास दिव्य मछलियाँ नहीं थीं। आजकल कुछ मछलियाँ इसलिए पवित्र हैं क्योंकि तीर्थ-स्थलों पर पूजनीय देवताओं से जुड़े होने के कारण वे पवित्र हैं। वहाँ देवताओं के अतिरिक्त मछलियाँ भी रहती हैं। यूनान में पवित्र मछलियों को उनके पवित्र निवास के कारण उनको पवित्रता प्राप्त हुई न कि इस कारण से कि वे टोटम थीं। भारत में केवल मगरमच्छ ही वास्तविक दिव्य जल पशु है। इसमें टोटमवाद का कोई सुराग दिखाई नहीं देता है। आज वह पूजनीय है क्योंकि वह एक देवता से जुड़ा हुआ है और मूलतः वह भयावह था। क्योंकि जल बुरी आत्माओं को दूर करता है, मछलियाँ भी उसी प्रकार से बुरी आत्माओं को अपनी जलीय स्वभाव के कारण दूर हटा देती हैं। भारत में दीवार पर चित्रित की गई मछली राक्षसों से सुरक्षा प्रदान करती है।

साँप सबसे प्राचीन और अत्यधिक व्यापक रूप से पूजे जाने वाले जीव हैं। जिस किसी ने अजगर साँप, काला सांप, प्रेत और अमरीकी साँप नहीं देखा है, यह प्रश्न नहीं कर सकता कि किसी भी पशु की पूजा करने वाले आदमी के लिए ऐसा प्राणी प्रगाढ श्रद्धा की वस्तु होगी। परन्तु किसी भी साँप का सौन्दर्य, टेढ़ी चाल, रहस्यमयी आदतें, मोहन शक्ति इसकी सांकेतिक आकृति—ये सभी इसको चमत्कारिक एवं वीभत्स शक्तियों वाला होने पर पूजनीय बनाने के लिए पर्याप्त हैं। इसका स्थान और चालाकी इसको समझदारी की प्रतिष्ठा देते हैं। इसकी समझदारी इसको बुराइयों की प्रतिष्ठा में मदद करती है। इसका सूराख इसको खजाने का पहरेदार बनाता है। जब खजाना छिपे वाले स्थान पर मन्दिर बनाकर इसका सम्मान किया जाता है, उसकी यह प्रतिष्ठा और अधिक बढ़ जाती है। क्योंकि यह वेदी और घरों के आस-पास रहता है, जहाँ इसको खाना मिलता है और खास तौर पर क्योंकि वह मकबरों में रहता है इसको मृतक की पाताल से अपने भोजन के लिए बाहर आती हुई पुनः साकार आत्मा समझा जाता है। ऐनिआस ने वेदी के साँप को स्थानीय प्रतिभाशाली या उसके पिता की आत्मा समझा था। पुराने जर्मन लोगों का यह विचार था कि जमीन से निकलने वाले साँप और चूहे विशिष्ट शरीरधारी आत्माएँ हो सकती हैं। पाइड पाइपर एवं हट्टो के पादरी का ऐसी आत्माओं से पाला पड़ा था। भारतीय लोग आजकल घर के साँप को उसको दैनिक दूध वाला भोजन इस विश्वास के साथ देते हैं कि यह नये रूप में उनका पूर्वज हो सकता है। लुथिनियाई लोग घर के साँपों को संबंधियों और संरक्षकों की तरह पूजा करते थे और बलि दिया करते थे। पौराणिक रूप से

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

बिजली आकाश का साँप दिखाई देती है और भारत तथा बेबिलोनिया में राक्षस-सर्प सत्य एवं ऋत के देवताओं का विरोध करते हैं। स्केण्डनेविया का मिडगार्ड साँप वैसे ही स्वभाव वाला सर्प था जैसे सेमिटिक साँप थे। ये साँप मिस्र के अपेप की तरह प्रकृति की अमित्र शक्तियों को अभिव्यक्त किया करते थे। अदन के समझदार पाँव वाले साँप में (भारतीयों का कहना है कि केवल एक सर्प ही सर्प के पाँवों को देख सकता है) समझदारी तथा मनुष्य से शत्रुता पायी जाती है। हिब्रु लोग हेजेकिया के दिनों में साँपों की पूजा करते थे (२ किंगस् १८·४)। भारतीय राक्षस-सर्प नाग को टोटम से उत्पन्न मानकर इसे सम्भवतः मंगोलियाई या द्रविड़ रूप में समझा जा सकता है। उसमें मानव स्वभाव जैसी दोस्ती होती है। चीनी राक्षसीय-पूजा सर्प-पूजा का ही अवशेष है। यूनान में साँप की समझदारी उसको वैद्य की सुरक्षा वाली प्रतिभा प्रदान करती है और प्राक् अपोलो की भविष्यवाणी अपने आप में अन्यत्र पैगम्बरी प्रतिभा है। अफ्रीका के लोग साँपों की पूजा करते हैं, विशेष रूप से मेक्सिको के लोग। दोनों ही साँपों की पूजा करते थे और इसको एक देवता के रूप में सम्मानित किया करते थे। अमरीकी नाग को तम्बाकु भेंट की जाती थी, जिसे (हेनरी का अपने यात्रा-वृत्तान्तों में कहना है) "वह वास्तव में प्रसन्नता से ग्रहण करता था।" अमरीकी भारतीय उसको 'पितामह' कहा करते थे और उससे अनेक परिवारों का ध्यान रखने के लिए प्रार्थना किया करते थे। साँप की तथाकथित घाव भरने की शक्ति, जो उसकी समझदारी का एक पक्ष है, जीवन एवं पुनरुत्पादन का प्रतीक बन गई। विशेष रूप से यह ऐसा हुआ क्योंकि वह वृक्षों से सम्बन्धित होने के कारण जीवन के दूसरे पहलुओं के साथ जुड़ा हुआ था, जैसे ऊर्वरकता की आत्मा सूर्य से सम्बद्ध है। यह पक्ष भारतीय सूर्य-पूजा एवं नाग सम्प्रदाय में प्रमुख है। इन सभी के कारण वृक्ष एवं सर्प-पूजा आगे बढ़ी है। इस पर प्राचीन प्रेक्षकों ने अत्यधिक बल दिया है। ये सभी चीजें वास्तव में सूर्य-पूजा तथा लिंग-पूजा से जुड़ी हुई हैं। फर्गुसन अपने एतद् विषयक ग्रन्थ में कल्पना करते हैं कि भारतीय सर्प-पूजा ब्राह्मण-धर्म तथा शैव मत के विरोधी रूप में तुरानियन तथा बौद्ध है, परन्तु इस मत को पुष्ट करने के लिए कोई ठोस प्रमाण नहीं हैं। सूर्योपासना-संस्कृति[४] में सूर्य-पूजा तथा सर्प-पूजा एक दूसरे में घुल-मिल गई होगी।

भारतवर्ष में 'सर्प-स्नेह' नामक एक अविवेक है। इसकी काफी रहस्यमयी धार्मिक व्याख्या की गई है जो अपने आप में और भी ज्यादा अविवेकपूर्ण है।

---

४. इलियट स्मिथ के अनुसार सर्प-पूजा का सम्बन्ध सूर्य की प्राथमिक पूजा तथा कीर्ति-स्तम्भों के गाड़े जाने से है। उनका विचार है कि ये तत्त्व स्वस्तिक, गोदना और मम्मीकरण के साथ-साथ एशिया से अमरीका में लाये गए थे।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

परन्तु यह मामला बिल्कुल सीधा-सादा है। एक सपेरे को जहरीले साँप के काटने को सहन करना चाहिए। वह जहर को बाहर नहीं निकालता परन्तु समय-समय पर वह जहर की अधिक मात्रा ग्रहण करके अपने आपको इससे अभ्यस्त कर लेता है ताकि काटने का उस पर कोई असर न पड़े। अफीम या हशीश के दास की तरह वह अपनी दैनिक "मादक औषधि" पर निर्भर रहना सीख लेता है और उसका जहर के प्रति प्रेम उसके "सर्प-स्नेह" को स्पष्ट करता है। मेक्सिको के लोगों तथा हमारे उत्तरी भारतीयों के यहाँ एक धार्मिक उत्सव होता है जो "गूगा-पूजा" से जुड़ा मालूम पड़ता है। सम्भवत: यह द्रविड़ लोगों के "खूड-सांप" के समानान्तर मालूम पड़ता है जिससे इन गाँवों को सुरक्षित रखा जाता है। स्पष्ट रूप से तूफान की आकृति के कारण मेक्सिको की जन जाति में एक उड़ता हुआ साँप तूफान या पवन देवता ही था। साँपों से सम्बद्ध मिथ सर्प-पूजा के समान ही प्रभावशाली नहीं होते। उनमें काफी विविधता है। उन्हें कुछ बिल्कुल आधुनिक व्याख्या के परिणाम स्वरूप देखा जा सकता है, क्योंकि ऐदिरोण्डेक समुद्री तट पर जलीय सधिपाद प्राणी द्वारा बनाए गए तटवर्ती निशानों को आजकल के निवासियों द्वारा अदन के साँप की पगडण्डी के रूप में समझा जाता है।

यद्यपि कीड़ों तथा रेंगने वाले जीवों की पूजा की जाती है, परन्तु उनके प्रति रवैया कुछ ऐसा है जिसमें यह विश्वास किया जाता है कि वे अर्ध दिव्य प्राणी हैं। परन्तु भारत में वास्तव में चींटियों की पूजा की जाती है और उपासना का प्रत्युपकार करने तथा बच्चों के रूप में आशीर्वाद प्रदान करने के लिए उनको प्रेरित किया जाता है। टिड्डी-दल को भी गम्भीरता से समझा जाता है। एक किसान एक टिड्डी को पकड़कर उसे एकान्त में जाने तथा अपने साथियों को यह बताने के लिए कहता है कि उसके साथ कैसा व्यवहार किया गया है, ताकि दूसरी टिड्डियाँ उसके खेत को छोड़ दें, जैसे उनके प्रतिनिधि को छोड़ दिया गया है। घास के टिड्डे की कोई आध्यात्मिक ख्याति भारत में नहीं थी, जैसी इसकी ख्याति यूनान में थी। हानिकारक कीड़े-मकोड़े मानव प्राणियों की पुन: शरीरधारी रूहे हैं। इसी कल्पना के कारण वे कभी-कभी पूजा की अपेक्षा आदर प्राप्त करते हैं। परन्तु बौद्ध एवं जैन सम्प्रदायों में "दूसरों के साथ वैसा व्यवहार करो जैसा तुम चाहते हो"—इस नियम की केवल व्याख्या ही एक आदमी को हानिकारक कीड़े को मारने से रोकती है। अपने सम्बन्धियों को मारने का भय उसे नहीं रोकता है।

पशुओं की पूजा साकार टोटमवाद है। पुराना लेखा-जोखा यह बतलाता है कि पशुओं को खाद्य सामग्री के रूप में उनका प्रयोग पवित्र समझा जाता था। कबीले का जीवन दाता कबीले का पिता होता था। कबीला अपने माँ-बाप को खाने के बाद क्रमश: एक से दूसरे बिन्दु पर पहुँच जाता है कि जहाँ यह अपने

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जीवन दाता को किसी खास मौके पर ही खाता है। उस समय कबीले का बन्धन इस शारीरिक संसर्ग से नवीनीकृत हो जाता है। अन्ततोगत्वा टोटम इतना पवित्र बन जाता है कि इसको बिल्कुल नहीं खाया जाता है। कबीला किसी अन्य आधार पर अपने आपको पुष्ट करता है। सभी अवस्थाओं में यह टोटम-पशु केवल एक आदरणीय भाई या पूर्वज होता है। वही सही रूप में दिव्य नहीं होता है। मानवीकरण (टोटम बांस पर एक आकृति) और यह भावना कि मनुष्य की आवश्यकताओं तथा भावनाओं के समान ही टोटम की आवश्यकताएँ तथा भावनाएँ होती हैं—मानवीकरण तथा यह भावना "दिव्यत्व" एवं साधारण पुरुषों के बीच बन्धुत्व के विश्वास को बड़े व्यापक रूप से फैलाते हैं। प्रतीक कबीले के सम्प्रदाय की वस्तु होने के कारण टोटम से भिन्न है, वह किसी व्यक्ति विशेष का देवता नहीं है। स्वप्न में देखे गए एक व्यक्ति तथा एक काल्पनिक संरक्षक पशु के बीच के सम्बन्ध के लिए जब टोटम शब्द का प्रयोग होता है और जब इस पशु को एक परिरक्षक के रूप में स्वीकार किया जाता है, तब यह अवस्था टोटमवाद की ह्रासोन्मुखी अवस्था होती है। साधारण टोटमवाद के दूसरे अनेक मोड़-तोड़ उसी नाम से चल पड़े हैं और कुछ विद्वानों का यह विचार है कि टोटमवाद एक समय धर्म का आदिम सार्वभौम रूप था। जहाँ एक मानव-कबीला अर्ध दिव्य समझे जाने वाले पशु-कबीले से मिलता-जुलता है, तब वास्तव में टोटमवाद अपने सही रूप में सार्वभौम होने से कहीं ज्यादा परे होता है। इसका सम्बन्ध जीवन की शिकारी अवस्था से है और क्योंकि कृषि की स्थिति में वर्जना अत्यधिक प्रखर होती है, इसका वहाँ प्रचलित होना सम्भव नहीं है, वहाँ वर्जना सर्वाधिक प्रखर होती है जैसे पोलिनेशिया में। टोटम को पौधों के भोजनदाता के रूप में समझा गया है। विजातीय विवाह का मूलत: सीधा या आवश्यक सम्बन्ध टोटमवाद से नहीं था। टोटमवाद के बिना भी पवित्र अयाल मिलती हैं और आवश्यक रूप से उनका यह अभिप्राय नहीं है; जैसे अन्य दूसरे नियमादि से पशुओं के प्रति आदर भाव व्यक्त किया जाता है। एक विशेष आदर या पूजा की वस्तु के रूप में टोटम अंशत: मानव और अंशत: दिव्य होता है। यद्यपि इस प्रकार अभिव्यक्त किए गए विद्रुप प्राणी देवतुल्य होने की अपेक्षा जंगली अधिक होते हैं, फिर भी पशु में एक विशिष्ट धार्मिक अभिरुचि होती है। शक्ति के भाव को शरीर रूप प्रदान करने का यह आदिम प्रयास है। यह आध्यात्मिका से कुछ ज्यादा है। फिर भी यह मनुष्य के लिए गैर नहीं है। यह देव-मानव का एक भोंडा रूप है, क्योंकि उसके संसर्ग से उसके पूजक दिव्य या अतिमानव की बिरादरी में स्थित हो जाते थे।

मिस्र में एक पशु के प्रति सीधी-सादी श्रद्धा पायी जाती थी। सम्भवतः इसी कारण इस अद्‌भुत पशु देव को बिल्ली या दरियाई घोड़े के रूप में चित्रित किया गया था। इस पशु में मानव लक्षण भी पाये जाते थे। मनुष्य के साथ इस

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पशु का कोई टोटमी रिश्ता रहा होगा और इसी रिश्ते के कारण ऐसे पशु को मानवीय आदरभाव प्रदान किया गया होगा। परन्तु यह सम्भव नहीं है क्योंकि बिल्ली और अफ्रीकी दरियाई घोड़े को कबीले के पूर्वज के रूप में अभिव्यक्त नहीं किया गया है। मानवाकृति पशु को मनुष्य बनाने के प्रयत्न से कहीं अधिक थी, बिल्कुल वैसे ही जैसे भारत एवं जर्मनी में आकाश एवं तूफान को अभिव्यक्त करने वाले प्राचीन देवताओं को राक्षस समझा जाता था और अन्तिम रूप से कुछ मानवीकृत प्राणियों के रूप में अधिक अच्छी तरह समझा जाता था। भारत में इन्द्र और जुएस अतिमानव थे, परन्तु वे अपनी भावनाओं तथा जीवन में बिल्कुल मानव थे और उनको बढ़ा-चढ़ा दिया गया था। वे क्रोध, प्रेम आदि के अधीन थे। वे युद्ध एवं उल्लास तथा पत्नियों वाला, बच्चों वाला तथा अनुचरों वाला जीवन व्यतीत करते थे। एक प्रकार की विद्रुपता मानव प्रशंसक की अति मानव शक्ति को प्रदर्शित करने की इच्छा को प्रकट करती है। इस प्रकार अनेक वक्षों वाली आरटेमिस तथा अनेक भुजाओं वाला शिव अतिमानव शक्तियों को प्रकट करने वाले प्रयत्नों के परिणाम ही हैं। पेरिस के राष्ट्रीय कला संग्रहालय लोवरे में रूबेन्स द्वारा बनाई गई ऐसी तस्वीर है जिसमें एक अनेक वक्षों वाली स्त्री द्वारा बहु उत्पादनत्व का वही विचार अभिव्यक्त किया गया है। यूनान में प्राचीन काल में ऐसे विकृत स्वरूप हुआ करते थे। परन्तु बाद की हिन्दू आकृतियों ने प्लास्टिक कला से पहले ही देवताओं को अनेक सदस्य वाला रूप प्रदान कर दिया था, हालांकि यह केवल साहित्यिक कल्पना में ही था, जैसे हजार भुजाओं वाला सूर्य देवता अर्थात् प्रकृति से उसको इस प्रकार चित्रित किया गया था।

प्रतीकवाद का एक दूसरा रूप है जो धर्म का वास्तविक तत्त्व है। जैसे अरेबिया में बादल 'ऊँट' है; उसी तरह भारत में वे उषा की 'लाल गाय' हैं। सूर्य एक लाल घोड़ा है। गिद्ध आकाश का 'गतिशील पक्षी' भी है। दक्षिणी अफ्रीका की एक साहसिक काफिर जाति के लोग आकाश के 'गतिशील पक्षी' गिद्ध को बिजली मानते हैं। वह भारत में सूर्य है, जबकि भारत एव अमरीका में पवन एक पक्षी है या पवन एक पक्षी के पंखों के कारण बहती है। मेक्सिको के देवता पशु रूप वाले दिव्य पिंजड़े के एक तिहाई भाग हैं, जैसे पंखों वाला साँप। प्राचीन जर्मन लोगों के लिए ग्रहण सूर्य और चन्द्रमा को निगलने वाला भेड़िया था; भारत में मूलतः 'ग्रसने वाला' (ग्रहण-राक्षस) आज एक मरे हुए आदमी की बुरी रूह है। इसका रथ आठ घोड़ों द्वारा खींचा जाता है। सूर्य के सात तुरंग घोड़े या हिरण होते हैं। भारत तथा जर्मनी में समृद्धि की देवी का रथ आठ बकरों द्वारा खींचा जाता था। इन सभी सन्दर्भों में काल्पनिक सादृश्य के कारण देवता एवं प्रतीक को जोड़ा गया है। गति और तेज दौड़ने वाले घोड़े, उत्पादन और बकरे, टेढ़ी-मेढ़ी बिजली, साँप की चाल, पवन और पंखों का फड़फड़ाना—ये सभी मानसिक साम्य स्थितियाँ

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हैं। भारत में लगभग प्रत्येक देवता का एक पशु प्रतिनिधि है जो कमोबेश रूप में उसको अभिव्यक्त करता है। यमराज के वाहन भैंसे की व्याख्या दक्षिण के एक देवता के रूप में की जा सकती है। भैंसे का देवता से संबंध बाद का है और पुराना नहीं है। दक्षिण में इस पशु को अर्धदिव्य मानकर पूजा जाता है। इस प्रकार बुद्धि एवं जल में एक गहरा काल्पनिक सम्बन्ध है; जैसे बुद्धि एक पवित्र किया हुआ ज्ञान है। बेबिलोनिया एवं भारत दोनों में ही जल एवं बुद्धि के देवता का प्रतीक मछली है। तब क्या यह मानना आवश्ययक है कि इया एवं वरूण मूलतः मत्स्य देवता थे? यदि वरुण का प्रतीक मछली है, क्या इया की छिलकेदार शक्ल इस तथ्य की ओर संकेत नहीं करती कि मछली (भावार्थ से) उस देवता के मूल मत्स्य के स्वभाव का चिह्न होने की अपेक्षा प्रतीकात्मक है? जैसे यूनान में वैसे ही भारत में प्रेम का देवता जल से पैदा हुआ था और इसी कारण से ही मछली उसका प्रतीक है क्योंकि कुछ मछलियाँ एफ्रोडाइट के लिए पवित्र थीं। यह असम्भव है कि दोनों ही प्रेम देवता पहले मछली थे। इसीलिए जब ब्रह्मा हंस की सवारी करते हैं तो यह कल्पना करना आवश्यक है कि ब्रह्मा मूलतः एक पक्षी टोटम था, या क्योंकि विष्णु के पास एक घोड़े का सिर है, वह पहले एक घोड़ा था, इसकी अपेक्षा उसकी अश्वाकृति उसके सूर्याश्व चरित्र को प्रतिबिम्बित करती है; या क्योकि शिव, जो बैल की सवारी करते हैं, मूलतः बैल थे और उनकी पत्नि जो शेर या चीते की सवारी करती है, वह भी एक पशु थी। दहोमी में एक हाथी देवता एवं पशु दोनों ही है और उसका भक्षण नहीं किया जाता है, क्योंकि वह काफी समझदार होता है। भारतवर्ष में परवर्ती काल में चालाकी के देवता पर हाथी का सिर लगाया जाता है। स्पष्ट रूप से क्योंकि दोनों देवता और हाथी मुख्यतया परेशानियों को दूर करने में सहायक होते हैं। ज्ञान के देवता के साथ चूहा प्रतीक रूप में रहता है और भारत में चूहा चालाक पशु की भूमिका निभाता है। वह स्वाभाविक रूप से मानवीकृत चालाकी से जुड़ा हुआ है, जैसे एक लाल घोड़ा लाल अग्नि से तथा फुर्तीला हिरण पवन दूत से जुड़े हुए हैं। चूहे की समझदारी ने एक पूजित पशु के रूप में भारत में उसे एक चालाक देवता के साथ जोड़ दिया होगा, यूनान में दोनों ही सन्दर्भों में चूहे टोटम या चूहे को रूह को संकेतित किए बिना ही वह अपोलो से सम्बद्ध है। अन्त में जाकर पूजा की पुरानी वस्तु नए देवता का मात्र एक प्रतीक बन जाती है।

आज तक भी कुछ प्रतीक बिल्कुल स्पष्ट नहीं हैं। चेचक की राक्षसी-देवी एक गदहे से जुड़ी हुई है, क्योंकि (उनका कहना है) वह बहुत धीरे-धीरे चलती है, परन्तु उसने गर्दभ की सवारी की होगी क्योंकि वह इतनी जल्दी आती है (गदहा घोड़े की अपेक्षा अधिक गति को अभिव्यक्त करता है)। चन्द्रदेव के दस घोड़े हैं, सम्भवतः क्योंकि मूलतः दस ही महीने होते थे। प्राचीन रोमन लोगों के द्वार के

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

देवता के दो मुँह हैं क्योंकि वह दोनों ओर स्थित होता है परन्तु भारत में ब्रह्मा के चार मुख हैं, क्योंकि वह प्रत्येक दिशा में देखता है और चार दिशाओं को अभिव्यक्त करता है। इसीलिए ही चार हस्ती देवता आकाश को व्यक्त करते हैं। उसी प्रकार अफ्रीका में 'हवा' (आकाश) को व्यक्त करने वाला चार मुख वाला एक पर्वत देवता है। इसको वर्ष में चार बार एक शिशु की बलि दी जाती है। इसका माँस जमीन में गाढ दिया जाता है क्योंकि यह अफ्रीकी देवता पार्थिव है और इसी कारण इसे एक साँप के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है (इसलिए हमारे भारतीयों के पास एक जमीन का साँप था) और इस प्रकार वह देवता उत्पादक शक्ति के रूप में बकरे की चार टाँगों से युक्त होकर दिखलाई देता है। फिर नीचे चार मुख वाला स्थान होता है, ये चार मुख चार हवाएँ हैं। अमरीकी भारतीय इनको तम्बाकु का अपना पहला धूँआ भेंट किया करते थे।

एक चतुर्मुख देवता में सतही तौर पर प्रतीकवाद विद्यमान है, जैसे अनेक पाँव एवं भुजाओं का प्रतीकवाद स्पष्ट है। यह सामान्य से अधिक शक्ति को अभिव्यक्त करता है। इसी प्रकार यहाँ देवता तथा पशु में सम्पर्क दिखलाई पड़ता है और यह हमें किसी पुराने सम्बन्ध पर वापिस ले जाता है। ऐसा इस कारण नहीं है कि उल्लु एक टोटम है और उल्लु की आँख को खाना भारत में अतिमानवीय दृष्टि प्रदान करता है परन्तु क्योंकि उल्लु (वेबिलोनिया में एक बुरी रात्रि का पक्षी) अन्धकार में देखता है। अमरीकी भारतीयों के लिए वही उल्लु, क्योंकि वह अन्धकार में देखता है, अति प्राकृतिक गाम्भीर्य वाला है। पार्कमेन का कहना है कि उल्लु वैदुष्य का पक्षी था, "उदबिलाव से भी ज्यादा समझदार", तब जब उल्लु यूनान की प्राचीन ज्ञान की देवी से जुड़ा है, हम यह क्यों विश्वास करें कि यह मूल यूनान की प्राचीन देवी है? उल्लु समझदार था, अतः दिव्य था और इस प्रकार वैदुष्य की देवी से जुड़ा हुआ था। अतिमानवीय शक्ति एवं चालाकी को अभिव्यक्त करने के लिए अपने अपने देवताओं का ध्यान करते हुए असभ्य तथा वर्बर लोग जो भी वे दे सकते हैं, वे देते हैं। वे भली-भाँति सफल भी हो जाते हैं। फालतु भुजाएँ और पैर, पौरूष के लिए बैल तथा बकरे की आकृति, उड़ने के लिए पंख, देखने के लिए हजार आँखे—वे ये सभी देवताओं पर आरोपित कर देते हैं। देवताओं को केवल पुरूष रूप में व्यक्त करना लौकिक होगा और उनके लिए केवल पशु रूप भी निरर्थक होंगे। क्योंकि दिव्य पशुओं (और ऐसे कई हैं) को मानव लक्षणों से युक्त बयलाया गया है, इसलिए ऐसे देवता जो पशु रूप में पैदा नहीं हुए हैं, उनको इस प्रकार वर्णित किया गया है जिनमें एक ऐसा तत्त्व विद्यमान है जो उनकी शक्तियों को व्यक्त करता है।

फिर भी अनेक सन्देहास्पद सन्दर्भ हैं। प्रेम की देवी का फाख्ता के जोड़े के अलावा और कोई सही प्रतीक (विशुद्ध प्रकृति के रूप में) नहीं हो सकता था; परन्तु

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सीरियाई फाख्तों की पूजा उनके अधिकार के कारण होती थी और इसी कारण वे उससे सम्बन्धित रहे हों। यूनान में प्राचीन ज्ञान की देवी का प्रतिनिधित्व करने से पहले उनकी पूजा की जाती थी। फिर तुलनात्मक धार्मिक प्रवृत्तियों के प्रकाश में यह बिल्कुल सम्भव है कि स्वयं उल्लु मात्र एक प्रतीक ही था, क्योंकि हमें असभ्य व्यक्तियों के प्रतीक मिलते हैं। इस प्रकार लिंग के चिह्न वाला तथा ऊर्वरकता को व्यक्त करने वाला अफ्रीका के उद्यान देवता ओरिस ओको के दूत शहद की मक्खियाँ होती हैं, यह भोंडा परन्तु अतीव स्वाभाविक प्रतीक है। एक पाँव वाले जंगल के देवता अरोनी के कुत्ते का सिर होता है, क्योंकि वह उन लोगों के पीछे उदासीन भाव से भागता है जो उसे मिलते हैं और उसे निगल जाते हैं, परन्तु (जैसे भारत में) यदि कोई बहादुर हो तो वह बच निकलता है। उसी वातावरण में अफ्रीका प्रदेश योरूबा में समुद्र की देवी की झिल्लीदार आकृति है और उसके बाल लम्बे हैं (जलपरी की तरह)। सबसे ज्यादा असभ्य व्यक्ति अपने विचारों को इस प्रकार प्रतीकात्मक ढंग से अभिव्यक्त करते हैं। एक समय था जब प्रतीकवाद पागल हो गया था और इसके बचाव में काफी बकवास की गई थी। अब ज्वारभाटा उतर गया है और विद्वान् लोग कहीं भी प्रतीकवाद देखने में संकोच करते हैं। प्रत्येक प्रतीक एक मरे हुए सम्प्रदाय या देवता का अवशेष होता है। वास्तव में धार्मिक प्रतीकवाद जैसी एक चीज होती है परन्तु हमें सभ्यता की काल्पनिक दृष्टि के लिए प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए जो उस धार्मिक प्रतीकवाद को खोज सके। जो गिद्ध श्मशाम में विचरण करता है वह गिद्ध मानव-देवता बन जाता है। बैल, जिसकी अपने आप में पूजा की जाती थी, जुएस् से जुड़ जाता है। जुएस् कभी भी बैल नही था; परन्तु वह "सूर्य का फुर्तीला घोड़ा" कभी भी कुछ नहीं था, वह मात्र एक प्रतीक था। ईश्वर का मेमना तथा पवित्र मछली पशुओं को अभिव्यक्त नहीं करते अपितु वे विचारों को अभिव्यक्त करते हैं।[५]

मेमना एक यज्ञीय पशु था, परन्तु ईसा के सन्दर्भ में इसको केवल यज्ञ का प्रतीक बना दिया गया है। इसी तरह फाख्ता शान्ति एवं प्रेम का मात्र प्रतीक बन गया है, यद्यपि यह मूलतः मातृशक्ति था। हमारे लिए कुछ कलात्मक तत्त्व प्राचीन विश्वास के अवशेष बन कर रह गए हैं। मूसा के बिगुल जादुई शक्ति को अभिव्यक्त करते हैं। साधु का प्रभामण्डल देवताओं को घेरने वाले बादलों को

---

५. पिशेल ने मत्स्य-प्रतीक को अग्नि पूजा के लिए अवशेष के रूप में समझा है। यह बिल्कुल असम्भव है कि यह मिस्र से आया है। मृत्यु का सन्तरण करने की शक्ति के रूप में (जलीय स्थिति) मछली अमृतत्व का प्रतीक है। आयसिस क्रिस्टौस थ्यो, यूइअस सोटर (भगवान का बेटा, रक्षक) को व्यक्त करने वाला था और मत्स्यों से इसका सम्बन्ध था।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अभिव्यक्त करता है (यूनानी प्रतिमाओं की सुरक्षात्मक तश्तरी की अपेक्षा) आदि आदि। प्रतीकवाद का प्रयोग जैसे धर्म के बाहर साधारण हैं वैसे ही धर्म के भीतर भी यह साधारण ही है। बहादुरी के लिए तकिए के नीचे छुरा रखा जाता है; कायरता के लिए सफेद पंख; मीठी वाणी के लिए शहद आदि आदि। धर्म में प्रतीकवाद सहायक भी है और बाधा भी है। यह एक विचार के लिए संकेत प्रदान करता है तथा विचार को याद दिलाने में उपयोगी होता है। परन्तु जब याद दिलाने की अपेक्षा यह विचार को हटा देता है तो यह अभिशाप बन जाता है। बुद्धिविहीन योगी, जो हमेशा ही आकाश को घूरता रहता है या हाथ के कट जाने तक अपनी हथेली में कील चुभाता है, वह खाली दिमाग वाला साधु है जो अपने साथ अच्छे प्रतीकों का वहन तो करता है परन्तु वह उनका अर्थ नहीं जानता।[६]

६. क्रास के प्रतीक के बारे में यहाँ एक शब्द कहना है। यह केवल एक ऐतिहासिक घटना को व्यक्त करता है। यह तथ्य कि स्वस्तिक चिह्न सौभाग्य का एक प्राचीन प्रतीक था और कभी-कभी यह एक क्रास के रूप में प्रकट हुआ था, मात्र एक घटना है। प्रतीक के रूप में स्वस्तिक चिह्न मिस्र में विदित था। बौद्धधर्म में भी यह साधारण था और सुदूर पूर्व तथा अमरीका में पाया जाता था। प्राचीन भारत में यह स्पष्टतया विदित नहीं है, परन्तु यह तीन चरण वाले चिह्न से प्राचीन है और दो स्वरूपों की दाएँ और बाएँ प्रतीक के रूप में इसकी व्याख्या (या पुरुष एवं स्त्री) भी बाद की दिखाई पड़ती है। इलियट स्मिथ का विचार है कि यह खास तौर पर मिस्र का ही था (वहाँ से दक्षिणी अमरीका पहुँचा) इस तथ्य का विरोधी है कि स्वस्तिक चिह्न जर्मनी, स्कैण्डेनेविया और स्विस लेक के निवासों, ग्रेट ब्रिटेन और उत्तरी अमरीका में पाया जाता है। तुलना करें: आर० सी० टेम्पल, जर्नल ऑफ दि एन्थ्रोपोलोजिकल सोसाइटी ऑफ बोम्बे। यूनाइटेड स्टेटस नेशनल म्युजियम रिपोर्ट में टामस विलसन के विस्तृत प्रबन्ध के साथ स्वस्तिक लेख पर दूसरे लेख। ओ अक्षर की पुरानी आकृति के आधार पर भारत के पवित्र अक्षर ओम् स्वस्तिक के रूप में श्री एच० एन० दवे (१९२१) द्वारा व्याख्या की गई है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अध्याय ४

तत्त्वों तथा स्वर्गिक घटना की पूजा

चार या पाँच[1] तत्त्वों के इस प्रकार पहचाने जाने से पहले इनकी स्वाभाविक शक्तियों के रूप में पूजा की जाती थी। अफ्रीका के असभ्य व्यक्तियों द्वारा झरनों और बहावों के जल की पूजा की जाती है और मंगोलियाई लोगों को एक नदी सम्प्रदाय विदित है। जल पाप, बीमारी और बुढ़ापे को धो देता है, वहाँ से ही यह विचार पैदा हुआ है कि कहीं पर जवानी और अमृतत्त्व का फुवारा था; जिसके प्रतिपक्ष को बाद में (भारतीय) "मृत्यु की नदी" के रूप में जाना गया। जादूई रूप में पानी आग की तरह है और बुरी आत्माएँ इसमें से पार नहीं पा सकतीं। पानी मानसिक रूप से शुद्ध करता है। जर्मनी में (ज्ञान का) मिमीर झरना; बेबिलोन में ज्ञान और पानी का देवता इया; भारत में पानी का देवता "ज्ञानवान्" वरुण, ये सभी उदाहरण हैं। पानी नैतिक रूप से शुद्ध करता है। बेबिलोन में ईसाई मत में दीक्षा लेने का रिवाज था। पानी का धार्मिक प्रयोग अमरीकी भारतीयों के सम्प्रदाय में प्रमुख है। "वर्ष के पापों को धोने के लिए" मस्कागोई भारतीय लोग पवित्र रहकर तथा व्रत करके वार्षिक रूप से स्नान किया करते थे। कैलिफोर्निया का मधु-स्नान बीमारी और बुराई को दूर कर दिया करता था (भारत में यह केवल शारीरिक उपाय है)। स्नान करने के बाद शक्ति वापस लौट आती है। जल के माध्यम से शक्ति का पुनः नवीनीकरण हो जाता है। इसकी दिव्य शक्ति पानी में गोता लगाने से प्राप्त हो जाती है। पोलिनेशियाई लोगों तथा भारतीय संस्कार आदि में जल छिड़कने से राक्षस समझी जाने वाली बुराई दूर हो जाती थी जिसका सामान्य विश्वास हमारे ईसाई दीक्षा ग्रहण करने में जूडाइज्म से उद्भूत अन्तिम अभिव्यक्ति है। नवमतावलम्बी की दीक्षा ग्रहण करने और 'जोरडन में स्नान करने' की तुलना कीजिए। आग की तरह एक दिव्य संवेदनशील शक्ति जल भोले-भाले आदमी का नुकसान नहीं करती है। प्राचीन वैदिक लोक-गाथाओं में व्यास नदी ने वसिष्ठ ऋषि को बचा लिया था क्योंकि वे

---

१. भारत में आकाश पाँचवाँ तत्त्व था।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

निरपराध थे; परन्तु सामान्यतया धारणा यह है कि विशुद्ध जल उबल पड़ेगा और कहने का तात्पर्य यह है कि अपवित्र आदमी पर जा गिरेगा, जो आज तक भूतनियों को भगाने में भयावह संत्रास के रूप में विद्यमान है। जल पवित्र है। इस विश्वास के अवशेष आजकल भारत में प्रतीक रूप में पाए जाते हैं। भारत में दान ग्रहण करने से पहले हाथ यह दिखलाने के लिए धोए जाते हैं कि लेने वाला घूंस नहीं ले रहा है ("चिकने हाथों से लेना घूस लेना है")। शोक मनाने वाले प्रायः हाथ धोने का काम इसलिए नहीं करते कि उनमें विद्यमान मृत्यु के कीटाणु नदी के बहाव को गन्दा न कर दें। पानी (नदी का बहाव या कुआं) को लेकर ही कसम खाई जाती है और उसी समय उसका आचमन किया जाता है या हाथ में ग्रहण किया जाता है। अभिशाप का जल चोट पहुँचाने में सक्षम होता है; एक दिव्य शक्ति के रूप में यह धान्य और बादलों[2] को भी सुखा देता है। जीवन और शक्ति के स्रोत के रूप में जल उत्कट इच्छा का जन्मदाता है (प्रेम जल से पैदा होता है) और "जल से उद्भूत" काम परवर्ती हिन्दु देवशास्त्र में ऋग्वेदीय घोषणा को प्रतिबिम्वित करता है कि इच्छा, मन का बीज, आदिम जल की प्रथम संतति थी।

अब यद्यपि मंगोलियन जैसे उन्नत असभ्य लोग यह कल्पना करते हैं कि स्रोत में एक आत्मा होती है और यह भावार्थ झरनों, दासियों, अप्सराओं, जल-परियों और समुद्रदेवता की आजकल की कल्पना शक्ति में निस्सन्देह सामान्य है। फिर भी अधिक प्राचीन असभ्य व्यक्ति और जापान के उत्तरी द्वीपों के निवासी आइनु का यह विचार है कि स्वयं जल स्रोत क्रुद्ध एवं द्वेषपूर्ण होता है, जैसे एक भारतीय किसान का चाकू एक ओले को (ओले की आत्मा को नहीं) इस विचार से परे हटा देता है कि ओला स्वयं डर जाएगा।[3] इसलिए प्रशान्त महासागर के द्वीप के निवासी का "वर्षा के प्रति सूक्त" स्पष्टतया वर्षा में किसी वर्षा के राक्षस के लिए नहीं है परन्तु वर्षा की बूंदों के लिए है। समुद्र आत्मा के उदित होने से पहले स्वयं वह अपने आप में एक भयावह सत्ता है। यूनानी अप्सरा आरथूसा के एक नदी देवी बनने तक इसका अर्थ केवल "बहता हुआ" जल-स्रोत है। भारत में एक वैसी ही आकृति वाक्पटुता की देवी बन जाती है। काफिर लोग नदियों को

---

२. बाद में अभिशाप और शाप जल (अग्नि के समान) एक उच्च देवता के हाथों में पात्र उपकरण बन जाते हैं, जैसे भारत में, ओल्ड टेस्टामेण्ट, न्यू इंगलैण्ड और डाकिनी-परिक्षण आदि।

३. क्रुक महोदय यह संकेत करते हैं कि ओलों को कुमायूं में आज भी खून की बलि दी जाती है जैसे दक्षिणी-पूर्वी यूनान के एक प्राचीन जिले आरगोलिस में। वर्षा का देवता वर्षा से पैदा नहीं हो सकता, परन्तु वह एक ऐसा देवता है जो यह ध्यान रखता है कि उसकी साधारण कृपा के रूप में वर्षा आए।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अन्त: शक्ति के रूप में धान्य और पशुओं की बलि देते हैं। वन देवी के समान अप्सरा एक परवर्ती रूप है।

जल तथा हवा तूफानी हवाओं की पूजा में एक साथ विद्यमान रहते हैं। सौसाये महोदय इस बात से इन्कार करते हैं कि हवा स्वत: कभी एक देवता थी, परन्तु यह एक गलती है। होमर की हवाएँ उपदेवता हैं। न केवल पवन की आत्मा के रूप में परन्तु बहती हुई स्वयं हवा के रूप में इसकी पूजा भारतीयों तथा एसकीमो द्वारा की जाती है। केवल दो ही उदाहरण पर्याप्त हैं। 'झझावात' एक मानवीकृत तूफान था और भारत में वात पवन की आत्मा नहीं था परन्तु पवन स्वयं मानवीकृत था, जैसा कि अवश्यम्भावी था। मेघगर्जन को हमेशा ही उस देवता की आवाज समझा जाता है। वह तूफान होता है ("इन्द्र को कौन सन्देह करता है जब वह उसे गर्जता हुआ सुनता है।")। वेद में मरुत् नामक तेज बहने वाली तूफानी हवाओं की पूजा इन्द्र के साथ क्रोधित शक्तियों के रूप में की जाती है और वे काव्यमय रूप में कभी गिद्ध और कभी योद्धा बन जाती हैं परन्तु हमेशा ही प्राकृतिक घटनाओं के समान रूप में वे देवता होते हैं और वे पुण्यात्माओं के लिए देवतुल्य सरक्षक देवता होते हैं। इनसे वैसे ही दूसरे समान सन्दर्भों में मनुष्य घटनाओं (प्राकृतिक) से व्यवहार करता है जैसे वह बुद्धिमान लोगों से व्यवहार करता है, हँसी मजाक, जबरदस्ती, सन्तोष तथा भय में जैसे व्यवहार करता है। यदि एक आदमी डूब रहा है तो उसकी सहायता करना नदी का तिरस्कार करना होगा, वैसी ही मुसीबत से बचाने की अपेक्षा बुद्धिमान लोग उसे डूब जाने देते हैं। यह रवैया दोनों ही सन्दर्भों से मिलता है जहाँ नदी एक बुद्धिमान प्राणी हो और जहाँ नदी की आत्मा होती है। जैसा पहले ही दिखलाया गया है, समग्र आकाश को अभिव्यक्त करने वाली चार हवाएँ दिव्य शक्तियाँ होती हैं।

अग्नि पूजा, जो प्राचीन परशिया में अपने सर्वोच्च बिन्दु पर पहुँच गई थी, मेक्सिको में सूर्य पूजा का एक अंग है और असभ्य व्यक्ति भी सूर्य तथा अग्नि को एक समझते हैं, जबकि बिजली शीघ्र ही, जैसे प्राचीन भारत में, इस पुरातन त्रयी में तीसरा स्थान ग्रहण कर लेती है। परन्तु सम्भवत: अग्नि पूजा सर्वत्र ही सूर्य पूजा से पहले है, जैसे रोम में हैं। जादू का अग्नि से गहरा सम्बन्ध है, परन्तु जल की तरह अग्नि शोधक है और जैसे धर्म में वैसे ही जादू में अग्नि विद्यमान रहती है। मनुष्य ने पहले आग को एक जंगली पशु तथा मनुष्य के लिए खतरे से युक्त देखा होगा। उसके सूर्य और चन्द्रमा पर कोई ध्यान देने से काफी पहले वह भयभीत हुआ और उसने आग को पैदा किया जो एक घर की दोस्त तथा विनाशकारी शक्ति भी थी। सारी दुनियाँ में उसने इसके लिए पात्र बनाये और इसको सुरक्षित रखने की तरंफ भी ध्यान दिया। कम से कम तीन प्राचीन सम्प्रदायों में

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सती स्त्रियों को नियुक्त किया गया जाता था जिनका प्रमुख कार्य आग की रखवाली करना था। रोमन, पेरूवी तथा केल्ट लोगों को औपचारिक कुमारियाँ विदित थी; परन्तु डामरों में भी एक ऐसा निम्न कबीला था जो तीन से आगे की गिनती करने में असमर्थ है। मुखिया की बेटियों को आग का ध्यान रखने के लिए कहा जाता है जिसको वे वर्षा के समान बलि भेंट करते हैं। जनता की आग का बुझ जाना जनता की विपत्ति है और इसके लिए जिम्मेदार लोगों को मार दिया जाता है। परन्तु यदि उसे दूषित कर दिया जाए या औपचारिक रूप से उसे बुझा दिया जाए, जैसा कि कुछ ऋतुओं में मस्खागोईयन भारतीयों के सन्दर्भ में है, तो फसल के पहले फल आने के उत्सव में गम्भीरतापूर्वक उसे फिर जलाया जाता है। अमरीका में अग्नि तथा सूर्य की पूजा एक साथ चलती है और कभी-कभी दो सम्प्रदायों में फर्क करना असम्भव होता है। उदाहरण के लिए पोटावोटेमिस "आग बनाने वाले" लोग आग तथा सूर्य दोनों के भक्त थे, और जलती हुई आग की पूजा सूर्य के साथ में किया करते थे। आग एक घटना के रूप में बिना आत्मा हुए स्वतः पूजे जाने का सबसे बढ़िया उदाहरण हैं। सभ्य वैदिक आर्य भी ज्वालाओं वाली वास्तविक आग को आहूतियों का भक्षण करने वाली को एक जीवित वस्तु समझते हैं, जो स्वर्ग सम्बन्धी देवताओं के लिए एक दूत का कार्य भी करती है। वे अग्नि की आत्मा के प्रति प्रार्थना नहीं करते अपितु यज्ञीय रूप में कल्पित अग्नि के प्रति प्रार्थना करते हैं और जो अब भी संघटनात्मक है, एक जीवन तथा शक्ति से युक्त दिव्य प्राणी है। शताब्दियों बाद यह अग्नि एक देवता के रूप में एक योद्धा के समान युद्ध करने के लिए पर्याप्त रूप में मानव है। राजाओं की लड़की के साथ उन्मत्त रूप में विहार करने, जादू करने आदि के लिए भी पर्याप्त रूप में मानव है; एक यूनानी देवता के समान, अन्त में वह एक बकरा, एक उत्पादक, एक सींग एवं पूँछवाला प्राणी बन जाता है; क्योंकि गर्मी और प्रेम को तब उसके औपचारिक रूप में पहचान लिया जाता है। बुखार और बदहज़मी की गर्मी भी अग्नि देवता के रूप ही हैं। जल के समान अग्नि विशुद्ध करती है। अग्नि एक नैतिक शक्ति बन जाती है और परीक्षण में पापियों को ढूंढ लेती है (आग या गर्म तवे पर चलना आदि-आदि)। भारत में इसको एक प्रकार की विशुद्धता समझा जाता है। सम्भवतः स्वर्ग से आने के कारण से यह खासतौर पर दिव्य होती है; क्योंकि अधिकांश देवशास्त्रों में, जैसे भारत, यूनान और अमरीकी भारतीयों के देवशास्त्रों में, यह स्वर्ग से मनुष्य के पास लाई जाती है परन्तु इसको पूजनीय बनाने के लिए इसकी स्वर्ग-सम्बन्धी उत्पत्ति आवश्यक नहीं है। अग्नि केवल "सर्वशक्तिमान ईश्वर के प्रतीक" रूप में ही नहीं बोलती है और अवेस्ता में इसकी पूजा की जाती है, परन्तु एक घटना के रूप में इसकी पूजा की जाती है

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जिसे दिव्य प्राणी कल्पित किया जाता है।[४]

वातावरण और स्वर्गिक घटनाओं की पूजा, जैसा प्रायः माना जाता है, अधिक आदिम है। भारत के पहाड़ी कबीलों में इन्द्रधनुष का मानवीकरण किया गया है और उसकी पूजा पाई जाती है। इन्द्रधनुष होमर के लिए एक दिव्य दूत है परन्तु लौकिक हिन्दू-देवशास्त्र में उसको इन्द्र का धनुष कहा जाता है (पोलिनेशियाई लोगों के लिए भी यह देवता का धनुष है)। ऋग्वेद में भी एक कवि अपने स्वर्गिक झूले पर चढ़ जाने का गीत गाता है। परन्तु आधुनिक भारत और अफ्रीका में (दहोमी) इन्द्रधनुष आकाशीय सर्प है, जिससे यह सुझाव पैदा हुआ है कि इन्द्रधनुष के नीचे पाया गया खजाना सूर्य की राशि हो सकता है। प्रशान्त महासागर के मोरिल्यु द्वीपों में इन्द्रधनुष एक शक्तिशाली देवता होता है, एक ऐसा तथ्य जो आइरिस (केसर) के एक पौधे के रूप में होने की कल्पना को आवश्यक बना देता है। असभ्य व्यक्तियों द्वारा उषा का उसी लक्षण द्वारा दैवीकरण हेरबर्ट स्पेन्सर की व्याख्या को कुछ खींचतान बना देता है कि वैदिक उषा देवी एक पहली उषा कुमारी के भूत के रूप में है। इस कोटि में अध्यात्मवाद और भूत-पिशाचवाद की कमजोरी (यदि स्पष्टता के लिए शब्द को माफ कर भी दिया जाए) धर्म के सार्वभौम तत्त्वों के रूप में आपाततः कष्टदायी बन जाते हैं। कोई भी, जो ऋग्वेद को निष्पक्षभाव से पढ़ता है, एक क्षण के लिए यह प्रश्न नहीं कर सकता कि अग्नि, उषा तथा पवन प्रारम्भ से ही घटनात्मक देवता थे और एक व्यापक दृष्टिपात केवल इस तथ्य की पुष्टि करता है। जैसे पार्थिक वस्तुओं की पूजा होती है वैसे ही वातावरण की घटनाओं की सारी दुनियाँ में स्वयं उनके लिए पूजा की जाती है। व्यक्ति के लिए बादल, तूफान, इन्द्रधनुष तथा उषा वास्तविक प्राणी हैं और इस असभ्य रूप में उनमें जीवन, शक्ति और अनुग्रह होता है तथा उनकी निन्दा भी जाती है। उनको फुसलाया जाता है और पूजा की जाती है। वैसे ही इन असभ्य व्यक्तियों के लिए सूर्य, तारे और चन्द्रमा दिव्य शक्तियां हैं और इतनी दूर के प्राणियों के साथ इनका कुछ सम्बन्ध है। सभी असभ्य व्यक्तियों के सन्दर्भ में ऐसा नहीं है क्योंकि यद्यपि सभी तूफान के थपेड़े खाते हैं, सूर्य एवं चन्द्रमा को किसी व्यावहारिक लाभ के लिए एक असभ्य व्यक्ति का ध्यान आकृष्ट करने में थोड़े से स्वार्थ की आवश्यकता पड़ती है। सभी धार्मिक घटनाएँ मूलभूत रूप में व्यवहारिक हैं। मनुष्य ने घटनात्मक शक्तियों के साथ भावनात्मक लगाव पैदा नहीं किया है, उनको सुन्दर मानकर उनकी पूजा नहीं की है, किसी भी प्रकार से उनकी अधिक परवाह नहीं की

४. ऋग्वेद में अग्नि मनुष्य का पिता है, परन्तु हिन्दू देवशात्र के प्रारम्भ से अन्त तक वह एक तत्त्व और देवता दोनों है। उसके बिचौलिये की भूमिका के लिए और त्रयी के एक सदस्य के रूप के लिए आगे अध्याय १७ देखिए।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

है। उसके जीवन और जरूरतों के लिए उपयुक्त बनकर उन्होंने उसके ध्यान पर अपने आपको थोप दिया है। परन्तु जब यह हो गया तो उसने उनके साथ सन्तोषजनक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए तुरन्त कदम भी उठाए हैं।

हम पहले ही देख चुके हैं कि असभ्य लोग वर्षा और ओलों के साथ कैसे व्यवहार करते हैं; जिन पर पानी के रूप काफी तार्किक ढंग से विचार किया जा चुका है। तथ्यात्मक रूप से उनकी जलीय प्रकृति का उनकी दिव्यता से कोई सम्बन्ध नहीं है। पृथक् शक्तियों के रूप में, फल-दाता के रूप में, फल विनाशक के रूप में और व्यावहारिक दृष्टि से उनकी पूजा की जाती है। इसलिए न्यू गियाना के मलेनेशियाई लोग, जिनका सम्बन्ध बर्बरता के सबसे नीचे की तह से है, स्वर्गिक वस्तुओं को श्रद्धा से देखते हैं; और १८५७ में अत्यधिक बर्बर खतरनाक द्वीप (डेन्जर आइलेण्ड) को खोजने पर धार्मिक खुशियों और दावतों से सात तारों के समूह का सम्मान किया गया था। असभ्य व्यक्तियों द्वारा तारों की सामयिक पूजा में नक्षत्र-पूजन की आदिम अभिव्यक्ति मिलती है क्योंकि इन तारों का सम्बन्ध उनको भलाई से है। तारे उनके लिए अच्छी फसल या इसी तरह की कोई चीज लाते हैं। दक्षिण अफ्रीका के लोग उषा की पूजा दिन और रात को लाने वाले के रूप में करते हैं। कुछ विद्वानों द्वारा इसको मात्र एक काव्यात्मक देवी माना गया है। असल में बंगाल के निवासियों द्वारा इसको आदरणीय माना गया है। इन्होंने इस सम्प्रदाय को वेद से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त नहीं किया है। जब एक असभ्य व्यक्ति अपने पिछले इतिहास की कल्पना करना शुरू करता है तो सामान्यतया बड़े ही तार्किक ढंग से वह अपने कबीले को किसी आधार या प्राणी से व्युत्पन्न मानता है। उसका यह विकास या प्रचार अन्तत: विचारक को एक अटकलबाज के रूप में प्रस्तुत कर देता है। कभी-कभी वह संसार की उत्पत्ति के विषय में भी अटकलें लगाता है, और इतनी दूर पहुँच जाता है कि आकाश तथा पृथ्वी की एक युगल के रूप में कल्पना करता है। बाद में आकाश को पिता के रूप में और पृथ्वी को माता के रूप में सुधार लेता है; परन्तु जहाँ तक ये चीजें उस पर असर नहीं करती, वे नगण्य हैं। यही कारण है कि उत्पादक देवताओं की पूजा नहीं की जाती है, जब तक वे चलते रहें और आजकल के असभ्य व्यक्ति के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण काम करें। इसलिए, यद्यपि द्यौस जुएस्-जुपीटर, आकाश पिता—यह समीकरण केवल आदिम आर्य देवशास्त्र के विषय में ही सही है। वह वैदिक धर्म में किसी विशेष अवसर के लिए नहीं था तथा वह केवल यूनानियों और रोमन के लोगों के लिए महत्त्वपूर्ण बन गया था क्योंकि वह उनके पूर्वज से कहीं ज्यादा था। पोलिनेशियाई सूर्य देवता टेन क्यों महत्त्वपूर्ण बन गया था? इसका कारण है कि उसने प्रारम्भ से ही केवल "वर्ष के स्वामी" के रूप में अर्थात् सूर्य ने रचयिता और वर्ष को एक कालखण्ड के रूप में फसलों को व्यवस्थित करने में एक प्रमुख भाग

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

लिया था। इसी कारण ही अब वह धान्य और जंगलों का देवता है। जिन देवताओं को कोई ऐसी श्रेष्ठता मिल जाती है, वे हमेशा ही इस तरह विस्तृत होने के योग्य बन जाते हैं। जिसके पास कुछ है; उसको ही कुछ दिया जाएगा। टोन्गा-लोआ समुद्र का पोलिनेशियाई देवता था; तब पृथ्वी के ऊपर वर्षा और वादल के जल के सादृश्य के कारण वह आकाश का देदता बन गया; और फिर समुद्र तथा आकाश के स्वामी के रूप में वह न केवल धीरे-धीरे सबसे बड़ा देवता बन गया परन्तु "सूर्य को अपनी आँख के रूप में रखने वाला" सर्वोच्च देवता बन गया, बिल्कुल ठीक वैसे ही जैसे जल का देवता वरुण आकाश का देवता बन गया और सूर्य उसकी आँख भी बन गई।

जैसे तारों की पूजा तत्कालीन असभ्य व्यक्तियों में पायी जाती है क्योंकि वे उनके लिए उपयोगी होते हैं (या वह ऐसा सोचता है, जो धार्मिक दृष्टि से उसी के बराबर है)। दो दृष्टियों से उपयोगी होने के कारण श्रेष्ठ प्रकार के लोगों में एक तारों का सम्प्रदाय स्थापित हो जाता है। पहला सम्भवत: यह विचार है कि (प्रदर्शित रूप में नहीं) तारे पूर्वजों की रूहें हैं और इस प्रकार पृथ्वी पर परिवार के मामलों में सक्रिय रूप से रुचि लेते हैं। काफी प्राचीन काल में तारों का समूह इस प्रकार पितरों या प्राचीन ऋषियों को अभिव्यक्त करता है। कभी-कभी तारा-मण्डल भी पवित्र पशु होते हैं। अधिक विद्वतापूर्ण दृष्टिकोण यह है कि जब वह उदित होता है तो मनुष्य तारों के एक झुण्ड के एक नियमित क्रम को देखना प्रारम्भ करता है और तारों के स्थान तथा उनकी गति को पृथ्वी और अपने आप से जोड़ना प्रारम्भ करता है। उसने स्वयं अमुक अमुक नक्षत्र के प्रमाण में पृथ्वी के मन्दिर में जन्म ग्रहण किया है। तारों के प्रति यह रवैया इतना प्राचीन नहीं है जितना कि संभ्यता के लोकप्रिय इतिहास इसको अभिव्यक्त करते हैं। बेबिलोन के निवासी तथा उनका तारों का सम्प्रदाय आठवीं शताब्दी ई० पू० तक ऐतिहासिक तौर पर महत्त्वपूर्ण नहीं है; और बेबिलोन के निवासियों द्वारा शकुन-विचार तारों के माध्यम से उससे पहले आ गया था। यहाँ से यूनान पहुँचने पर तारों के सम्प्रदाय को एक नई व्याख्या प्राप्त हुई जिसने प्राचीन देवकुल को एक विचित्र एवं प्रकाशित वस्तुओं के संसार के रूप में परिवर्तित कर दिया। ई०पू० द्वितीय शताब्दी के विचारकों ने रहस्यवाद का मार्ग अपनाया, तब तक सारा नक्षत्र पूजन कमोबेश जादू की व्यवस्था बन चुकी थी। लाभप्रद होने पर भी पूरे तौर पर इसका प्रयोग लाभ के लिए नहीं किया जाता था क्योंकि जिज्ञासु तथा नक्षत्रीय विद्या के निर्वाहक दोनों ही तारों के प्रभाव में वास्तविक रूप से विश्वास रखते थे (जैसे अब भी है)। भारत में किसान सामान्यतया यह विश्वास करते हैं कि तारे लोगों की रूहें हैं। यद्यपि प्राचीन समय में वे रूह-संसार के रूप में भी कार्य करते हैं, अर्थात् प्रत्येक रूह को अपने घर के रूप में एक तारा मिल जाता है; परन्तु प्रचलित विश्वास तब

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भी यही था कि तारे रूहे हैं और तारों के झुण्ड पशु हैं। पश्चिम में, जहाँ पार्थिव पशुओं की पूजा का बहिष्कार किया जा चुका था, उनकी नाक्षत्रिक आकृतियाँ, सिंह, बैल और मछलियों से ही स्वर्गिक शक्तियों के समूह का निर्माण किया गया था; और देवशास्त्र के रूप में वे पुरानी कहानियों से सम्बद्ध थे। इसके बाद प्राकृतिक इतिहास के संग्रहालय से निकलकर इनमें से बारह तो राशिचक्र के चिह्न बन गए और जिस आकाश में वे घूमा करते थे उसकी सूक्तों तथा बलि से पूजा की जाती थी। स्वर्गिक वस्तुओं में सबसे सक्षम थे नक्षत्र जिनके नाम से ही मंगल तथा शुक्र आदि का सम्प्रदाय चल पड़ा।

इन नक्षत्रों का क्रमशः प्रत्येक का एक धातु, पौधा और पत्थर होता था। उनके माध्यम से सक्षम होकर उनकी भी पूजा की जाती थी। उस समय वे तत्त्व भी तत्त्वरूप में पूजे जाते थे जिनका पूर्व में पहले से ही दैवीकरण किया जा चुका था। फिर सभी निम्नस्तरीय वृत्त उच्चस्तरीय वृत्तों द्वारा नियमित होते थे और निर्णायिक भाग्य या आवश्यकता के रूप में निश्चित व्यवस्था की शक्ति ही इन सब पर राज्य करती थी। इस शक्ति के माध्यम से एक चक्कर के बाद दूसरा चक्कर पूर्ववर्ती घटनाओं के द्विगुणन के रूप में आता है (तारों द्वारा नियमित होकर)। इन सभी तारों तथा नक्षत्रों में शुक्र सबसे अधिक उन्नत था और सूर्य तथा चन्द्रमा के साथ मिलकर एक त्रयी बन गई थी (वेबिलोनिया के इश्तर, शामश और सिन के सम्प्रदाय से नकल किया गया)।

चन्द्रपूजा अफ्रीकी धर्म का लक्षण है तथा मिश्र, बेबिलोनिया और भारत के सबसे प्राचीन धार्मिक साहित्य में विदित है। किन्हीं सन्दर्भों में यह सम्भवतः सूर्य-पूजा से भी पुराना है क्योंकि कृषि की अपेक्षा शिकार की अवस्था से इसका अधिक सम्बन्ध है, यद्यपि नक्षत्रों के जीवन पर भी चन्द्रमा का प्रभाव देखा गया है। भारत में चन्द्रमा "पौधों का स्वामी" है क्योंकि पवित्र सोम के पौधे से इसका तादात्म्य है, परन्तु आदिम कृषि का साहित्य फसल के विकास को लेकर चन्द्रमा के प्रभाव से भरपूर है। ओल्ड टेस्टामेण्ट की पाँचवी पुस्तक में यह बतलाया गया है कि चन्द्रमा सूर्य जैसे पौधों को पैदा करता है परन्तु दूसरी तरफ पुरुषों पर चन्द्रमा के दुष्प्रभाव को भी (१२१·६) पहचान लिया गया है। हमारे किसानों के लिए यह सामान्य ज्ञान है कि चन्द्रमा के समय में ही बीज बोना चाहिए।[५]

५. एफ० एल० पैंटी के ग्रन्थ 'हाऊस ऑफ दी ब्लेक रिंग' में दिये गए आदेशों की तुलना करें। चन्द्रमा के समय में पौधा लगाना चाहिए, हर एक वस्तु जो नीचे की ओर जाती है उसको चन्द्रमा के नीचे जाने के समय बोना चाहिए; परन्तु "फलियाँ, मटर और ऐसी तरकारी को तब बोना चाहिए जब चन्द्रमा चढ़ रहा हो।"

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जादू में चन्द्रमा अतीव महत्त्वपूर्ण है, खास तौर पर स्त्रियों के लिए जो स्वाभाविक रूप से चन्द्रमा को विशेष आदर प्रदान करती हैं। बच्चों को चाहने वाली स्त्रियां चन्द्रमा के प्रति प्रार्थना किया करती थीं और प्राचीन भारत में पूर्ण-चन्द्र के दिन प्रतिज्ञा किया करती थीं। आज भी वे चन्द्रमा की पूजा इसलिए करती हैं कि उनके बच्चे बीमारियों से बच जाएँ। वे बलि देकर चन्द्रोदय के दिन व्रत रखती हैं। सूर्य और चन्द्रमा के सापेक्ष मूल्य से मौसम का सम्बन्ध है। बंगाल की अपेक्षा जहाँ चन्द्रमा की पूजा अधिक होती हैं, ठण्डे पंजाब में सूर्य की आवश्यकता अधिक होती है। द्रविड़ लोग सूर्य और चन्द्रमा दोनों की पूजा करते हैं जबकि खोंड लोग सूर्य को सर्वोच्च देवता मानते हैं यद्यपि संथाली लोग और उनके रिश्तेदार न सूर्य की पूजा करते हैं और न चन्द्रमा की। मध्य भारत में कुछ लोग दोनों देवताओं के लिए सूर्य और चन्द्रमा की मूर्ति वाले तक्षित खम्भे गाड़ते हैं और इन खम्भों को देवता समान मानते हैं। दक्षिण आस्ट्रेलिया के समान भारत में भी चन्द्रमा की कलाओं में पृथक् देवता की कल्पना की जाती है। टेरा डेल फ्युगो में वहाँ के निवासी गर्मी चाहते हैं और इसलिए चन्द्रमा की उपेक्षा करके सूर्य पर श्रद्धा रखते हैं। ब्राजील में दोनों की पूजा की जाती है। ज्योतिषशास्त्र ने "मापक" (चन्द्रमा) को खास तौर से श्रद्धास्पद बना दिया है। यह समय का विभाजन करता है और भारत में इसने अट्ठाईस दिनों को विभाजित किया है। "सन्धि-दिवसों" पर पवित्र चन्द्र-दिवसों का विभाजन करते हुए हमारे साप्ताहिक विभाजन के समान बीच-बीच में मध्यान्तर देते हुए उनको (दिनों को) पुनः विभाजित किया गया है। चन्द्रमा को श्रद्धास्पद मानने के अन्य कारणों के अतिरिक्त भारतीय विश्वास के अनुसार यह वह स्थान है जहाँ पर थोड़े समय के लिए मृतकों की आत्माएँ जाती हैं। नए पूर्ण चन्द्रोदय के दिन वे अधिक सक्रिय बन जाती हैं।[६] परन्तु भारत में चन्द्रमा की पूजा पूर्ण चन्द्रोदय के दिन की अपेक्षा नये चन्द्र-दिवस पर की जाती थी।

चन्द्र सम्प्रदाय मृतक के देवता के रूप में जादू से संबद्ध है। इसने धार्मिक श्रद्धा की वस्तु के रूप में इसकी लोकप्रियता में गतिरोध पैदा कर दिया होगा। परन्तु सम्भवतः इस पर सभ्यता के विकास का अधिक शक्तिशाली प्रभाव पड़ा होगा। ज्योतिषशास्त्र की उपज के रूप में ज्योतिषशास्त्र के अतिरिक्त चन्द्रमा के सम्प्रदाय

---

६. हमारा सप्ताह सम्भवतः चन्द्रमा के विभाजन को व्यक्त करता है, यद्यपि कुछ लोग इस विषय में विवाद करते हैं; परन्तु देखो रोशर डी हेब्डोमेडेनलेहरिन् पृ० ३१ फुटनोट। मिश्र के धर्म में चन्द्रमा की कलाओं पर देखिए फ्रेजर; एडोनिस्, एटिस्, ओसिरिस्, पृ० ३१६ फुटनोट। सिनाई का नाम चन्द्रमा देवता 'सिन' से पड़ गया होगा।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

गौण रूप से महत्त्वपूर्ण हैं[७] और ऐसा प्रतीत होता है कि ये औरतों तथा जादूगरों के हाथ में पड़ गए हैं। भारत और परशिया में सोम-सम्प्रदाय ने चन्द्रमा को केवल विशुद्ध काल्पनिक एवं धार्मिक मूल्य प्रदान किया है। सभ्य-जातियों में भी चन्द्रमा पूजा बहुत जल्दी ही समाप्त हो गई थी और भारत तथा अन्यत्र यह भूतनियों और बेवकूफी के अन्धविश्वासों की कठपुतली के रूप में ही अवशिष्ट रह गई है (चन्द्रमा के घटने पर चन्द्र किरणों का पान करना, कीलक मुद्राओं का सेवन आदि)। घरेलू संस्कारों का सम्बन्ध नए चन्द्रमा से है (पूजा की अपेक्षा पूर्ण चन्द्र के अवसर पर मनाए जाने वाले राष्ट्रीय उत्सव प्रकाश के लिए अधिक होते हैं), क्योंकि अनेक संस्कार पूर्वजों के प्रति बलि प्रदान करते हैं और नया चन्द्रमा भाग्यशाली होता है। भारत में अगस्त के महीने में चन्द्रमा को देखने से झूठा दोष सिर मढ दिया जाता है, परन्तु इसका चौथा दिन खासतौर पर पवित्र होता है। बौद्ध लोग भी नए चन्द्रमा की पूजा किया करते थे।[८]

---

७. सिन (पाप) उर् और हेरन के चन्द्रमा देवता प्राचीन सुमेरयाई "ज्ञान के देवता" के रूप में लोकप्रिय हो गए; परन्तु नक्षत्रपूजन ने शक्तियों में बढ़ोतरी कर दी थी। इसके अतिरिक्त मिस्री चन्द्रमा के समान एक मल्लाह या नाव-देवता था। सूर्य की तुलना में उसका महत्त्व बहुत कम था। वास्तविक पूजा में चन्द्रमा का संप्रदाय प्रमुख नहीं है। तुलना कीजिए, जेस्ट्रो, एसपेक्टस् ऑफ रीलिजियस् बिलीफ इन् बेबिलोनिया एण्ड असीरिया, पृ० १४४। इसलिए जापान में सूर्य मूलतः एक महत्त्वपूर्ण देवी था और छोटा पुरुष रूप चन्द्र देवता था। चीन में (नयी) चन्द्रमा देवी की पूजा बसन्त ऋतु में पश्चिमी देवता के रूप में दिखाऊ तौर पर की जाती है (पूर्व के सूर्य देवता के विरोध में)।

८. चीन, यूनान और रोम में चन्द्रमा एक देवी है। मिस्र, भारत और वेबिलोनिया में देवता। देवता के रूप का निर्णय प्रायः व्याकरण के लिंग के अनुसार होता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अध्याय ५

सूर्य-पूजा

सूर्य की पूजा करने वाले अनेक असभ्य कबीलों की चर्चा चन्द्रसम्प्रदाय के सम्बन्ध में की जा चुकी हैं। सूर्य पूजा का विशिष्ट सम्बन्ध पारसियों, मिस्र के लोगों, अमरीकी भारतीय तथा द्रविड़ लोगों से है। ये सूर्य को एक उदार देवता मानते हैं। सूर्य के साथ चलने के महत्त्व का प्राचीन विश्वास आज भी हमारे पास अनेक अविचारित रूप में विद्यमान है, जैसे मेज पर प्रतीक्षा करना और पत्ते खेलना। यह वास्तव में भारत और चीन के धार्मिक संस्कारों में सुरक्षित एक आदिम प्रयोग को प्रतिबिम्बित करता है। एक पवित्र वस्तु की ओर अपना दायाँ हाथ रखकर चलने के रूप में यह केल्ट लोगों को विदित था।

हमें सूर्य-पूजा के महत्त्व का थोड़ा-सा विचार लौकिक पुरातत्त्व से मिलता है क्योंकि न तो यूनानी लोग और न रोमन लोग ही इस पर बल दिया करते थे। होमर में भी हेलिओस को बहुत गौण स्थान मिला है तथा अपोलो को ही सभी प्रतिष्ठा मिली है; क्योंकि यूनानी लोगों ने चन्द्र देवी और चन्द्र-पूजा को सेमेटिक लोगों से आयातित किया था (यूनान के मूल निवासी के मन में चाँद के प्रति एक जादूई मूल्य वाला ही सम्मान था)। इसलिए रोमन लोगों ने चन्द्रमा और सूर्य दोनों की राजकीय पूजा मध्य इटली के प्राचीन लोगों से आयातित की थी। पिण्डर महोदय का कहना है कि रोडोस को उसके लिए बनाये जाने तक हेलिओस को पृथ्वी का कोई भाग नहीं मिला था और यूनान के आर्यों के लिए यह काव्यात्मक तथ्य बहुत दूर तक गलत नहीं है। दूसरी ओर भारतवर्ष में किसी न किसी रूप में सूर्य की पूजा प्राचीन काल से ही की जाती थी। इसके समय में दसवीं शताब्दी जितने परवर्ती काल में सूर्य पूजकों के फलते-फूलते छः सम्प्रदाय थे, यद्यपि इस मूल सम्प्रदाय का आंशिक विकास पारसी प्रभाव के अन्तर्गत हुआ था। स्वय फारस में सूर्य-पूजा ने अन्तिम रूप से मिथ्रवाद नामक उस रहस्यमय धर्म को जन्म दिया था। इसने एक बार ईसाई मत की सफलता को भी धमकी दे दी थी। फिर जैसे यूनान के अपोलो सम्प्रदाय में सूर्य की पूजा बहुत ही कम है या बिल्कुल ही नहीं है, यह मूल सूर्य सम्प्रदाय में भी विद्यमान थी। इसके परवर्ती विकास ने उसको

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तिरोहित कर दिया है। इस प्रकार सूर्य को प्रायः एक नए उन्नत स्थान पर स्थापित किया गया है। सत्तरहवीं शताब्दी में मुसलमान अकबर ने सूर्य-पूजा को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया था परन्तु निस्सन्देह उसको सूर्य मात्र एक प्रतीक के रूप में ही स्वीकार्य था। अकबर ने असल में जो करने की कोशिश की थी, वह पुराने सूर्य सम्प्रदाय के एक विशुद्ध देवता में विश्वास की अभिव्यक्ति के रूप में एक नया धर्म चलाना ही था। यह वास्तविक सूर्य-पूजा के इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है। मिस्र के अमेनहोटम चतुर्थ के द्वारा भी वैसा ही प्रयास किया गया था। इसने अपने लोगों में "सूर्य-तश्तरी" की पूजा जबरदस्ती प्रारम्भ की थी। यह बहुदेववाद पर एकदेवतावाद या देवकुलवादी सुधार के रूप में ही था। सम्भवतः यह प्राचीन दक्षिणी सूर्य-पूजा का सुधरा हुआ रूप रहा हो।

यह बड़ा ही विचित्र है कि ये प्रयास, जो एक व्यक्तिगत पक्षपात को अभिव्यक्त करते हैं और सम्भवतः जिनका उद्भव बाह्य प्रभाव के कारण हुआ है, अमेरिका में इनका कोई सादृश्य नहीं है। वहाँ पर सूर्य ने एक ऐसा देवत्व प्राप्त किया है कि इसको एक सर्वोच्च देवता के रूप में समझा गया है; यद्यपि युक्तिपूर्ण अध्यात्मवादी ने, जो ऐसे देवत्व पर विवाद किया करते थे, सबसे पहले 'सूर्य से भी ऊँचे देवता की' कल्पना की थी। क्योंकि उसने यह देखा था कि सूर्य स्वयं घरेलू नौकर या धनुष से छोड़े गए निर्जीव बाण की तरह अपना प्रतिदिन का कार्य करता था; अतः घरेलू नौकर या तीर चलाने वाला कोई मालिक भी होना चाहिए। फिर भी यह उसका क्षणिक और वैयक्तिक फैलाव ही था जो अन्यथा उस सूर्य देवता के लिए पूर्ण समर्पण का भाव था। मैक्सिको तथा पेरू निवासियों ने इस देवता को सर्वोच्च स्थान पर स्थापित कर दिया था, जैसे उत्तर भारत के भारतीय लगभग सार्वभौम रूप से उसी देवता की पूजा किया करते थे। जैसे बेबिलोन में, वैसे ही मेक्सिको तथा पेरू में सूर्यपूजा के अन्य सभी सम्प्रदायों को आत्मसात् कर लिया है। मैक्सिकन देवता को मानव प्राणियों की सबसे वीभत्स बलियाँ भेंट की जाती थीं। यहाँ सूर्य स्पष्ट रूप से उर्वरकता का स्रोत था, यद्यपि पेरू में शासकों के राजनैतिक दावपेंचों के द्वारा इस सम्प्रदाय की वृद्धि की गई थी। सभी शासक सूर्यवंशी थे।

सूर्य साफतौर पर एक राजकीय देवता है और उर्वरक तथा आश्रयदाता की उसकी शक्ति के अरिरिक्त उसको एक संरक्षक या राजाओं के पूर्वज के रूप में उसकी प्रतिष्ठा और बढ़ जाती है। इसलिए मिस्र में राजा का तादात्म्य "र" के साथ स्थापित किया जाता है। बेबिलोन में राजा शामस को अभिव्यक्त करता है और रोम में शहनशाह सोलइनविक्टस का अवतार बन जाता है। बेबिलोनियाई क्रम में सूर्य पृथ्वी के सात वृत्तों में बीच का स्थान ग्रहण करता था और दूसरे नक्षत्र इसके आसपास चक्कर लगाया करते थे। यह सूर्य राजा था। यह संसार का हृदय,

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तत्त्वों तथा ऋतुओं का शासक, तारों का नियन्ता, प्रकृति का मुख्य देवता था। सूर्य आत्मा के रूप में विद्वान् नहीं था अपितु स्वयं अपने आप में विद्वान् था।[1] दर्शन ने सूर्य को अन्तिम रूप से तर्क के क्षेत्र से बाहर कर दिया है। चतुर्थ शताब्दी में ईसाई मत ने नए सूर्य के दिन को ईसा के जन्मदिवस में बदल दिया, जबकि रविवार प्रथम दिन के रूप में आज भी ज्योतिषी सप्ताह में इसको दिये जाने वाले महत्त्व को अभिव्यक्त करता है।

उर्वरकता के रूप में खून की बलियों का ग्राहक बनने की अपेक्षा सूर्य कभी-कभी एक उदार उत्पादक भी समझा जाता है। इसका कार्य सुरक्षित रखना है। इसके सम्प्रदाय में इसको फलों की हानिरहित बलियां दी जाती हैं, जैसा कि विष्णु के सन्दर्भ में है। विष्णु का चक्र तथा उसके तीन कदम इसकी सूर्योत्पत्ति को बतलाते हैं। यह खून खराबा तथा हिंसा से घृणा करता है; या फिर भी सूर्य स्थित रहता है, एक उत्पादक के रूप में इसका कार्य किया जाता है, एक ऐसा देवता जिसको किसी भी प्रकार की बलि देना निरर्थक है। अतः भारतवर्ष के खोण्ड नामक जाति के लोग कहते हैं, "प्रारम्भ में प्रकाश के महान् देवता सूर्य ने एक पत्नी पृथ्वी देवी को पैदा किया। वह हमारा मुख्य देवता है। वह बुराई की प्रवर्तक थी; अतः हम उसको (देवी को) भेंट देते हैं, उसको नहीं, क्योंकि केवल उस देवी को सन्तुष्ट करना ही अनिवार्य है। वह अच्छा है। उसको सन्तुष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। अतः वह हमसे बलि ग्रहण नहीं करता, परन्तु उसके सम्मान में एक वसन्तोत्सव मनाकर हम उसको पूजते हैं।" उसी तरह ओरान लोग सूर्य को सर्वोच्च देवता मानते हैं परन्तु वे उसके प्रति प्रार्थना नहीं करते "क्योंकि वह उनको नुकसान नहीं पहुँचाता। परन्तु वे बुरी आत्माओं को "सन्तुष्ट करने के लिए" बलि प्रदान करते हैं। वही कारण है कि ब्रह्मा के केवल एक या दो ही मन्दिर हैं, यद्यपि सामान्यतया इसको माना नहीं गया है। उसका काम हो जाता है और मनुष्य उन देवताओं की पूजा करता हैं जो सक्रिय हैं। विष्णु की संरक्षक के रूप में तथा शिव की संहारक के रूप में पूजा की जाती है।

यह तथ्य कि खोण्ड जैसे असभ्य व्यक्ति सूर्य की पूजा एक देवता तथा सर्वोच्च देवता के रूप में करते हैं, असभ्य व्यक्तियों की नैतिकता का प्रश्न पैदा करता है। यह सन्देहास्पद है कि क्या अफ्रीका के बेछुआना लोगों के विचारों की अपेक्षा और अधिक आदिम विचार भी विद्यमान हैं। बेछुआना लोग वर्षा की एक लाभदायक शक्ति के रूप में पूजा करते हैं, या पेरागुआई के एबिपोन्स लोग अनंग नामक शक्ति की पूजा करते हैं, जिसे देवता या राक्षस कहा जा सकता है। उसकी

---

१. क्यूमाउण्ट : एस्ट्रोलिजी एण्ड रिलीजन अमन्ग दी ग्रीकस् एण्ड रोमनस्; पृ० १२७, फुटनोट।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पूजा होती है और वह बीमारी पैदा करता है, परन्तु वह धन-सम्पत्ति भी देता है क्योंकि एक प्रतीक भी चोरी तथा व्यभिचार के लिए दण्डित करने वाली एक नैतिक शक्ति ही है। यह विवाद करना अनावश्यक है कि गुआना भारतीयों की शक्ति (आत्मा) वहाँ की मूल नहीं है क्योंकि वह "भले लोगों को पुरस्कृत करती है और बुरों को दण्डित करती है।"[२] सूर्य खास तौर पर इस तथ्य के कारण एक नैतिक अभिभावक समझा जाने के योग्य है वह सभी चीजों को देखता है। उससे कुछ भी छिपाया नहीं जा सकता (या वह स्वर्ग की आँख है), वह एक द्रष्टा, शोधक और सुधारक भी है। मिस्र में सूर्य देवता संसार का पहला नैतिक अभिभावक है।

सूर्य पूजा की सफलता को भारतीय साहित्य में मिलने वाले दो सूर्य सूक्तों से प्रदर्शित किया जा सकता है। पहला सूक्त बहुत ही प्राचीन काल का है (यद्यपि यह पहले से ही सभ्य था)। पहला सूक्त सूर्य को शक्ति के भाव से युक्त एक भौतिक वस्तु, काल के मापक्र, मनुष्यों के कार्यों का निरीक्षक, स्वर्ग-देवता की आँख के रूप में एक दिव्य शरीर के रूप में अभिव्यक्त करता है—"उसकी किरणें उसे अब ऊँचा उठा रही हैं; ताकि सभी लोग सूर्य को देख सकें; वह देवता सभी लोगों को भली-भाँति जानता है। सूर्य के सामने तारे चोरों के समान दूर भाग जाते हैं। सूर्य सभी को देखता है। सारे विश्व में उसकी किरणें देखी जाती हैं जैसे अग्नि अपने पूरे तेज में, आप गतिशील, सभी के लिए दृश्य, आप प्रकाश के कर्ता हैं; हे सूर्य ! आप प्रकाशमय संसार के माध्यम से चमकते हैं। आप लोगों के सामने उदित होते हैं, सभी लोगों के सामने, ताकि प्रत्येक व्यक्ति सूर्य को देख सके, जिसके साथ, हे विशुद्ध देदीप्यमान स्वर्ग की एक आँख के रूप में आप व्यस्त लोगों को देखते हैं। आकाश और विस्तृत अन्तरिक्ष के पार आप जाते हैं, दिनों को गिनते हुए और पीढ़ियों को गुजरता हुआ देखते हुए। सात पीले घोड़े आपके रथ को खींचते हैं; चमकदार बालों वाले हे दूरद्रष्टा सूर्य ! आपने अपने सात[3] शुद्ध घोड़ों को जोत लिया है। उसके पहियों वाले रथ की बेटियाँ और उनके साथ अपने घोड़ों के रूप में वह चलता है।"

एक परवर्ती कवि ने ये शब्द और जोड़ दिए हैं: "हम अन्धकार से आए हैं, सर्वोत्तम प्रकाश तथा देवताओं में देव को खोजते हुए। हे सूर्य देव ! अपने मित्रों के सहायक, सर्वोच्च आकाश में आप उदित होते हैं। मेरे हृदय की इस बीमारी

---

२. तुलना करें, डी० 'आरबाईगानी के अपने फेकिक्स डे आंजरा एल् होमे अमेरिकनी' (१८३९) की आलोचना और टेलर की टिप्पणियाँ।

३. सात 'अनेक' का सन्दिग्ध रूप है परन्तु जिसको सूर्य के सात घोड़ों, सात पितर, सात संन्यासियों, सात नदियों और सात संसारों से अक्षरशः ले लिया गया है। आगे त्रयी पर (अध्याय १७) देखें।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पीलिये को समाप्त करो।" अर्थात् पीले सूर्य तथा पीलिये को जोड़कर कान्ति पैदा करने के लिए उसने इस सूक्त का प्रयोग किया है। परन्तु ऐसा करने में उसने ये महत्त्वपूर्ण शब्द "सर्वोच्च प्रकाश, देवताओं में देव" बीच में डाल दिए हैं। इसके बहुत बाद में, लगभग एक हजार वर्ष बाद या कुछ ऐसे ही समय में एक महाकाव्य के कवि ने सूर्य के लिए एक दूसरे सूक्त की रचना की है। यह सूक्त यह प्रदर्शित करता है कि यह देवता, सर्वोच्च कैसे बन गया है, शारीरिक और नैतिक रूप से प्रकाशों का प्रकाश।"[4]

"हे सूर्य! आप संसार के नेत्र हो, जो कुछ है उसके स्रोत, सभी वस्तुओं के उत्पत्ति स्थान, विद्वान् लोगों की शरण, मुक्ति चाहने वाले लोगों के लिए आनन्द द्वार हैं। असहाय अवस्था में आप संसार के धारक हैं। पुरोहित आपकी उपासना करते हैं; साधु संन्यासी भी आपकी उपासना करते हैं। विशुद्धात्मा, फरिश्ते और स्वर्ग के गायक आपका अनुसरण करते हैं। सभी देवताओं ने आपकी पूजा की है; आपकी पूजा तथा आपको स्वर्गिक पुष्पों[5] की भेंट करके सात पितर अपनी सभी मनोकामनाएँ पूरी करते हैं; जैसे उन्होंने आपकी पूजा करके (मूलतः) स्वर्ग प्राप्त किया। सभी सात लोकों में आपसे बड़ा कोई नहीं है; स्वर्ग का कोई भी प्राणी कान्ति में आपके समान नहीं है; क्योंकि आप में पूर्ण प्रकाश है; आप प्रकाश के स्वामी हैं; आपमें सभी तत्त्व हैं; सम्पूर्ण ज्ञान, वैदुष्य तथा धार्मिक तप आप में है। शक्ति के माध्यम से देवताओं के स्रष्टा (सर्वस्रष्टा) ने प्रभामण्डल बनाया, जिसके द्वारा विष्णु ने अन्धकार के राक्षस का संहार किया। आप स्वयं सर्वस्रष्टा हैं जैसे आप ही ब्रह्मा हैं। क्योंकि आप ही जीवनदाता हैं; गर्मी में आप पृथिवी की नमी को अपनी किरणों से ग्रहण करते हैं और वर्षा ऋतु में आप उसे उडेल देते हैं, वर्षा देते हुए, धान्य देते हुए, जीवन देते हुए। बादलों में गर्जना होती है और बादलों में बिजली चमकती है। वे आपकी किरणें हैं, बादलों में विद्युत चमकती हुई फड़क जाती है। परन्तु आप दयालु हैं। न आग, न घर, न गर्म कपड़े हमें इतनी गर्मी देते हैं जितना आराम आप देते हैं। तेरह द्वीपों वाली यह सम्पूर्ण पृथिवी आपके द्वारा एक रूप होकर चमकती है। (सभी प्रदेशों में आप ही एक देवता के रूप में चमकते हैं); जहाँ कहीं भी आप चमकते हैं; आप ही मात्र एक देवता

---

४. ऋग्वेद में १·५० प्राचीन सूक्त है। दूसरा महाभारत II-३ में पाया जाता है। 'द्वार' नामक अभिधान की तुलना बेबिलोनिया से कीजिए। इस सूक्त के सूर्य के १०८ नामों की आवृत्ति के साथ पुनरावृत्ति करनी है। अनुवाद में कुछ पद्य छोड़ दिए गए हैं।

५. अर्थात् वे केवल उसे कल्पना लोक की ही वस्तु भेंट करते हैं जो स्वर्ग में में उपलब्ध हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हैं जो मानवों का भला करने में व्यस्त हैं; न केवल मानवों का अपितु तीनों लोकों का (पृथिवी, अन्तरिक्ष और आकाश)। यदि ऐसा हो कि आप उदित न हों, तो संसार तुरन्त अन्धा हो जाए; केवल आपकी कृपा से ही मनुष्य अपना काम करते हैं। स्रष्टा ब्रह्मा का दिन हजारों युगों तक चलता है; उस दिन के आप आदि और अन्त हैं; आप सभी युगों तथा कल्पों में (सभी समय में स्वामी) ईशों के भी ईश हैं और अन्त में जब उस महान् दिवस (समय) का अन्त आएगा तब उसी तरह आपसे प्रज्जवलित अग्नि संसार को भस्म कर देगी। सारे संसार का विनाश होगा और पापयुक्त संसार के विरुद्ध उत्पन्न आपकी क्रोधाग्नि प्रकट होगी और स्वयं अग्नि के अतिरिक्त और कोई नहीं बचेगा। बादलों, बाढ़, तूफान तथा मृत्यु को और अधिक सार्वभौम बनाती हुई यह विद्युत उस अग्नि की बाढ़ में अग्नि को सोखने के लिए जब बारह सूर्यों का रूप धारण करेगी; परन्तु वह सब आप ही हैं; सभी बारह सूर्य आप ही हैं। जैसे आप सभी देवता हैं इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, अग्नि (अग्नि देवता), और आप केवल दृश्य (अग्नि) ही नहीं; परन्तु आप अदृश्य अग्नि भी हैं, जो विचार है, हाँ वैदुष्याग्नि, सूक्ष्म वैदुष्य भी आप ही हैं और आप शाश्वत (संसार शक्ति) ब्रह्मा भी हैं।[६] विशुद्धात्मा हंस आप हैं, फिर भी गतिशील हैं, प्रकाश शीर्षस्थ देवता। सूर्य के सभी नाम भी आप हैं (सूर्य प्रत्येक रूप में, विशुद्ध रूप में, शक्तिशाली, शासक, अन्धकारनाशक, असीम वर्णनातीत, शाश्वत आदि); प्रकाश का देवता और ऋत का देवता, और वह देवता जो दिन को बनाता है, सात घोड़ों का देवता, पीले घोड़ों का देवता, द्रुतगामी, अन्धकार नाशक (ये सभी उसी देवता के नाम मात्र हैं) देवताओं का देवता। चन्द्रमा के छठे दिन या सातवें दिन जो भी आपकी पूजा करता है आपकी कृपा प्राप्त करेगा और आपकी कृपा उसे सौभाग्य प्रदान करेगी। आपके पूजक सौभाग्यशाली हैं, क्योंकि वे खतरे से मुक्त होंगे, पीड़ा से मुक्त, सभी प्रकार के कष्टों से मुक्त; वे दीर्घायु होंगे और निरोग होंगे जो संसार की आत्मा के रूप में आप में विश्वास रखते हैं। हे आश्रय-दाता, आज हमें हमारा भोजन दो। मैं आपके प्रति नतमस्तक होता हूँ और अरुण देवता के लिए भी नतमस्तक होता हूँ जो लालवर्ण के रूप में आपके आगे भागता है, आपका सेवक मेरा स्वामी; मैं दण्ड को नमस्कार करता हूँ। मैं आपके वज्र विद्युत् के सामने नतमस्तक होता हूँ, उन सभी साधुओं को, जो आपका अनुगमन करते हैं और आप में आश्रय प्राप्त करते हैं, प्रणाम करता हूँ, इन सभी को मैं नमस्कार करता हूँ। जो मैं आपका याचक हूँ मुझे प्रदान करो।"

जब इस सूर्य-देवता को मानव-सन्तान की इच्छा होती है तो इस विशिष्ट सम्मान के लिए चुनी गई राजकीय वंश की विशुद्ध कन्या का स्पर्श कर लेता है

---

६. नपुंसक ब्रह्मा, सर्वोच्च ब्रह्मा पुंल्लिग नहीं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

और वह विशुद्ध निष्कलंक रूप से गर्भ धारण कर लेती है ताकि वह कुंवारी बनी रहे[७], और लड़के को जन्म देती है। परन्तु बच्चे को एक बक्से में रख दिया जाता है और इसे नदी में बहा दिया जाता है तथा समय रहते उसे एक योग्य व्यक्ति द्वारा बचा लिया जाता है और वह एक अर्ध-देवता के रूप में पार्थिव नायक में विकसित हो जाता है। इस प्रकार विद्वान् लोग अपना उद्भव देवताओं में खोजते हैं।

ऋग्वेद के काल से ही सूर्य सर्वोच्च देवत्व का प्रतीक था। उपनिषदों में परमात्मा वह "सूर्य है जिसके पीछे सब कुछ भासित होता है।" दर्शन में सूर्य ईश्वर से विशिष्ट है। तब वह भारतीय विचार के लिए पराया नहीं है जब बौद्ध धर्म में 'अनन्त प्रकाश' के प्राणी दिखलाई पड़ते हैं यद्यपि कुछ विद्वान् उनको परशिया से उद्भूत मानने का प्रयास करते हैं।

जैसे सूर्य ऋतुओं और वर्षों का विभाजन करता है, लगातार घटनाओं के क्रम में वह विशिष्ट बन जाता है। इससे ब्रह्माण्ड में व्यवस्थित क्रम की भावना अग्रसर होती है और तब सूर्य अग्रणीय शक्ति बन जाता है, एक नक्षत्र जिसके चारों ओर उसकी शक्ति के माध्यम से संसार चक्कर लगाता है और विद्यमान रहता है। बेबिलोनियाई व्यवस्था में सूर्य ऐसा ही राजा था और अमेन होटप चतुर्थ के पाखण्ड में ऐसी ही अन्तर्वर्ती भावना विद्यमान थी। परन्तु ब्रह्माण्ड को नियमित करने वाली ऋत की भावना अंतिम सूर्य-देवता की अपेक्षा आकाश से समग्र रूप से जुड़ी हुई है। स्वर्ग और सर्वोच्च ईश्वर का मानवीकृत रूप आकाश इस तरह चीन में मार्ग नामक दिव्य ऋत का आदर्श बन जाता है और ब्रह्माण्ड का शारीरिक तथा नैतिक आधार समझा जाता है। भारत में 'समझदार देवता' वरुण स्वर्गरूप है। वह वरुण एक व्यवस्थित राज्य के राजा के रूप में मानवीकृत हुआ है। इसके पास पृष्ठ भाग में अस्पष्ट रूप से धुंधलाता हुआ ऋत विद्यमान रहता है। पहले तो नहीं अपितु ऋग्वेद के अन्त तक उसका भी मानवीकरण किया जा चुका था। इस प्रकार ऋत मूलतः एक ऋत्विजीय भावना थी तथा ऋतुओं के यज्ञीय क्रम को अभिव्यक्त करती थी परन्तु बाद में नैतिक रूप में संसार के पूरे क्रम को आत्मसात् करते हुए इसका विस्तार कर दिया गया। यह मात्र घटनाओं का केवल सिल-सिलेवार क्रम नहीं था। बीज बोने और फसल को संकेतित करने वाले संस्कारों की स्थापना के साथ ही सम्भवतः ऋत सम्बन्धी नियमितता की भावना बिल्कुल पहली बार आई थी। इससे ही क्रमशः नैतिक और साथ-साथ शारीरिक रूप में

---

७. जोरास्टर की उत्पत्ति भी कन्या से बतलाई जाती है। इनकी माता ने पवित्र रूप में गर्भ धारण किया था (कड़े अर्थ में) और बाद की परम्परा में बुद्ध की उत्पत्ति भी कन्या से बतलाई गई है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

संसार के क्रम का विकास हुआ है। यह नैतिक शक्ति की 'आंख' ही थी कि सर्वद्रष्टा सूर्य ने इस विचार को नैतिकता की ओर आगे बढ़ाया। एक वैसी सी ऋत की शक्ति मिस्र की देवी माता के शरीर में दिखलाई पड़ती है। प्राचीन सभी सभ्य समुदायों में ऋत की यह भावना जीवन के अन्तर्वर्ती सामञ्जस्य के सादृश्य पर आधारित थी। यह सामञ्जस्य सत्ता के महान् उद्देश्य से मेल खाता है। इस प्रकार मनुष्य का शाश्वत दिव्य नियमों से तालमेल बैठाने का प्रयत्न ही धर्म है। एक महान् स्तर पर भी वही उद्देश्य है जो उसके संकुचित समझदारी के वातावरण में इस छोटी-सी दुनियाँ के नियम उस असभ्य व्यक्ति से मनवाते हैं उस दुनियाँ को वह जानता है। उसको नैसर्गिक रूप में यह अहसास होता है कि उसे अपने बाह्य जीवन की अवस्थाओं के साथ सामञ्जस्य से रहना चाहिए और अच्छी तरह रहने के लिए उसे क़बीले के नियमों को मानना चाहिए। इसलिए उसके पास रहने वाली आध्यात्मिक शक्तियों के नियमों का उसे पालन करना चाहिए।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अध्याय ६

मनुष्य की पूजा

मनुष्य और पशु के बीच हमारी रेखा कुछ मान्यताओं को ध्यान में रखकर खींची जाती है, जैसे कि मनुष्य के पास भाषा, तर्क या रूह है, और पशु में इन मानव लक्षणों की कमी हैं। परन्तु एक असभ्य व्यक्ति इन आधुनिक विचारों से परेशान नहीं होता और उसके लिए मनुष्य के समान पशु के पास भाषा, तर्क तथा रूह है। फिर हम मनुष्य और देवताओं में अन्तर करते हैं। देवताओं के पास अमृतत्व, मानव शक्तियों एवं लक्षणों की अपेक्षा कहीं कुछ अधिक होता है। परन्तु एक असभ्य व्यक्ति सोचता है कि एक आदमी, जिसके पास आदमी से ज्यादा शक्ति है, एक प्रकार का देवता है और वह मानव शक्तियों को अपने मापदण्ड से तोलता है, जबकि अमृतत्व जैसे लक्षण उसको खास तौर पर दिव्य नहीं दिखाई पड़ते। संक्षेप में वह पशु, आदमी एवं देवता की कोई स्पष्ट कोटि निर्धारित नहीं करता और परिणामस्वरूप उसकी एक की पूजा दूसरों की ही पूजा होती है। अमानव देवत्व की पहचान के अर्थ में यह पूजा नहीं होती है, परन्तु यह पूजा एक आध्यात्मिक शक्ति की उपस्थिति के अनुकूल अगाध श्रद्धा होती है जो पूजा करने वाले की शक्ति से कहीं ज्यादा श्रेष्ठ होती है, फिर भी वह पूजा पशु, मनुष्य और देवता के लिए बिल्कुल उपयुक्त होती है। अतः आज भी पूजा शब्द का प्रयोग भारतवर्ष में तीनों के लिए किया जाता है। कभी-कभी पादरी के भय के लिए जिसका विचार है कि पूजा शब्द का प्रयोग उसके अर्थ में, सीमित रूप में होता है। सभी अद्वितीय प्राणी रहस्यमय होते हैं और जो रहस्यमय होता है उससे डर लगता है, या तो उसका परिहार किया जाता है, या आदर किया जाता है, या उसकी पूजा होती है।

जब इस नियम को मनुष्य पर लागू किया जाता है तो यह असभ्य व्यक्तियों या अर्ध-सुसंस्कृत व्यक्तियों के बीच बड़े साधारण ढंग से काम करता है। कुछ असभ्य कबीलों में अद्वितीय एवं रहस्यमय जुड़वां बच्चों को भाग्यहीन समझा जाता है, कुछ में भाग्यशाली समझा जाता है, और या तो उन्हें मरने दिया जाताहै या परिणामस्वरूप वे असाधारण सम्मान प्राप्त करते हैं—यह नियम पूजा के पास

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पहुँच जाता है परन्तु उसके सादृश्य को प्राप्त नहीं करता। परन्तु भूरे जानवर, कवि और विक्षिप्त लोग बहुत ज्यादा विलक्षण होने के कारण बिल्कुल अमानव के रूप में श्रद्धास्पद होने के योग्य होते हैं। अर्धदिव्य प्राणी आध्यात्मिक एवं शरीरिक रूप में अतिमानव होते हैं। पुरोहित आध्यात्मिक संसार के सम्पर्क में आने के कारण और अतिमानव शक्ति के कारण राजा लोग विशिष्ट रूप से आदरणीय श्रद्धा की वस्तु होते हैं। देवताओं को दिए गए सम्मान से यह भिन्न नहीं हैं। उनकी वास्तव में पूजा होती है। रोमनशहनशाह, जिसको दिव्य माना जाता था, राजाओं और पुरोहितों की श्रृंखला का केवल एक उत्तराधिकारी ही होता था। ये राजा तथा पुरोहित अपनी प्रजा के लिए देवता माने जाते थे और उनके बाद मैक्सिको तथा पेरू के राज-देवता भी उसी प्रकार रहा करते थे। आज भी भारतवर्ष की जनता भारत के शहनशाह को एक देवता के रूप में ग्रहण करती है। पोलिनेशिया रूस, और पूर्व के किसान तथा यूरोप के शहनशाह सामान्यतया आज तक यह विश्वास करते रहें हैं कि एक देवता ही एक राजा की रक्षा करता है, सम्भवतः क्योंकि पृथ्वी के देवता की अपेक्षा यह एक भिन्न प्रकार का देवत्व होता है। भारतीय शास्त्रों के अनुसार राजा "देवताओं का संमिश्रित" रूप है और एक पुरोहित 'पृथ्वी पर देवता' होता है। मिस्र में राजा का तादात्म्य सूर्य देवता के साथ स्थापित किया जाता था या उसको सूर्य का पुत्र समझा जाता था। बेबिलोनिया में राजा स्वतः दिव्य हुआ करता था। सेमेटिक शक्ति के बढ़ने के कारण परवर्ती काल में उसने अपना देवत्व खो दिया था परन्तु वह उस देवत्व का प्रतिनिधि बन गया था। सेमेटिक लोगों ने एक जाति के रूप में मनुष्य के देवत्व को कभी भी स्वीकार नहीं किया। इसके अतिरिक्त टोटमवाद का आशय मनुष्य और अतिमानवीय पाशविक देवताओं के बीच दिव्य भ्रातत्व से रहा हो। बहुत ही विरल संदर्भों में एक पुरोहित राजा बनता है, जैसे कि तिब्बत का ऊँचा—पुरोहित लौकिक शासक बन जाता है। परन्तु यह सिद्धान्त कि बेबिलोनिया तथा अन्यत्र राजा मूलतः पुरोहित हुआ करते थे—एक सामान्य कथन के रूप में इतिहास एवं वर्तमान तथ्यों का विपर्यास है। अत्यधिक लड़ाकू समुदायों में कबीले का प्रमुख एक पुरोहित के रूप में नहीं अपितु एक योद्धा के रूप में इसका मुखिया बन जाता है। वैद्य या पुरोहित का पृथक् स्वरूप होता है जैसा हमारे भारतीयों, यूनानियों और रोमन लोगों में होता है। अपने लोगों के जीवन की शक्ति राजा को एक दिव्य अतिमान्यता प्रदान करती हैं। आध्यात्मिकता की शक्ति पुरोहित को प्रभावशाली बनाती है और उसको एक श्रेष्ठ प्राणी के रूप में उन्नत बना देती है। अमरीकी भारतीयों के मुखिया की भाँति अफ्रीकी कबीलों के जीवित प्रमुखों की पूजा पुरोहित के रूप में नहीं की जाती है, परन्तु वे बल और हिंसा के आधार पर अपनी शक्ति बनाए रखते हैं। पोलिनेशिया की तरह अफरीका में भी वे चरित्रवान् होते

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हैं। वे बाद वाले सन्दर्भों में उसी प्रकार की वर्जनाओं को जन्म देते हैं परन्तु ये वर्जनाएँ यूनान और रोम के पुरोहितों की वर्जनाओं से कहीं ज्यादा सख्त होती हैं।

सम्भवतः सबसे प्राचीन अतिमानव प्राणी वे हुआ करते थे जिनमें एक आत्मा "निवास करती थी।"[1] स्वंय आत्माओं के सम्पर्क के कारण उनमें अद्वितीय आध्यात्मिकता होती थी, जैसा कि माइक्रोनेशियन उलुलिया के संदर्भ में है, जो अतिप्राकृतिक शक्ति के कारण भयानक बन जाता है। परन्तु इस तरह के प्राणी, जिनकी अधिक जानी पंहचानी ऐसी आकृति होती हैं जैसे धर्म में पागल, गर्जते हुए साधु, पागल, आध्यात्मिक, नृत्य करता हुआ उन्मत्त पैगम्बर—ये सभी विकास की पहली अवस्था में होते हैं। जो पृथ्वी पर देवता है, उस पुरोहित के पास देवताओं के इस अस्थायी सम्बन्ध के अतिरिक्त कुछ और होना चाहिए। उसे देवताओं का स्थायी प्रतिनिधि बनना चाहिए और न केवल उसकी बात उलजलूल बकवास होनी चाहिए परन्तु उसकी वाणी गम्भीर एवं संयत होनी चाहिए तथा उसके कर्म देवताओं के होने चाहिए जिससे वह प्रभावित है। भारतीय सम्प्रदायों का धार्मिक प्रमुख या गुरु ऐसा ही होता है। देवताओं के समान ही उसकी ऐसी ही सेवा की जाती है। जो ब्रह्मा का पौरोहित्य समग्र रूप से पृथ्वी पर है वास्तव में उसी प्रकार गुरु का स्थान भी उसके सम्प्रदाय में वही है।

तब वे राजा लोग आते हैं जिनके लाभकारी कार्यों या शक्ति ने उन्हें कहानी में मानव से अधिक चढ़ा दिया है। हम यह सन्देह कर सकते हैं कि क्या वे दिव्य सत्कार ग्रहण करने वाले पुरुष थे, परन्तु परवर्ती युग ने उन्हें मानव के रूप में स्वीकार किया, जो जिन्दा रहते समय देवता थे—राम और कृष्ण तथा उसी समूह के देवता। चीनी शहनशाह का देवत्व इस तरह का नहीं है, परन्तु वह देवता इसलिए होता है कि क्योंकि उसको सन्मार्ग के सर्वोच्च अवतार के रूप में चुना जाता हैं और वह स्वर्ग के सर्वशक्तिमान् परमात्मा का प्रतिनिधि होता है।

परन्तु एक धर्मभीरू तथा ईश्वर आराधना में लीन देश में कोई घटना किसी आदमी को भी एक देवता या उपदेवता बना सकती है। वह उसको प्रदेश का एक अर्धदिव्य नायकों में से एक भी बना सकती है। अभी हाल में जापान में एक अमरीकी को इस तरह पादरी बनाया गया था। भारतवर्ष में देहली का नायक निकोलस अपने अनुयायियों के लिए एक देवता था। उसके अनुयायी उसकी पूजा भी करते, यदि उनको उसके द्वारा वह ऐसा करने के लिए मना नहीं किया जाता। एक शताब्दी पहले एक यायावर एक भारतीय गांव में आया और एक

---

१. अधिग्रहण वहां है जहां एक रूह एक मन पर शासन करती हैं। यह सम्मोहन से भिन्न है जहां एक दुरात्मा एक मानव शरीर पर शासन करती है या उसको गुलाम बना लेती है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सुनसान मन्दिर में सो गया। जब गाँव वाले जागे तो उन्होंने उसे वहाँ सोता हुआ पाया। कोई भी उनको यह आश्वस्त नहीं कर सका कि वह कोई देवता नहीं था जो वापिस लौट आया था। उसने जागने पर अपने आपको एक पूजा की वस्तु पाया; भोजन, पानी, सेवा, श्रद्धा सभी उसके पास थीं। पहले वह इससे चौंका और उसने आग्रह किया कि वह भी उनकी तरह एक गरीब गाँव वाला ही है। पहले तो वे उसका विश्वास ही न करें; परन्तु बाद में वे उसमें विश्वास करने लगे और वह इस पद को आसान मानकर फिर वहाँ ही रह गया तथा वहाँ वह एक देवता की तरह जिन्दा रहा और मर गया

इसके अतिरिक्त प्रत्येक सच्ची भारतीय पत्नी इव की तरह है। वह अपने पति के लिए 'उसमें परमात्मा के कारण' ही ऐसा रवैया अपनाती है। उसको वह भेंट चढ़ाती है और उसको अपना देवता मानकर उसकी पूजा करती है। यह कोई मुहावरा नहीं है और यद्यपि उसको इस रवैये के लिए दिव्य रूप में आदेश दिया जाता है, वह उसको मात्र कानूनी आदेश मानकर उसके प्रति श्रद्धा नहीं रखती है। इस प्रकार अपने पति को देवता बनाने में उसको आनन्द आता है। जब सुबह वह उठती है तो सबसे पहले वह सूर्य की पूजा करती है तथा उसके बाद तुलसी एवं पीपल के पौधे की पूजा करती हैं। तब वह अपने पति को नमस्कार करती है और खास तौर पर उसके बड़े अँगूठे की पूजा करती है। इसको स्नान करवाकर और तैलयुक्त करके तथा अपने पति के लिए धूप जलाकर उसकी पूजा करती है; जैसा वह किसी दूसरे देवता के लिए करती है।

जहाँ इतनी आसानी से देवता पैदा होते हैं और आकाश के देवताओं का मनुष्यों के साथ मेलजेल भी है, ऐसे वातावरण में अर्धदेवता, अर्थात् आधे दिव्य और आधे मानव पैदा हो जाते हैं। ऐसे अर्धदेवता सभी देवशास्त्र सम्बन्धी नहीं हैं। कभी-कभी वे मानव माता-पिता की सन्तान होते हैं। उनकी चालाकी या शक्ति उनके समसामयिकों या वंशजों को इसके लिए प्रवृत्त कर देती है कि वे उनका सम्बन्ध एक ऐसे माँ-बाप से स्थापित करें जो मानव से कहीं ज्यादा अधिक हैं। मानव पिताओं और देवियों के पुत्रों की अपेक्षा मानव माता तथा देवता के पुत्र निःसन्देह अधिक सामान्य हैं। बच्चे का पितृत्व अनिश्चित था। परन्तु एक दिव्य व्यक्ति के लिए आज भी दिव्य माता-पिता का होना अनिवार्य नहीं है। अद्वितीय शक्तियाँ और खासतौर पर आध्यात्मिक शक्तियाँ विश्वास करने वाले पूर्वी जगत् के लिए उसका देवत्व सिद्ध कर देती हैं। कुछ दशकों पहले ही चन्द्रसेन मात्र एक लोकप्रिय उत्तेजनशील उपदेशक था; परन्तु उसके सत्संग ने उसको अक्षरशः देवता की भाँति पूजित किया और अन्त में उसका यह विश्वास हो गया था कि वह पूजनीय था। वह न केवल उत्तेजित ही था परन्तु दिव्य भी था। पिछली शताब्दी में परशिया में भी धार्मिक नेता अली मोहम्मद शिराज को ईश्वर का

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अवतार समझा जाता था। यद्यपि जोरास्टर और मोहम्मद ने अपने उपदेश के माध्यम से इस प्रवृत्ति को दबा दिया था और वे दिव्य नहीं बने थे परन्तु वे मात्र मनुष्य से कहीं अधिक बन गए थे। वे ऐसे मनुष्य बन गए थे जो दिव्य प्रेरणा और शक्ति से पूर्ण थे। देवत्वारोपण अधिकांश रूप में देवता शब्द की परिभाषा पर निर्भर करता है। कभी-कभी यह एक अतिमानव को ही अभिव्यक्त करता है। मानव स्वभाव वाले देवताओं के प्रति बलि के भाव को कट्टरपन्थी भारतीय लोग औपचारिक रूप से स्वीकोर करते हैं और पुराण उन पुरुषों के इतिहास को बतलाते हैं जो देवता बन गए थे। यद्यपि ऐसे सन्दर्भों का सम्बन्ध हमेशा ही भूतकाल से होता है और आज यह सन्देहास्पद है कि उक्त देवता कभी पुरुष भी थे।

अस्थायी देवत्व की अवस्था पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। असभ्य सम्प्रदायों में भेड़िया-मानव भेड़िया-पूजक के रूप में न केवल देवता का प्रतिनिधित्व करता है; वह देवता ही है। वह अपने मुखौटे से भेड़िया-देवता को अभिव्यक्त करता है। परन्तु जब वह अपने मुखौटे को हटा देता है तो वह फिर मानव बन जाता है। अत: तान्त्रिक विधियों में दिव्य तत्त्व एक साधारण स्त्री को एक रात्रि के लिए एक देवी में परिवर्तित कर देता है, जैसे कुछ अंशों में एक साधारण आदमी एक अस्थायी पैगम्बर बन जाता है। दिव्य शक्ति से भरपूर होकर वह एक प्रकार का देवता बन जाता है। एक प्रतीक अस्थायी रूप में वह देवता ही होता है। सोम को जब प्राप्त करना असम्भव हो गया तो एक स्थानापन्न पौधा तात्कालिक रूप में रहस्यमय तरीके से एक पुरोहित द्वारा एक देवता में परिवर्तित कर दिया जाता है। इसके पूजने वाले यह विश्वास करते हैं कि एक पुरोहित द्वारा इसे एक देवता में परिवर्तित कर दिया गया है। इसके पूजने वाले यह भी विश्वास करते हैं कि इसका भाग ग्रहण करने से वे देवत्व के वास्तविक तत्त्व के ग्राहक बन जाते हैं।

परन्तु इससे बड़ा अन्तर पड़ता है कि आदमी जिन्दा है या मरा हुआ। जब गरीब अफ्रीकी ने कहा, "मेरा मुखिया मेरा देवता है, क्योंकि मैं सबसे ज्यादा उससे डरता हूँ", वह एक जीवित पुरुष देवता की पूजा करता था। परन्तु बुद्ध की पूजा बिल्कुल आदमी की पूजा नहीं है परन्तु एक ऐसी आकृति की पूजा है जो मूलरूप में देवता नहीं थी अपितु मात्र अतिमानव थी। यह एक मिथ्या मूल्य की कल्पित आकृति थी। यह देवता को अभिव्यक्त नहीं करती थी। इसके काफी समय बाद बुद्ध ने एक मनुष्य के रूप में जीवित रहना बन्द कर दिया था। फिर, पूर्णरूप में बुद्ध एक दार्शनिक विचारणा ही है। यह मानव पूजा का सन्दर्भ नहीं है। इसलिए पूर्वजों की पूजा संक्षिप्त रूप में जीवित लोगों की पूजा के समान नहीं है। मरा हुआ पूर्वज मानव नहीं रह जाता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अध्याय ७

पूर्वजों की पूजा

ऐतिहासिक दृष्टि से मनुष्य ने पूजा करनी पहले शुरू की और बाद में यह जानना चाहा कि वह किसकी पूजा कर रहा है। इसलिए हम इस जाँच-पड़ताल का स्थगन करते हैं कि पूर्वजों की पूजा की घटना से क्या तात्पर्य है और तब तक इस घटना की ही छानबीन करेंगे। पूर्वजों की पूजा सामान्यतया भूतों की पूजा नहीं है परन्तु भूतों के एक सीमित दल की पूजा है। यह दल क्रमशः आत्माओं के दूसरे दलों में से एक है। जो लोग देवता बन गए हैं, उनका अर्धपूर्वजों के रूप में दैवीकरण नहीं किया गया है। नायकों के रूप में, राजाओं के रूप में, ऋषियों के रूप में, जाति या कबीले की वंशपरम्परागत प्रतिष्ठा के रूप में रोमुलस, कॉन-फुकस, आजकल शिवाजी और ऐसे अनेकों का दैवीकरण किया गया है। एक परिवार द्वारा पूजे गए वास्तविक पूर्वजों का दैवीकरण नहीं किया गया है। जैसे देवता मनुष्य बन जाते हैं (कलेवला और परशियन काव्य में तुलना करें, जेन ६·४), व्याधि रूप आत्माओं तथा प्राकृतिक आत्माओं के अतिरिक्त, मनुष्य भी एक वर्ग के रूप में आत्मा बन सकते हैं। अफ्रीका में हमें ऐसे सम्प्रदाय उपलब्ध होते हैं जहाँ देवताओं की अपेक्षा सामान्यतया भूतों को भयावह समझा जाता है, और भूतों के दल के भीतर वंशपरम्परागत भूतों का एक विशिष्ट सम्प्रदाय है। माइक्रो-नेशिया में लोकप्रिय जन चेतना के द्वारा अन्य आत्माओं एवं भूतों तथा सामान्य एवं पारिवारिक भूतों में अन्तर किया जाता है। यहाँ पर ली राबा को अकाल के रूप में समझा जाता है, उओटा को समुद्र की चट्टान-आत्मा का शंकु माना जाता है। अरेबिया में पत्थरों के समान इसको भी श्रद्धास्पद माना जाता है; परन्तु इनमें से कोई भी भूत नहीं है। इसलिए सारीताऊ एक ऐसी आत्मा है जो मरे हुए भूतों के लिए भोजन पकाती है परन्तु स्वयं एक भूत नहीं है। वह ही केवल वास्तविक पैतृक भूत है जिसको एक बार एक विशिष्ट परिवार द्वारा भोजन दिया जाता है, परन्तु कभी भी उसकी पूजा नहीं की जाती है। अन्त में वह इतना धुंधला हो जाता है कि वह पितरों के वर्ग में मात्र एक वर्ग बनकर रह जाता है। दूसरे पारिवारिक भूतों के साथ उसकी उसी तरह पूजा की जाती है। कबीले की शक्तियों में एक सामान्य

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDE- Delhi

वर्ग के रूप में जन समुदाय उसको एक सुरक्षात्मक इकाई के रूप में स्मरण करता है। यह उन देवताओं तथा दूसरी आत्माओं से भिन्न होता है जिन्होंने व्याधियाँ बनकर पुरुषाकार रूप धारण किया होता है पर जो मनुष्यों को सताने वाले असन्तुष्ट और द्वेषपूर्ण स्वभाव वाले भूत होते हैं। जैसे बेबिलोनिया में जब सभी आत्माएँ द्वेषपूर्ण बीमारी लाने वाले राक्षस होते हैं, यह निश्चित नहीं होता कि किसी भी रूप में यह भूत है या पुरुषाकार धारण किए हुए व्याधियाँ हैं, क्योंकि दोनों ही वर्गों में उसी तरह के मित्र देवताओं के विरोधी लक्षण पाए जाते हैं। इस तरह एक खास बीमारी या दर्द साफ तौर पर भूत नहीं होता परन्तु परेशानी और बीमारी लाने वाले राक्षसों के लिए किए जाने वाले झाड़-फूंक में भूतों को भी शामिल किया गया है। दूसरी तरफ भूत भले रूप में आध्यात्मिक शक्तियों की सुरक्षा करते हुए देवता नहीं होते। पोलिनेशिया में भूतों का एक सम्प्रदाय है और देवता का दूसरा है। आस्ट्रेलियाई लोगों के सांझे भूत और पूर्वज भूत होते हैं, जो देवता नहीं है। इसके अतिरिक्त ये लोग उन दूसरी आध्यात्मिक शक्तियों से डरते हैं जो भूत की कोटि में नहीं आती और खासतौर पर एक निर्माता देवता को मानते हैं जिनको भूत की कोटि में ग्रहण नहीं किया जाता। फिलीपीन का सबसे निम्न कोटि का बर्बर व्यक्ति उसी तरह भूत को एक कोटि में रखता है और निर्माता ब्रह्मा को दूसरी कोटि में रखता है। परन्तु मनुष्य की स्मरण शक्ति इतनी कमजोर और भ्रान्त होती है कि कई बार ऐसा हो सकता है कि कहीं दूर दराज के कबीले का पूर्वज भी आदर में इतना महान् बन जाता है। वह परवर्ती पीढ़ियों के लिए एक सामान्य आध्यात्मिक शक्ति का काम करता है। सम्भवतः एक ऐसे सांस्कृतिक नायक के भेष में वह ऐसा करता है जिसको अब एक प्राचीन आदमी नहीं समझा जाता है परन्तु उसको सर्वशक्तिमान समझा जाता है। यद्यपि अधिकांश ठोस उदाहरणों में भी इस तरह का विकास एक समस्या ही रहती है और सामान्य नियम यह होता है कि किसी रूप में, सम्भवतः मानव रूप में तो नहीं, पूर्वज के विषय में यह समझा जाता है कि उसने संसार या देवताओं को पैदा किया है तथा उनकी पूजा की अपेक्षा उनके विषय में आदरपूर्वक चर्चा की जाती है; जैसाकि उङ्कुलुङ्कुलु के सन्दर्भ में था। इसको पादरियों ने 'देवत्व' का रूप प्रदान किया था, जैसा पादरी कालअवे ने कहा था।[1]

परिवार अपने मृतकों को भोजन प्रदान करता है, परन्तु दूसरे लोग उनके द्वेषपूर्ण होने पर ही उन पर ध्यान देते हैं। विरल भूत ही अपवाद हैं जो महान् राजा या नायक बने हैं जैसे तामूज और गिलगेमिश (अब राजा रूप में विदित)। सर्वसाधारण प्रकार का केवल वही भूत होता है जिसके साथ सम्बन्धी के रूप में

१. काल अवे, उङ्कुलुङ्कुल, पृ० १२४ (१८६८)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दयाभाव से व्यवहार किया जाता है। विशेष रूप से वह परिवार का निष्क्रिय पिता ही होता है। जहां तक वे उसको अपना नजदीकी समझते हैं; ऐसे भूत के लिए अधिकांश जातियां कुछ करती हैं, उसको भोजन देती हैं, उससे दयालु होने के लिए प्रार्थना करती हैं या कम से कम उसको विनम्र भाव से सन्तुष्ट रहने तथा चले जाने के लिए कहती है। सामान्य रूप से यह अन्तिम कार्य ही भूतों के लिए सबसे पहले किया जाता है। यह एक प्रकार का कुछ कथित अवसरों पर संस्कार जैसा होता है। फिर कुछ सैंकड़ों कबीले में परिवारों में भूत को जाने के लिए नहीं कहा जाता है परन्तु उनको रहने के लिए कहा जाता है। भूत को अभी भी अपनी सन्तान तथा उसका भला करने के उत्सुक और दयालु पिता के रूप में समझा जाता है। एक भूत जैसी कोई चीज है, कुछ अवशेष रह जाता है : मृतक के साथ ओजार, खिलोने, घोड़े, पत्नियां आदि गाड़ने से इसको एक आदिम विश्वास समझा जाता है और आत्मा को नदी या नाव में एवं जल में प्रवाहित करना भी वैसा ही आदिम विश्वास है (जैसा अफ्रीकी लोग करते हैं और जैसा स्केण्डेनेविया के लोग किया करते थे)। भूत के साथ कैसा व्यवहार किया जाना चाहिए, यह मृतक (सम्भवतः) के तथा कबीले के स्वभाव पर निर्भर करता है। यह सही है कि अनेक कबीलों में झाड़-फूंक का तरीका भी पाया जाता है परन्तु यह तभी होता है जब बहुत से सम्बन्धी मृतक को एक उपदेवता के रूप में अपने पास रखने की इच्छा करते हों।

यदि कहीं अन्यत्र भय से शोर-गुल तथा खड़खड़ाहट होती है और इससे भूत भाग जाते हैं; तो इस दृश्य को इस प्रकार बदला जा सकता है जिसमें मां अपने मरे हुए बच्चे को अपने स्तन से कुछ बूंदे प्रदान करती है। अमरीकी भारतीय, अफ्रीकी लोग तथा द्रविड़ लोग इस प्रकार की विधि से मृतकों को भोजन प्रदान करते हैं।

मिर्जापुर के घसिया लोग (द्रविड़) मृतक का आह्वान इन शब्दों से करते हैं—"मुर्गे के मांस की इस बलि को स्वीकार करो; एकान्त में बैठकर अपनी सन्तान को आशीर्वाद प्रदान करो।" एक पैतृक भूत "प्रायः क़िसान तथा इसके मालिक का सबसे बढ़िया दोस्त होता है यदि वह उसके साथ समुचित आदर के साथ व्यवहार करता है।"[२] वैदिक आर्य लोग "अन्त्येष्टि संस्कार के समय अपने तथा मृत्यु के बीच एक पत्थर रख लेते हैं।" परन्तु गाँव में वापिस मृत्यु के संक्रमण को फैलाने को रोकने के लिए ऐसा किया जाता था। मृतक के प्रति उनके मन में एक दया की भावना थी। उनका यह विश्वास था कि यद्यपि वह "प्रेत" (भूत के लिए संस्कृत अभिधान) बन गया है फिर भी वह जीवित मृतकों के सम्मान में

---

२. क्रुक, वही I, पृ० १७६, १८२

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दिए गए भोज में मास में एक बार आकर भोजन करेगा। अनेक अमरीकी भारतीय लोग भय की अपेक्षा भूतों के लिए प्रेम का भाव अभिव्यक्त करते थे।[3] श्रीलंका के वेड्डा लोग अपने पारिवारिक भूत को सहायता करने के लिए उत्सुक एक मित्रवत् आत्मा के रूप में मानते थे। अन्त्येष्टि के समय नर बलि देना मृतकों की सेवकों आदि के साथ सेवा करने के समान है। मृतक को खाना आदर भाव का प्रतीक है और कभी कभी प्रेम का प्रतीक है। इस प्रकार एक अमरीकी माँ अपने बच्चे के भूत को अपने पास रखने के लिए अपने मरे हुए बच्चे को खा जाती है। यह एक सच्चे प्यार का प्रतीक है। जोरास्टर देवशास्त्र जितने परवर्ती समय में भी वही भावना दृष्टिगोचर होती है। पहला आदमी और औरत अपने बच्चों को इसलिए निगल जाया करता था क्योंकि वे उससे बेहद प्यार करते थे।[4]

मृतक का भय अधिकांश रूप में इस विश्वास के साथ पैदा होता है कि चाहे इसकी अन्त्येष्टि भली भांति की गई है या नहीं। इसको एक शरीर की आव-होती है। वह शोकाकुल व्यक्ति के घर को अपने नए घर के रूप में ग्रहण कर सकता है। इसीलिए ही भूत के सामने खाने तथा जँभाई लेने के खतरे का प्रचलन हुआ है। यहाँ व्रत रखना अपने आपको सुरक्षित रखने का कार्य है, विशुद्धिकरण का कार्य नहीं है। छींकना इसलिए सौभाग्यशाली होता है क्योंकि यह अभिव्यक्त करता है कि मानो एक अवाञ्छित किरायेदार को निकाल दिया गया है। परन्तु अफ्रीका में यह इस बात को प्रकट करता है कि मालिक की आत्मा बीमार है, अतः उसका स्वागत स्थानीय शुभेच्छा से किया जाता है। भारतीयों ने भी छींकने को सौभाग्यशाली मान लिया है।[5] सुराखों में से भूत निकल न जाए इसलिए कानों

---

३. मृतक के लिए भोजन का तात्पर्य आवश्यक रूप से उसे सन्तुष्ट करने की इच्छा से नहीं है और इसलिए उसे विदा करो, क्योंकि प्रायः उसको उसके पुराने घर में रहने के लिए प्रार्थना की जाती है। कभी-कभी एक आकृति या बालों का बना हुआ पिंजरा यह मानकर लटका दिया जाता है कि इसका नया शरीर होगा और यह इसमें प्रवेश कर सकेगा क्योंकि भूतों को आसानी से ठगा जा सकता है। ऐसा प्रेम के कारण नहीं होता है परन्तु इस भय से होता है कि कहीं भूत किसी मानव शरीर में प्रवेश न कर जाए; फिर भी यह मालूम पड़ता है कि भूत अभी भी एक दयावान पड़ोसी है।

४. अफ्रीका और श्रीलंका के वेड्डा लोगों के लिए देखो सी० जी० सेलिगमन्, नोट्स ऑन दी वेड्डाज् (१९०८) एण्ड दी वेड्डाज (१९११); जे० डब्ल्यू० विल्सन, वेस्टर्न अफ्रीका; नसाऊ, फेटिशिज्म; एग्र एलिस् दी त्शी स्पीकिंग पिपल्स, पृ० १५६

५. एलिस्, वही पृ० २०३; वारेन प्रो० अमे० ओर; सो० १८८५, मई, पृ० १७

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

और नाक में बालियाँ पहनी जाती हैं। मृतकों को दूर रखने के लिए घण्टियाँ भी बजाई जाती हैं। मन्दिर की घण्टियाँ तथा घड़ियाल का यही पहला प्रयोग रहा होगा। क्योंकि घण्टी भूतों को भयभीत करती है, गोंड लोगों के लिए घण्टी स्वयं एक उपदेवता बन गई है। अगारिया लोगों में जैसे लोहा एक उपदेवता बन गया है; क्योंकि अंश रूप में यह भूतों को भगा देता है और अंशतः क्योंकि अगारिया लोग लोहे को पिघालते समय इसको देवता इसलिए समझते हैं कि इसमें स्थित देवत्व उनको आजीविका प्रदान करता है। आत्माओं तथा भूतों को दूर करने की इच्छा को अभिव्यक्त करने वाली अनेक प्रथाएँ अब भी अवशिष्ट हैं। इसलिए चक्र की वर्तुलाकार गति का अनुकरण हाथों तथा आग की लपटों में किया जाता है (एक भारतीय काव्य का कहना है कि इनको विशिष्ट रूप में "एक चक्र में घुमाना चाहिए")। मन्दिर की पताकाओं में लहरों की गति वहाँ से ही आती है। घोड़े की नाल भारत तथा इंग्लैण्ड में "सौभाग्यशाली बनाने में" (अर्थात् विपत्ति को दूर करने के लिए) दोहरे प्रकार से सक्षम होती है; और नमक तथा सरसों (का प्रयोग भारत में बुरी नजर उतारने के लिए विशेष रूप से किया जाता है)। अनेक देशों में भूत तथा सभी बुरी आत्माएँ लाल (रक्त) से भयभीत हो जाती हैं। भारत में काले, सफेद तथा पीले रंग से भी भूत आदि भयभीत हो जाते हैं। मानव बलियों के अवसर पर बलि का रंग सफेद होता है। अशान्ति (घाना) में वहाँ शोक करने वाले का रंग लाल होता है। भारत में भूतों को तथा अन्य दूसरी आत्माओं को (अन्त्येष्टि के समय) धान्य भेंट किया जाता है। आत्माओं तथा भूतों दोनों के लिए यह उनको सन्तुष्ट करने का साधन है और अप्रत्यक्ष रूप से यह उनको दूर भगाने का भी साधन है। आत्मा के अपने औदार्यपूर्ण या द्वेषपूर्ण रवैये की घोषणा करने पर ही अफ्रीका में भी उसी तरह की बलि दी जाती है। यह किसी सन्देहास्पद शक्ति का कृपापात्र बनने का प्रयत्न होता है। यदि आत्मा स्वभाव से दयालु होगी तो उसको दी गई बलि उसको सन्तुष्ट रखेगी। यदि वह द्वेषपूर्ण है तो वह उसको शान्त करेगी। चावल या किसी दूसरे अन्न का प्रयोग साधारण तौर पर "उपजाऊपन के प्रतीक" रूप में नहीं किया जाता है; जैसाकि भारत तथा अन्यत्र विवाहोत्सव में इसकी व्याख्या की गई है। परन्तु इसका प्रयोग एक आत्मा के लिए बलि के रूप में किया जाता है। यह बात इस तथ्य से सिद्ध होती है कि भारत में इसका प्रयोग न केवल विवाहों में ही होता है अपितु अन्त्येष्टि के अवसर पर भी होता है। जब एक आदमी यात्रा से लौटता है तो अपने बच्चों के सिर के चारों ओर एक पत्थर को सात बार घुमाता है तथा बच्चे के चारों ओर चावल फेंकता है। यह कार्य केवल यात्री द्वारा लाए जाने वाले संक्रमण (बुरा प्रभाव या आत्मा) को दूर करने के लिए ही किया जाता है। इसके अतिरिक्त विवाहोत्सव में धान्य भुना हुआ होता है। यदि वह उपजाऊपन का प्रतीक हो तो यह ऐसा नहीं

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

होगा। परन्तु यह भी सही है कि सामान्य भावना यह रही है कि धान्य आशीर्वाद का दाता है, (नमक की तरह, रसायन के रूप में अत: सौभाग्यशाली) तथा जब भारत में कोई एक बांस को सात प्रकार के धान्य से सजाता है और उसको बाड़े में गाड़ देता है; सम्भवत: यह सुदूरवर्ती भूतों की भावना से ऐसा करता है। इसमें एक ऐसी भावना होती है कि यह सौभाग्यशाली है और वही भावना बनी रहती है।

भूत के साथ का धार्मिक व्यवहार तार्किक रूप से बर्बर लोगों के देवता के व्यवहार के समान होता है। जब मनगंजा लोगों के ऊपर पांबी देवता के कोप के कारण सूखा पड़ता है, तब इस देवता के पुरोहित यह कहते हुए मुट्ठी भर धान्य उस देवता को अर्पित करते हैं, "इस धान्य का उपभोग करो और फिर हमारी प्रार्थना को सुनो"। उसी समय जल का आचमन करते हुए वे उस देवता को जल का तर्पण करते हैं। इसमें धार्मिक प्रार्थना तथा जादूई विज्ञान का सहज मिश्रण पाया जाता है। यह विधि आस्ट्रेलिया के लोगों में पाई जाती है। जादूई रूप से धान्य शक्ति को नियमित करते हुए वे धार्मिक रूप से उस देवता के लिए अनुनय-विनय करते हैं।

घरों में जिन भूतों की बिल्कुल चाहत नहीं होती है, उनको उपेक्षाभाव से पूर्वज माना जाता है और नहीं भी माना जाता है। भारतीयों का बिना सिर वाला घुड़सवार; एक ऐसा धड़ जिसका क्रिया-कर्म नहीं किया गया है, आस्ट्रेलियाई उलथाना जंगली शिकारी (मरे हुए शिकारी का भूत), कब्रों के अशान्त भूत जिनको भारत में मसान कहा जाता है और मिथ्या सादृश्य के आधार पर जिनको लेमुयर की भांति "निगलने वाला" (कब्रों के निवासी) समझा जाता है—ये सभी सामान्य कोटि के भूत माने जाते हैं। टोल झाड़-फूंक द्वारा बुलाए जाने वाले प्रेत होते हैं, यद्यपि वे हमेशा ही भूत नहीं होते हैं। उनको उस प्रकार की आत्माएं समझना चाहिए जिसके बारे में एक कट्टरपन्थी ही यह कहेगा कि वे निश्चित रूप में भूत या प्राकृतिक आत्माएँ रही होंगी। वातारण के अनुकूल इन दोनों में से कुछ भी घटना हो सकती है। यदि हाल में किसी हत्यारे को प्राणदण्ड मिला हो तो सम्भवत: यह इसका भूत भी हो सकता है। सामान्यतया यह दलदल की आत्मा होती है।

इस प्रकार झाड़-फूंक सामान्यतया भूतों या आध्यात्मिक आत्माओं के द्वेषपूर्ण प्रभाव को दूर करने के लिए किए गए संस्कार होते हैं। इस झाड़-फूंक से सामान्यतया बुरे प्रभाव का निर्णय करना असम्भव है। परन्तु इस तथ्य के विरोध में यह कोई तर्क नहीं है कि आदिम विश्वास में भूतों तथा प्राकृतिक आत्माओं का तादात्म्य पाया जाता है। बर्बर लोगों का सामान्य रवैया यह है कि अनेक प्रकार के प्रभाव होते हैं, कुछ भूतों के होते हैं, कुछ ऐसे होते हैं जिनका उत्पत्ति स्थान

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मानव नहीं होता। ये सभी आक्रामक होते हैं। भूत प्रमुख रूप से बाधाएँ हैं जो मानव शरीर में पुनः प्रवेश करने का प्रयत्न करती हैं; परन्तु भूत के अपने परिवार में वे स्वाभाविक रूप में दुष्टबुद्धि नहीं होते हैं। अतः एक व्यापक अर्थ में भूतरूपी नायक का सम्बन्ध केवल एक परिवार से नहीं होता है परन्तु एक कबीले से होता है। कबीले को ऋषियों की भाँति सलाह देकर उनकी सहायता करके भूत अपना जीवन बिताता है या अन्यथा वह परोपकारिता का जीवन व्यतीत करता है। कभी-कभी वह दृश्य रूप में प्रकट होकर उनकी रणक्षेत्र में सहायता करता है। ऐसे उन्नत भूत की पूजा होती है; परन्तु परिवार के भूत को साधारण रूप में भोजन दिया जाए तो यह बिल्कुल पूजा नहीं है।

जैसा कि प्रदर्शित किया जा चुका है कि पारिवारिक स्नेह और कबीले की श्रद्धा द्वारा भूतों का अतिथियों तथा सम्बन्धी के रूप में आदर किया जाता है। यह कोई एक सामान्य नियम नहीं है; परन्तु ऐसा करने में भय ही हमेशा स्पष्ट रूप से उद्देश्य नहीं होता है। भारतीय विधवाएँ मृतकों की खोपड़ियों[६] के प्रति नियमितरूप से श्रद्धा व्यक्त किया करती थीं और औपचारिक रीति-रिवाज के अनुसार सच्चे तौर से उन पर आंसू बहाया करती थी। यह रिवाज स्वयं अपने आप में भय की अपेक्षा अपार स्नेह का प्रमाण था। दूसरी ओर मारे गए या असामयिक रूप में मृत व्यक्ति के भूत की कल्पना अमित्र रूप में की जाती थी। कभी-कभी सामान्य रूप में पूर्वजों का सम्प्रदाय बुरा या अच्छा होने के उपरान्त भी राज्यधर्म के पद तक पहुँच जाता है जैसाकि अशान्ति (घाना) और दहोमी (अफ्रीका) में हुआ है।

एक मृतक के लिए भोज का तात्पर्य केवल यही होता है कि मृत व्यक्ति जीवित व्यक्तियों से भोजन प्राप्त कर रहा है; क्योंकि पारिवारिक भूत के सन्दर्भ में इसको पूजा का कृत्य नहीं माना जाता है। मृतकों को भोजन करवाने का भाव आज भी मृतकों की याद में पान करने में चला आ रहा है। मूलतः यह मृतक के लिए किया जाने वाला तर्पण ही था। बर्बरों लोगों में भूतों की सच्ची पूजा विशिष्ट रूप से आदिम नहीं है और न ही यह रिवाज किसी भी प्रकार से सार्वभौम है। अमरीकी भारतीय कभी-कभार मृतकों की पूजा किया करते थे। वे साधारण तौर पर कभी ऐसा नहीं किया करते थे। आस्ट्रेलियाई लोगों में मृतक का केवल प्राथमिक सम्प्रदाय ही पाया जाता है। यह मृत शरीर की देखभाल से ज्यादा कुछ नहीं है। इस बात को दिखाने के लिए ऐसे साधारण से कार्य किए जाते हैं कि भूत को भुलाया नहीं गया है और उसको भाग जाने के लिए आग्रह किया गया है। इसी

---

६. रोमन लोग बाद में पुतले में शव के महत्त्वपूर्ण अंश के रूप में खोपड़ी रखा करते थे। संभवतः यह मन या आत्मा का स्थान होगा, ऐसा सेमिटिक मत है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जाति के अधिक विकसित लोग मृतक के लिए अधिक आदर भी दिखलाते हैं। इस प्रकार कम विकसित पोलिनेशियाई लोगों की अपेक्षा मलेनेशियाई तथा माइक्रोनेशियाई लोगों में भूतों के अधिक सम्प्रदाय पाए जाते हैं। परन्तु माइक्रोनेशियाई लोगों में भी केवल मुखिया लोगों के भूतों की ही वास्तव में पूजा की जाती थी।

परन्तु अधिकांश सभ्य लोग भूतों को एक नायक का आदर्श रूप प्रदान करके या भूत-पूजा का बिल्कुल परित्याग करके इस सम्प्रदाय में रहे हैं और इसको पीछे छोड़ दिया है। फिर भूत सम्प्रदाय की बेबिलोनिया के लोगों में कुछ भी छाप अवशिष्ट नहीं रह गयी है। वहाँ पर आत्माएँ कृपालु होने की अपेक्षा द्वेषपूर्ण होती हैं। एक नायक बिना मरे ही देवता बन जाता है। इस प्रकार वह वास्तव में एक भूत नहीं बन पाता है। राजाओं को मृत्यु से पहले तथा बाद में दिव्य समझा जाता है। साधारण तौर पर पूर्वजों का कोई सेमिटिक सम्प्रदाय नहीं है। वहाँ केवल भूतों का बहिष्कार किया जाता है। बेबिलोनिया के भूत रूह नामक जेल में निवास करते हैं। वहाँ से उनका कोई छुटकारा नहीं है। मर्दुक केवल उन्हीं लोगों को पुन: जीवित करता है जो मृत्युशय्या पर पड़े होते हैं और इश्तर नामक एक देवी पर जब जीवन-जल छिड़का जाता है तब केवल वह ही वास्तव में पाताल लोक से खड़ी हो जाती है। बेबिलोन में कोई सही भूत-पूजा नहीं है। यह केवल तर्पण करने वाला सम्प्रदाय मात्र है। यह मृतकों की सम्पूर्ण आत्माओं को स्मरण करने जैसी कोई वस्तु है। मृतकों को भोजन प्रदान करने वाले बाइबल के सन्दर्भ यह प्रकट करते हैं कि इस प्रथा को गलत समझा जाता है (डयुट २६ : १४, भोजन; सं० ६ : १८ नैजरॉइट यहूदी-साधक)। बाल को शक्ति की बलि समझा जाता रहा होगा। बेबिलोनिया के नायक एनोख को बिना मृत्यु के ही स्वर्ग में ले जाया जाता है और एलिजाह को शिओल गए बिना ही स्वर्ग में ले जाया जाता है; परन्तु साधारण तौर पर भूत का ऐसा दिव्य भाग्य नहीं होता है। हिब्रू-पूजा की सम्पूर्ण प्रवृत्ति ही ऐसे सम्प्रदाय का विरोध करती थी। नायकों का कोई सम्प्रदाय नहीं होता था यद्यपि मृतकों से सलाह मशविरा किया जाता था। हिब्रू तथा बेबिलोन के बीच पर्शिया में फ्रवशिश के पूजक थे। अच्छे प्रकार के भूत सुरक्षात्मक-आत्माओं में परिणत हो जाया करते थे। भारतीय पितरों के समान ये पक्षी रूप धारण करके दिखलाई पड़ते हैं और बाद में इनका तादात्म्य तारों की आत्माओं से किया जाता है। आरमिनीया के लोगों में पर्शिया के विश्वास का यह रूप अब भी अवशिष्ट रह गया है और वे यह विश्वास करते हैं कि मकबरे के पास मृतक तीन दिन तक निवास करता है। सप्ताह में एक बार तथा कुछ वार्षिक अवसरों[७] पर वे मृतक-सम्बन्धी नियमों का पालन भोज देकर करते हैं। दूसरे आर्य लोगों में

---

७. अभेगियन् आरमाइनखेर, फॉल्कस्ग्लाइबे (१८९९)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

केल्ट लोगों का देहांतरगमन में धुँधला-सा विश्वास था और संभवतः उनमें पूर्वज-पूजा की पाई जाती थी। रोमन लोग भूतों की पूजा नहीं किया करते थे। कुछ विरल सन्दर्भों के अतिरिक्त वे नायकों की भी पूजा नहीं किया करते थे। रूहों की सतत सत्ता में उनका विश्वास नहीं था। वे उन क्रोधित होने वाले भूतों में विश्वास किया करते थे जो सन्तुष्ट होने तक सक्रिय रहा करते थे, परन्तु वे यह विचार करते थे कि एक मरा हुआ आदमी पितरों के अविवेकशील वर्ग में सम्मिलित हो जाता था। इस तरह एक संघ के रूप में सभी रूहें एक क्रम में एक प्रकार का दिव्य जन समुदाय निम्न कोटि का उपदेवताओं का परिवार बन जाया करती थी। यही उनकी पूजा ही समझी जाती थी कि यह ध्यान रखा जाए कि जहाँ से उनका सम्बन्ध था, वे वहाँ पाताल में ही रहें। भूतों को वहाँ से भगाने के लिए यह लेमुरिया नामक संस्कार के रूप में विदित था। उनको प्रसन्न करने के लिए बाद में भी एक संस्कार हुआ करता था जिसमें पितरों के साथ अधिक दया की भावना से व्यवहार किया जाता था; परन्तु किसी भी सन्दर्भ में यूनान वाला मृतक एवं जीवित के बीच वाला प्रगाढ़ सम्बन्ध नहीं था। वहाँ बुरे प्रकार का भूत मंडराया करता था। वह अच्छी सलाह दिया करता था और उसका एक नायक के रूप में आदर होता था। जैसे आज भी भारत में वीर (लेटिन विर) एक ऐसा ही नायक होता है। जैसा कि प्रायः होता है इसको मुसलमानों के पीर के साथ गलत ढंग से नहीं जोड़ा जाना चाहिए। ऐसे पीर का एक पूर्वज के रूप में आदर होता है और अपने परिवार के अतिरिक्त भी उसकी पूजा की जाती है।

कुछ अर्थों में रोमन लोगों का विश्वास सेमिटिक तथा मिस्र के लोगों के विश्वास से मिलता-जुलता था। ये लोग मृतक की पूजा नहीं करते थे या मृतक को अपने जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं समझते थे। परन्तु मृतक को सुरक्षात्मक ढंग से दूर भगाने में वे सावधानी बरतते थे। भूत के इस प्रकार के भय तथा भूत-पूजा में एक अन्तर समझना चाहिए। परन्तु प्राचीन मिस्र के लोगों का यह विश्वास था कि राजा लोग ही इतने भाग्यशाली थे जो इस जीवन के बाद भी जीवित रहते थे। बर्बर लोगों में भी ऐसा साधारण अन्तर पाया जाता है। यहाँ पर एक सामान्य भूत-पूजा की सम्भावना को निरस्त किया गया है।

भूत के अगले जीवन के लिए पारिवारिक देखभाल की भी आवश्यकता पड़ती है। सबसे पहले इसे सामान्य तामझाम की ये चीजें दी जाती हैं—शस्त्र, औज़ार, भोजन, पेय, पत्नी, दास और दूसरी वस्तुएँ। उनको ऐसे लोग भी प्रदान किए जाते हैं जिनके अवशेष प्राचीन कबरों के पास पाए गए हैं। इन भूतों को एक समुचित शरीर भी प्रदान किया जाता है। केल्ट लोगों का विचार था कि उसी शरीर के साथ उन्हीं अभिरुचियों तथा आर्थिक जिम्मेदारियों के साथ पिछले

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जीवन के समान ही सब कुछ चलता रहता था; परन्तु भारतीय तथा मिस्र के लोगों ने जादूई नुस्खों से भूत के लिए "एक शरीर का निर्माण कर दिया"। भारतीय लोग "नेत्रों तथा दूसरे भागों को पुनः स्थापित करने में" दस दिन लिया करते थे। आधुनिक प्रयोग में मृतक की इस देखभाल का रूप ज्यू जाति के प्यूरिम उत्सव, आल सोल्स डे तथा अन्त्येष्टि के पुष्पों के स्वरूप में अवशिष्ट रह गया है। मृत्यु के उपरान्त खुलने वाली खिड़की तथा 'जागरण' में मृत्यु को दूर रखने या उससे छुटकारा पाने की कुछ अभिलाषा बनी रहती है। कुछ अर्ध-विकसित लोगों में भूतों को आज भी शहद द्वारा आकृष्ट किया जाता है। सम्भवतः भूतों को पकड़ने तथा उनको रखने के लिए शहद का प्रयोग बाल तथा घड़े की तरह एक मक्खीमार कागज के रूप में किया जाता है। भूतों को भविष्यवक्ता के रूप में आह्वान करने की पिशाचविद्या का आज भी भ्रान्त तथा अज्ञानियों में प्रसार है।[८] आभिजात्य वर्ग के भूतों के लिए सामान्यतया एक घर या आश्रय हुआ करता था; परन्तु साधारण प्रकार के भूत एक गड्ढे तथा कबर में छिपे रहते थे और पश्चिम दिशा में वहाँ ही सो जाया करते थे या प्रकाश से अन्धकार चले जाया करते थे (जैसे बेबिलोन, यूनान, तथा भारत में)। सम्भवतः सबसे प्राचीन विचार यह था कि रूह अपने ही घर में भटकती रहती थी जहाँ इसे दफनाया गया था (गृहदेवता घर में रहने वाले भूत होते हैं)। जब दफनाने का काम घर से बाहर की जमीन पर किया जाता था, तब रूह अकेली जमीन पर रहा करती थी। बाद में अपने संघ में मिलकर पाताल में रहा करती थी। अन्तिम रूप में रूह छाया के रूप में पश्चिम दिशा में बुझे हुए प्रकाश के स्थान के रूप में खो जाती थी। परन्तु जब शरीर को अग्निदाह कर दिया जाता था, तब बुझी हुई रूह अग्नि और धुएँ के साथ ऊपर दूसरे लोक में चली जाती थी। रोम के भूत अपने मकबरों में अभी शहर को जाने वाली सड़कों की सुरक्षा करते थे; क्योंकि वे अपनी कबरों में गौर करने तथा फूलों के लिए आज भी पथिकों का आह्वान करते हैं। हमारे पूजा-समारहों में आज भी मृतकों के लिए आशीर्वाद तथा परम्परागत बलि की प्रतिध्वनि होती है; जैसे खिड़की के बाहर हमारे द्वारा सर्दी के मौसम में लटकाए गए गुलदस्ते भूतों को ठण्डक से राहत प्रदान करते हैं (कभी-कभी लापरवाही से अन्दर लटकाए गए)। हमारे बड़े दिन के उत्सव पर जलाया जाने वाला लकड़ी का लट्ठा आज भी उनको गर्म करने के लिए जलाया जाती है, जैसे आयरलैण्ड में इसी उद्देश्य के लिए खेतों में आग जलाई जाती थी।

भूत शारीरिक रूप से कमजोर होते हैं। वे छायामय, महीन, पवनशील एवं

---

८. आर्यों में पिशाचविद्या सेमिटिक लोगों से आई हो (होमर आदि)। देखें एल० वी० पेटन, स्प्रीटिज्म, पृ० १५०

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

द्रुतगामी होते हैं और उनमें पदार्थ में से निकल जाने की क्षमता होती है; परन्तु उनकी वैदुष्यपूर्ण शक्ति उनकी सूझबूझ तथा उनके देववचनतुल्य ज्ञान तक ही सीमित दिखलाई पड़ती है। मिस्र में वे मनुष्यों तथा देवताओं के बीच बिचोलिए का काम करते हैं और देवताओं को उन लोगों के विषय में अनुमोदन करते हैं जो उनके लिए भोजन तथा प्रार्थना प्रदान करते हैं। हिब्रू विश्वास के अनुसार भूत (पूर्वज) मूलतः जागरूक तथा सक्षम शक्तियाँ हुआ करती थीं। यद्यपि वे दिव्य नहीं होती थी; परन्तु पैगम्बरों ने "मृतकों की जागरूक सत्ता को नकारने से पूर्वजों की पूजा की जड़ों को काट दिया है"।[९]

भूत पूजा मंगोलियाई लोगों द्वारा पूर्वज पूजा के रूप में सुरक्षित रखी गई है और यह चीनी सम्प्रदाय के विस्तृत कर्मकाण्ड में अपने सर्वोच्च बिन्दु पर पहुँच गयी है। वहाँ परिवार के पितरों की पूजा ही इसका प्रमुख लक्षण है। आकाश देवता या स्वर्ग की प्राकृतिक-पूजा को यह मानकर इसमें आत्मसात् कर लिया गया था कि शहनशाह का वंशज ही सर्वोच्च स्वर्ग देवता के रूप में विद्यमान था। जब पितृ पूजा का सम्प्रदाय जापान पहुँचा तो यह शिन्तोमत को तिरस्कृत करके सम्पन्न हुआ। यह आम राय के विरोध के अनुसार पितृ पूजा का सम्प्रदाय नहीं है। भूतों को जातीय रूप में उन्नत बनाने की भावनाएँ मंगोलियाई वर्बर लोगों में पायी जाती हैं। वे लोग शामवाद का आचरण अतीव भोंडे रूप में करते हैं। पूर्वी यूरोप तथा साइबेरिया के जंगली स्थलों के ये निवासी अपने वंशजों की देवताओं से भिन्न इन्हें महान् शक्तियों के रूप में श्रद्धा करते हैं। वे दोनों ही इन महान् शक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और उनका प्रयोग आध्यात्मिक संसार के अत्यधिक सक्रिय माध्यम के रूप में करते हैं। उदाहरण के लिए टुगुसे लोग अपने पूर्वजों की पूजा के सम्प्रदाय में सबसे प्राचीन समझे जाते हैं। वे एक आकृति के रूप में ही उस महान् देवता से वर्षा के लिए प्रार्थना करते हैं; परन्तु वास्तव में यह प्रार्थना अपने पूर्वजों से ही की जाती है। देवता से औपचारिक रूप में प्रार्थना करने के रूप को प्रायः छोड़ दिया जाता है। लोग सीधे-सीधे सबसे निम्न कोटि के देवता के पास भी जा सकते हैं और सोमो या मृतक के पूर्वजों के माध्यम से शामवाद के पुरोहित को मध्यस्थ बनाकर उनको प्रभावित किया जा सकता है। पुरोहित एक ऐसा व्यक्ति होता है जिसको पौरोहित्य उत्तराधिकार में प्राप्त नहीं होता परन्तु वह जन्मजात होता है। एक परिवार का शामवाद में विश्वास होना अनिवार्य नहीं है; क्योंकि परिवार में जन्म लेने वाले प्रत्येक पुत्र को क्रमशः अपनी आह्लादकारी साधनाओं से यह सिद्ध करना चाहिए कि वह भूतों पर निग्रह प्राप्त कर सकता है। इसके स्वीकृत होने पर श्यामन देवता बलि रूप दिए गए

---

९. पेटन, वही, पृ० २७०

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

घोड़े की रूह के माध्यम से स्वर्ग या नरक में जाता है और जो पितृ-देवताओं को दिया गया है उसे ग्रहण करता है। ये पूर्वज देवताओं और राक्षसों पर अधिकार रखते हैं। वे ऊपर और नीचे निवास करते हुए भूतों के समान ही देवताओं तथा राक्षसों पर अधिकार रखते हैं। परन्तु केवल भूतों के भगाने मात्र के लिए किसी महती औपचारिकता की जरूरत नहीं पड़ती है (जैसे अश्व बलि के समान)।

पूर्ववर्ती पृष्ठों में देवताओं को विभिन्न स्रोतों से व्युत्पन्न बताया गया है और यह दिखलाया गया है कि उनका आरम्भ सामान्यतया उदासीन चरित्र एवं स्वभाव वाली आत्माओं के साथ होता है। ये ही आगे चलकर अत्यधिक विशिष्ट व्यक्तित्व एवं प्रकृति वाले देवताओं में विकसित हो जाते हैं। फिर भी ऐसा नहीं है कि किसी बहुत बड़े या सर्वोच्च देवता का प्रादुर्भाव एक पूर्वज भूत से हुआ हो। प्राकृतिक संघटना की सूर्य, आंधी आदि जैसी वस्तुएँ या प्राकृतिक प्रक्रियाओं के मानवीकृत रूप जैसे ऋतु सम्बन्धी परिवर्तन क्रम आदि भी इस प्रकार उन्नत बना दिए गए हैं, कभी-कभी भले रूप में और कभी-कभी बुरे रूप में। छोटे-छोटे राक्षस कभी-कभी भूत होते हैं और कभी-कभी प्राकृतिक वस्तुएँ या घटनाएँ (बीमारियाँ) होती हैं। इसके अतिरिक्त एक महान् देवता कभी भी पूर्णतः एक विभागीय देवता नहीं होता है। उसका स्वरूप सूर्य या आंधी या खेती-बाड़ी की आत्मा से प्रारम्भ होता है और जैसे-जैसे वह महान् बनता जाता है, वह अन्य क्रियाकलापों को आत्मसात् करता जाता है तथा उसकी परिणति सभी के स्वामी एवं सामान्य शासक के रूप में होती है। वह अपने आपको सामाजिक विकास या कबीले के विकास के अनुकूल ढाल लेता है। कई सन्दर्भों में जब पहले एक देवता के स्वरूप को खोज लिया जाता है और जब वह इस तरह के अनुभव में से गुजर जाता है तो परिणामतः काफी आश्वस्त होकर उसके चरित्र का विश्लेषण करना कठिन होता है। उसका स्वरूप आंधी के देवता, सूर्य-देवता या वृक्ष-देवता के रूप में प्रारम्भ हुआ होगा और एक वृक्ष-देवता या सूर्य-देवता की प्रभावशाली आकृति से लेकर वह सभी दूसरे प्रकरणों को अपने में समेट लेता है, जैसे कि भारत के सूर्य-देवता तथा प्राचीन सुमेरियन नगर उर के चन्द्रमा-देवता के सन्दर्भ में हुआ है या जैसा कि भारत और बेबिलोनिया दोनों में ही जल देवता का स्वरूप उसके मूल रूप से कहीं अधिक बढ़ गया है।

दूसरी ओर यह अतीव महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसका काफी तिरस्कार हुआ है; एक छोटे-से सम्प्रदाय की सामान्य चरित्र वाली एवं सुरक्षा प्रदान करने वाली कोई आत्मा हो सकती है (तुलना करें युद्ध एवं कृषि के लिए मंगल की)। भारत में ग्राम-देवताओं की भांति, जो आपाततः भूत नहीं है और फिर भी उनका किसी भी विशिष्ट प्रकार की प्राकृतिक संघटना से कोई खास तरह का तादात्म्य स्थापित

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नहीं किया जा सकता। जैसे चम्पा में अथेना की भांति[१०] "नगर की स्त्री" एक स्थानीय देवी होती है। वे सभी स्थानीय उपदेवता होते हैं जिनके प्रति गांव के लोग प्रार्थना करते हैं और बलि चढ़ाते हैं। ये स्थानीय उपदेवता सम्प्रदाय की सामान्य देखभाल करते हैं। वे इनकी सहायता करते हैं और इनको दण्ड भी देते हैं। वे सम्प्रदाय के बाहर के लोग नहीं होते हैं और इससे बँधें हुए होते हैं। जैसे-जैसे एक सम्प्रदाय का विकास होता है, वह सम्प्रदाय अपने देवता को युद्ध के प्रतीक के रूप में, फसल-देवता के रूप में और एक सामान्य आध्यात्मिक आश्रयदाता के रूप में उसको अपने साथ ले जाता है। समय आने पर यह महान् लोगों का महान् देवता बन जाता है। यदि एक ऐसा देवता एक समुद्र तटीय सम्प्रदाय का संरक्षक होता है, वह एक जल-देवता समझे जाने योग्य बन जाता है; क्योंकि लोगों का सम्बन्ध खेती की अपेक्षा जल से अधिक होता है। यदि वह गांव के अन्दर का होता है तो वह शिकार-देवता या किसान-देवता बन जाता है; परन्तु यह उसका नितान्त स्पष्ट रूप ही होता है। सभी समयों में यह केवल देवता ही होता है—कबीले का देवता कबीले के साथ-साथ बदलता रहता है और कबीले के साथ बढ़ता भी रहता है। अन्त में वह लोगों का पिता बन जाता है। पैतृक भूत के रूप में नहीं परन्तु एक संरक्षक, अभिभावक तथा आश्रय और सहायता के दाता के रूप में वह पिता का रूप धारण कर लेता है। फिर हमेशा ही लोगों की रुचि के साथ इसका तादात्म्य किया जाता है। ऐसी ही एक आत्मा निःसन्देह माता भी हो सकती है। ऐसे अनेक उपदेवता इस कोटि के अन्तर्गत आते हैं; परन्तु कोई भी भारतीय माता एक युद्ध-देवता नहीं बनती और पृथ्वी माता या प्रेम की देवियों के रूप में विकसित होने से पहले साधारणतया अधिकांश मातृ-देवियां केवल स्थानीय ही बनी रहती हैं। विकासशील देवताओं के प्रति भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय सबसे पहले अपना एक सम्बन्ध स्थापित करते हैं और सभी सम्प्रदायों द्वारा उन देवताओं के प्रति जो सख्ती बर्ती जाती है उसमें एकमत नहीं पाया जाता है। परिणामस्वरूप कुछ जातियाँ दूसरों की अपेक्षा अधिक विभागीय देवताओं का विकास कर लेती हैं। दूसरी जातियां अपने देवताओं के विभागीय पक्ष को तिरोहित होने देती हैं और देवता को एक सामान्य संरक्षक के रूप में

---

१०. "नगर की देवी" का औपचारिक रूप में "शिव की पत्नी" के साथ तादात्म्य स्थापित किया जाता है, परन्तु मूलतः वह एक स्थानीय जगह चम्पा (अन्नम) का प्रतिनिधित्व करती है। उसकी कोई और उत्पत्ति नहीं हो सकती। वह स्थानीय लोगों के आध्यात्मिक जीवन को उनके घरों में व्यक्तित्व प्रदान करती है। अर्धसभ्य रूप में 'अमरीका' के समान; 'मेरा देश,' 'यह आपका' एक आध्यात्मिक राष्ट्र।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सुरक्षित रखती हैं। इसलिए सेमेटिक लोगों ने अपने देवताओं को केवल स्थानीय महत्त्व ही प्रदान किया है और जल-देवता, सूर्य-देवता या चन्द्रमा-देवता के रूप के सभी सम्बन्धों का तिरस्कार करके उन पर सामान्य शक्ति तथा प्रमाद का रूप आरोपित किया है। दूसरी ओर आर्य सम्प्रदायों ने सामान्यतया अपने जातीय देवताओं को सर्वोत्तम रूप से उनके विशिष्ट विभागों तक ही सीमित कर दिया है; परन्तु उनके विशिष्ट स्वरूप पर एक विस्तृत निगरानी वाला स्वरूप ऊपर से आरोपित भी कर दिया है। इस प्रकार हदाद की भांति इन्द्र मुख्य रूप से एक आँधी का देवता है। वह धीरे-धीरे सभी कार्यों का देवता बन जाता है और सूर्य देवता के रूप में भी कार्य करता है (इया की भांति)। वरुण एक स्वर्गिक देवता (आकाशीय जल का) देवता बन जाता है और नैतिक आचार का सामान्य अभिभावक बन जाता है। इसलिए प्राक् एज़टेक्स (मेक्सिको की जनजति एज़टेक्स) ट्यलोक उर्वरकता का देवता सूर्य-देवता बन गया है। यूनान की भांति मेक्सिको में भी उर्वरकता की पहली स्थानीय देवियों का विवाह विजेताओं (मेक्सिको की जनजाति एज़टेक्स) के देवताओं के साथ करवाया जाता था। पेरु में समुद्र तट का महान् देवता एक समुद्र-देवता ही था, अर्थात् समुद्र देवता समुद्र तटीय लोगों का एक महान् देवता बन जाता है। जैसे एक अन्तर्द्वीप की भांति सूर्य और झील भी महान् देवता बन जाती हैं; परन्तु इन सभी सन्दर्भों में ये देवता अपनी मूल सीमाओं तथा प्राकृतिक क्रिया-कलापों से कहीं अधिक ऊपर उठ गए थे। भारत में राम और कृष्ण देवरूपकृत नायक रहे होंगे, परन्तु वे निश्चित रूप से पैतृक रूप में श्रद्धास्पद नहीं थे। मूल रूप में एक मानव सम्प्रार होने के बावजूद भी ईश्वर की पूजा एक पारिवारिक भूत के रूप में नहीं की जाती थी। सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि एक मृत व्यक्ति एक देवता बन सकता है, परन्तु एक महान् देवता की पूजा एक पैतृक के रूप में नहीं हो सकती, और नायक या सांस्कृतिक आत्मा की अपेक्षा उसके एक पैतृक की हैसियत से जातीय देवता बनने की कम सम्भावना है। अपनी जाति या लोगों से नायक का सम्बन्ध पैतृक के रूप में नहीं होता है। परन्तु उनके साथ उसके गोद लिए बच्चे का सम्बन्ध होता है। अन्तिम रूप से एक देवता को श्रद्धा के कारण पितामह कहा जाता है। उसमें किसी भी प्रकार का पितृत्व अभिप्रेत नहीं होता। इस प्रकार अमरीकी भारतीयों का एक उल्लु का सम्प्रदाय है और लोमड़ी उनका टोटम है। उनके अपने एक आख्यान के अनुसार यह उल्लु उनके लिए स्नेह की प्रकल्पना करता था और उनको उसे श्रद्धास्पद बनाने की शिक्षा प्रदान करता था। अमरीकी भारतीय लोग उसे अपना पितामह बतलाते हैं तथा उसके सम्मान में नृत्य करते हैं और गीत गाते हैं।

अब हमने उन अधिकांश वस्तुओं पर दृष्टिपात कर लिया है जिनसे देवताओं का निर्माण हुआ है। फिर भी पत्थर, पेड़, पहाड़, नदियाँ, तारे, सूर्य,

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पशु, मनुष्य जीवित और मृत—इन सबकी लम्बी सूची को हम समाप्त नहीं करते हैं। भारत के एक छोटे से सम्प्रदाय में "खलिहान की मातृ-देवी" सोडुल माता की पूजा की जाती है। सड़कों और पहाड़ियों की मातृ-देवी तेलिया देवी को तेल का तर्पण किया जाता है। एक अञ्जन देव नामक देवीकृत रूप पेड़ हैं। चेचक की देवी शीतला की पूजा की जाती है (फोड़े-फुन्सी से मिलते-जुलते पत्थरों के ढेर से श्रद्धास्पद मानी जाने वाली)। भूलत नामक एक गडरिया, सम्भवतः एक ऐतिहासिक पुरुष रहा होगा। शिगंज एक ऐसा आदमी था जो तीन सौ वर्ष पहले हुआ था और अब सितम्बर के महीने उसके मज़ार पर हर साल उसको एक देवता के रूप में स्मरण किया जाता है। इन सब देवताओं के अतिरिक्त और काफी लम्बे-चौड़े देवतागण भी थे। एक छप्पन देव नामक देवता की भी पूजा होती है। यह देवता उन "अधिकांश स्थानों का प्रतिनिधित्व करता है जहाँ पर एक खोई हुई पत्नी या बच्चा भटक गए हों"; और इस देवता की एक वास्तविक देवता के रूप में पूजा की जाती है।[११]

११. निमार जिले का गजेटियर, पृ० ५६, यह छोटा-सा स्थान एक बार जैन समुदाय का स्थान था।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अध्याय ८

धार्मिक प्रेरणा

धर्म का बाह्य स्वरूप कमोवेश बाह्य तत्त्वों द्वारा निर्मित होता है। इसको आसानी से दिखलाया गया है और इसको पहले ही उदाहृत किया जा चुका है। अतः कुछ एक अतीव स्पष्ट उदाहरण ये हैं। कामछटक में कृषि सम्बन्धी आत्माओं का कोई सम्प्रदाय क्यों नहीं है? इसका कारण यह है कि वहां खेती-बाड़ी ही नहीं है। दक्षिणी अमरीका में पूर्वी हवा को क्यों एक देवता माना गया था और उसको आज भारत में एक राक्षस माना गया है। इसका कारण यह है कि यह हवा अमरीकी समुद्री तट पर चिर अभिलषित वर्षा को नियमपूर्वक लाया करती थी और उसी प्रकार नियमपूर्वक मध्यभारत में एक झुलसाने वाली रेत को उड़ाकर लाती है। इससे इसका राक्षसी एवं विद्वेषपूर्ण स्वभाव प्रकट होता है। बन्दर-पूजा, पर्वत-पूजा, झील-पूजा में इस सम्प्रदाय का बाह्य स्वरूप उसी प्रकार आकस्मिक है। यहां भोजन, मन्दिर-सम्बन्धी सामग्री एवं सुलभता आदि के वातावरण के अनुसार विभेद पैदा हो जाता है। अब इसी बात के अनुसार नृतत्त्ववेत्ताओं का झुकाव यह कहने के लिए रहा है कि प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव स्वयं मनुष्य, एवं उसके देवताओं तथा उसकी पूजा पर पड़ता है। अतः उसकी धार्मिक मनोवृत्ति उसके घर एवं विरासत के परिणाम को अभिव्यक्त करती है अर्थात् उसकी धार्मिक मनोवृत्ति उसके वातावरण को वैयक्तिक रूप में तथा जातीय रूप में अभिव्यक्त करती है। यह कहा जाता है कि मनुष्य "प्रकृति एवं पालन पोषण" की उपज है। यह सत्य है किन्तु यह केवल एक सीमा तक ही सही है।

यदि यह बिल्कुल सही होता, तो मनुष्य धार्मिक दृष्टि से आज की अपेक्षा कहीं ज्यादा विभिन्न होते जैसा कि है। वातावरण एवं विरासत कुछ भी हों, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। श्रेणी की अपेक्षा मनुष्य सामर्थ्य के कारण भिन्न होते हैं। लगभग उसी सांस्कृतिक अवस्था में धार्मिक अभिव्यक्ति विभिन्न होने की पायी अपेक्षा समान होती है। निम्न श्रेणियों में भी उसी प्रकार की आदिम प्रतिक्रियाएँ जाती हैं और सर्वोच्च श्रेणियों में भी नैतिक एवं दार्शनिक रूप से लगभग समानान्तर परिणाम पाए जाते हैं। महान् धर्मों की महान् विषमता प्रकृति एवं पालन

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पोषण से पैदा नहीं होती परन्तु यह विषमता छिटपुट एवं असाधारण विभूतियों से पैदा होती है। ये विभूतियाँ एक छोटी सीमा के अतिरिक्त वातावरण का परिणाम दिखलाई नहीं पड़ती हैं और ये ही वे महान् विभूतियाँ हैं जिन्होंने सभी बड़े-बड़े धर्मों का प्रवर्तन किया है। इस प्रकार का व्यक्ति केवल प्रकृति एवं पालन-पोषण से प्राप्त होने वाली सर्वोत्तम वस्तुओं का सारांश ही प्रस्तुत नहीं करता अपितु आम जनता से ऊपर उठकर पृथक् रूप से खड़ा हो जाता है, जैसे अपनी जाति से भिन्न रूप में उगने वाला पौधा अपनी जड़ तथा पालन-पोषण के उचित सम्बन्ध के बिना ही खिल जाता है। प्रत्येक महान् विचारक अपने घर एवं विरासत में कुछ ऐसी चीजों की वृद्धि करता है जिनकी व्याख्या इनमें से किसी के आधार पर नहीं की जा सकती। जो वह परवर्ती पीढ़ी को प्रदान करता है वह पुराना धर्म होता है और उससे वह स्वयं जुड़ा हुआ होता है। उसका निजी स्वत्व उन सभी तत्त्वों में अतीव महत्त्वपूर्ण होता है। परन्तु ये सभी भिन्न-भिन्न महान् विचारक क्रमशः इतने समान रूप से सोचते हैं कि सर्वोच्च एवं निम्नतम स्थितियों में उसी एक संघटना का पुनारावर्तन पाया जाता है और धर्म सम्बन्धी निम्नतम क्रिया-कलाप एक जैसे ही होते हैं चाहे वे भारत में हों या अमरीका या अफ्रीका में। अतः दर्शन के समान धर्म की उच्च स्थितियाँ समान होती हैं। सबसे उत्तम कोटि के विश्वास करने वाले लोग उसी सर्वोच्च परमात्मा की सर्वत्र पूजा करते हैं।

परन्तु यदि यह ऐसा है तो इसका कारण स्वयं मनुष्य की प्रकृति में होना चाहिए। सारी दुनियाँ में एक ऐसी समानता है कि यह घर और विरासत की घटनाओं को समान करने से कहीं अधिक काम करती है। मनुष्य के किसी भी एक स्थान के स्वरूप का निर्माण घर एवं विरासत द्वारा नहीं किया जाता है परन्तु ये केवल उसमें सुधार करते हैं। तब यह मनुष्य का स्वभाव ही मनुष्य के रूप में काम करता है कि धर्म के उद्भव एवं विकास की अत्यधिक आदिम प्रेरणा को खोजना चाहिए। क्योंकि मनुष्य एक संश्लिष्ट प्राणी है, अतः कोई एक ही ऐसा प्रेरणा स्रोत नहीं हो सकता, जिसके साथ धर्म का सम्बन्ध जोड़ा जा सके; परन्तु उसके व्यक्तित्व के मिले-जुले तत्त्व ही उसके धार्मिक रूप को उत्पन्न करने के लिए एक साथ काम करते हैं। न ही यह कहना उचित है कि इन्हीं तत्त्वों में, जिनको मोटे तौर पर भावनात्मक एवं बौद्धिक वर्गों में बांटा जा सकता है; भावनात्मक तत्त्वों का प्राधान्य पाया जाता है। इससे पहले कि हम किसी भी वस्तु को धर्म का नाम दें, आध्यात्मिक शक्ति की चेतना के अतिरिक्त भय एवं आशा ही केवल दो तत्त्व हैं। भय या आशा आध्यात्मिक शक्ति की ओर ही अग्रसर होते हैं। परन्तु धर्म के अनुभव के बिल्कुल प्रारम्भ से ही इनके साथ बौद्धिक क्रिया-कलाप का एक अल्प अंश जुड़ा हुआ है। उदाहरण के लिए हम जंगल के आदमियों के रवैये को लेते हैं; जिसे हम पहले उद्धृत कर चुके हैं। वे लोग कुछ अनिश्चित जैसी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वस्तु से डरते हैं और उसे सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। वे किसी एक व्यक्ति को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न नहीं करते अपितु एक शक्ति या शक्तियों के समूह को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। वे इन शक्तियों की कल्पना बहती हुई नदी, फलते-फूलते वृक्ष, ज्वर की तीव्रता में करते हैं। वे किसी प्रकार की अज्ञात शक्ति को सन्तुष्ट करते हैं और उसके प्रभाव तथा विद्वेषपूर्ण क्रियाकलापों के कारण उसमें विश्वास करते हैं। अब यह धर्म का सबसे निम्न कोटि का स्वरूप है। कोई एक ऐसी जानी-पहचानी आत्मा नहीं है जिसे ये बर्बर लोग सन्तुष्ट करते हैं। यह केवल कोई अस्पष्ट शक्ति ही होती है जिसकी ये लोग इससे उत्पन्न होने वाले प्रभाव से तर्कपूर्ण ढंग से कल्पना करते हैं। इन शक्तियों को सन्तुष्ट करने का वास्तव में आधार उनकी यह तर्कसंगत कल्पना ही होती है और यही तर्कसंगत कल्पना 'अज्ञात वस्तुओं का साकार शरीर ग्रहण कर लेती हैं'। जो 'लोग रात में किसी भय की कल्पना करते हैं' वेझाड़ी को एक रीछ समझ लेते हैं या एक बीमारी को राक्षस समझ लेते हैं; वे प्रभाव एवं कारण में सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं; जैसे किसी बाद की अवस्था में घास पर बने एक मकड़ी के जाले को परियों का जाला बनाने वाला समझा जाता है या किसी बच्चे के सन्दर्भ में, जो कुर्सी बच्चे को नुकसान पहुँचाती है, उसे विद्वेष पूर्ण समझा जाता है। इसी कारण से ही जापान के सुदूर उत्तरी महाद्वीपों के आदिम जाति आइनु के लोग यह विश्वास करते हैं कि जो नदी उनके भाई को डुबो देती है, उसने ऐसा किसी उद्देश्य से किया है। सभी प्रभावों के विषय में यही निर्णय लिया जाता है। विशेष रूप से यह कल्पना करना सरल है कि गति में जीवत होता है। यह कल्पना करना कठिन होता है कि क्रिया-कलाप का अर्थ जीवन नहीं होता है और सक्रिय जीवन से इच्छा का तात्पर्य नहीं होता है। इस प्रकार एक बर्बर व्यक्ति के लिए नदी में जो शक्ति चलती है और कार्य करती है, उस शक्ति में इच्छा विद्यमान होती है। वैसे ही एक अर्धसभ्य व्यक्ति के लिए सूर्य अब भी एक संकल्पनात्मक शक्ति है। यद्यपि यह बात बर्बरता में काफी निम्न कोटि की है और एक बर्बर इस दुनिया को इस रूप में समझता है कि संसार एक रचना है और उसके विषय में वाद-विवाद है। आस्ट्रेलिया के सबसे निम्न स्तर के बर्बर लोगों में यह बात है। पोलेनेशियाई और कैलिफोरनिया के लोगों के अनुसार आदिम प्रकृति से इसका विकास हुआ है। इसके विषय में बर्बर व्यक्ति भी उतना ही तार्किक है जितना कि एक दार्शनिक। यहाँ बर्बर यह विवाद करता है कि संसार से एक स्रष्टा पैदा होता है या दूसरे उत्पादक देवता पैदा होते हैं। कल्पना से तार्किक ढंग से कार्य करते हुए वह यह विचार करता है कि आत्मा मृत्यु के बाद भी विद्यमान रहती है। एक सोया हुआ व्यक्ति अपने मृत रूप को जीवित तथा पुनः सक्रिय रूप में देखता है और यह विवाद करता है कि उसका

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

व्यक्तित्व मृत्यु के बाद भी जीवित रहेगा क्योंकि वह दूसरों को भी इस प्रकार जीवित रहने की कल्पना करता है।

जैसे-जैसे एक जाति का विकास होता है, उसकी कल्पना और अधिक उन्नत प्रकार के देवताओं का आविष्कार कर लेती हैं। ये उस सम्प्रदाय के दूसरे सन्दर्भों में भी सांस्कृतिक दृष्टि से विकसित होते हैं; और इन्हीं में ही अमूर्त प्रकार के देवता भी उपलब्ध हो जाते हैं। परन्तु यह विचार करना गलत है कि दिव्य अमूर्त रूप का जन्म आवश्यक रूप से सभ्य लोगों में ही होता है। सम्प्रदाय उनका आविष्कार जन-समूह में कर लेते हैं और बड़ी कठिनाई से ही उनको सभ्य कहा जा सकता है तथा भिन्न-भिन्न स्थानों में वही प्रक्रिया लगभग वैसे ही देवताओं को पैदा कर देती है। अतः शारीरिक वस्तुओं का अमूर्त रूप रोमन तथा स्लाव लोगों में पाया जाता है और व्यक्तित्व को गुणों से युक्त करने की प्रवृत्ति ऐसे समानान्तर स्वरूपों को पैदा करती है जैसे नार्वे-स्वीडन के इन्द्र देवता की बेटी, मेघ गर्जन और मंगल की पत्नी का शौर्य और इन्द्र की पत्नी शक्ति (शची)। या अमूर्त रूप कभी-कभी अकेला ही स्थित रहता है और वही विचार उसी प्रकार का परिणाम पैदा करता है जैसा कि तीन बहनों का रूप एक भाग्य के मानवीकृत रूप में परिणत हो गया है। लोग जितने विकसित होंगे, अमूर्तीकरण की प्रक्रिया भी उतनी ही विकसित होगी। भारत में धर्म देवता का स्वरूप बाद में विकसित हुआ है। धर्म का लेखा-जोखा रखने वाले का स्वरूप तो और बाद में आता है जो गेबराइल की भाँति अपने खाते में मनुष्य के पापों का हिसाब रखता है। दूसरी ओर दया तथा दूसरे अमूर्त स्वरूप प्राक् वैदिक काल के देवता हैं। "बहुलता के साथ हमारे पास आओ" एक वैदिक कवि समृद्धि के देवता से प्रार्थना करता है और सबसे प्राचीन टीकाकार को भी इस बात का विश्वास नहीं है कि क्या समृद्धि एक स्त्री-देवता है या साधारण संज्ञा है। परन्तु सम्भवतः ऐसे सभी सन्दर्भों में, यद्यपि ऐसा कोई सम्प्रदाय नहीं था, यह अमूर्त रूप बड़े ही अस्पष्ट रूप से किसी प्रकार के व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करता था। यह एक ऐसा प्रयोग है जो आज भी हमारी काव्यात्मक भाषा में प्रतिबिम्बित होता है। यह एक ऐसा व्यक्तित्व होता है जिसमें आने और न आने की संकलपनात्मक शक्ति होती है। इस प्रकार स्लाव, ट्युटोन और रोमन लोग द्वारस्तम्भ, खलिहान, चौखट, फसल आदि को श्रद्धास्पद मानते थे। इनके देवता सचेतन एवं संकलपनाशक्ति से युक्त थे। वैदिक आर्यों के हल, खेत की नाली, चक्की का पत्थर, ढोल भी वैसे ही थे, यद्यपि हम उनको हल आदि की आत्मा के रूप में बड़ी कठिनाई से ही मान सकते हैं।

परन्तु इन अमूर्त रूपों का इसी स्वरूप में अधिक ध्यान नहीं रखा जाता है या उनका आह्वान नहीं किया जाता है। प्रायः उनका कोई सम्प्रदाय नहीं होता है या उनका सम्प्रदाय केवल उस कारण से बन जाता है जब वे केवल मात्र अमूर्त

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

रूप ही नहीं रह जाते और उनका तादात्म्य किसी और अधिक वास्तविक वस्तु से किया जाता है, जैसे सूर्य, मृत मुखिया आदि। इस प्रकार यूनान और भारत में करुणा एवं धर्म का कभी-कभी ही देवता के रूप में आह्वान किया जाता है। उत्पत्ति के देवता विष्णु ब्रह्मा की अपेक्षा कहीं ज्यादा वास्तविक हैं। कल्पना शक्ति के द्वारा इतने अमानव देवता के बारे में सोचा नहीं जा सकता है। प्रमुख देवता को खास तौर पर एक राज्य के प्रमुख के समान होना चाहिए। एक राजा द्वारा अनुशासित होकर लोग 'मातृप्रधान' देवता को स्वीकार नहीं करते हैं, यही कारण है कि प्राचीन यूनान की स्वर्ग की सम्राज्ञी हेरा जुएस् के लिए गौण बन जाती है और यदि राज्य में कोई परिवर्तन आ जाए तो बेबिलोन की भाँति 'मातृप्रधान' राज्य की देवी के उभयलिङ्गी या पुरुष बन जाने की सम्भावना बनी रहती है। सामाजिक क्रम के अनुसार देवताओं का वर्गीकरण परिवारों एवं जातियों में किया जाता है। जैसे नैतिक क्रम बदलता है, देवता भी बदल जाते हैं या जैसे कई कम महत्त्वपूर्ण देवताओं का तिरोधान हो जाता है, जैसे होमर का जुएस् प्राचीन यूनानी कवि और नाटककार ऐसकाईलस के काव्य में तथा प्लेटो में एक बिल्कुल दूसरा ही जुएस् बन जाता है। हम स्वयं देवताओं को 'पापपूर्ण कृत्यों' से युक्त नहीं मानते हैं और भारत में **विशां पतिः** के पापपूर्ण कृत्यों के कारण ही इस देवता के पिता को अन्य देवताओं द्वारा अभिभूत कर दिया गया। इन अन्य देवताओं में ऐसे कोई भी कार्य नहीं पाए जा सकते थे। कल्पना शक्ति, तर्क एवं निरन्तर विकासशील रहने वाली नैतिक भावना के अनेक युगों तक एक साथ कार्य करने के परिणाम स्वरूप ही ऐसा हुआ है कि मनुष्य अपनी सर्वोच्च कल्पनाशक्ति के माध्यम से एक नैतिक रचयिता एवं ब्रह्माण्ड के शासक तक पहुँच पाया है। इस नैतिक रचयिता तथा ब्रह्माण्ड के शासक ने सभी पहले देवी-देवताओं के कार्य क्षेत्रों में अनधिकार प्रवेश भी कर लिया है। स्वाभाविक प्रक्रियाओं को विचारों के साथ जोड़ने वाले मिथकों के निर्माण में भी कल्पनाशक्ति कार्य करती है और जहाँ एक विचार एक चिह्न से जुड़ा हुआ है, वहाँ पर प्रतीकों के निर्माण में भी कल्पनाशक्ति कार्य करती है। ऋतु सम्बन्धी मिथक दोनों के उदाहरण हैं। साल की समाप्ति और पवित्रता या बुद्धिमानी के प्रतीक के रूप में जल, बेबिलोनिया, जर्मनी और भारत के उदाहरण हैं।

परन्तु जैसे सभी घोड़े कमोबेश रूप में एक जैसे होते हैं। फिर भी कुछ नस्लें दूसरों की अपेक्षा अधिक बलिष्ट होती हैं वैसे ही सभी मनुष्य काफी समान हैं, कुछ दूसरों की अपेक्षा अधिक कल्पनाशील होते हैं। जैसे कुछ लोग अधिक क्रोधी होते हैं और यह प्रवृत्ति जैसे धर्म को प्रभावित करती है वैसे ही यह कला और साहित्य को भी प्रभावित करती है। अतः विभिन्न जातियों का धार्मिक अनुभव

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

एक जैसा नहीं रहा है। धर्म की ऊँची स्थितियों तक पहुँचने के लिए किसी एक सोपान का प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

अब हम धर्म के भावनात्मक पक्ष पर लौटते हैं। एक बहुत भौण्डे, अतीव पुरातन एवं अज्ञानमय नियम का दृढ़तापूर्वक यह कहना था कि देवताओं का निर्माण सबसे पहले भय से होता है। कुछ कबीलों के लिए उनके परिवार की प्रिय आत्माएँ ही उनके लिए देवता होती हैं। वे उनका मार्ग निर्देश करती हैं और उनको सुरक्षा प्रदान करती हैं। ऐसे कबीलों में दिव्य शक्तियों के प्रति भय की अपेक्षा प्रेम अधिक पाया जाता है और एक कुत्ते के धर्म में सम्भवत: प्रेम तथा भय प्रगाढ़ रूप से एक दूसरे से संपृक्त होते हैं। परन्तु जैसे हमें पहले परमात्मा से डरने का आदेश दिया जाता है तथा फिर उससे प्रेम करने का आदेश दिया जाता है और हमें यह शिक्षा दी जाती है कि पूर्ण प्रेम भय से पैदा होता है। अत: हम यह मान सकते हैं कि सामान्यतया देवताओं का भय उनके प्रेम से पहले आता है जैसे विद्वेषपूर्ण राक्षस उदार देवताओं से पहले विद्यमान रहते हैं। परन्तु किस प्रकार का भय ? स्पष्टत: भय की एक प्रकार की स्वत: अभिव्यक्ति है जैसे मुक्का मारना या बालू के सामने आँखें बन्द कर लेना या अचानक दिखलाई पड़ने वाले प्रपात के भय से सिकुड़ना—इन सभी बातों का कोई धार्मिक अर्थ नहीं है। परन्तु जब कोई गरज के साथ आने वाली वर्षा के तात्कालिक प्रभाव से डरता है तो इससे पहले कि वह उस शक्ति की निन्दा करे जो उसे मार सकती है, तर्क और कल्पना शक्ति अपना कार्य करते हैं। फिर क्योंकि भय वास्तविक या सामर्थ्य वाला होता है, अत: धार्मिक अभिव्यक्ति में भी अन्तर आ जाता है। जब खतरे की केवल संभावना ही होती है और खतरा दूर होता है, जैसा कि सूखे के भय में होता है जिससे भूखमरी फैलती है। तब अभिव्यक्ति न केवल निन्दनीय होती है परन्तु आशाजनक होती है और अच्छाई के लिए प्रार्थना के साथ-साथ नुकसान न पहुँचाने के लिए भी प्रार्थना की जाती है। इस प्रकार धार्मिक दृष्टि का भय पहले बौद्धिक होता है और फिर आशावान बन जाता है। अत: आर्यों की प्राचीन धार्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति में बिजली से प्रहार न करने के लिए प्रार्थना की गई है और भद्र चीजों की प्राप्ति के लिए भी प्रार्थना की गई है। जो हमारे सबसे प्राचीन साहित्य में काव्यमय अभिव्यक्ति उपलब्ध होती है, वह वास्तव में अत्यधिक आदिम व्यक्तियों के धार्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति में भी विद्यमान रहती है। जब आस्ट्रेलियाई बर्बर व्यक्ति उन महान् शक्तियों के अनुग्रह की प्रार्थना करता है, तो पहले वह उनको बलपूर्वक प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। उसको उनसे भय होता है परन्तु उसी क्षण उसको एक आशा भी बँध जाती है, वह उनको मजबूर करने का प्रयत्न करता है। फिर उसी क्षण अचेतन रूप से वह पराभव एवं आश्रय की भावनाओं को अभिव्यक्त करता है। किसी भी सन्दर्भ में धार्मिक भय स्वत: या सहज नहीं

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

होता है। सभी सन्दर्भों में वह तर्कमूल भय ही होता है। इस बात पर बल देना एक साधारण गलती होती है कि अन्धकार का भय आधिदैविक के अन्तर्जात या सहज भय को प्रकट करता है। पर्यवेक्षण एवं अनुमान ये दोनों ही यहाँ दोषपूर्ण होते हैं। बर्बर लोग अन्धेरे से नहीं डरते परन्तु अन्धेरे में रहने वालों राक्षसों तथा दूसरे शत्रुओं से डरते हैं। भली-भाँति पाले गए बच्चे अन्धकार से नहीं डरते हैं। उनको इस बात का डर होता है कि यदि वे दिन के प्रकाश में जग गए तो वे उस समय अकेले होंगे और यदि उनके मन में अकेले छोड़े जाने का विचार आ जाए तो भी वे डर जाते हैं। घोड़े जैसे बैचेन पशु भी अन्धेरे से नहीं डरते हैं यदि अन्धेरे में कोई बुराई न छिपी हुई हो, जैसे कि न्यू इंगलैण्ड के चरागाह में। जैसे भारत में पशु अन्धेरे से डरते हैं; यह इसलिए होता है कि वे जानते हैं कि अन्धेरे में किस प्रकार का खतरा छिपा हुआ है। एकान्त का भय या गिरने जैसे दूसरे खतरों का भय एक जातीय दाय के रूप में सहज होता है। यह आधिदैविक में सहज विश्वास का चिह्न नहीं होता है। जहाँ तक पशुओं का सम्बन्ध है, जब एक कुत्ता ताव में आकर अपने रोंगटे खड़े कर लेता है तो यह इस कारण होता है कि वह किसी ऐसी वस्तु के विषय में जागरूक हो जाता है, जो अभी उसकी समझ में नहीं आई है। वह अपनी सुरक्षा की प्रथम अवस्था के रूप में किसी अज्ञात वस्तु से डर जाता है।[1]

पेट्रोनियस के जिस सिद्धान्त को ऊपर उद्धृत किया है, टीले महोदय द्वारा उसको एक सुधरे हुए अर्थ में स्वीकार कर लिया गया है। उसके अनुसार भय-भीत होना ही सभी धर्मों की आश्रयभूत जड़ है। फिर इसमें जो भी सत्य रहा हो, उसको टीले की दार्शनिक व्याख्या में आश्रय शब्द की व्याख्या ने दूषित कर दिया है, इसके अनुसार यह प्रेमपूर्ण आस्था एवं विश्वास की प्रारम्भिक स्थिति है। टीले के अनुसार सबसे निम्न कोटि के असभ्य व्यक्ति को भी धार्मिक भय की अनुभूति होती है। असभ्य व्यक्ति की अपनी अन्तरात्मा की दिव्य शक्ति के साथ सम्प्रेषण की आवश्यकता तथा एक मुक्तिदाता की आवश्यकता के रूप में इस अनुभूति की व्याख्या की जा सकती है; परन्तु असभ्य व्यक्ति के विचार की यह व्याख्या लगभग विलक्षण सी है। जैसे एक पशु के लिए, वैसे ही एक असभ्य व्यक्ति के लिए जो भी अज्ञात है, वह रहस्यमय है और जो भी रहस्यमय है वह भयाकुल है। एक

---

१. 'पेथोलोजिकल आॅस्पेक्ट्कस् ऑफ रिलीजन' नामक अपने ग्रन्थ में श्रीमान् जोशिया मोरशियान भावनात्मक डर एवं मानसिक तथा तार्किक भयों को एक साथ वर्गीकृत करने की सामान्य गलती करते हैं (डॉ० ब्रिन्टन ने भी यही बतलाया है कि अन्धकार द्वारा प्रदर्शित भय की आध्यात्मिकता का मनुष्य को अचेतन रूप में अन्तर्बोध होता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

असभ्य व्यक्ति के बीमारी रूपी राक्षस के भय में दिव्य शक्ति के सम्प्रेषण की आवश्यकता की भावना की कोई प्रारम्भिक स्थिति नहीं है।[२]

इसके अतिरिक्त इस बात पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि यद्यपि बर्बर धर्मों में भय महत्त्वपूर्ण है; यह हमेशा ही अमन्दीकृत भय नहीं होता है। अत्यधिक आदिम लोगों में भी भय और भूतों के प्रति लगाव का वही मिश्रण पाया जाता है। यही मिश्रण मानवीय मेल-जोल को प्रभावित करता है, जबकि उत्कृष्ट प्रकार के धर्म में आशा, प्रशंसा और सहानुभूति का मेल भय से पाया जाता है और वे इससे मिलकर निकृष्टता से परे इसको और अधिक जटिल बना देते हैं। वैदिक ऋषि, जो डरता है और आशा करता है, प्रशंसा भी करता है और तूफानों के देवताओं की भयानक शक्तियों के साथ पूरी सहानुभूति रखता है। इन देवताओं का चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन उसे आह्लाद एवं भय से भर देता है। फिर भी वैदिक धर्म एक प्रकार का विकसित स्वरूप वाला है और इन खतरनाक शक्तियों के प्रति सामान्य आदिम रवैया सहानुभूति का होने की अपेक्षा विरोध का है। धार्मिक भावनाओं में कृतज्ञता की भावना परवर्ती है। जब भय शान्त हो जाता है और आशा पूर्ण हो जाती है तो असभ्य व्यक्ति आनन्दित होता है, परन्तु उनके अनुग्रह प्राप्त करने के लिए आध्यात्मिक शक्तियों को धन्यवाद देना उतना ही विरल है जितना सेवा के लिए मनुष्य को धन्यवाद देना। कुछ असभ्य लोगों में अपने मानव पड़ोसियों के प्रति किसी भी प्रकार की कृतज्ञता की भावना बिल्कुल नहीं पायी जाती और यह कोई अजीब बात नहीं है कि उन आत्माओं के प्रति भी उनका वही रवैया हो। साहित्यिक धर्म भी प्रायः कृतज्ञता की अभिव्यक्ति से रहित होते हैं और असभ्य लोगों के कृतज्ञता ज्ञापन करने वाले अधिकांश तथाकथित त्योहार मात्र आनन्दमय त्योहार ही होते हैं। यद्यपि आकस्मिक पर्यवेक्षक लोग विकसित बर्बरता की व्याख्या करते हुए, उदाहरण के लिए, अमरीकी भारतीयों के विषय में कहते हैं, "वे भोजन करते हुए महान् आत्मा को मांस, बर्फ, आदि के लिए धन्यवाद प्रदान करते हैं।[३]

---

२. टीले महोदय का यह तर्क भी कम निरर्थक नहीं है कि मनुष्य से पास अमृतत्व की एक आन्तरिक आशा होती है क्योंकि वह अमर देवताओं की कहानियाँ घड़ता है। जिन कथनों पर टीले का सिद्धान्त निर्मित है, उन कथनों का प्रामाण्य भी सन्देहास्पद है। इस प्रकार उसका बलपूर्वक कहना है कि मुक्ति का विचार 'बिल्कुल सामान्य' (सार्वभौम) है और अमृतत्व में सभी लोगों का विश्वास पाया जाता है। देखिए टीले, 'साइंस ऑफ रिलीजन' ऑन्टोलोजि, पृ० ७४, ११३, १२४।

३. कैटलिन, 'नार्थ अमेरिकन इण्डियन' I, पृ० १४५, २१३ और पृ० १५६

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

किसी ने आत्मा की इच्छाओं के विरुद्ध अपराध किया है—यह भय से व्युत्पन्न अफसोस की भावना है। पश्चात्ताप एक दूसरा भाव है जिसका सम्बन्ध केवल उच्च धर्म से है और इसके उपरान्त भी आदिम प्रकार की आशंकाओं से इसे सम्बद्ध किया जा सकता है। यद्यपि पापी की स्थिति को समझे बिना मात्र अफसोस और पश्चात्ताप में अन्तर करना कठिन है। वेद के प्राचीन धार्मिक सूक्तों में दण्ड की पहचान के सन्दर्भों में पाप की चेतना पहले आती है और वहाँ पर पश्तात्ताप अस्पष्ट होता है क्योंकि पापी को वास्तव में यह ज्ञान नहीं होता कि उसे क्यों दण्डित किया गया है। वह दुःखी होता है और यह पहचान जाता है कि उसका दुःख दिव्य दण्ड है; परन्तु क्योंकि उसे अपने द्वारा की गई किसी खामियों का ज्ञान नहीं होता, वह पूछता है: "मैंने अपने देवता के प्रति अपराध कैसे कर दिया? क्या दोष मादकता, द्यूत और क्रोध के कारण था? मैंने जो भी किया है वह अनजाने में किया है। मैं देवताओं का फिर से मित्र बन जाऊँ।" प्राचीन बेबिलोनियाई सूक्तों में भी बिल्कुल वैसा ही रवैया दिखाई पड़ता है। दूसरे शब्दों में इस सन्दर्भ में पहली साहित्यिक अभिव्यक्ति असभ्य व्यक्ति के रवैये को बिल्कुल पुनः प्रस्तुत कर देती है। वह असभ्य व्यक्ति अपनी चोट के कारण विवाद करता है कि एक बुरी आत्मा ने उस पर आक्रमण किया है और वह सब कुछ करने के लिए उत्सुक है जिससे वह उस बुरे प्रभाव को हटा सके या सन्तुष्ट कर सके। यदि वह इसे हटा सकता है तो वह इसे हटाता है; परन्तु वह भेंट देने या बलि चढ़ाने जैसे समझाने-बुझाने वाले उपायों को करनेमें भी प्रवीण होता है। इसके अनुकूल वह व्यक्तिगत रूप से उस शक्ति की कल्पना करता है। इस प्रकार इस युद्ध में हारने के बाद आनुमानिक रूप से क्रुद्ध देवताओं के प्रति और अधिक भेंट चढ़ाई जाती है। जब ज्वालामुखी एक गाँव को बर्बाद कर देता है, जो गाँव क्रोधी देवता की पूजा से च्युत हो गया है। असभ्य व्यक्ति लावा के मार्ग में भेंट रखकर उस देवता को शान्त करते हैं। उनका भय उनकी धर्मविमुखता के लिए पश्चात्ताप करवाता है।[४]

इस अपरिपक्व प्रारम्भिक अवस्था से चलकर पश्चात्ताप को एक धार्मिक तत्त्व के रूप में इसकी सर्वोच्च अभिव्यक्ति अर्थात् इसको दुःख के साथ जोड़ा जा सकता है, और यह दुःख सन्तप्त करने वाला दिव्य प्रेम ही हो सकता है। यदि ऐसी स्थिति में पहुँचकर इसके अनुकूल उस प्रेम से सभी माँगे स्वीकृत हो जाएं जहाँ अधिक उन्नत एवं भावुक मानव आत्माओं के लिए भय पूरी तरह से प्रेम में डूब जाता है। इसके उपरान्त के परिणामों में भय के द्वारा पश्चात्ताप करना,

४. प्रशान्त महासागर के एक द्वीप में ऐसा ही हुआ है। जब ईसाई बने हुए असभ्य लोगों को लगा कि नए ईश्वर के प्रति प्रार्थना बेकार है तो उन्होंने ज्वालामुखी की वापिस पूजा शुरू कर दी। इससे ज्वालामुखी का फटना रुक गया।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पश्चात्ताप एवं भय की बीच की स्थिति है।

धर्म के भावनात्मक पक्ष की मात्रा प्रशंसा, दान, संगीत, नृत्य आदि में दिखलाई पड़ती है। यह उसमें भी दिखलाई पड़ती है जिसे देवता पसन्द करते हैं; परन्तु हमेशा ही यह स्पष्ट नहीं होता है कि कोई अमुक कार्य क्यों घटित होता है; क्योंकि सभी धार्मिक कर्मकाण्ड गड्डमड्ड होते हैं, और वही कार्य विरोधी कारणों द्वारा भी किया जाता है। इस प्रकार राक्षसों को आकृष्ट करने तथा उनको भयभीत करने—दोनों के लिए ही नृत्य का प्रयोग होता है। आत्माओं को भेंट जैसे उनको दूर भगाने के लिए दी जाती है वैसे ही उनको प्रलोभित करने के लिए भी दी जाती है। जैसा कि डरखेम महोदय ने संकेत दिया है कि उच्च प्रकार के धर्मों में सेवा घिसी-पिटी सी बन जाती है, उसका ऐसा स्वरूप बन जाता है जिसको विभिन्न परिस्थितियों में लागू किया जा सकता है, जैसा कि विवाह के अवसर पर भी पूजा समारोह किया जाता है।

भय की सत्ता को विकसित धर्मों के स्वीकृत पहलू के रूप में बल देने की आवश्यकता नहीं है। "आतंक" शब्द प्राचीन ट्यूटन जाति के लोगों का उनके देवताओं के प्रति रवैये को अभिव्यक्त करता है। एक भारतीय का कहना है, "केवल भय ही मनुष्यों को पुण्यात्मा बनाता है", और "भगवान् एक बड़ा भारी भय है।" हमारे आधुनिक जीवन ने उन अनेकों प्रयोगों को मात्र पहचान के रूप में बचा रखा है। ये प्रयोग मूलतः आत्माओं के भय से उद्भूत हुए थे; जैसे मृतक के पास मोमबत्तियों का रखना, अच्छे भाग्य को पाकर थूकना (वास्तव में बुराई को दूर करने के लिए) और इसके साथ सौभाग्य से जुड़ी हुई अनेक प्रथाएँ हैं। हमारे अप्रैल फूलसडे का भारत में बिल्कुल दूसरा प्रतिरूप है जहाँ राक्षसों को भगाने वाला मूल विचार अधिक स्पष्ट है। भय वर्जना में व्यवस्थित हो जाता है जब जैसे पोलिनेशिया में यह इतना व्यापक बन जाता है कि यह अधिकांश धार्मिक क्रियाकलापों में अन्तर्भूत बना रहता है। परन्तु सभी धर्मों की अभिव्यक्ति आवश्यक रूप से कमोबेश वर्जना-रूप में होती है और इस बात को मानना चाहिए कि नैतिक विकास वर्जना के माध्यम से हुआ है। निषेध में चोरी तथा व्यभिचार का दूसरों के लिए विरोध किया जाता है अर्थात् निषेध कम से कम कुछ कार्यों को पाप के रूप में परिभाषित कर देता है। परन्तु इस बात पर बल देना एक सामान्य अतिशयोक्ति है कि चोरी, व्यभिचार और हत्या निषेध के माध्यम से नैतिक रूप में गलत बन गए हैं। धार्मिक दृष्टि से वर्जना महत्त्वपूर्ण है क्योंकि जो बुरा है और जो पवित्र है इसके बीच यह तटस्थ क्षेत्र की स्थापना कर देता है। जो वस्तु या कार्य परिहार्य हैं वे मात्र भयावह बन जाते हैं। यह अभिशप्त और पवित्र, राक्षसी एवं दिव्य के औपचारिक अन्तर की पूर्ववर्ती स्थिति को अभिव्यक्त करती है। अपरिभाषित मन या शक्ति, जिसकी प्रकल्पना आत्मा के

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

रूप में नहीं की गई है, यह अपनी शक्ति वैयक्तिक आत्माओं को प्रदान करता है। इन आत्माओं के विषय में यह विश्वास किया जाता है कि ये महान् मन वाले प्राणी हैं। फिर मन अपने आपको वस्तु, स्थान, काल और कार्य जैसी निर्वैयक्तिक आकृतियों में अनुप्राणित करता है ताकि वे भय को उत्पन्न कर सकें। एक पुरोहित जिसके पास मन है, एक जादूगर होता है परन्तु उसके पास आत्माओं को काबू में रखने की शक्ति नहीं होती और इसी कारण उसके विषय में यह कहा जाता है कि वह "नकारात्मक जादू" का प्रयोग करता है। रीति-रिवाज की स्थापना में निषेध ने आध्यात्मिक विकास में सहायता भी की है और इसमें हानि भी पहुँचाई है। इसने एक ओर नैतिक आचार-विचार पर बल दिया है और दूसरी ओर कर्मकाण्ड पर भी बल दिया है। आज यह अनेक प्रकार के अन्धविश्वासों में ही जीवित है।

भय के प्रतिकूल आशा है। यह आशा भी एक धार्मिक तत्त्व के रूप में प्रतीकवाद में व्यवस्थित हो चुकी है। इसके विपरीत वर्जना में धर्म एक भय के रूप में व्यवस्थित हो गया है। अपने अत्यधिक आदिम रूप में प्रतीक एक सौभाग्यजनक वस्तु है, अर्थात् यह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें किसी आत्मा का वास हो जैसा कि सामान्यतया स्वीकार किया जाता है परन्तु यह सौभाग्यपद एवं संकल्पनात्मक वस्तु है। इसमें आत्मा तथा इच्छा एक-दूसरे से घुल-मिल जाते हैं। इसका हमारी सौभाग्यजनक वस्तु से केवल इतना ही अन्तर है कि सौभाग्यजनक वस्तु अनिच्छित रूप से सफलता प्रदान करती है। प्रतीक का परवर्ती रूप एक ऐसी वस्तु है जिसके विषय में यह समझा जाता है कि इसमें आत्मा का वास है। दोनों ही प्रकार की वस्तुओं के साथ एक जैसा व्यवहार किया जाता है। सौभाग्यदाता के रूप में उनको फुसलाया जाता है तथा दण्डित भी किया जाता है। क्रमश: इनसे सफलता प्रदान करने या ऐसा करने में असफल होने की आशा की जाती है। कोई भी दूसरा धार्मिक रवैया इससे पुराना नहीं है क्योंकि एक-दूसरे ही रूप में उसी विचार ने फ्रांस के गुफा में रहने वाले लोगों को प्रेरित किया था। वे लोग उन पशुओं की चित्रित आकृति के जादू से सौभाग्यपूर्ण वस्तुएँ प्राप्त किया करते थे। उन पशुओं को वे मार देते थे। जब ये उनको सौभाग्यपूर्ण वस्तुएँ प्रदान करते थे तब ये चिह्न प्रतीक के रूप में कार्य करते थे। परन्तु ये मजबूर करने वाली जादूई शक्ति होने के कारण सम्भवत: प्रतीक से भिन्न थे। ये प्रार्थना एवं अभ्यर्थना की वस्तु नहीं थे, क्योंकि प्रतीक से एक देवता के रूप की प्रार्थना की जाती है और इसके तिरस्कृत होने पर भी इसको कभी-कभी एक देवालय में सुरक्षित किया जाता है। जब एक वस्तु अपने आप में लाभप्रद होने का झुकाव व्यक्त करती है और जब उठाया हुआ पत्थर शिकार में सौभाग्यशाली सिद्ध होता है तो इसको यह मानकर संचित रखा जाता है कि इसमें लाभ प्रदान करने की इच्छा का सामर्थ्य विद्यमान है। जब यह ऐसा करने में असमर्थ रहता है, तो पहले इससे बुरा-भला कहा जाता है, तब

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

धमकाया जाता है और पीटा जाता है और फिर इसे तिरस्कृत कर दिया जाता है। बिल्कुल वैसे ही जैसे एक मानव प्राणी के साथ व्यवहार किया जाता है। प्रतीक मूलरूप में (टोटम की तरह) एक कबीले की वस्तु नहीं है, परन्तु एक वैयक्तिक रक्षक शक्ति है जो एक मानव को समर्पित है। फिर भी यह कबीले की वस्तु बन सकती है और इसका एक देवता के रूप में विकास भी हो सकता है। परन्तु ये गौण स्वरूप हैं। प्रतीक का सर्वश्रेष्ठ लक्षण है कि यह आशा एवं विश्वास को किसी प्रकार की अर्द्ध आध्यात्मिक शक्ति के रूप में इनको वस्तु स्वरूप प्रदान करता है। इससे यह प्रकट होता है कि मनुष्य स्वयं अपने आपको किसी मानव से ज्यादा शक्ति पर आश्रित अनुभव करता है।[५] परन्तु आशा तथा भय मिलकर कार्य करते हैं और यह कहना बेवकूफी होगी कि किसी आदिम जाति का ऐसा धर्म था जो इनमें से किसी एक पर पूरी तरह आश्रित था। यह मानना भी कम बेवकूफी नहीं है कि इन दोनों या इनमें से किसी एक की बौद्धिक प्रकल्पना के बिना धार्मिक दृष्टि में कोई सत्ता हो सकती है। सभी धर्मों एवं अत्यधिक आदिम धर्मों में भी विचार एवं भावनाओं के सूत्र मिले हुए पाए जाते हैं। यदि आत्म-सुरक्षा ही प्रकृति का नियम है, तो भय और आशा, जिनका प्रयोग उस नियम को सुरक्षित रखने के लिए किया जाता है, को धर्म का नैसर्गिक तत्त्व कहा जाना चाहिए। यद्यपि जैसा पहले ही दिखलाया जा चुका है, आध्यात्मिक शक्तियों में कोई नैसर्गिक विश्वास नहीं होता है।

मानसिक भय एवं आशा के समान ही शरीर की भूख तथा प्यास ने भी आदिम धर्मों की स्थापना में एक महती भूमिका निभाई है, क्योंकि इस प्रकार की भूखों ने ही धार्मिक पद्धतियों को ढाला है। टोटमवाद की जड़ भूख है और दिव्य मादक द्रव्यों के सम्प्रदाय की जड़ प्यास है। परन्तु बाद वाले सन्दर्भ में, यद्यपि सीधी-सादी प्यास ने मधुर पेयों को जन्म दिया है तथा इसने और आगे चलकर मादक पानों के सम्प्रदाय को बढ़ावा दिया है, क्योंकि भारत, परशिया पेरु तथा में वारुणी का वास्तविक दैवीकरण इसके अलौकिक प्रभाव से होता है। ऋग्वेद के एक सूक्त में इन्द्र देवता को मदोन्मत्त व्यक्त किया गया है और शेखी बघारता हुआ दिखलाया गया है कि वह सोमलता के प्रभाव में कैसे-कैसे अनोखे कार्य कर सकता है। यह भावना कि शराब पीने पर एक आदमी के पास अस्वाभाविक शक्तियाँ आ जाती हैं और वह आध्यात्मिक रूप से महान् बन जाता है, उसमें अधिक शक्ति होती है, जैसे मानो वह एक देवता हो—यह भावना सभी असभ्य व्यक्तियों में

---

५. इस मुद्दे के लिए तथा खासतौर पर इस गलत धारणा के लिए कि प्रतीक मूलतः एक आत्मा होती है, लेखक का 'हिस्ट्री ऑफ रिलीजन्स', पृ० ३५ फुटनोट देखिए।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

समान रूप से है। भूख के सन्दर्भ में भोजन देने वाला देवता होता है, जैसा अनगिनत उदाहरण यह प्रदर्शित करते हैं और एक टोटम कबीला परिणामतः उसका पूजक बन जाता है जो उसे पुष्टि प्रदान करता है। वह इसको एक ऐसा प्राणी समझने लगता है जो अचानक उसके माता-पिता बन जाते हैं। वे उसी सम्मान के योग्य बन जाते हैं जो उन भूतों को दिया जाता है जो उनके कबीले का आज भी ध्यान रखते हैं।[६]

धार्मिक तत्त्वों के रूप में भय, आशा और भूख के सीधे-सादे प्रभाव की अपेक्षा प्रेम का प्रभाव अधिक जटिल है। यह उसी समय भावना, भूख एवं देवत्व का रूप भी धारण कर लेता है। इसके अतिरिक्त यह न केवल पूजक को ही प्रेरित करता है अपितु देवता को भी प्रेरित करता है। भय को वर्जना में व्यवस्थित कर दिया जाए; आशा को प्रतीक में व्यवस्थित कर दिया जाए; परन्तु वे स्वयं अपने आप में धार्मिक महत्त्व के अस्तित्व नहीं हैं। जैसे कृतज्ञता या पश्चात्ताप का कोई देवता नहीं होता, अतः भय का भी कोई देवता नहीं होता, इसके अतिरिक्त वह कीर्ति के समान एक काव्यात्मक आकृति होती है या एक महान् देवता के पास स्थित रहने वाली कोई छोटी-सी आत्मा होती है। होमर में भय युद्ध-देवता का पुत्र है और यूनानी कामदी में उसको परिहास में सबसे भद्दा देवता चित्रित किया गया है। उसकी सेवा सामयिक रूप से की जाती थी। मृत्यु की भांति कभी-कभी ऐसा दिखलाई पड़ता है कि उसको भेंट भी दी जाती थी; परन्तु किसी वास्तविक पूजा की अपेक्षा बलि के कुछ सन्दर्भ होमर सम्बन्धी सम्पर्क और प्रभाव के कारण विद्यमान है। भारत में दण्ड के समान भय का मानवीकरण किया गया है परन्तु उसका कोई सम्प्रदाय नहीं है और वह केवल शिव का सेवक मात्र प्रतीत होता है। फिर असभ्य व्यक्तियों में भी प्रेम एक शक्तिशाली देवता है और कुछ धर्मों में वह सर्वशक्तिमान दिखलाई पड़ता है। एक धार्मिक तत्त्व के रूप में धार्मिक भावना को उत्तेजित करने वाले प्रेम तथा एक देवता के प्रेम में अन्तर करना

---

६. देखिए लेखक का 'जर्नल ऑफ दि अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी' में प्रकाशित' दी बेकग्राउण्ड ऑफ टोटेमिज्म' नामक लेख, १९१८, पृ० ५७३; जिसमें यह दिखालाया गया है कि निचले स्तर पर टोटेमिज्म एक आर्थिक संस्था है। जो भी आजीविका देता है वह पूजनीय है और आज भी सभ्य प्रदेशों में एक अर्ध दिव्य प्रकृति विचरण करती है। यही कारण है कि भारत में हिसाब-किताब रखने वाला आदमी अपनी कलम की पूजा करता है। किसान अपने हल को पूजता है। मछुआ अपने जाल को पूजता है—यह सब एक ह्रासोन्मुख विश्वास की एक शानदार यादगार है जिसमें आशा एवं श्रद्धा निहित हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

चाहिए। पहला आदिम है और बाद वाला आदिम नहीं है।

यहाँ मैक्समूलर तथा टीले महोदय के सिद्धान्त में एक मौलिक गलती मालूम पड़ती है। इसका पहले संकेत किया जा चुका है। इसके अनुसार सभी जातियों और लोगों में "ईश्वर का प्रेम" एक आदिम धार्मिक प्रेरणा है क्योंकि मनुष्य की बुद्धि में स्वयं ईश्वर एक बाद की खोज है। आदिम आदमी उसके प्रेम से कैसे प्रेरित हो सकता है? बिन्टन महोदय द्वारा वर्णित अण्डेमान के असभ्य व्यक्तियों के "प्रकाश के देवता के प्रेम" के सन्दर्भ में यहाँ यह प्रसंग काल दोष से मिलता-जुलता सा दिखलाई पड़ता है। निस्सन्देह असभ्य व्यक्ति गर्मी एवं प्रकाश का आनन्द लेते हैं परन्तु कोई व्यक्ति अण्डेमान द्वीपों के असभ्य व्यक्तियों की इस उक्ति के लिए यह भी कह सकता है कि छिपकली भी सूर्य देवता से प्रेम करती है। तुलनात्मक दृष्टि से एक देवता के प्रति प्रेम बाद की उपज है। बेबिलोनिया के प्राचीन साहित्य में शामश देवता को "देवता, राजा और गडरिया" कहा जाता है; परन्तु किसी भी व्यक्ति को ईसाई विचारधारा द्वारा दिया गया अर्थ यहाँ नहीं खोजना चाहिए और यह कल्पना भी नहीं करनी चाहिए कि वेबिलोनिया के लोग भी ईसाईयों की तरह अपने देवता के प्रति वैसे ही वैयक्तिक स्नेह की अनुभूति करते हैं। बेबिलोनिया के विद्वान् काफी लम्बे समय से यह संकेत कर चुके हैं कि इस अभिव्यक्ति से कोई विशिष्ट प्रेम सम्प्रेषित नहीं होता है। परन्तु बाद वाले सूक्तों में, जहाँ एक देवता को "प्रिय" कहा गया है, यद्यपि यह शब्द उतना अभिव्यक्त नहीं करता जितना हमारा यह अनुवाद व्यक्त करता है, जैसा इस तथ्य से देखा जा सकता है कि इसका प्रयोग कपड़ों, भोजन तथा वातावरण के सन्दर्भ में किया गया है। देवताओं के लिए उनमें एक वास्तविक प्रेम पाया जाता है खासतौर पर इन्द्र और अग्नि के लिए। वैदिक देवता परिवार का एक प्रिय मित्र एवं परिवार का एक सदस्य होता है, यद्यपि भारतीय साहित्य में लोकप्रिय देवताओं के लिए जो उत्कण्ठापूर्ण प्रेम पाया जाता है, ऋग्वेद में अभी तक उसके कोई चिह्न दिखलाई नहीं पड़ते। बाद में आने वाले साहित्यिक स्तर पर ऐसा होता है कि पूजा करने वाला पितृ-देवता के प्रेम को पाने की बात करता है और उसके दिल के पास आने की बात करता है।[७]

---

७. अक्षरशः "उसकी भुजाओं तक पहुँचा", अर्थात् जैसे उसके हृदय के पास, देवता की पूजा के पास आना। जो लोग ऐसा सोचते हैं कि ईसाई विचार-धारा द्वारा प्रेमपूर्ण श्रद्धा की भावना की शुरूआत किए जाने से पहले भारत में देवताओं के लिए कोई प्रेम नहीं था, वे लोग इस बात पर ध्यान दें तो अच्छा हो कि जिस प्रकार ब्राह्मणकाल में प्रेमन (प्रेम) शब्द का यही प्रेम शब्द कृष्ण के लिए भक्तों द्वारा प्रगाढ़ प्रेम के प्रयुक्त हुआ है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आंशिक के रूप से यह विषय भौगोलिक है। अधिकांश दक्षिण एवं पूर्व के लोग पहले अपने देवताओं से प्रेम करने के विचार को ग्रहण करते हैं। अपने धार्मिक विकास के अन्त तक ट्यूटन और रोमन लोग प्रेम की अपेक्षा डरते हैं। एरिसटोटल का कहना है कि भगवान् से प्रेम करना अभद्रता है। सम्भवतः उसका आशय प्रगाढ़ प्रेम से है जो पूर्व में पहले दिखलाई पड़ता है और जिसको वहां स्वयं आवेग में खोजा जा सकता है। फिर सही बात यह है कि आदिम असभ्य व्यक्तियों में प्रायः परिवार की परिचित आत्माओं के प्रति एक स्नेहपूर्ण श्रद्धा की भावना पाई जाती है और अच्छे प्रकार के भूतों को भगाने के लिए हमेशा ही भय और इच्छा नहीं होती है। कभी-कभी दैवी-प्राणियों की उपस्थिति में एक ऐसा महान् उल्लास भी होता है कि एक वस्तु के प्रति प्रेम प्रकट होता है। जिन तारों को दिव्य प्राणी समझा जाता है और जो अपने उदय होने से एक प्रेम-मय ऋतु की घोषणा करते हैं; जैसा हमने देखा है, प्रेमोल्लासपूर्ण पूजा द्वारा उनका स्वागत किया जाता है और वसन्त ऋतु की शक्ति का उल्लासपूर्ण (प्रेम सम्बन्धी) संस्कारों से उत्सव मानाया जाता है। इतना होने पर भी मनुष्य का देवताओं के प्रति प्रेम एक वैयक्तिक स्थिति में पहुँच नहीं पाता। अन्त में देवता का पर्याप्त रूप से मानवीकरण किया जाता है कि वह मानवता के साथ सहानु-भूति रख सके।

इससे पहले जो उपलब्ध होता है उसमें मनुष्य की इच्छाओं का दैवीकरण किया गया है। प्रेम का दैवीकरण सबसे अधिक अपरिपक्व अवस्था में किया गया है और सर्जनात्मक या पुनंसर्जनात्मक सिद्धांत का भी दैवीकरण किया गया है और वह जीवन प्रदान करता है। दहोमी (अफ्रीका) में लेगबा नामक एक प्रेम-देवता है जिसके लिए पशुओं की बलि दी जाती है और उसके सम्मान में लिंगाग्रच्छेदन संस्कार किया जाता है जबकि उसके लिए किया गया कर्मकाण्ड एक अश्लील रहस्य है। दूसरी ओर बुशमेन नामक जाति में एक उत्पादक देवता होता है जिसके लिए एक व्यभिचारी रक्त-नृत्य का संस्कार क्रिया जाता है। इन दोनों में कोई खास अन्तर नहीं है। दोनों में ही धार्मिक अभिव्यक्ति 'प्रेम' को एक उत्पादक शक्ति के रूप में पहचानने में ही आधारित है। उसी प्रकार भारत में काम को बसंत की उत्पादक शक्ति के सहायक अंग के रूप में स्वीकार किया गया है और इस धार्मिक रूप का संस्कार कामुक एवं भ्रष्ट बन जाता है। जो सम्मान प्रेम-देवता के प्रति प्रकट किया जाता है वह प्रकृति के उत्पादक-देवता के लिए प्रकट किए गए सम्मान से मूलतः अभिन्न है। यह केवल बाद की विकास की स्थितियों में ऐसा होता है कि उत्पादन के देवताओं को जानबूझकर इच्छा एवं काम से पृथक् कर दिया जाता है। इस अवस्था में उन देवताओं के लिए उनको और अधिक समृद्ध बनाने के लिए नृशंस प्रकार के संस्कार किए जाते हैं, जैसे पुष्प सज्जित मई-मास के नृत्य के काष्ट-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

स्तम्भ के लिए आस्ट्रेलिया में काँटेदार गिरगिट की बलि दी जाती है, ताकि पशु से प्राप्त शक्ति से उस देवता के विकास में वृद्धि हो सके। जैसे वर्षा के गिरने के लिए जल या रक्त को बहाया जाता है वैसे ही व्यभिचारी क्रियाओं के आधिक्य में इस अनुकरणात्मक जादू का प्रयोग किया है और काम के सिद्धान्त को स्वयं फसल के वार्षिक नवीनीकरण के समान समझा जाता है। तब इच्छा उस विशिष्ट पूजा-विधि की एक बस्तु बन जाती है और प्रेम तथा सौन्दर्य की प्राचीन यूनान की देवी एफ्रोडाइट को प्रेम के रूप में एवं प्राचीन यूनान की कृषि की देवी डेमिटर को माता के रूप में औपचारिक तरीके से पृथक् किया जाता है। अन्त में फिर वे 'रहस्य' बनकर घुल मिल जाते हैं। मेक्सिकन रेडस्कीन (रक्तचर्मवाले लोग) यूनानी, भारतीय एवं मिस्र के लोगों के पास भी रहस्य थे। अपने जीवन की शक्ति को वे कामुक रूप से उत्सव के रूप में मनाया करते थे। इस जीवन की शक्ति की व्याख्या कुछ के अनुसार मृत्यु के रूप में भी की जाती है। जैसा यौन शक्ति के वर्जना-भय में दिखलाया गया है, इच्छा यहाँ प्रेम की अपेक्षा भय की शक्ति है। सौन्दर्य एवं प्रेम की प्राचीन यूनान की देवी एफ्रोडाइट और उसके पूर्वी प्रतिरूप को प्रेम किए जाने की अपेक्षा उनसे भय अधिक पैदा होता है।

परन्तु जिस देवता से वास्तव में प्रेम किया जाता है वह वही होता है जो अत्यधिक मानव होने पर मनुष्य के साथ अत्यधिक सहानुभूति रखता है। बुद्ध, कृष्ण तथा ईसा से इसीलिए प्रेम किया जाता है और मनुष्य स्वयं यह अनुभव करता है कि वह उनको प्रिय है। जो जीवन में अत्यधिक निकट और प्रिय है, वही सहानुभूति में, आकांक्षाओं में भी निकट तथा प्रिय बन जाता है। उत्पादक-देवता के प्रति प्रेम उतना उत्कट नहीं होता जितना उस देवता के लिए होता है। इनका अनुभव मनुष्य के अनुभव के समान होता है। कृष्ण, जिनको स्थिति के देवता विष्णु का मानव अवतार समझा जाता है, एक ऐसा प्रेम पैदा करते हैं जो स्वयं विष्णु के प्रेम के कहीं ज्यादा स्नेहपूर्ण तथा और अधिक मानवीय होता है।

एक सहानुभूतिपूर्वक प्रेम शक्ति के रूप में देवता के प्रति इस असंयत प्रेम के प्रयोग में एक खतरा रहता है कि भावनात्मक आधिक्य आदिम अभिव्यक्ति की ओर लौट जाता है तथा देवता बनाने की अपेक्षा यह मानव अधिक बन जाता है। यह प्रवृत्ति कृष्णवाद और ईसाई मत की अपेक्षा बौद्ध धर्म में कम अनुभूत होती है। बौद्ध धर्म में यह एक पवित्र रहस्यवाद में विगलित हो गया है, जैसा ईसाई मत में उपलब्ध होता है; क्योंकि यद्यपि बुद्ध ने मनुष्य के लिए अपना बलिदान दिया और पृथ्वी पर मानव के समान रहे, फिर भी वे मनुष्य के प्रेमी होने की अपेक्षा एक ऋषि के समान रहा करते थे। दूसरे देवताओं के पूजकों के सन्दर्भ में, जो अभी भी मानव प्राणी हैं, वहाँ यह खतरा बना रहता है कि धार्मिक उन्नयन कहीं पशुवाद में प्रत्यावर्तित न हो जाए। भारत एवं यूरोप के सन्दभं मे ऐसा हो

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

चुका है। यह चेतन स्वेच्छाचारवाद के कारण ऐसा नहीं होता है, परन्तु उस मुक्ति के कारण होता है जो अति उत्साह तथा साधारण निषेध से प्राप्त होती है। स्वाभाविक रूप से प्रकृति जितनी निम्न एवं खुरदरी होगी; खतरा उतना ही अधिक उद्घोषित होगा। बारहवीं शताब्दी के कृष्ण की प्रशंसा में लिखे गए भारतीय प्रेम गीतों में यथार्थवादी मानव शब्दों में दिव्य प्रेम को इतनी चतुराई से अभिव्यक्त किया गया है कि यह कहना कठिन है कि लेखक एक साधु था या व्यभिचारी। वही भावनावाद कृष्ण और ईसा की व्यावहारिक पूजा में भयंकर प्रभाव पैदा करता है। रहस्यात्मक शृंगारवाद आक्रामक क्रूरता बन जाती है। साधु को जिस उत्कट भाव की अनुभूति होती है, साधारण पूजक धर्म की ओट में उसी भाव का प्रयोग करता है। साधु और शोर करने वाला—दोनों ही बौद्धिक दृष्टि की अपेक्षा भावनात्मक रूप में मजबूत होते हैं। दोनों में ही विवेक भावना में तिरोहित हो जाता है। साधु की ऐन्द्रियता मानसिक होती है परन्तु वह उसमें प्रेमोत्सव की धार्मिक मदोन्मत्तता के लिए अपने द्वार खोल देता है और वह 'पवित्र चुम्बन' और दूसरे अभद्र व्यवहार करता है।[८]

परिणामतः प्रभाव वही होता है चाहे वस्तु प्रेमी-देवता हो या प्रेम तथा पुनरुत्पादन का देवता हो। भारत में सिख लोग भी व्यभिचारी क्रियाओं को एक धार्मिक प्रयोग के रूप में करके अपने गुरुद्वारों को कलूषित कर देते हैं और हिन्दुओं के मदनोत्सव में भी वैसी ही भक्ति एवं विलासिता पाई जाती है। ऐसे तथ्य एक प्रश्न पैदा करते हैं कि क्या धर्म बिल्कुल शृंगारिक उत्साह पर आधारित है? यह छानबीन आधुनिक परिस्थितियों की ओर केन्द्रित है। इसके प्रेरणास्रोत के प्रति आदिम प्रतिक्रिया इस छानबीन से परे है। किसी भी समर्थ पर्यवेक्षक के द्वारा इस बात पर बल नहीं दिया गया हैं कि सभी धार्मिक अन्तःप्रेरणा मूलतः शृंगारिक

---

८. 'दि नीग्रो चर्च' पृ० ५८ में एक लेखक कहता है, "भावनावाद एक प्रमुख तत्त्व है।" एक दूसरा लेखक 'रस्सी पर नाचना' नामक एक धार्मिक कृत्य का वर्णन करते हुए कहता है कि यह एक धार्मिक गोष्ठी की समाप्ति पर गुप्तांगों का उल्लासपूर्ण ढंग से आलिंगन ही है। इस धार्मिक मिलन के घोर व्यभिचारी परिणाम होते हैं। 'प्रीमिटिव ट्रेट्स इन रिलीजियस रिवाईवल्स' एफ० एम० डेवनपोर्ट, न्यूयार्क, १९०५। जे० ए० टिलिधास्ट द्वारा 'दि नीग्रो इन अफ्रीका एण्ड अमेरिका' (१९०२) भी देखिए। रोबर्ट डेविडसन की 'दी हिस्ट्री ऑफ प्रेसबाईटेरियन चर्च इन केन्टसकाई' (न्यूयार्क-१८४३) के अनुसार गोरे लोग कोई बहुत अच्छे नहीं है। डेविडसन (पुनरुत्थान के समय श्वेताङ्ग स्त्रियों) के अतीव कठोर रवैये को बड़ी कोमलता से बतलाते हैं, उनके ध्यान का विषय 'विशेष रूप से उपदेशक होते हैं।'

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

होती है तथा धर्मोन्मुखता के रूप में अभिव्यक्त होने वाला धर्म एक प्रकार से कैशोर्य अवस्था के शारीरिक उत्साह का परिणाम ही है। उचित रूप से कहा जा सकता है कि धर्मोन्मुखता कैशोर्य अवस्था से प्रेरित होने की अपेक्षा यह सामान्यतया कैशोर्य अवस्था की सहगामी है। 'साइकोलाजी ऑफ रिलीजन' में स्टारबक का कहना है कि यौन जीवन ने "ऐसा कोई कच्चा माल नहीं दिया है जिससे धर्म का निर्माण किया गया हो" परन्तु इसने एक अन्तःप्रेरणा प्रदान की है जिसने विकास की निगूढ़ संभावनाओं को बाहर निकाला है। इस विषय को यहाँ ही छोड़ दिया जाता यदि ऐसा न होता कि डॉ० को ने यह अनुमान लगाया है कि कैशोर्य अवस्था एक ऐसी दिव्य अवस्था है जिसको बेचैनी प्रेरित करने के लिए विशिष्ट प्रकार से नियुक्त किया गया हो, ताकि एक नौजवान आदमी धर्म में आराम और शान्ति खोजने के लिए अग्रसर हो सके। मानवप्राणी ही केवल ऐसे पशु नहीं हैं जिन पर इसका प्रभाव है। इस अन्वेषण से केवल यही स्पष्ट तथ्य सामने आता है कि संपूर्ण आयु की अपेक्षा जवानी अधिक सरलता के साथ प्रभावित हो जाती है। यह किसी भी प्रकार की भावनात्मक अपील—साहित्यिक, वाक्चातुरीय, नाटकीय या धार्मिक—इन सबसे बहुत आसानी से प्रभावित हो जाती है। ज्यादातर क्रान्तियाँ बचकाना प्रकार की अधीरता का परिणाम होती हैं, फिर भी देशभक्ति की उत्पत्ति कैशोर्य अवस्था से हुई है—इस बात को कोई भी स्वीकार नहीं करता। अतः वृद्धावस्था की अपेक्षा धार्मिक भावनाओं के जगने की सम्भावना जवानी में अधिक होती है। फिर भी इसका यह तात्पर्य नहीं है कि जवानी के उत्साह से धर्म पैदा होता है। धर्म में काम ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, जैसे इसने दर्शन में भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है परन्तु यह दर्शन या धर्म को पैदा नहीं करता है।[९]

यह निर्विवाद है कि कोई एक तत्त्व धर्म के लिए उत्तरदायी नहीं है। धर्म को किसी एकमात्र प्रेरणा से व्युत्पन्न करना उतना ही अवैज्ञानिक है जितना यह मानना कि यह पुरोहितों की कला है; एक दिव्य आदेश या प्रकाश है। धर्म मनुष्य के उस बदलते हुए रवैये की अभिव्यक्ति है जैसे वह विभिन्न प्रेरणाओं के प्रति अपनी प्रतिक्रिया करता है। ये प्रेरणाएँ उसको कुछ वस्तुओं तथा

---

९. देखिए स्टारबक, 'दि साईकोलाजी ऑफ रिलीजन' (लन्दन, १८९९) जी० ए० को, 'दि स्पीरिचुएल लाईफ', और विलियम जेम्स, 'वराइटीज ऑफ रिलीजियस एक्सपीरियंसिज्।' पार्कमेन अपने जेज्यूइट 'रिलेशंसज्' में बहुत पहले ऊँचे धार्मिक उत्साह को शान्त करने के लिए "श्रृंगारमय सिद्धान्त के रवैये" पर अपनी बात कही थी। 'होली वीडो' मेरी डे, इन्कारनेशन् के जीवन से भी यह प्रकाशित होता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मार्गों के प्रति झुकने एवं भागने के लिए मजबूर कर देती हैं। शारीरिक रूप से आदमी अँधेरे से भागता है और प्रकाश को पसन्द करता है। नैतिक रूप से वह अपने मन का आश्रय ग्रहण करता है। वह जैसा करता है उसका शरीर भी परेशानी एवं आँधी से वैसा ही व्यवहार करता है। भागना एवं झुकना नैसर्गिक हैं। कोई "धार्मिक सहज प्रवृत्ति" नहीं होती है, परन्तु मनुष्य की सभी नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ मिलकर उसे प्रसन्न बनाती हैं। वैसे ही वे मिलकर उसे शारीरिक रूप से प्रसन्न बनाती हैं। उसका मन नैसर्गिक प्रवृत्तियों को उकसाता है और उसी उद्देश्य को खोजता है। न भय, न आशा और न ही प्रेम या न ही पीने से पैदा होने वाला प्रभाव या न किसी आदेश सुनने से मनुष्य भौतिक वस्तुओं में विश्वास करता है; और इससे अच्छी या बुरी चीजों को करने के लिए जीवित रहता है और उसके लिए सामर्थ्य प्राप्त करता है। इनमें कोई भी चीज उसको यह आभास नहीं कराती है कि मरने के बाद भी कोई आत्मा विद्यमान रहती है। परन्तु जैसे वह विश्वास करता है; वह उन कल्पित शक्तियों से आवश्यक रूप से प्रभावित होता है जिन शक्तियों का वह विश्वास करता है। बिल्कुल वैसे ही जैसे वह पशुओं और मनुष्यों की वास्तविक शक्ति से प्रभावित होता है। धार्मिक दृष्टि से पैदा होने वाली भावना और बिना धार्मिक आशय से पैदा होने वाली भावना में तादात्म्य होता है। मनुष्य पहले धार्मिक और अधार्मिक तथा प्राकृतिक एवं अति प्राकृतिक में पार्थक्य स्थापित नहीं करता है। वह अपने मरे हुए बाप का वैसे ही स्वागत करता है जैसे वह अपने जीवित पिता का स्वागत करता है या उससे उसी तरह घृणा करता है। वह घातक नदी से वैसे ही डरता है जैसे वह घातक पशु या आदमी से डरता है। जैसे अधिकांश बर्बर अवस्थाओं में होता है, वह मनुष्यों के प्रति कोई कृतज्ञता की भावना नहीं रखता, इसी तरह वह किसी आत्मा या सजीव वस्तु को नहीं जानता जो उसके आत्मा के भाव से पहले विद्यमान रहा हो। कुछ अपवादों को छोड़कर धार्मिक विकास का क्रम इसी प्रकार से मनुष्य के सामान्य मानसिक एवं नैतिक विकास से मेल खाता है। भय सामान्यतया प्रेम से पहले आता है। किसीदेवता के प्रति सहानुभूति उच्च भावनाओं का परिणाम होती है। मनुष्य को राक्षसी शक्तियों से भगाने की अपेक्षा ये उच्च भावनाएँ मनुष्य को देवता के पास ले जाती हैं और जब तक देवत्व की ऐसी सहानुभूतिपूर्ण जानकारी विद्यमान नहीं रहती तब तक कोई वास्तविक धार्मिक पश्चात्ताप नहीं हो सकता। जाति का धार्मिक विकास एवं बौद्धिक विकास एक ही है।[१०]

भावनात्मक तत्त्वों के सामान्य विकास के सन्दर्भ में जैविक शृंखला भी

१०. मानवता का सामान्य इतिहास, जो व्यक्ति में आकर संकुचित हो गया है, यह बतलाता है कि लोग पहले भय से प्रभावित होते हैं। बाद में वे प्रेम से

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इसी मत को पुष्ट करती है। निम्न प्रकार के जीवों में केवल भय तथा घृणा की भावनाएँ होती हैं। प्रेम एवं सहानुभूति जैसी सामाजिक नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ पहले उच्च प्रकार के पशुओं (सहानुभूति पहले पक्षियों में प्रदर्शित होती है) में दिखलाई पड़ती है; और जब तक सबसे ऊँचे स्तनपायी प्राणियों की स्थिति नहीं पहुँच जाती; तब तक किसी प्रकार की गलती या पश्चात्ताप की स्पष्ट चेतना दिखाई नहीं पड़ती है, ऐसा पश्चात्ताप कम से कम, जो उन असभ्य व्यक्तियों द्वारा किया जाता है, वे पाप को केवल दुःख के माध्यम से ही पहचानते हैं। संक्षेप में, धार्मिक विकास भी विकास के सामान्य नियमों का अनुगमन करता है और यह विशेष रूप से स्पष्ट है कि प्रेम या सहानुभूति या अन्य परवर्ती लक्षणों पर आधारित धार्मिक उत्पत्ति के किसी सिद्धान्त को मैक्समूलर, टीले और अन्य विद्वानों के रहते हुए भी नहीं माना जा सकता है, जिन्होंने सहानुभूतिक प्रेम को सभी धर्मों का आधार माना है।

सौसाये महोदय ने इस बात पर बल दिया है कि ट्यूटोनिक धर्म का इतिहास क्रमिक अवस्थाओं को प्रदर्शित करता है, अर्थात् भय, आशा, कृतज्ञता एवं पश्चात्ताप। यह धर्म इन अवस्थाओं में से क्रमशः निकल चुका है। इनमें से प्रत्येक अवस्था अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बन जाती है। मध्ययुग में सबसे पहले कृतज्ञता महत्त्वपूर्ण बनती है; आशा भी विद्यमान रहती है तथा पश्चात्ताप की अपेक्षा कृतज्ञता और ज्यादा उद्घोषित बन जाती है। फिर इतने बाद की धार्मिक अभिव्यक्ति में ऐसी श्रृंखला का तात्पर्य यह होता है कि उदाहरणार्थ, पश्चात्ताप अधिकांश उन्नत लिपियों में सर्वाधिक सामान्य है। इसका यह आशय नहीं है कि जब ट्यूटन लोग पहली बार प्रकट हुए तब भय की अपेक्षा उनकी आशा उस समय कम वास्तविक या सक्रिय थी। वास्तव में इस श्रृंखला का पहला आधा भाग अधिकांश रूप में इस तथ्य पर आधारित है कि टेकिनस महोदय आतंक को ट्यूटोनिक धर्म का एक विशिष्ट अंग बतलाते हैं जिनका आशा और कृतज्ञता के सन्दर्भ में कोई अर्थ नहीं है। सौसाये महोदय की श्रृंखला ऐसी है जिसको कम से कम कुछ संकोचों के साथ स्वीकार किया जाना चाहिए।

प्रभावित होते हैं और अन्त में पश्चात्ताप से प्रभावित होते हैं। देखिए ड्रुमण्ड दि ऐसेण्ट ऑफ मेन, पृ० १२६

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अध्याय ९

रूह

रूह और आत्मा में स्वीकृत अन्तर यह है कि रूह बन्दी है और आत्मा स्वतन्त्र है। तरु देवता की रूह तरु में बन्द है। एक वृक्ष में वनदेवता आत्मा है। शारीरिक रूप से बद्ध एवं जीवित रहने वाला भूत एक आत्मा है; जब यह स्वतन्त्र या बिल्कुल स्वतन्त्र हो जाता है तो यह आत्मा बन जाता है। स्पष्ट रूप से ऐसा अन्तर केवल मात्रा का ही अन्तर है। एक सिरे पर रूह जीवन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, दूसरे सिरे पर यह एक पृथक् तत्त्व है जो जीवन से युक्त है और इसे "आत्मा" कहा जाता है। इन दो सिरों के बीच कब्रिस्तान के भूत और शरीर के किसी भाग में स्थित रूहें हैं। दूसरा आम अन्तर यह है कि आत्मा अमानव वस्तु की रूह को बतलाती है जबकि रूह मानव प्राणी के एक अमर अंश को व्यक्त करती है और उसकी कल्पना एक "आन्तरिक आदमी" के रूप में की जाती है।

परन्तु जैसा बतलाया जा चुका है कि मानव प्राणी के रूह होती है और दूसरे प्राणियों में कुछ भी नहीं होता—यह विचार तुलनात्मक रूप में आधुनिक है और आज भी सार्वभौम रूप में स्वीकृत नहीं है। एक बहुत ही आम विचार है कि केवल कुछ विशिष्ट मानव प्राणियों के ही रूह होती है। कुछ असभ्य वर्बर लोगों का विचार है कि रूह पुरुषों में होती है और महिलाओं में नहीं होती; यह मत वेनिगर महोदय द्वारा प्रस्तुत किया गया था। बिल्कुल दूसरा मत सेमोएन्स महोदय का है जिसका विचार है कि महिलाओं में रूह होती है, पुरुषों में नहीं होती। ग्रीनलैण्ड में एक मत प्रचलित है कि कुछ महिलाएँ जो अपने बचपन में मर जाती हैं; केवल वे महिलाएँ ही इसके बाद जिन्दा रहती हैं। मार्च, १९०८ में एक सदस्य द्वारा इस आशय के वक्तव्य का प्रयोग करने पर कि नीग्रो लोगों में भी अमर रूह होती है, इस वक्तव्य के उपहास के कारण जर्मन संसद में हँगामा मच गया था।[1]

यदि बर्बर लोगों के विचारों की सामान्य धारणाओं को ध्यान में रखा

---

१. मार्च २१, १९०८ का प्रेस पत्र

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जाए तो इस सन्दर्भ में प्राचीनतम विचार तक पहुँचना कठिन नहीं है। प्राचीन काल से आज तक पुरुषों में हथियारों और खिलौनों को तोड़ने एवं उनको कब्र में दबाने की प्रथा रही है। दूसरा कारण यह रहा है कि इन चीजों को भी अपने मालिकों के साथ कब्रिस्तान में जाना था और ऐसा करने में यह भावना रही है कि इनके मालिकों के समान इनको भी मर जाना चाहिए। योद्धा का धनुष तोड़ दिया जाता था, अर्थात् मार दिया जाता था जैसे उसके घोड़े एवं औरतें मार दी जाती थीं। उन सभी का कब्र के बाद भी जीवन रहता था—पुरुष, स्त्री, पशु और भौतिक वस्तु।

रूह का पहला भाव यह है कि यह एक शक्ति है। एक शरीर में आत्मा नहीं है अपितु शरीर में स्थित रहने वाली एक शक्ति है जो जीवन एवं क्रिया में अभिव्यक्ति होती है। शरीर का इस आवश्यक शक्ति पर प्रभाव पड़ता है और पहले यह इससे अविवेच्य रहती है अर्थात् शरीर तथा रूह में कोई अन्तर नहीं होता है। शरीर शक्ति से युक्त होता है। पूरी वस्तु में शक्ति जीवन के रूप में ओत-प्रोत होती है। सभी वस्तुओं में जैसे रूह होती है वैसे ही उनमें जीवन, ताकत, क्रियाशीलता होती है। नदी, चट्टान, पेड़ इनका प्रत्येक का सक्रिय व्यक्तित्व होता है जो वस्तु द्वारा विकीर्ण होता है और शक्ति में अभिव्यक्त होता है। रूह की शक्ति चाहे सक्रिय न हो, परन्तु सक्रिय या सक्षम जीवन प्रत्येक वस्तु में विद्यमान रहता है। एक असभ्य व्यक्ति इस प्रकार असावधानी से हजारों चट्टानों पर से गुजर जाता है, परन्तु जैसे ही उनमें से कोई एक डगमगाने लगती है तो वह उसे जाग्रत और भयावह समझने लगता है क्योंकि उसके लिए यह भी अकल्पनीय है कि शक्ति एवं क्रियाशीलता से युक्त कोई भी वस्तु उस शक्ति को दिशा देने की सामर्थ्य न रखती हो। दूसरे शब्दों में, वस्तु की शक्ति, या सही तौर पर वह वस्तु स्वयं इच्छा से युक्त होती है। वही आध्यात्मिक है जो जीवन अभिव्यक्त करता है और क्रियाशीलता जीवन का प्रमाण है।

जीवन शक्ति है और शक्ति ही रूह है। अतः यद्यपि शरीर पूरी तरह सक्षम होता है जो भाग सबसे ज्यादा सक्रिय होता हैं वही रूह की शक्ति से सर्वाधिक परिपूर्ण होता है। जैसे एक चट्टान की अपेक्षा एक चीते में ज्यादा ताकत होती है, जैसे उसकी अधिक क्रियाशीलता एवं शक्ति में वह अभिव्यक्त होती है, इसलिए और अधिक आवश्यक अंग ज्यादा सक्रिय बन जाते हैं और रूह का स्थान ग्रहण कर लेते हैं। फिर शक्ति, शारीरिक, मानसिक या भावनात्मक होती है। अतः पेट की शक्ति से भिन्न भुजा की रूह शक्ति होती है; जो प्रायः एक असभ्य बर्बर व्यक्ति के लिए विचारशक्ति का स्थान ग्रहण करती है; और दिल या अंतड़ियों की दूसरी होती है क्योंकि स्पष्ट रूप से इन पर भावना का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। पशु के मरने के बाद एक चीते के पञ्जे में उसकी स्वतन्त्र शक्ति

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पुनः स्थापित हो जाती है। यह बिल्कुल वैसे ही नहीं होता जैसे एक मरे हुए फकीर की उँगलियाँ इलाज का काम करती हैं, परन्तु क्योंकि पूर्ण की शक्ति एक खण्ड में स्थित हो जाती है और उसमें स्वयं खण्ड की विशिष्ट शक्ति भी जुड़ जाती है इसलिए एक नरभक्षी योद्धा दूसरे योद्धा की भुजा को वरीयता से खाता है।[2] वह एक बच्चे या स्त्री के मांस की उपेक्षा करता है, जब तक कि, जैसे अमेरिका और दहोमी (अफ्रीका) में उसकी धार्मिक भावना उसके पेटूपन से भ्रष्ट न हो जाए। इसलिए पोलिनेशियाई जाति की माता अपने मरे हुए बच्चे को एक धार्मिक संस्कार के रूप में खाती है और पुरुष तथा पत्नी दोनों ही उसी कारण से अपने माता-पिता को खा जाते हैं। परिवार की प्रेममयी रूह की शक्तियों को अपने आप में सुरक्षित रखने के लिए वे अपने माता-पिता को भी खा जाते हैं।

इन शक्तियों को शारीरिक रूहें कहा गया है और जिन स्थानों पर ये अपने आपको प्रकट करती हैं उनको रूह-स्थान कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए रक्त जीवन है और जीवन का स्थान भी है तथा जीवन 'रूह' है। ऐसी शरीरमयी रूहों के पास शरीर का मिला-जुला बँधन होता है। परन्तु छोटे अंगों की अपेक्षा बड़े अवयव स्वभावतः अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं जिनमें जीवन कम प्रकट होता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि मनुष्य छोटे स्थानों की रूहों के भाव से उठकर बड़े स्थान की बड़ी रूह की भावना तक पहुँच गया है। उदाहरण के लिए जैसे वह पैर के नाखून की रूह से दिल की रूह तक पहुँच गया है। परन्तु यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो एक अवस्था से निकलकर बाह्य रूप में सुन्दर प्रतीत होता है। परन्तु मनुष्य एक ऊँची अवस्था को प्राप्त हो चुका है—यह विचार एक वैज्ञानिक दिमाग को अच्छा लगता है; परन्तु दिल की रूह का भाव पाद-नख की रूह के भाव से किस प्रकार उच्च है? यह भाव इसलिए शानदार नहीं है कि यह अवयव बड़ा है और यह अभी सिद्ध करना बाकी है कि किसी भी असभ्य व्यक्ति ने पाद-नख की रूह में पहले विश्वास करना प्रारम्भ किया और बाद में दिल की रूह में विश्वास करना शुरू किया।

जब यह कहा जाता है कि कुछ अफ्रीकी लोग तीस प्रकार की रूहों को मानते हैं, इसका तात्पर्य यह होता है कि वे शरीर के तीस भागों को आवश्यक स्थान के रूप में एक जीवन सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। इन शारीरिक रूहों में केवल स्थान रूहों के रूप में शारीरिक रूहों से कोई अन्तर करना चाहिए परन्तु स्थानों या अवयवों से उनका तादात्म्य स्थापित नहीं किया जाना चाहिए, जैसे

---

२. एक बर्बर सम्राज्ञी ने सम्राज्ञी विक्टोरिया से मिलने पर कहा था, "मैं भी अंश रूप में अंग्रेज हूँ क्योंकि मेरे पूर्वज ने कैपटिन कूक को खाया था।" यह आम पोलेनेशियाई रवैये को अभिव्यक्त करता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

छाया-रूह, झाड़ी की रूह तथा भूत। मुख्य रूह स्थान आँख, रक्त, बाल और वे अवयव हैं जिनमें महान् जैव शक्ति होती है। इस तथ्य को दिमाग में रखना चाहिए कि शरीर के एक अंग या अवयव को एक प्रकार की रूह या महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। विभिन्न सन्दर्भों में इस अवशिष्ट विश्वास की बारीकियों पर विचार किया जाएगा। यहाँ इनमें से अधिक महत्त्वपूर्ण की चर्चा करना ही पर्याप्त होगा।[3]

आँख

भारत के रहस्यवादी दर्शन में यह बतलाया गया है कि दिव्य पुरुष रूप से रूह का निर्माण होता है। यह दिव्य पुरुष रूप दाहिनी आँख है और इस रूप की दिव्य संगिनी है बायीं आँख। यह आँख की पुतली के रूहवाद के अत्यधिक आदिम विश्वास का सुधार ही है; जैसे आँख में दिखाई देने वाली छोटी-सी चीज मानो व्यक्ति का निचोड़ ही है। इसके अतिरिक्त जैसे जैसे आँख घृणा के मौके पर घूमती है तथा प्रेम के सन्दर्भ में जिह्वा की अपेक्षा ज्यादा स्पष्ट रूप से बोलती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह अन्य किसी अवयव की अपेक्षा व्यक्तित्व को अधिक व्यक्त करती है। असभ्य लोगों तथा बर्बर लोगों दोनों ने ही आँख को एक शक्तिशाली रूह-स्थान के रूप में माना है। एक असभ्य व्यक्ति अपने शत्रु की आँख वैसे ही खाता है जैसे वह उसका खून पीता हो, यह विश्वास करते हुए कि तीव्रता एवं कौशलता से भिन्न रूप में वह आँख की शक्ति को इस प्रकार आत्मसात् कर लेगा। वह इस तरह आँख की शक्ति में स्थानीय रूह के रूप में विश्वास करता है। मोकासी भारतीय लोग आँख की पुतली को आत्मा समझते हैं। यह अधिक विकसित विश्वास है। यूरोपीय लोगों तथा पूर्व के लोगों में आँख की शक्ति में विश्वास आज भी विद्यमान है। यह सभी असभ्य लोगों के आम विश्वास का अवशेष है।

---

३. निम्न सन्दर्भों में बाल पर इसलिए विस्तृत विचार नहीं किया गया है क्योंकि शरीर के दूसरे भागों से यह अधिक महत्त्वपूर्ण है, परन्तु इस पर इसलिए विचार किया गया है कि पिछले विचार-विमर्श में इस पर कम सावधानी से विचार किया गया था। इसलिए इसकी विस्तृत व्याख्या की आवश्यकता है। कुछ दृष्टियों से 'रूह' (जैसा वुण्ड महोदय द्वारा प्रयोग किया गया है) की अपेक्षा 'शक्ति' शब्द श्रेष्ठ है, परन्तु "शारीरिक रूह" के उच्च रूपों की दृष्टि से 'रूह' शब्द के अवधारण में यह लाभ है कि इसके द्वारा यह प्रदर्शित किया जा सकता है कि शारीरिक अंश वास्तव में रूह ही हैं। उदाहरण के लिए श्वास की प्रकल्पना न केवल रूह स्थान या शक्ति के रूप में की जाती है, परन्तु इसकी कल्पना स्वयं रूह के रूप में की जाती है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यह आम विश्वास कुछ लोगों की एक विशिष्ट आँख की शक्ति के सन्दर्भ में है और इसको बुरी आँख कहा जाता है। प्राचीन काल में आँख की शक्ति की व्याख्या यह थी कि आँख से कुछ निकलता है जैसे सूर्य से प्रकाश निकलता है। यह पीड़ामय भी हो सकता था और नहीं भी। जैसा-जैसा सन्दर्भ हो उसके अनुकूल घृणा या प्रेम की निगाह से वस्तु को सम्प्रेषित कर दिया जाता था। परन्तु बुरी आँख के सन्दर्भ में इसका प्रभाव आवश्यक रूप से घृणा से पैदा नहीं होता है। यह इसको अत्यधिक खतरनाक बना देता है क्योंकि कोई न चाहने पर भी अपनी दृष्टि की वस्तु को नुकसान पहुँचा सकता है जो अपने आप में एक शरारत करना है। असूया या ईर्ष्या का विचार एक पीड़ाप्रद दृष्टि के रूप में एक ऐच्छिक चोट की यातना को सम्प्रेषित करता है क्योंकि कोई भी वस्तु जो अपने आपमें परिपूर्ण है, उदाहरण के लिए एक सुन्दर कालीन स्वाभाविक रूप से देखने वालों के मन में ईर्ष्या का भाव प्रेरित करता है। ईर्ष्यापूर्ण दृष्टि का निवारण करने के लिए एक कोने को मोड़ देने की प्रथा भारत में है। उसी कारण ईर्ष्यापूर्ण आँख की उपेक्षा करने के लिए एक लड़के के माँ-बाप उसका लड़की या एक मच्छर का नाम रख देते हैं या उसको लड़की के कपड़े पहनाते हैं, जैसा बीमारी रूप राक्षस को धोखा देने के लिए किया जाता है। वे राक्षस मत्सरपूर्ण हैं।[४]

रक्त

शरीर से बहने वाला रक्त मारे गए आदमी या पशु का जीवन भी अपने साथ ले लेता है—यह ऐसे ही स्पष्ट है जैसे उसकी रूह उसके साँस के साथ निकल जाती है। दोनों ही विचारों की परिणति रूह-स्थानों में होती है—जीवन शक्तियों के रूप में रक्त एवं सांस। "रक्त ही जीवन है" (ड्युट १२ : १३)। जब एक अमरीकी अपने शत्रुओं का खून पीता है तो वह अपने शत्रु को लूटने के लिए करता है और उसकी भागने वाली शक्ति से अपने आपको शक्तिशाली बनाने के लिए ऐसा करता है। प्राचीनकाल की सभ्य एवं शौर्यपूर्ण गाथाओं में घृणा एवं क्रोध के अतिरेक व्यक्त करने के लिए ऐसा किया जाता है परन्तु बर्बर जीवन में आवेग कम था और तर्क अधिक था। सम्भवतः शुरू से ही दोनों उद्देश्य मिल जाते

---

४. दोनों ही कारण दिए गए हैं। देखिए एस० सेलिगमान, डेर बॉस बिल्क् उण्ड फेरवाण्डेट्स (१९१०), बेर डे जाख् गेजेल, डे विस् में जान को भी देखिए (फिल, हिस्ट्र, क्लासे, १८५३, पृ० २८, फुटनोट) और वुण्ड, मिथ्स एण्ड रिलीजन II, पृ० ३९५। दसवें आदेश (टेन्थ कमाण्डमेण्ट) का द्वेषपूर्ण एवं हानिकारक दृष्टि से शारीरिक चोट का तात्पर्य रहा होगा। यह मात्र एक नैतिक पाप नहीं रहा होगा।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हैं और धीरे-धीरे एक अकेला छूट जाता है जैसे आज एक भली-भांति शिक्षित भारतीय अपने शत्रुओं का खून पीता है। अमरीकी भारतीय लोग शक्ति ग्रहण करने की अपेक्षा घृणा दिखाने के लिए खून पीते थे या अपने शत्रु का खून लेते थे क्योंकि वे उस बिन्दु से काफी पीछे थे जहाँ वे खून के रूह होने की कल्पना करते थे। इसके अतिरिक्त अमरीकी भारतीय जब थककर चकनाचूर हो जाते थे तब खून पीया करते थे और उस समय तिरस्कृत करने के स्पष्ट उद्देश्य से वे ऐसा किया करते थे। कौन जानता है कि तिरस्कार के विचार के अतिरिक्त किस प्राचीन विचार की कोई धुंधली सी छाया पड़ी हो ?[५] अमरीकी रेड इण्डियन पत्नियों को अंग्रेज लोगों के खून पीने की आज्ञा थी, परन्तु उनको बहादुर बनाने के लिए ऐसा कार्य नहीं किया जाता रहा होगा।

उदाहरण के लिए माँस काटना तथा रक्त बलि के दूसरे रूपों से नायकों को शक्ति प्राप्त होती है या उनको कब्र में छाया मिलती है या मृतकों को शक्ति प्राप्त होती है जो दूर जा रहे हैं। पशु की रक्त-रूह को मित्र या देवता के के लिए भेंट चढ़ाया जाता है, जैसे खून के भाई-चारे में दो रूहें मिलकर एक हो जाती हैं और टोटमवाद के सन्दर्भ में मिश्रित रक्त-रूहों का सम्मिश्रण हो जाता है। अमरीकी भारतीयों द्वारा खून से सनी हुई उँगली का भेंट किया जाना यह बतलाता है कि उपहार की भावना भी बिल्कुल वैसी ही साधारण थी जैसे टोटम सम्बन्धी मिश्रण एवं शक्ति संवर्द्धन।[६]

अनेक मध्ययुगीन अन्धविश्वासों का सम्बन्ध रक्त से रूह के रूप में है। जब एक मरे हुए आदमी का सामना उसके हत्यारे से होता है, तो उसका रक्त अपने गन्तव्य के विषय में चेतन होकर बहने लगता है। यह जीवित रहता है। सौसाए महोदय का कहना है कि यूनानी दार्शनिक एवं राजनयिक एम्पेडोक्लीज का यह विश्वास था कि रक्त रूह के रूप में दिल के आसपास व्याप्त रहता है। सोक्रेटीज को आश्चर्य होता था कि क्या वह रक्त से ही सोचता था। "मैं प्रायः अपने आपको इस प्रश्न से आन्दोलित कर लिया करता था।" वह कहता है क्या

---

५. हेनरी की गवाही के द्वारा दिए गए वर्णन किसी भी बात को सिद्ध नहीं करते : "कुछ लोगों के खुले हुए शरीर से हत्यारे खून पी रहे थे, अपनी हथेली भरकर खून पी रहे थे और गुस्से एवं विजय के बीच जोर से चिल्ला रहे थे", (पार्कमेन द्वारा उद्धृत, पोनटयिआक्, पृ० ३०१)

६. इन रिवाजों के लिए तुलना करें : केटलिन, दि नार्थ अमेरिकन इण्डियन्स, I, पृ० १६४; पार्कमेन कान्सपीरेसि ऑफ पोन हियाक्, पृ० १८, २०७, ट्रमबेल, दि ब्लोड केवनेण्ट, रोबर्टसन स्मिथ, रिलीजन ऑफ दि सेमिटिज, वेल्हाउ-जन, रेस्टे आरबाइशिजन हिन्दुस्तान।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यह रक्त है जिससे हम सोंचते हैं या वायु है; यह अग्नि है या सम्भवत: इनमें से कोई भी नहीं है, परन्तु यह दिमाग है जो संकल्पनाओं को जन्म देता है···। स्मृति एवं राय इन (संकल्पनाओं) से पैदा हो सकती हैं।" वह निश्चित नहीं है; पर फिर भी वह एक सम्भावना को स्वीकार करता है कि रक्त के साथ सोचा जा सकता है जैसे एम्पेडोक्लीज स्वीकार करते—"अपनी पूरी बनावट में रूह रक्त के संघ में विद्यमान है।"[७]

बाल

बाईबल के उन्नीसवें अध्याय में यह कहा गया है (पद्य २७-२८): "तुम अपने सिर के कोनों को गोल नहीं करोगे, न ही तुम अपनी दाड़ी के कोनों में अवरोध पैदा करोगे। मृतकों के लिए अपने शरीर में से मांस नहीं कांटोगे, न ही अपने ऊपर किसी प्रकार चिह्न बनाओगे।" (बाईबल १४ : १) 'तुम अपने आपको काटोगे नहीं, न ही मृतकों के लिए अपने नेत्रों के बीच में किसी प्रकार का गंजापन बनाओगे।" और बाईबल (२१ : ५), "वे अपने सिर पर गंजापन नहीं रखेंगे, न ही वे अपनी दाड़ी के कोनों की हजामत करेंगे; न ही अपने शरीर में से किसी प्रकार का मांस काटेंगे।" पादरी लोग अपने बाल कटवा लेते हैं, और उनके बालों को काटना तथा बालों को लम्बा-लम्बा बढ़ाना—ये दोनों ही गलत हैं। बाईबल (४४ : २०)।

यह उस विश्वास का अवशेष है कि बाल असभ्य लोगों की मानसिकता के शारीरिक-जीवन स्थानों (रूहों) में से एक है, क्योंकि यह विश्वास पृथ्वी के विभिन्न खण्डों में उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिए, ऐबिपोन्स लोगों में जैसे ही एक बच्चा पैदा होता है, माँ-बाप एक पुरोहित को बुलाते हैं। वह माथे से बाल काट देता है और एक गंजा धब्बा छोड़ देता है और इस गंजेपन को "देवता के लिए आदरसूचक चिह्न" समझा जाता है।[८] ऐसा कहा जाता है कि दूसरे देशवासियों की राय में यह गंजापन राष्ट्रीयता का चिह्न है, परन्तु यह बाद वाला मत यदि वास्तव में इस आदिवासी विश्वास को प्रतिबिम्बित करता है तो यह इस रिवाज के राष्ट्रीय चरित्र के कारण ऐसा होता है और इस रिवाज का उद्भव भी धार्मिक है।

एक आम व्याख्या के अनुसार बाल को स्वयं का प्रतिनिधि या प्रतिरूप मानकर इसकी भेंट दी जाती है, परन्तु क्यों? बाल मनुष्य का प्रतिनिधित्व कैसे कर सकता है? वर्तमान व्याख्या में इसका कोई उत्तर नहीं दिया गया है। हमें केवल

७. प्लेटो, फाएड़ो, ९६ बी।
८. डोबरिजोफर, गेश्ख डे, एबिपोनर II, पृ० ३१

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यह बतलाया गया है कि यह इसका प्रतिरूप है, जैसे न्यूजीलैण्ड या भारत में जहाँ प्रेतात्मा से युक्त आदमी बनावटी रूप से सन्तुष्ट करने के लिए अपने बाल की एक लट एक पेड़ में बाँध देता है। स्लेवानिक देशों में भी बच्चों के बाल काटने की प्रथा की भीलों के रिवाज से तुलना की जा सकती है।[९]

भारत के एक भीलों का जंगली कबीला दो या पाँच वर्ष की आयु के बीच अपने बच्चों का मुण्डन करवा देता है।[१०] इसकी तुलना प्राचीन ब्राह्मण कर्मकाण्ड में पहले और तीसरे वर्ष में बच्चे के बाल काटने के संस्कार से की जा सकती है; क्योंकि इस सन्दर्भ में बाल काटना स्पष्ट रूप से "लम्बी आयु" के लिए माना जाता है अर्थात् बाल इसकी शक्ति या बाल की रूह की समग्र शक्ति या रूह के प्रतिरूप के स्वरूप में एक बलि है; जैसे एक उँगली जीवन के लिए स्वरूप भेंट चढ़ाई जाती है। यहाँ यह प्रश्न पैदा होता है, क्या इस सिद्धान्त को अन्यत्र लागू किया जा सकता है? बाल से सम्बन्धित विभिन्न धार्मिक प्रक्रियाओं की क्या व्याख्या है, यदि कोई है तो? हेरबर्ट स्पेन्सर ने काफी पहले विजय के परिणाम-स्वरूप[११] होने वाले अंग भंग से बाल के धार्मिक प्रयोग की व्युत्पत्ति मानी थी, परन्तु बहुत थोड़े लोग इस व्याख्या के लिए उसे श्रद्धास्पद मानेंगे। इसके अतिरिक्त स्पेन्सर ने यह प्रदर्शित किया था, जिसे प्रायः उपेक्षित किया जाता है, कि बाल मानव शिष्ट लोगों को भेंट चढ़ाया जाता है और इसकी हानि शक्ति की हानि या जैसा उसका कहना है, पराभव का प्रतीक है। कटे हुए बाल प्रभावहीन व्यक्तित्व को द्योतित करते हैं। कटे बाल गुलाम को द्योतित करते हैं और प्रायः स्त्री को द्योतित करते हैं।

फ्रेजर महोदय ने बाल की पवित्रता प्रकट करने वाले बहुत से सन्दर्भ इकठ्ठे किए हैं;[१२] परन्तु सभी सन्दर्भों मे उनके अपने उदाहरण उनकी व्याख्या को सम्भव बताने में असफल रहे हैं, क्योंकि वे सिर की सामान्य पवित्रता के अतिरिक्त केवल शत्रुओं के अधिग्रहण का ही सिद्धान्त स्वीकार करते हैं अर्थात् बाल के माध्यम से कार्य करने वाले शत्रुओं या चुड़ैल के द्वारा मनुष्य का अपकार या मृत्यु की सम्भावना, वर्जना, शोक आदि से संदूषण होने की सम्भावना को वे स्वीकार करते हैं। इसी कारण से पादरी एवं मुखिया बालों को बिना कटे ही रहने देते हैं। अपनी वापसी तक यात्री एवं योद्धा अपने लम्बे-लम्बे बालों को रखते हैं। शोकाकुल लोग बालों एवं संक्रमण को एक साथ हटा देते हैं। बाल कटने

९. टेलर, प्रीमिटिव कल्चर I, पृ० ४०१
१०. क्रुक, फोकलोर II, पृ० ६६
११. प्रिन्सिपल्स ऑफ सोसियोलाजी, खण्ड ४, अध्याय ३
१२. गोल्डन बो I, पृ० ३६२, फुटनोट

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पर उसको पक्षियों से सुरक्षित रखा जाता है कि कहीं सिर दर्द न हो; और कोई बुरे प्रकार के लोग इसे ग्रहण न कर लें, इसलिए इसे जमीन में गाड़ दिया जाता है या पानी में बहा दिया जाता है या इसे जला दिया जाता है। पुनरुज्जीवन के सिद्धान्त के लागू होने पर मनुष्य अपने बालों को भविष्य के लिए रख लेता है। इस तरह यहूदी साधक के पृथक्करण के नियम के लिए बिना कटे हुए बालों का होना आवश्यक है। प्रदूषण से बचने के लिए बोत्सवाना के लोग युद्ध के बाद अपने बाल कटवा देते हैं। बोर्नियो आदि के लोग भी ऐसा ही करते हैं।

परन्तु ब्रिटिश कॉलम्बिया के आदिवासियों द्वारा अपने बाल काटने का कारण यह बतलाया जाता है कि बालों की कमजोरी एवं हानि से शक्ति क्षीण हो जाती है। यदि वे उसको काटते हैं तो वे कमजोर (पुराने) हो जाते हैं। दुनिया के दूसरे सिरे इण्डोनेशिया के एक द्वीप सेरेम में भी वही कारण बतलाया जाता है कि जिन व्यक्तियों के बाल काट लिए जाते हैं वे कमजोर हो जाते हैं। यद्यपि फ्रेजर महोदय के द्वारा ये उदाहरण दूसरे उदाहरणों की तुलना में दिए गए हैं; ये उसके सिद्धान्त को प्रदर्शित करते हुए या उसको पुष्ट करते हुए प्रतीत नहीं होते। इन्हीं उदाहरणों में उनको भी शामिल किया जा सकता है जो यह बतलाते हैं कि यदि किसी का बाल काट लिया जाए तो वह बुज़दिल बन जाएगा। उदाहरण के लिए जर्मनी में यह विचार है कि बालक के सात वर्ष के होने तक उसके बाल नहीं काटे जाने चाहिए, अन्यथा वह अपना साहस खो देगा;[13] और टेकिटस महोदय द्वारा दिए गए अन्य समानान्तर सन्दर्भों के विषय में उसका कहना है कि बालों द्वारा अपना साहस प्रदर्शित किए जाने तक क्षत्रिय अपने बाल कभी नहीं काटता था। न ही फ्रेजर का सिद्धान्त यह प्रदर्शित करता है कि बालों द्वारा वर्षा एवं गरज के साथ वर्षा कैसे घटित होती है; जैसे न्यूजीलैण्ड आदि में होता है।

इसमें उस मौलिक जोड़ने वाले सिद्धान्त की कमी है जो यह समझाता है और जिसके अनुसार बाल के साथ एक ऐसा व्यवहार किया जाता है जैसा बाल स्वयं है। ऐसा नहीं है कि संक्रमण एवं विरोधी रूप से अधिग्रहण के विषय में प्रश्न चिह्न लगाए जाएँ जिनके प्रभावों की गिनती की जा चुकी है। वे प्रभाव पैदा करते हैं पर क्यों? एक सहानुभूतिपूर्ण जादू आदि में बाल को साधन क्यों माना जाता है? बाल सिर के एक खण्ड के रूप में इस प्रक्रिया के एक केवल खण्ड की ही व्याख्या कर सकता है।

इसका अन्तर्वर्ती सिद्धान्त यह है कि बाल स्वयं में शक्ति का एक केन्द्र है, एक शक्ति स्थान, शारीरिक रूहों में से एक जो असभ्य लोगों को विदित थी। वे

---

१३. यूनानी चर्च में बच्चों के बाल काटने से पहले उनको बपिश्ता किया जाना चाहिए।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शारीरिक एवं विशुद्ध रूप में आध्यात्मिक में अन्तर करने में असमर्थ होने के कारण शक्ति के विभिन्न स्थानों को रूह-स्थान या रूह के रूप में समझते हैं। इस अन्वेषण का यह प्रारम्भिक बिन्दु होना चाहिए, यद्यपि फ्रेजर महोदय यह सुझाते भी नहीं हैं कि बाल स्वयं अपने आप में एक शक्ति है।[१४]

परन्तु यदि हम सही संकेत से शुरू करें तो बाल की पवित्रता के सन्दर्भों में तालमेल बैठाना इतना कठिन नहीं है। हम इस विषय के एक पहलू से शुरू कर सकते हैं जिसे टेलर एवं फ्रेजर महोदय दोनों ने ही उपेक्षित किया है। यह महत्त्वपूर्ण है क्योंकि हम सभी बाल की बलि से परिचित हैं। टेलर महोदय के अनुसार ये सभी स्थानापन्न वस्तुएँ हैं। वे उन कारणों की व्याख्या नहीं करते जिनके आधार पर बाल को स्थानापन्न किया जा सकता है। शोक में ऐसी बलि दी जाती है, जैसे ट्रोजन युद्ध के सबसे बड़े यूनानी योद्धा के बालों की बलि का सन्दर्भ है। अन्त्येष्टि के समय बालों का मुण्डन क्यों किया जाता है ? इस प्रश्न को एक ओर तो दूसरी बलियों के प्रश्न से मिला दिया जाता है और दूसरी ओर मृत्यु के समय बाल के नीचे जाने के प्रश्न के साथ मिला दिया जाता है। परन्तु इस गड़बड़ी से सभी व्याख्याएँ असम्भव हो गई हैं। खासतौर पर जब बाल आवश्यक रूप से शोक के समय दी जाने वाली बलि नहीं है और यह प्रसन्नता के अवसर पर दी जाने वाली बलि भी हो सकती है। हमें उन प्रयोगों को साफ-साफ करके तथा उनको पृथक् करके प्रारम्भ करना चाहिए जिन-जिन में बाल का प्रयोग हो सकता है।

पश्चिम अफ्रीका के गोल्ड कोस्ट पर शपथ की प्रामाणिकता के विषय में आश्वस्त होने के लिए व्यक्ति "जड़-प्रतीक को खा जाता है।" या इसके अतिरिक्त जिस देवता के सामने वह अपने जीवन की शपथ लेता है उसकी मूर्ति में वह अपने बालों की एक लट जमा कर देता है। इसका केवल यही कारण हो सकता हैं कि देवता इस तरह मनुष्य के जीवन का अधिग्रहण कर सकता है और बाल के माध्यम से उसको दण्डित कर सकता है। पूरी सहानुभूतिमय पीड़ा इसी सिद्धान्त पर आधारित है यद्यपि कभी-कभी ही ऐसा होता है कि इसका स्वामी कोई देवता होता है। सामान्यतया यह कोई शरारत करने वाली, एक चुडैल आदि होती है। फिर भी, बालों का काटना एक महत्त्वपूर्ण विषय है। न केवल इसलिए कि कोई बालों का अधिग्रहण कर सकेगा परन्तु बालों की हानि के माध्यम से प्राणशक्ति का सीधा ह्रास होता है। फिर वधु के बालों में लाल चिह्न (सिंदूर) लगाने की प्रथा भी उसी सिद्धान्त पर आधारित है जैसे उसके द्वारा दूसरी चीजों को भी चिह्नित किया जाता है। लाल रंग राक्षस के समान भयभीत करने वाला रंग है

---

१४. इ० बी० टेलर के लिए बाल यज्ञ का मात्र पर्याय है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

और बाल या रूह राक्षसी आक्रमण के लिए खुला रहता है। ये आक्रमण जीवन को कम कर देते हैं। इसी कारण से ही वे विद्वान् गलत प्रतीत होते हैं जो इस प्रथा में 'मूल खूनी-प्रतिज्ञा का अवशेष' देखते हैं "जिसके द्वारा उसको (वधु को) उसके पति के खानदान में परिचित कराया जाता है।" क्रुक भारत में निम्न जाति की वधु के चिह्न (सिंदूर) के विषय में यही कहता है।[15] उच्च जातियों में भी यही प्रथा वैसे ही सामान्य थी यद्यपि इसे वहाँ केवल आलंकारिक रूप में ही स्वीकार किया जाता था। यह बड़ी विचित्र बात है। संस्कृत विद्वानों का ध्यान इस ओर नहीं गया है कि उत्तरी अमरीका में बिल्कुल वैसी ही प्रथा प्रचलित थी। कैटलिन (I, पृ० ५८) का कहना है कि उत्तरी अमरीका की स्त्री, उदाहरण के लिए "माथे पर माँग निकालती है और माँग में लाल सिंदूर लगाती है।" उसका कहना है कि न तो भारतीय और न ही वह स्वयं इस बात को बतला सकती है कि यह क्यों किया जाता है।

शरीर के उन सभी भागों, जिनका अपना जीवन दिखलाई पड़ता है, जैसा वुन्ड महोदय ने प्रदर्शित किया है, को जीवन का स्थान या रूह स्थान समझा जाता है और इनमें नाखून तथा बाल को, जो मृत्यु के उपरान्त भी बढ़ते रहते हैं; विशेष रूप में ऐसा समझा जाता है कि उनमें रूह शक्ति होती है। निसु एवं सेमसन की कहानियों में इसके सर्वोत्तम विदित उदाहरण दिए गए हैं, जिनकी शक्ति उनके बालों की लटों में स्थित रहती थी।[16] परन्तु बाल शक्ति से कहीं ज्यादा है। रक्त की भाँति यह भी जीवन है और इसलिए वर्जिल की कहानी में उसके बाल के कटने तक दीदो मरी नहीं। अस्तु, बाल में शक्ति निहित रहती है

---

१५. दि पापुलर रिलीजन एण्ड फोकलोर ऑफ नरदर्न इण्डिया II, पृ० १७३

१६. सेमसन की सूर्य के रूप में व्याख्या का इस तथ्य पर कोई मौलिक प्रभाव नहीं पड़ता कि नायक का बाल ही उसकी शक्ति का स्थान है। गोल्डज़ाईहर के ग्रन्थ माइथोलॉजी, पृ० ४१४ में स्टेनथेल से तुलना करें: "इजराईल में एक ऐसा समय रहा होगा जब बाल एवं शारीरिक शक्ति की सम्पूर्णता से मिलकर एक समान विचार बनता था और बाल स्वयं अपने आप में एक शक्ति है।" यूनानी द्वीप ज़ान्ते के निवासी आज भी यह विश्वास करते हैं कि मनुष्य की शक्ति उसकी छाती के बालों में सुरक्षित है ("छाती पर तीन बाल", वही ग्रन्थ) और यही कारण है कि भारतीय लोग एक घोड़े की ताकत तथा सामर्थ्य उसके शरीर पर उगने वाले बालों से जांचते हैं। एबसोलम के बालों का वजन पूर्ण एवं युवा आदमी की पूर्णता के एक अंग रूप में समझा जाता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

और यह शक्ति प्रदान करता है। वही कारण है कि शिरोस्थि-चर्म क्यों पहने जाते हैं, वैसे ही ले जाए भी जाते हैं और क्यों कुछ अमरीकी भारतीय यह विश्वास भी किया करते थे कि शिरोस्थि-चर्म की हानि का तात्पर्य उस सामर्थ्य की हानि थी जिससे कोई भी उल्लासमय शिकारी स्थलों का रास्ता खोज सकता था।[१७]

फिर शोक में बाल को सिर से क्यों उखाड़ा जाता है ? इसके उत्तर के लिए हमें बाल के उखाड़ने के दोहरे स्वभाव पर विचार करगा चाहिए। वास्तव में शोक में बाल को उखाड़ने के दो अवसर होते हैं। पहले अवसर पर बाल को हिंसापूर्वक नोंचा जाता है। दूसरे अवसर पर इसको बड़ी सावधानी से औपचारिक रूप में उखाड़ा जाता है। वुण्ड[१८] मृत्यों के समय सभी उखाड़े जाने वाले बालों की व्याख्या एक इच्छा के कारण करते हैं जिसके अनुसार यह प्रदर्शित किया जाता है कि शोकाकुल व्यक्ति ने शक्ति को खो दिया है। परन्तु हमें अचानक होने वाले दुःख एवं विचारपूर्वक दुःखाभिव्यक्ति में अन्तर करना चाहिए। इसका वास्तव में कोई कारण नहीं है कि अंगभंग द्वारा होने वाले सही दुःख की अभिव्यक्ति की व्याख्या धार्मिक दृष्टि से क्यों नहीं की जानी चाहिए। यह एक रोग की वैज्ञानिक प्रक्रिया है।[१९]

अन्त्येष्टि पर औपचारिक रूप से बाल का काटना या मुण्डन करना एक दूसरा मामला है। जैसा फ्रेजर सोंचते हैं, यह कोई सिर का संस्कार नहीं है परन्तु बालों का संस्कार है। यह इस तथ्य से प्रकट होता है कि नीग्रो शोकाकुल लोग शरीर के सारे बाल काट देते हैं। दूसरे यह स्मरण रहना चाहिए कि बालों का मुण्डन मृत्यु के क्षण नहीं होता है परन्तु उस समय होता है जब शव को पृथ्वी में गाड़ दिया जाता है। सामान्यतया मृत व्यक्ति की प्रेतात्मा कुछ दिनों तक मंडराती रहती है और फिर एक नया आवास खोजने के लिए चली जाती है। इनका एक कारण यह है कि प्रेतात्मा एक नया निवास खोज लेगी और जैसा सभी विद्यार्थी जानते हैं। यह बहुत सम्भव है कि शव का हमेशा के लिए परित्याग करते हुए प्रेतात्मा शोकाकुल व्यक्ति के बालों में प्रत्यावर्तन करने के योग्य होती है। परन्तु इसका दूसरा कारण भी है। जब अमरीकी भारतीय के शव को जमीन में गाड़ा जाता है तो एक शत्रु के बाल उसकी कब्र पर लटका दिए जाते हैं ताकि शत्रु का जीवन इस प्रकार बाल के माध्यम से मृतक की सेवा में संचारित हो सके।[२०] उसी

---

१७. देखिए फोस्टर, पृ० २८, फुटनोट। दीदो की मृत्यु के लिए देखिए एयिनिड, ४, पृ० ७०४

१८. वुण्ड, मिथ्स एण्ड रिलीजन II, पृ० ३८

१९. आगे यज्ञ का अध्याय देखिए।

२०. टेलर, प्रिमिटिव कल्चर I, पृ० ४६०

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रकार मित्रों के बाल मृतक के लिए शक्ति की भेंट या जीवन शक्ति समझी जाती है।

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि औपचारिक रूप से बालों को भेंट चढ़ाना आवश्यक रूप से दुःख का चिह्न नहीं है। यह आनन्दोत्सव पर एक भेंट भी हो सकता है। इसी प्रकार गोल्ड कोस्ट का नीग्रो अपनी वर्षगांठ का उल्लासमय अवसर अपने स्वयं के बाल काटकर उसे स्वयं अपनी मेधा को समर्पित करके मनाता है। देवताओं की बलि के समान ऐसे आनन्दोत्सव पर दूसरी बलि की वस्तुओं के समान ही बाल भी बलि का एक अंग होता है। इससे यह प्रकट होता है कि यह भेंट दी जाने वाली एक ऐसी वस्तु नहीं है जिसे शोक का चिह्न समझा जाए। अपितु इसके विपरीत यह आनन्द एवं दुःख के अवसर पर दी जाने वाली भेंट है। यह रक्त बलि के समान शक्ति या जीवन के एक अंग की भेंट है। जब इसकी भेंट मनुष्य की अपनी मेधा या देवताओं को दी जाती है, तो इन पिशाचों की सहायता या इनको प्रसन्न करने के लिए दिए गए मुर्गे या फल के समान ही यह भी एक बलि ही है। जब इसको मृतक को भेंट किया जाता है तो भी उसी प्रकार से ही उसे स्वयं अपनी जीवन शक्ति का अंग समझा जाता है। एक विशिष्ट राक्षस की सहायता एवं उसको प्रसन्न करने के लिए यह भेंट होता है।[२१]

सामान्यतया अन्येष्टि के समय मृत्यु के उपरान्त औपचारिक रूप से बाल काटने में, या हड्डियों को एकत्रित करने के समय, दो स्पष्ट सिद्धान्त कार्य करते हैं। एक सिद्धान्त इस विचार पर आधारित है कि बाल मरने वाले की आत्मा के लिए एक शक्ति की बलि है, जैसे कोई व्यक्ति जीवित रहने पर अपने बाल अपनी मेधा को समर्पित करता है। दूसरा सिद्धान्त इस विचार पर आधारित है कि बाल आत्मा के माध्यम से प्रवेश का साधन है और मृत्यु से सम्बन्धित प्रदूषण या खतरनाक तत्त्वों एवं बाल के संक्रमण को हटा देना चाहिए। पहले सन्दर्भ में शव पर बालों का ढेर लगा दिया जाता है जैसे ट्रोजन युद्ध के सबसे बड़े योद्धा एकिलस तथा उसके मित्रों ने पेट्रोक्लोस के शव पर उसके बालों का ढेर लगा दिया था। दूसरे सन्दर्भ में, जैसे भारत और परशिया आदि में बालों को जला दिया जाता है या जमीन में गाड़ दिया जाता है। असभ्य व्यक्तियों की प्रथा यह बतलाती है कि ये दोनों ही विचार समान रूप से आदिम है। पेट्रोक्लोस के लिए दी गई बलि स्पष्ट रूप से "रूह को पाताल में शीघ्रता से जाने के लिए होती है।" अर्थात् इसको जीवन शक्ति देने के लिए जैसे अमरीकी भारतीय का शिरोस्थि चर्म कब्र

२१. नीग्रो जाति में अन्त्येष्टि तथा उत्सवों पर बालों के काटने के लिए देखिए ऐलिस, दि त्सि-स्पीकिंग पीपल्स ऑफ़ दि गोल्ड कोस्ट, पृ० १५६, २३७, २४१।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

के ऊपर जीवन प्रदान करता है।[२२]

नीग्रो शोकाकुल व्यक्ति मृतक के भूत से बचने के लिए मरे हुए आदमी के बाल स्वयं काट देता है और भूत के लिए विशिष्ट प्रकार से बनाई गई झोंपड़ी में लटका देता है। उस भूत को उसी स्थान पर लुभावना खाद्य पदार्थ भेंट किया जाता है। बालों को देखकर भूत इसमें प्रवेश कर जाता है, और इस प्रकार अपने घर से सन्तुष्ट रहता है। कुछ सन्दर्भों में दो सिद्धान्तों गें से एक प्रचलित दिखलाई पड़ता है। दूसरे में दो विचारों की भ्रान्ति दिखायी पड़ती है। प्रेतात्मा के प्रवेश के खतरे से छुटकारे की भावना मृतक को दी गयी भेंट से सम्बद्ध दिखलायी पड़ती है परन्तु इनमें से एक को दूसरे से पुराना मानने में कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता या यह मानना कि भेंट देने के विचार की व्युत्पत्ति दूसरे से हुई है। इसके विपरीत बाल के जीवन को अभिव्यक्त करने की भावना आदिम दिखलायी पढ़ती है। निस्सन्देह वह परवर्ती है। वह परम्परागत रूप में बालों की बलि चढ़ाना है, वैसी प्रथा यूनानियों में पाई जाती है, उदाहरण के लिए जब इसका अर्थ लुप्त हो गया और इसका रूप बना रहा। बाल के माध्यम से जीवन भेंट करने का भाव केवल उस विचार का एक स्वरूप है जिसने सिर की बलि, दासों की बलि एवं सती-प्रथा को जन्म दिया है। प्रेतात्मा की सहायता एवं उसकी सेवा के लिए जीवन, शक्ति, सेवक, दास, पत्नियाँ मृतक के लिए भेजे जाते हैं। कुछ सन्दर्भों में वे वस्तु रूप में सहायक बन जातें हैं जैसे दास और पत्नी के सन्दर्भ में। दूसरों में

---

२२. एक दूसरी अन्त्येष्टि की प्रथा है जिसकी यहाँ चर्चा की जानी चाहिए। वह सिर पर मिट्टी डालने की हैं। आवेगीय दुःख की प्रथा के साथ भी इसकी तुलना करनी है। एक यज्ञ के छद्म रूप में या एक प्रतीकात्मक दफन के रूप जब एक बच्चा गुस्से या दुःख में मिट्टी में लोटता हैं, जैसे डब्ल्यू० आर० स्मिथ, फ्रेजर तथा जेस्ट्रो ने क्रमशः इसकी व्याख्या की है। एकिलिस अक्षरशः अपने आपको विनम्र दिखलाता है। वह अपने सिर पर मिट्टी एवं राख डालता है, जब वह दुःख में चिल्लाता है और जमीन पर लम्बा लेट जाता है। पहला भाव अपने आपको चोट पहुँचाने का है। दूसरा यह दिखलाता है कि उसके चोट लगी है औरऐसा करने से यह दिखलाता है कि वह बिल्कुल सीधे तरीके से लेट गया है। सिर पर मिट्टी का ढेर इकट्ठा करना कुछ नहीं है परन्तु लेटे रहने का एक चिह्न है (मन में नीचे)। यह इस बात से भी सिद्ध हो जाता है कि उत्सव के मौकों पर अफ्रीकी मुखियों के नौकर अपने सिरों को मिट्टी से ढक कर अपनी विनम्रता व्यक्त करते हैं। नौकरों के लिए अशान्ति (प्रदेश) के लोगों में यह घटियापन का प्रतीक समझा जाता था। यह शोक के अवसरों से बिल्कुल भिन्न था।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मृतक बलि को आत्मसात् कर लेता है क्योंकि जैसे रक्त (जो जीवन भी है) पाताल में प्रेतात्मा की छायाओं को मजबूत बनाता है।

अमरीकी भारतीय अपने सारे बाल खोना नहीं चाहता था। परन्तु शोक के चिह्न के स्वरूप वह अपनी पत्नी के सारे बाल कटवा देता था और किन्हीं सन्दर्भों में अपने शिरोस्थि चर्म के बालों की लट भेंट कर दिया करता था। भारतीय लोग बालों को एक शक्ति का केन्द्र मानते थे—यह इस तथ्य से भी देखा जा सकता है कि कुछ कबीले अपने मुखिया का चुनाव उनके बालों की लम्बाई के आधार पर किया करते थे, उदाहरण के लिए जैसे क्रो तथा ब्लैकफीट नामक अमरीकी भारतीय कबीले। इस प्रकार 'लम्बे बाल' वाले मुखिया क्रो को अमरीकी भारतीय कबीले का मुखिया इसलिए बना दिया जाता था क्योंकि उसके बाल दस फुट सात इन्च लम्बे होते थे। यद्यपि इसके प्रतिद्वन्द्वी दावेदार के इतने लम्बे-लम्बे बाल हुआ करते थे कि जब वे चलते थे तो उनके बाल पृथ्वी पर लटकते थे।[२३] इसके अतिरिक्त दूसरे कबीले चोटी को छोड़कर सभी बालों को काट लिया करते थे। प्रेतात्मा के प्रवेश के भय के कारण ही सम्भवतः इन लोगों में यह व्यवहारिक विचारधारा रहा करती थी जिसके कारण बालों की शक्ति को वे लोग एक लम्बी पंक्ति के रूप से सुरक्षित रखते थे, जैसे चीनी तथा ब्राह्मण संन्यासी किया करते थे।

सिर के चारों ओर बालों को एक गोल घेरे में क्यों बांधा जाता है? इसका कारण केवल यह नहीं है कि ऐसा करने का यह सुविधाजनक तरीका है। घेरा प्रेतात्माओं के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करता है और उसी कारण भारत में फूलों के मुकुट ने बालों के मुकुट का स्थान ले लिया है, जैसे एक दूल्हे के सन्दर्भ में होता है या एक राजा के सन्दर्भ में होता है। किसी दूसरी वस्तु के घेरे द्वारा गोलाकार बालों के मुण्डन की तरह सिर की चोटी को सुरक्षित रखा जाता है। बाल अपने आप में एक आध्यात्मिक शक्ति हैं। इनमें क्षति पहुँचाने की शक्ति है—ऐसा दृढ़ विश्वास आधुनिक भारत में दिखलायी पड़ता है, जहाँ किसी व्यक्ति के विरोध में 'बाल बढ़ाना' एक जघन्य अपराध है क्योंकि वह उस पर बुरी नजर रखने जैसा है।[२४]

पोलेनेशियाई पादरी एवं राजाओं के बालों को छूना उनकी शक्ति के खतरे के कारण और उनके अपने खतरे के कारण वर्जना है, और जब उनको काट दिया जाता है तो उस खतरे को शान्त करने के लिए संस्कार किए जाने चाहिए। केवल शक्ति के रूप में ही बाल गर्जना एवं बिजली पैदा कर सकता है। नीग्रो पादरी अपनी आध्यात्मिक शक्ति के चिह्न स्वरूप ही अपने लम्बे बाल धारण

---

२३. केटलिन, नार्थ अमरीकन इण्डियन्स्, I, पृ० ५७

२४. देखिए, क्रुक, वही I, पृ० २३६

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

करता है (इसके अतिरिक्त जब वह इसमें दीक्षित होता है) परन्तु इस चिह्न का मूल इस तथ्य में है, जैसा वह स्वयं समझता है और देशवासियों द्वारा समझा जाता है कि उसके रूखे बाल उसकी शक्ति हैं। सभी असभ्य व्यक्तियों की केश-विन्यास विधियों में ये दो भाव लगातार व्यक्त होते हैं। पहला, कि बाल शक्ति है और दूसरा, कि प्रेतात्मा उस शक्ति सदन में हमेशा ही प्रवेश करने का प्रयत्न करती रहती है। अत: एक ओर तो लम्बे-लम्बे बालों का रखा जाना पाया जाता है और दूसरी ओर एक लट के अतिरिक्त सभी (बालों) का मुण्डन कर दिया जाता है। दासों, स्त्रियों आदि द्वारा अपने बालों का जबरदस्ती छोटा किया जाना गौण है। यहाँ यह एक प्रतीक है, परन्तु यह एक ऐसा प्रतीक है जो उसी विचार की ओर उन्मुख है कि छोटे बाल कमजोरी का परिणाम हैं। बालों में प्रेतात्मा का भय प्राय: पाया जाता है। पश्चिमी अफ्रीका में अशान्ति के जल्लाद अपने बालों को हमेशा ही धागे से बांधे रहा करते थे(एलिस, वही पृ० २५६)। इसकी व्याख्या उनके नृत्य एवं चिल्लाने के समानान्तर रूप में की जा सकती है अर्थात् उनके वध्य लोगों की रूहों या भूतों के उनके बालों में प्रवेश के विरुद्ध सावधानी के रूप में इसकी व्याख्या की जा सकती है। धागे या वेणी साधारण तौर पर प्रेतात्माओं को भगा देते है। गाँठे भी वैसा ही कार्य करती हैं और इसी कारण से ही भारतीय लोग अपने बालों को वेणी में धारण करने का खास ध्यान रखते हैं। कुछ लोग दायीं ओर वेणी रखते हैं; कुछ लोग अपने बालों में तीन वेणियां रखते हैं आदि आदि; जबकि कुछ लोग अपने बालों का मुण्डन करवा लेते हैं और कुछ लोग अपने सिर पर बालों की केवल एक लट ही धारण करते हैं। ब्राह्मण विद्यार्थी को अपने परिवार की प्रथा का पालन करने का आदेश दिया गया है, परन्तु यह छूट बहुत बड़ी नहीं है क्योंकि बहुत समय से इस आशा द्वारा यह आदेश दिया गया है कि या तो वह अपने सिर का बिल्कुल मुण्डन करवा देगा या अपने सिर पर बालों का गुच्छ धारण करेगा तथा बाकी भाग का मुण्डन करवा देगा या बाकी बालों को खुला छोड़कर एक गुच्छ धारण करेगा अर्थात् उसे हमेशा ही बिल्कुल मुण्डित रहना चाहिए या बालों का एक गुच्छा धारण करना चाहिए। इसका कोई कारण नहीं दिया गया है; परन्तु यह होना ही चाहिए क्योंकि प्रेतात्माओं के प्रवेश के विरुद्ध ये ही दो मुख्य रक्षक हैं, क्योंकि गंजापन स्वयं अपने आप में बुरी नजर के विरुद्ध एक रक्षक है। लोगों को आदतन अपने बालों का मुण्डन करवाना चाहिए—यह अविदित नहीं है। भारतीय स्वयं यह कहते हैं कि शकों, कम्बोज के लोगों और पारसी लोगों में बाह्य अन्तर यही है कि शक लोग आधे सिर का मुण्डन करवाते हैं। कम्बोज के लोग तथा यवन लोग पूरे सिर का मुण्डन करवाते हैं और पारसी लोग तो अपनी दाढ़ी को भी नहीं काटते। सामान्य प्रकार का भारतीय गृहस्थी अपनी और अपने पूर्वजों की इच्छानुसार बालों को धारण करता

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

था, यद्यपि वह अपने सिर की, शीर्ष की तथा चोटी की उपेक्षा नहीं करता था। एक मुसलमान के समान वह चोटी के माध्यम से स्वर्ग में खींचे जाने की आशा नहीं रखता था; परन्तु संन्यासियों को बालों को वेणी में रखना पड़ता था तथा भारतीय संन्यासी चोटी के अतिरिक्त पूरे सिर का मुण्डन करते थे।

परन्तु यज्ञ सम्बन्धी भारतीय रहस्य यह प्रदर्शित करते हैं कि बाल की इस प्रकार उद्घाटित शक्ति के अतिरिक्त उसमें कहीं ज्यादा शक्ति विद्यमान है। न केवल तारे ब्रह्मा की रोम-राशियां हैं अपितु अवतार ग्रहण करने वाले देवताओं का निर्माण भी विष्णु के बालों से किया जाता है। अश्व मेघ्य यज्ञ में वध्य पशु के गले के बालों तथा इसकी पूंछ में एक सौ एक मोती पिरोए जाते हैं क्योंकि ये उन वर्षों को बतलाते हैं जितने वर्षों तक एक व्यक्ति को जीना चाहिए और इस प्रकार प्राण या रूह को वर्षों का आधार बनाया जाता है। यह बहुत ही रहस्यात्मक है, परन्तु प्राण, रूह और बाल में तादात्म्य को दर्शाना ही पर्याप्त है: "प्राणों में, रूह में, वह इस तरह (बालों में जीवन को प्रतिष्ठित करने से) अपने आपको प्रतिष्ठित करता है।[२५] दूसरा सन्दर्भ प्रसिद्ध अन्धविश्वास को स्पष्ट रूप से बतलाता है कि बालों के अधिग्रहण से बालों के मूल स्वामी से बढ़कर शक्ति प्राप्त होती है। पूजा करने वालों को वन्य पशु की शक्ति एवं उन पर शक्ति प्राप्त करवाने के लिए रुद्रदेवता के पेय पात्रों में वन्य पशुओं के बाल रखे जाते हैं। एक दूसरे सन्दर्भ के अनुसार रुद्रदेवता वन्य पशुओं को मार सके और पशुओं को न मारे।[२६] राजा के राज्याभिषेक से पहले उसे एक साल तक अपने बाल नहीं कटवाने चाहिए और पुरोहित के अतिरिक्त उसके राज्य में किसी को भी अपने बालों का मुण्डन नहीं करवाना चाहिए, पशुओं के भी बाल नहीं काटे जाने चाहिए।[२७]

इसके अतिरिक्त ब्राह्मणवाद का धर्म वास्तव में इतना कृत्रिम है कि बाल की शक्ति के इन अनेक विचारों को यह सम्भाल नहीं पाया है और संहिताओं में भी खुले हुए बालों के संकेत के अतिरिक्त वहां थोड़ा कुछ और भी है। किसी के मरने पर ही बालों को काटना चाहिए और मृतक के बालों को काटने का भी संकेत है। फिर भी अथर्ववेद उस पुराने विचार को प्रत्यावर्तित करता दिखलाई पड़ता है, जिस जादूई नुस्खे में यह कहा गया है, "आप जैसे मेरे लिए व्याकुल होते हैं वैसे ही आपके नेत्र और बाल सूख जाएं।[२८]

२५. शतपथ ब्राह्मण, १३·२·६·८

२६. वही, १२·७·२·८

२७. वही, ५·५·३·२; इस सन्दर्भ में प्रो० एगलिंग की टिप्पणियों की तुलना करें।

२८. अथर्ववेद; ६·९·१, अथर्ववेद १९·३२·२ में मृतकों के लिए स्त्रियों का छाती पीटने का वर्णन है और वे मृतक के बाल काट लेती हैं। बालों को बढ़ाने के

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जहाँ पूरे सिर का सवाल है और हम यह जानते हैं कि कुछ असभ्य व्यक्ति सिर की किसी खास आत्मा में विश्वास करते हैं, यह कहना आसान नहीं है कि क्या इस अन्धविश्वास का सम्बन्ध सिर से है या मूलतः बालों से है। इन अन्ध-विश्वासों में से एक यह है कि सिर के माध्यम से रूह बाहर निकल जाती है जिसके कारण ही आज भी भारत में सिर को आरी से कटवाने की प्रथा प्रचलित है। प्रागैतिहासिक समय में यूरोप में भी ऐसा ही रहा होगा; परन्तु यह तथ्य कि भारतीयों द्वारा कभी-कभी खोपड़ी को केवल दिमाग को बाहर निकालने के लिए तोड़ा जाता था—इस तथ्य से हमें यह स्वीकार करने में सावधान हो जाना चाहिए कि प्रागैतिहासिक समय में सभी आरी द्वारा काटी गई खोपड़ियाँ रूह के विश्वास को ही प्रदर्शित करती हैं। जबकि एक आधुनिक योगी अपने आपको चालीस दिन तक जमीन में जिन्दा गाड़ देता है तो उसकी रूह उसके सिर की चोटी में खोजी जाती है। रीचर्ड स्मिथ महोदय हमें यह आश्वासन देते हैं कि वास्तविक परीक्षण द्वारा शीर्ष ही एक ऐसा स्थल होता है जो बहुत समय तक प्राणों की गर्मी को संभाले रहता है और उसका कहना है कि चालीस दिन के बाद जब योगी को पुनः जीवित किया गया तो केवल शीर्ष में ही वह गर्मी स्थित थी। वास्तव में यह "गर्म जल रही थी।"[२६]

इसलिए यह निश्चित करना कठिन है कि गोंड जाति के दूल्हे एवं दुल्हन का विवाह के अवसर पर एक दूसरे के सिर को मनोहर ढंग से थपथपाना, जैसा भारतवर्ष में इसका व्यवहार होता है, बालों का संस्कार है या सिर का संस्कार है (प्रेतात्माओं को भगाने के लिए)। यह रूहों का मेल भी हो सकता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जाना चाहिए कि एक ही विश्वास की परिणति प्रायः विभिन्न प्रथाओं में पायी जाती है। उदाहरण के लिए यह विश्वास कि राक्षस बालों के माध्यम से प्रवेश कर जाते हैं—वेणी एवं उलझे हुए बालों को भारतवर्ष में आध्यात्मिक अधिग्रहण और सुरक्षा का चिह्न बना देता है, जैसे यूरोप में घुंघराले बालों से प्रेतात्माओं के कार्य का पकड़ना होता है। यह भी विश्वास किया जाता है कि बाल सहायक हो सकते हैं और घातक भी हो सकते हैं। सहानुभूतिपूर्ण जादू बालों के स्वामी का विनाश कर सकता है और अपने को बिना किसी प्रकार की हानि पहुँचाए हुए उन्हीं बालों को उनके स्वामी द्वारा जलाया जा

लिए जो थोड़े से मन्त्र हैं वे केवल यह दिखलाते हैं कि गहरे काले बाल वांछनीय हैं। मनु के अनुसार लाल बाल वर्जित हैं। सम्भवतः जैसे स्काटलैंड में है; वैसे ही इसका सम्बन्ध बुरी नजर से है।

२६. रिचर्ड स्मिथ, फकीर, उण्ड फकीरटुम् इन, आल्टेम उण्ड मोडरन इण्डीशेन। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्मरंध्र में से आत्मा निकलती है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सकता है। यह ऐसा संकेत है जो फ्रेजर महोदय ने दिया है। इस विश्वास के इन तर्कहीन परिणाम होने के बावजूद भी यह विश्वास भली-भांति प्रतिष्ठित है कि बाल एक शक्ति या रूह है या जैसा पहले समझाया गया है, यह जीवन है। इस विश्वास को विभिन्न प्रकार से मानने से विभिन्न प्रकार की प्रथाएँ पैदा होती हैं। युवा होने तक यदि पुरुषों का एक वर्ग अपने बालों को बढ़ाता है; यह इसलिए नहीं होता क्योंकि उनको विपरीत प्रकार के अधिग्रहण से भय है परन्तु क्योंकि बालों की शक्ति को अक्षुण्ण रखते हुए वे शक्तिशाली बनने की इच्छा करते हैं। दूसरी ओर कुछ अवसरों पर बालों का काटना सामन्यतया आवश्यक बन जाता है और उस समय शक्ति के क्षय से बचने के लिए सावधानी बरतनी चाहिए, क्योंकि जब फीजी का मुखिया जितनी बार भी एक आदमी को खाता है, उतनी ही बार अपनी प्राणशक्ति को पूरा करने के लिए अपने बाल कटवाता है। बाल शक्ति है या रूह है—इसका दूसरा प्रमाण इस विचार का प्रचलन है कि बाल साँप और कुत्ते आदि से काटे हुए का इलाज कर देता है। भारतवर्ष में साँप के काटे का इलाज तीन बालों से किया जाता है। यह निस्सन्देह तिगुने रूप में प्रभावशाली होता है। हाथी का बाल बीमारी के विरुद्ध शक्ति का कवच होता है, जैसे यूरोप के किसानों द्वारा बाल का प्रयोग कभी-कभी हलकी-फुलकी बिमारियों के लिए औषधि के रूप में किया जाता है।

परन्तु बाल एवं रक्त में रूह-शक्ति के रूप में इसका विश्वास, यद्यपि विनष्ट न होने पर भी, रूह के शरीर के अन्य भागों में बढ़ते हुए केन्द्रीयकरण के सामने हल्का पड़ जाता है। यूनानियों के लिए दिल एवं परदा विशिष्ट रूह-स्थान थे क्योंकि वे इन अवयवों से व्यक्त होने वाले भावों पर अधिक ध्यान देते थे। इसलिए प्लाजिमिस्ट अपने दिल एवं गुर्दे को भावों का स्थान बतलाता है (तुलना कीजिए "दया के पात्र")। विचार करने वाली रूह तथा भावनात्मक रूह दूसरे बड़े अवयवों में भी स्थापित थीं। विचार एवं भावना बड़ी देर पृथक्-पृथक् नहीं हो पाए हैं।

जिगर

यदि हम विचाराधीन बड़ी अवयव-रूहों को ऐतिहासिक रूप में लें तो हमें जिगर से प्रारंभ करना चाहिए, परन्तु केवल इसी कारण से कि यह बेबिलोनियाई रूह-स्थान है, न कि इस कारण से कि यह स्वयं अपने आप में दिल की अपेक्षा पुराना रूह-स्थान है।[३०] बेबिलोनियाई, एट्रुयास्कन तथा यूनानी लोगों के लिए

३०. प्रोफेसर जेस्ट्रो का विश्वास था कि सभी स्थानों पर एक रूह-स्थान के रूप में यह पहले आता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जिगर शकुन-विचार का अवयव था। परन्तु यूनानी लोग, कम से कम होमर के दिनों में जिगर को विचार या भावना का स्थान नहीं समझते थे। वे इसको केवल महत्त्वपूर्ण स्थल समझते थे जिसको घायल किया जा सकता है या उसे फाड़ा जा सकता है। प्रोमेथ्युस् द्वारा जिगर के निगले जाने की कथा स्वल्प रूप में इसका संकेत है कि जिगर ने पाप किया है। अभी जीवित दुःख भोगने वाले के रूप में दिल की अपेक्षा यह खाने को और अधिक समय तक बर्दाश्त करेगा। होमर विचार एवं भावना के लिए जिगर का कहीं भी प्रयोग नहीं करते जितना वे दिल और परदे का प्रयोग करते हैं।[31]

बेबिलोनिया में वध्य पशु (एक देवता के रूप में या एक देवता को अभिव्यक्त करते हुए) की रूह पूजा करने वालों के सन्दर्भ में स्वीकृति, अरुचि, चेतावनी आदि प्रकट करती थी। उसी तरह हिब्रू काव्य में कबेद (जिगर) रूह (नेफेस) का पर्याय है, और यह विश्वास मोहम्मद के समय तक चलता आया था।[32]

दिल

यह भावना, प्रेम, मानसिकता और नैतिकता के स्थान के रूप में ऋग्वेद जितना ही पुराना है तो नवीनतम उपन्यास के समान आधुनिक भी है। यह रक्त का एवं रक्त की वायु-रूह का भी स्थान है (आगे देखिए)। न यूनान में और न ही भारतवर्ष में इस बात का कोई संकेत है कि पहले कोई पूर्ववर्ती जिगर-रूह थी। भारतवर्ष में तो कोई सम्भावना ही नहीं है, जैसा कि बाद की टीटो की कहानी में दिखलाई पड़ती है कि जिगर को विचार के स्थान के रूप में पहचान लिया गया था और यह पापपूर्ण होने के योग्य था। यह हो सकता है कि शरीर-शास्त्र तथा शकुन-विचार के रूप में अवयवों पर बेबिलोनिया के लोगों का ध्यान पहले जिगर

---

३१. सेमोर, होमेरिक, एज् पृ० ४८९

३२. तुलना करें, प्रोफेसर मोरिस जेस्ट्रो का निबन्ध, दि लिवर इन एन्टिक्यूटि एण्ड बिगनिंग ऑफ अनाटमि। (यूनिवर्सिटी ऑफ पेना मेडिकल बुलिटन, जन, १९०८)। जिगर एक रूह-स्थान है। इसमें माइक्रोनेशिया तथा रूस के उदाहरण क्रमशः जोड़े जा सकते हैं। मलाया ओटि "जिगर, मन, दिल है"; अर्थात् यह विचारात्मक एवं भावनात्मक रूह है। रूसी शमेनवाद (शामेनिज्म) में जब आदमी मर जाता है तो यह कहा जाता है कि पिता एरलिक "उसका जिगर ले लेता है।" सूमर सन्देशवाहक की रूह पर अध्याय ११ भी देखिए।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पर गया हो। भारतवर्ष के प्राचीन धर्म में अंतिड़ियों को देखने वाला कोई शकुन-विचार नहीं है और बड़े अवयवों में दिल—रूह के अतिरिक्त रूह के कुछ एक संकेत जिगर के रूह-स्थान होने की अपेक्षा गुर्दे को संकेतित करते हैं। जहाँ तक दूसरे लोगों का प्रश्न है, भारतीयों के लिए दिल विचारशील अवयव है। यूनान में केर रूह के रूप में दिल है, एक पंखों वाला भूत, जो बिमारी लाने वाला होता है। भारतीय दर्शन में रूह दिल नहीं है परन्तु (मृत्यु के अवसर पर) 'अंगुष्ट परिमाण' है। दिमाग ही एक ऐसा अन्तिम स्थान है, जिसके विषय में किसी ने इसको मन या रूह के स्थान के रूप में सोचा हो। रोम के व्याख्याता सिसरो के सन्दर्भ में, जिसका पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, रूह के स्थान के विषय में प्राचीन विश्वास का सारांश उपलब्ध होता है। उस सन्दर्भ से यह मालूम पड़ता है कि एम्पेडोक्लीस् रक्त को रूह मानता था। जीनो महोदय का विश्वास था कि रूह अग्नि है। जबकि दूसरे लोग 'स्वयं दिल' को रूह के रूप में समझते थे। दूसरे लोग इस बात से इन्कार करते थे कि रूह दिल है, परन्तु वे यह दावा करते थे कि रूह दिल में स्थित है और इसी प्रकार कुछ लोग (तुलना करें प्लेटो ऊपर) रूह को दिमाग के अंग के रूप में ग्रहण करते थे (यह विचार मिस्र से आया होगा), तथा कुछ लोग इसको दिमाग में मानते थे। इसके अतिरिक्त कुछ लोग रूह और सांस में तादात्म्य स्थापित करते थे।[33]

---

३३. रूह दिमाग में है—इस विचार के विरोध को जीनो ने सख्ती से सही ठहराया है और उन्होंने यह भी दिखलाया है कि तुलनात्मक रूप में बाद के समय में भी दिमाग एक रूह-स्थान है और यह विचार तर्क के विरोधी प्रतीत होता है : "तर्क (विचारशील रूह) दिमाग में नहीं हो सकता, क्योंकि वाणी तर्क से उत्पन्न होती है, जब कि उसी समय ही गले की आवाज से वाणी उद्भूत होती है।" (अतः गले में से जाने वाली गली वही होनी चाहिए जो रूह की ओर अग्रसर होती है)। डेकार्ट का कथन है कि यह स्मरण रखना चाहिए कि रूह का मुख्य स्थान दिमाग में है। केवल वहाँ ही यह समझती है, कल्पना करती है और विचार करती है, और थोड़ी-सी अवस्था में ही यह शरीर में विगलित हो जाती है, क्योंकि "मानवीय रूह सम्पूर्ण शरीर से जुड़ी हुई है।" जिन विचारों को ऊपर उद्धृत किया गया है, उनमें से जो रूह को अग्नि के साथ मिलाता है वह इतना पुराना है जितना हेरक्लिटिज्। रूह वायु है—यह बात अनेक्जिमेण्डर तथा अपोलिनिया के डायगोनिस द्वारा बतलाई गई थी; परन्तु वास्तव में यह एक आम विचार ही है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इन विकसित विचारों के कारण हमें रुकना नहीं चाहिए। परन्तु यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में रूह को दिल की रोशनी के रूप में पहचाना गया है। "मेरे हृदय का यह प्रकाश" (ऋग्वेद ६ : ९ : ६) और परवर्ती भारतीय दर्शन भी "रूह को प्रकाश से निर्मित" मानता है, क्योंकि इसमें "विचार से बनी हुई" हैं। हम तुलना कर सकते हैं : "मनुष्य की आत्मा ईश्वर का दीपक नहीं हैं" (प्रो० २० : २७)। परन्तु आध्यात्मिक "जीवन का विस्फुलिंग" रूह "अग्नि सदृश" और (यूनानी) दर्शन का "प्रकाश सदृश" और "जीवन ही प्रकाश" था (जॉन् १ : ४)। ऋग्वेद का कवि कहता है "मेरा मन मेरे हृदय से बोलता है" (८ : १०० : ५) परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ये भिन्न-भिन्न अवयव हैं; बल्कि मन हृदय की मानसिकता है और इसमें जैसा १ : ७३ : १० में, "ये गीत तुम्हारे मन एवं दिल को मान्य होवें।" यह मनुष्य ही एक शक्ति के रूप में है जो समाधि में "बहुत दूर चला जाता है।[३४]

ईसा के बाद द्वितीय शताब्दी में गैलेन महोदय के अनुसार (विण्डिश महोदय द्वारा उद्धृत) इस आशय का एक प्रचलित मानसिक अन्तर था कि रूह का विचारवान भाग मूर्धन्य है,[३५] साहसी भाग हृदीय है और संवेदनशील तथा ऐन्द्रिय भाग जिगर सम्बन्धी है। ऐसा नहीं हैं कि रूहें तीन होती हैं परन्तु रूह के इस तरह विभाजित तीन अंग होते हैं। यूनानी एवं भारतीय विचार पद्धति में इस सन्दर्भ में इस महत्त्वपूर्ण अन्तर को ध्यान में रखा जाना चाहिए। यूनानियों के लिए आत्मा का सर्वोच्च लक्षण विचार है और दिव्य जीवनदायक या ब्रह्माण्डीय आत्मा न्यूस है। रूह मानसिक है, यह भी एक वैदिक भाव था। परन्तु भारतीयों ने शारीरिक आत्मा के विचार का परित्याग कर दिया है और उनके लिए दृष्टि या कान के समान मन भी केवल एक अवयव था। उत्तम कोटि का नियमन करने

---

३४. यहाँ मन रूह के रूप में शक्ति है, संस्कृत मनस्। पेट के रूप में हृदय का तथा विचार के स्थान के रूप में हृदय का वैदिक प्रयोग दृष्टव्य है। इस प्रकार ऋग्वेद ८·२·१२ में "सोम बिन्दुएँ, पीने के बाद एक-दूसरे के साथ हृदय (पेट) में सन्तुष्ट रहती हैं; वही १·१७९·५ "सोम पान करके मैं बोलता हूँ" सोम को अनुकूल समझा गया है। "हृदय में" इसकी समझ होती है।

३५. वह भी एक असभ्य विचार ही है जिसके कारण ही योद्धाओं द्वारा हृदय को इतनी बार खाया जाता है, यद्यपि हम रक्त चर्म वालों के लिए यह एकमात्र सुभोजन एवं विलास की वस्तु थी। १६६७ में ग्रीनहोल्ग्ह द्वारा अपने जर्नल में जिन असभ्य लोगों की चर्चा की है, वे लड़कों तथा स्त्रियों का हृदय खाकर अपनी दावत किया करते थे।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वाला अवयव, परन्तु फिर भी भौतिक था, जबकि विशुद्ध आत्मा ऐन्द्रिय एवं वैचारिक प्रक्रिया से शून्य थी।

प्राण

शारीरिक रूह के विभिन्न स्थानों में प्राण सामान्यतया आदिम समझा जाता है और सम्भवत: "जीवन" या "जीवन शक्ति" की दृष्टि से यह ऐसा ही है। किसी भी दृष्टि से देखा जाए, हिब्रु रूहा (नेफेस का प्रतिबिम्ब) यूनानी साइके, लैटिन एनिमस—एनिमा और सम्भव: संस्कृत आत्मन् में इसका महत्त्व-पूर्ण पुरातन स्वरूप विद्यमान है। फिर भी, भारोपीय विभिन्नता ने यह संदेहा-स्पद स्थिति पैदा कर दी है कि क्या कहीं इण्डो-हेलिनिको-जर्मनिक वर्ग में कोई मौलिक प्राण रूह विद्यमान थी।[३६] हमारे शब्द 'रूह' और 'प्रेत' बल्कि उनको संकेतित करते हैं जो यूनानी आवेग, उबाल एवं उत्साह से अभिव्यक्त होता है। प्लेटो समुचित रूप से ही रूह की (क्रेट ४१६३) अशान्ति को संकेतित करते हैं; अर्थात् अशान्ति या हलचल जो समानान्तर संस्कृत शब्द धूम में विद्यमान है जिसका तात्पर्य 'धूँआ' (फ्यूमस्) होता है। यह सम्बन्ध लिथुनियन शब्द से भी अभिव्यक्त होता है। वहाँ वही शब्द धूम और धूमै 'विचार' तथा 'धूम' अपने इस भिन्न प्रकार के अर्थ के लिए स्वर पर निर्भर रहता है। सोल (Soul)—रूह शब्द सम्भवत: 'सी' (समुद्र) से सम्बन्धित है (अशान्ति) और 'घोस्ट' (प्रेत) 'गीज़र' (गर्म पानी करने का संयन्त्र) से सम्बन्धित है। शारीरिक पक्ष में इसका अर्थ हल-चल भी है। अत: लैटिन शब्द साइवस (Saevus) को व्युत्पत्ति की दृष्टि से सोल (Soul) से जोड़ा जा सकता है और 'गेस्ट' (Guest) को 'घोस्ट' (Ghost) से जोड़ा जा सकता है।[३७] संस्कृत में एनिमस (Animus=शत्रुता) के सजातीय

---

३६. अर्थात् रूह के अर्थ में प्राण के लिए कोई एक शब्द नहीं है, परन्तु विभिन्न भारोपीय लोग प्राण के माध्यम से रूह को अभिव्यक्त किया करते थे, और देवताओं की रूह के रूप में यह विचार यूनानी, केल्टीक भाषाओं में भी इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है; नोर्से असेन तथा असुर की रूह के रूप में तुलना करें।

३७. अनेक भारोपीय भाषाओं में रूह के लिए शब्द का तात्पर्य प्राण होता है। उसी वर्ग की भाषाओं में रूह को 'विचारक' (सापक, हिसाब लगाने वाला) का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ प्रदान किया जाता है। रूह को "जीवनदाता" "शक्ति" अर्थ भी दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त रूह से शारीरिक गति भी अभिव्यक्त होती है। यह भाव "अनुचर" तथा "परछाँई" आदि से व्यक्त

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शब्दों का सामान्यतया शारीरिक अर्थ होता है; जीवन का प्राण; परन्तु ब्रेथ (Breath) प्राण दार्शनिक ग्रन्थों में प्रज्ञात्मक रूह है। संस्कृत शब्द आत्मन् केवल जीवन-शक्ति का ही वाचक है। जब उदाहरणार्थ यह कहा जाता है कि "सोम इन्द्र की आत्मा है" और "सूर्य संसार की आत्मा है", आयुस् जीवन प्राण का पर्याय है। यूनान में क्रिसिपस महोदय का कहना है, "रूह प्राण है", उनका कहना है कि "वह हममें जन्म लेता है और पूरे शरीर में लगातार उसका विस्तार होता है"। अर्थात् रूह केवल फेंफड़ों का प्राण नहीं है परन्तु एक ऐसा आकाशीय तत्त्व है जो सारे शरीर में व्याप्त है। भारतीय दर्शन भी रूह के विषय में यही दृष्टिकोण रखता है और यह मानता है कि रीढ़ की हड्डी के आधार पर अपनी मूल स्थिति में यह छोटी-छोटी नाड़ियों या नलिकाओं से व्याप्त है (जैसे मानों नाड़ियों के द्वारा)। इस रीढ़ की हड्डी को रूह का स्थान कहा जा सकता है। तब रूह का स्थान ही रीढ़ की हड्डी है। योगी लोग रूह को रीढ़ की हड्डी के आधार से दिमाग तक ले जाने की एक विधि जानते हैं (जिसको एक दुःखमयी प्रक्रिया बतलाया गया है)। रीढ़ की हड्डी में 'प्राण-रूह' तथा मन इस रूह के अवयव हैं। क्योंकि इस दृष्टिकोण में मन रूह का एक अवयव है, सामान्य सिद्धान्त यह है कि मस्तिष्क रीढ़ की हड्डी से शुरू होता है न कि खोपड़ी में दिमाग से शुरू होता है; और 'रूह' यहां व्याप्त रहती है न कि यह एक स्थान पर स्थिति रहती है। टोंगा महोदय के कथन में इस व्यापक रूह की एक समानान्तर असभ्य स्थिति देखी जा सकती है कि "रूह का शरीर से वही सम्बन्ध है जो खुशबू का फूल से है।" परन्तु अधिकांश असभ्य लोग प्राणों को न केवल रूह का स्थान मानते हैं, अपितु स्वयं रूह ही मानते हैं। इस तरह आस्ट्रेलियाई वेन्ग (दाढ़ की हड्डी) प्राण तथा आत्मा है और अमरीकी भारतीय मोहाक लोग एटोन्‌रिट्‌ज (आत्मा) को एटोन्‌रियन् (सांस लेने) से व्युत्पन्न मानते हैं। फिर भी, प्रत्येक सन्दर्भ में रूह एक जीवन शक्ति है न कि पृथक् सारतत्त्व है। यही वह जीवन शक्ति है जिसे यूनानी एवं रोमन लोग मरने वाले व्यक्ति के मुख से उसके 'अन्तिम प्राण' के रूप में ग्रहण करते थे, यद्यपि सम्भवतः दोनों में कोई भी बड़ी सावधानी से प्राण और रूह में अन्तर स्थापित नहीं कर पाया था।

होता है। इन भाषाओं में भावों में प्रत्येक का दोहरा रूप बन गया है परन्तु भारोपीय भाषाओं में ऐसा नहीं हुआ है, जैसा कि आर० ब्रेण्डस्टेट द्वारा पूर्वी भाषाओं के सन्दर्भ में अभी हाल में ही दिखलाया है। (डी० इंडोनिशे यू० डी० इण्डोग् फॉल्कशील, ल्यूजेर्न, १९२१)। चीन, अमरीका आदि में भी प्राण के रूप में रूह विदित है। इसके जो पर्याय दिए गए हैं (समुद्र, रूह, अतिथि, मेजबान), ये सब सम्भाव्य हैं, परन्तु निश्चित नहीं हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मध्य मेक्सिको के नाहोटी लोग प्राणशक्ति या रूह को ही दिव्य प्राण समझा करते थे जिसे पवन देवता ने मनुष्य में भर दिया था।[३८] परन्तु एक असभ्य व्यक्ति इन विभिन्न प्रकार की रूहों में अन्तर करता है, वह प्राण-रूह को छाया-रूह के रूप में स्वीकार नहीं करता है। वह कभी-कभी प्राण को रूह के रूप में छोड़ देता है। इस प्रकार कालाबार के नीग्रो लोगों के यहाँ चार रूहें होती हैं: आत्मा, छाया, स्वप्न-रूह तथा झाड़ी-रूह (सर्वोत्तम प्रतिनिधि)।[३९] छाया और स्वप्न-रूह में अन्तर किया जाता है जिसे कुछ लेखक असावधानी से 'छाया-रूह' के नाम से पुकारते हैं।

छाया

रूह का वास्तविक छाया वाला रूप रूह सम्बन्धी विश्वासों का एक आम पहलू है। न्यू इंग्लैण्ड के अमरीकी भारतीय लोग चेमुन्ग (रूह) को छाया कहा करते थे और दक्षिण दिशा में गौतेमाला की मायन् भाषा केंचें में नतुब (रूह) का वही अर्थ होता था। भारतवर्ष में स्वयं छाया एक देवता का रूप है। छाया पर चलना रूह को क्षति पहुँचाना है। देवता और प्रेतों की छाया नहीं होती है। भूत स्वयं अपने आप में परछाइयां होते हैं और देवताओं में शारीरिक लक्षण नहीं होते हैं (उनको पसीना नहीं आता; उनकी मालाओं के फूल नहीं मुरझाते)। अधिकांश असभ्य व्यक्ति अपनी तस्वीर को अपनी परछाई से दुनुनी छाया मानते हैं और इसीलिए उनको उनके व्यक्तित्व की क्षति का भय होता है, यदि उनका चित्र बनाया जाए या उनका फोटो खींचा जाए। कैटलिन नामक चित्रकार एवं अमरीका के उपाध्यक्ष करटिस (१९२९—३३) को उत्तरी डकोटा के मण्डन एवं जुनी भारतीयों की बिमारी एवं उनके मृत्यु के लिए जिम्मेदार ठहराया गया था। इनको इस प्रकार उनका चित्र बनाकर कमजोर किया गया था। असभ्य व्यक्ति अपने आपको पानी के ढेर में देखता है और इसको प्रकृति रूप से दुनुना मानता

---

३८. आध्यात्मिक विचार के दूसरे उदाहरणों के के लिए देखिए प्रिमिटिव कल्चर I, पृ० ४३२। पवन देवता एक रूह नहीं है परन्तु हारपाईज तथा वाल-क्राईज रूह के रूप में पवन की आत्माएँ हैं। 'बुरी हवाएँ' तथा 'अच्छी हवाएँ' वैदिक साहित्य में विदित हैं; परन्तु ये रूह के रूप में विदित नहीं है। ये केवल पवन है जो काफी गर्मी, बिमारी या ताजगी लाती हैं।

३९. किंगस्ले, टेवल्स इन वेस्ट अफ्रीका, पृ० ४५९। झाड़ी की रूह की अभि-व्यक्ति के रूप में रूह का तात्पर्य जंगल या वन और झाड़ी की रूह पशु रूह है। बर्बर व्यक्ति अपनी रूह को पशु में सुरक्षा की तिजोरी के रूप में जमा कर देता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

है। परन्तु वह एक तस्वीर में अपनी छाया को अप्राकृतिक समझता है, वह छाया उससे चुराई गई है। उस तस्वीर में, जिसकी बैठकर तस्वीर बनाई गई है, उस बैठने वाले का कुछ अंश डाल दिया गया है और इस प्रकार वह तस्वीर उसके जीवन को कम कर देगी। मण्डन (अफ्रीकी व्यक्ति) ने यह बात कैटलिन को बतलायी थी। उन्होंने बतलाया कि इस प्रकार लूटा गया आदमी कब्र में भी बेचैनी से सोयेगा। इसलिए मृत्यु किसी भी प्रकार से इतनी बुरी डकैती नहीं है। उनका यह विश्वास था कि जो बैठकर चित्र बनवाता था, यदि उसके चित्र की क्षति हो जाए तो उस बैठने वाले को भी चोट पहुँचेगी। इस प्रकार चित्र के स्वामी के हाथ में एक खतरनाक हथियार दे दिया जाता था।[४०]

यह मान लिया जाए कि प्रतिध्वनि को भी द्विगुणित आत्मा या रूह समझा जाए; परन्तु यद्यपि इस सन्दर्भ में ऐसा कहा गया है, इस विषय में प्रमाण का अभाव है। सभ्य व्यक्ति के समान एक असभ्य व्यक्ति भी प्रतिध्वनि को उपहास करने वाली आत्मा की ध्वनि समझता है (यूनान एवं भारतवर्ष में यह मानवीकृत आत्मा है)।

अवशिष्ट रूहें

ये "रूहें" शरीर के छोटे-छोटे खण्ड हैं जिनमें नाखून और मलमूत्र भी शामिल हैं, जिनको रूह नाम देना भी मूर्खता दिखलाई पड़ती है, परन्तु इनमें और उच्च प्रकार की रूहों में अन्तर स्थापित करना भी कठिन है। वुण्डे महोदय के द्वारा दिए गए नाम की अपेक्षा यहाँ कम से कम रूहों की अपेक्षा आवश्यक अवयव अधिक उपयुक्त मालूम पड़ते हैं।[४१] इन सब में जीभ की लार सर्वोत्तम रूप में विदित है, जिसको सारी दुनिया में नीरोगकारी एवं रहस्यात्मक रूप से शक्तिशाली समझा जाता है, परन्तु कुछ असभ्य लोग और भारतीयों के सामने अपने आपको सभ्य कहने वाले लोग भी पसीने एवं मूत्र का भी प्रयोग मानसिक शक्तियों के रूप में करते हैं। पसीना निकालना न केवल बुराई को दूर भगाना है परन्तु एक शक्ति को दूर भगाना है जिसे दूसरा आदमी ग्रहण करता है। एक मुखिया या आध्यात्मिक नेता इतना शक्तिशाली होता है कि उसके पसीने और मूत्र को भी उसी प्रकार से रूह-शक्ति समझा जाता है जिस तरह उसके बाल को रूह-शक्ति समझा जाता है। मूत्र का प्रयोग एक औषधि के रूप में किया जाता था और इसको एक

---

४०. कैटलिन्, नार्थ अमेरिकन् इण्डियन् I, पृ० १२२, २५५। चित्र इस प्रकार बिल्कुल छाया के समान है। इसकी चोट से छाया के मालिक को क्षति पहुँचती है।

४१. वुण्डे वही, II, पृ० २१

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

गोपनीय सम्पत्ति समझा जाता था। जीभ की लार-शक्ति को अभिप्रेत करने वाला संस्कार अधिक साधारण है। तीन बार थूकने का तात्पर्य बुराई या बुरी आत्मा को दूर भगाना होता है। इसको न भगाकर एक बड़ी शक्ति का क्षय करने की हानि उठाने की अपेक्षा कोई आदमी भी थोड़ी-सी शक्ति की बलि देकर इसको भगा देता है। इस प्रकार ताजे जखमों को पशुओं द्वारा चटवाकर जीभ की लार-शक्ति का प्रयोग सहज रूप में किया जाता है। बेबिलोनिया में वैद्य की विधि में 'मर्दुक की जीभ की लार' एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है; वह "जीवन की लार" है। बलि का भोजन या सामान्य भोजन तैयार करने में दक्षिणी अमरीकी भारतीय लोग जीभ की लार का सुरक्षा तथा शक्ति के अंश के रूप में प्रयोग करते थे। टेकिटस महोदय का कहना है कि वेस्पसीयन ने जीभ की लार को मिट्टी में मिलाकर एक व्यक्ति के नेत्रों में मसलकर उसके नेत्रों की दृष्टि पुनः ला दी थी।[४२] मिस्र में लार वृद्धावस्था और बीमारी को ठीक करती थी; विशुद्ध करती थी और इनको रोकती भी थी। भारतवर्ष में यह जखमों, घावों, दुखती आंखों को ठीक कर देती है और बुरी नज़र को भगा देती है। आयरलैण्ड में यह बुरी आत्माओं तथा परियों को दूर भगाती है। नई चीज के अधिग्रहण पर थूकना इसे अपना बनाना है। एक व्यक्ति पर थूकना सामान्यतया उसके विरुद्ध रूह की शक्ति का प्रयोग करना है। एक आदमी एक गर्हित व्यक्ति को वैसे ही दूर रखता है जैसे कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति से बुरे लोगों को दूर रखता है। परन्तु कुछ अफ्रीकी कबीलों में मेजबान बिदा ग्रहण करने वाले अपने मेहमान का अभिनन्दन करते हुए उस पर थूकता है और कहता है, "मैं तुम पर कुछ शक्ति आरोपित करता हूँ।" पाप को थूककर बाहर निकाल दिया जाता है जैसे पसीना बहाकर बाहर निकला जाता है और जैसे बीमारी एक बुराई के रूप में बाहर थूक दी जाती है। कभी-कभी एक अनिष्टकारक व्यक्ति पर यह समझकर थूक दिया जाता है कि एक बलि के बकरे के समान वह पाप को दूर ले जाएगा। एक जातक कथा में (५२२) यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि एक स्त्री अपना पाप उसके सिर मढने के लिए एक आदमी पर थूक देती है।

४२. हिस्ट्री ४ : ८१

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अध्याय १०

रूह के रूप में आत्मा

जब एक मरा हुआ आदमी स्वप्न में अपने दोस्तों के पास लौट आता है तो वह सांस या हृदय या इनमें से किसी रूह के स्वरूप में नहीं आता है परन्तु वह स्वयं के रूप में आता है, अकेला और वैयक्तिक रूप में, जैसे उसके दोस्त उसको जानते हैं, उसके घावों में अभी भी खून बह रहा होता है, उसके पास कपड़े भी नहीं होते हैं। मरी हुई रूहों की आदमी के साथ आगे जाने के लिए कब्र पर बलि दे दी जाती है : क्योंकि जब एक व्यक्ति की पत्नी का भारतवर्ष में दाह-संस्कार कर दिया जाता है, पोलिनेशिया में जिन्दा दबा दिया जाता है, या अफ्रीका में कत्ल करके ज़मीन में गाड़ दिया जाता है तब वे रूहें पूर्ण व्यक्तित्व के रूप में प्रस्थान करती हैं। अफ्रीकी लोगों का प्रधान पुरोहित राजा के साथ ही मर जाता है ताकि वह अपने स्वामी को अभी भी प्रेत सम्बन्धी सलाह दे सके। मरी हुई जीज़ें—अस्त्र, उपकरण, खिलौने, पुतले इन जीज़ों को ज़मीन में इसलिए गाड़ा जाता है ताकि वे अपने स्वामी के साथ फिर उठ खड़ी हो—ये सभी चीज़ें सम्पूर्ण रूप में पैदा होती हैं न कि स्थान रूहों के रूप में पैदा होती हैं। मृत वस्तु को भी जीवित वस्तु के समान ही सम्पूर्ण समझा जाता है। मलय जाति के लोग टिन के एक टुकड़े को सन्तुष्ट करते हैं और उसको खान में गाड़ने के लिए उसी सिद्धान्त के आधार पर उससे क्षमा माँगते हैं जिस आधार पर असभ्य व्यक्ति वृक्षों एवं पशुओं को मारने के लिए उनसे क्षमा माँगते हैं। तिब्बती आदमी (सोने की) सिल्ली को छोड़ देता है और इसमें से स्वर्ण की रेत को निकाल देता है क्योंकि सिल्ली उत्पादक मातृ देवी है। वह इसके साथ मनुष्य के समान व्यवहार करता है। प्रत्येक व्यक्ति को एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व के रूप में स्मरण किया जाता है और मृत्यु के उपरान्त भी वह एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व बना रहता है। इसीलिए ही फीजी प्रायद्वीप के निवासियों का यह नियम है जिसके द्वारा वे अपने सम्बन्धियों तथा स्वयं अपने आपको भी मार देते हैं। इसके बाद उनकी आयु की कमजोरी स्थायी रूप से उनको अगले जीवन में जर्जर बना देती है। इसलिए बेबिलोनिया तथा दूसरी सेमेटिक जाति के लोगों को समुचित प्रकार से दफना याजाना चाहिए या फिर वे इसके बाद इसके लिए परेशानी का अनुभव करेंगे। यदि एक शब्द में कहे तो इस

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

रूह के विचार या इस रूह-स्थान के विचार की अपेक्षा मनुष्य के व्यक्तित्व को सहन करने वाला वह भाग उस रूप में वैयक्तिक सम्पूर्णता के भाव के रूप में कहीं ज्यादा प्रबल है।

इस बात पर बल देना और ज्यादा जरूरी है क्योंकि वुण्ड महोदय ने अपने ग्रन्थ में इसकी उपेक्षा की है। वुण्ड के अनुसार असभ्य व्यक्ति श्वास और छाया में तादात्म्य स्थापित करते हैं। यह शारीरिक रूह के विरोध स्वरूप एक मानसिकता है और रूह के केवल यही पहलू हैं। परन्तु वास्तव में असभ्य व्यक्ति इनमें से किसी एक के साथ भी अपना तादात्म्य स्थापित नहीं करता है। असभ्य व्यक्तियों में सामान्यतया अनेक रूहें होती हैं परन्तु दोनों अत्याधिक प्रमुख रूप से विद्यमान रहते हैं; आत्मा और इसका दुगुना रूप। एक शारीरिक आत्मा होती है और एक आध्यात्मिक आत्मा होती है; जैसा उत्तरी-अमरीकी भारतीयों का विश्वास था। मिसूरी नदी के किनारे रहने वाले स्लोआन लोगों, गोल्ड कोस्ट के नीग्रो का तथा प्राचीन मिस्र के लोगों का भी यही विश्वास है। दोनों नीग्रो एवं मिस्र निवासियों का भी एक विश्वास है। मिस्र के लोगों के अनुसार क्र नामक एक रूह है। नीग्रो के अनुसार क नामक एक रूह है (त्सी तथा इव भाषा बोलने वाले लोगों को)। क शारीरिक रूह है परन्तु फिर भी इसके ऐसे खण्ड नहीं हैं जिनकी चर्चा हम करते रहे हैं; बल्कि आवश्यक अवयव दुगुने हैं; एक मेधावी के समान एक सुरक्षात्मक आत्मा के रूप में कार्य करते हैं, जो दिल तथा छाया से भिन्न है, यद्यपि पहले इनमें ज्योतिर्मय शोभा के रूप में एक भ्रान्ति थी। सम्भवतः एक बार शक्ति एवं स्वरूप के अन्तर्गत इनकी कल्पना की गई थी परन्तु क में खासतौर पर बनाम श्वास रूह आत्मा से अन्तर किया जाना चाहिए। ब पंखों जैसी आकृति वाला है जो यूनान के उड़ने वाले मानसिक पक्षी रूप के समान ही उड़कर देवताओं तक पहुँच जाता है। अन्ततोगत्वा यही रूह सभी प्रकार की रूह-रूपों से पुनः जुड़ जाती है जब मृत्यु के उपरान्त मनुष्य का पुनः निर्माण होता है; परन्तु मनुष्य के व्यक्तित्व का विशिष्ट लक्षण शारीरिक आत्मा एवं आकाशीय आत्मा हैं। मनुष्य का यह दुगुना रूप भौतिक है परन्तु उसकी आकाशीय आत्मा (पुरुष कीट द्वारा अभिव्यक्त) शरीर से भिन्न है जिस पर वह आश्रित रहती है।

इसलिए जीवित रहते हुए अफ्रीकी असभ्य व्यक्ति क्र की अपने जन्मदिन के उपहारों द्वारा पूजा करता है; यह उसकी मेधा है। मृत्यु के समय क्र शरीर का परित्याग करके और फिर भी कुछ समय के लिए इसके पास रहता है, अन्त में वह पुनः शरीर धारण करता है। क्योंकि यह बिना शरीर के प्रस्थान नहीं कर सकता, और शरीर को प्राप्त करने तक यह भूखा रहता है तथा बुरी हालत में रहता है; जिसके रूप में यह बीमारी फैला सकता है। यदि कोई आदमी बीमार हो जाता है तो यह इसलिए होता है क्योंकि जब उसका अपना क्र दूर होता है, क्योंकि सोते

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

समय क फिसल भी सकता है और कोई थकावट वाला काम भी कर सकता है। इसकी व्याख्या इस प्रकार से की जा सकती है कि कैसे एक आदमी थकावट की भावना से जगता है परन्तु जब क सिस बन जाता है तो वास्तविक आत्मा प्रेत या छाया-पुरुष बन जाती है।[1]

सभ्य जीवन में भी हम शारीरिक रूह को स्वीकार करते हैं। शव हत्यारे के विषय में सचेत रहता है। कब्रिस्तान के पास से गुजरना इसलिए सुरक्षित नहीं रहता क्योंकि यद्यपि रूह स्वर्ग में हो सकती है, भूत कब्र के पास ही होता है। ये दो व्यक्तित्व होते हैं परन्तु इनमें एक छायामय और लिज-लिजा है और इसकी आवाज़ कमज़ोर एवं बड़बड़ाने वाली होती है।[2] रोमन मेधा एक ऐसी ही शारीरिक रूह है; जब कोई खाता है तो यह तृप्त हो जाती है। ग्रीनलैंड के लोगों तथा अमरीकी भारतीयों की शारीरिक रूह के समान ही आस्ट्रेलियाई लोगों की पुनः शरीर धारण करने वाली रूह भी शारीरिक होती है परन्तु उसके साथ-साथ ही आस्ट्रेलिया के दुगुनी अमर रूह होती है, शरीर को धारण करने वाली रूह। इसलिए अफ्रीकी के पास भी क से भिन्न एक आत्मा होती है अर्थात् भूत जो थोड़े समय तक शरीर के पास मंडराता रहता है फिर भूतों के देश में चला जाता है, पाताल लोक में जहाँ नगर एवं बस्तियाँ बनी हुई हैं जो पृथ्वी के जीवन के प्रतिरूप हैं। यह भी मिस्र लोगों के जीवन के उपरान्त के समान ही है; जिसके विषय में अफ्रीकी उदास होकर कहता है कि "सम्पूर्ण भूत प्रदेश की अपेक्षा जिन्दा लोगों की दुनिया का एक कोना अच्छा है"। यूनान लोग भी ऐसा ही विचार किया करते थे। परन्तु भूत जीवित लोगों का संरक्षक है, जिनका वह अब भी ध्यान रखता है और एक व्यक्ति के समान ही उसके लिए प्रार्थनाएँ की जाती हैं। इस सन्दर्भ में परछाइयों में एक छाया होने के कारण प्रेत आत्मा ही होता है जो पृथ्वी पर रहा करता था, जब क विचरण करता है तथा इसको चुराया भी जा सकता है, और इस प्रकार चुराए जाने पर व्यक्ति की शक्ति क्षीण हो जाती है। परन्तु यह दूसरा क्या है जिसके विषय में हम कहते हैं, "उसमें से आत्मा निकल गई है", "उसने अपनी आत्मा को खो दिया है", (वह बुजदिल है)। यह मन नहीं है परन्तु शक्ति तथा प्राण तत्त्व है।

---

१. एलेस, वही, पृ० १५३। फुटनोट

२. तुलना करें : बेबिलोनिया में 'मृत' कमजोर होता है और उसकी आवाज़ चीं-चीं करती हुई होती है। जब एक कछुआ जादू के द्वारा बोलता है तो वह 'रंगीली आवाज़' होती है (पार्क मेन, कांसपिरेसी ऑफ पेण्टियाक, पृ० ४५२) या माइक्रोनोशेयो में एक पक्षी की चहचहाट। यह जादुई आवाज़ को भी व्यक्त करता है तथा पक्षी की आवाज़ को भी व्यक्त करता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

परवर्ती विश्वास दो प्रकार की रूहों में भ्रम पैदा करता है। मन को छाया से जोड़ दिया जाता है। 'रूह' को बाहर निकलने के लिए खिड़की खोल दी जाती है। वुण्ड महोदय का बलपूर्वक कहना है कि श्वास और छाया के संमिश्रण से रूह के रूप में प्रेत पैदा होते हैं। "उसका मन अपने भाग्य पर विलाप करता हुआ, नरत्व एवं जवानी का परित्याग करके अपने शरीर अवयवों से पाताल में चला गया", होमर कहता है (II १६.८५६)। वह "अन्तिम श्वास" नहीं होता है (जैसे वुण्ड महोदय इसकी व्याखया करते हैं) परन्तु यह वह बिम्ब है जो पाताल में मनुष्य का प्रतिनिधित्व करता है। असभ्य व्यक्तियों के विश्वास के अनुसार दूसरे शरीर धारण करने वाले की रूह केवल शारीरिक रूह होती है "जबड़े की हड्डी पूर्वजों से आती है", नीग्रो कहता है। यहाँ उसका तात्पर्य शारीरिक रूह के नए शरीर धारण करने से है। एक पखों वाले पक्षी के समान जो रूह सांस में उड़ जाती है वह कीड़े के समान ही आदिम है। वुण्ड महोदय के अनुसार इसी ने ही शारीरिक रूह का संकेत दिया है। मरने वाली वाणी से अफ्रीकी असभ्य व्यक्ति यह निश्चित कर लेता है कि वह तितली बनेगा; जैसे मिस्र का एक आदमी जादुई तरीकों से एक पशु का शरीर धारण करने का निश्चय कर लेता है। रूह पौधों एवं वृक्षों में भी प्रवेश कर सकती है। एक पेड़ की जड़ में दफनाया गया शरीर पेड़ में प्रवेश कर जाता है। एक कब्र से उगने वाला पौधा वही होता है जिसे वहाँ दफनाया जाता है। उसका स्वरूप बदल जाता है परन्तु रूह वहीं बनी रहती है।

अफ्रीकी राक्षस-शास्त्र यह बतलाता है कि मनुष्यों को सताने वाली अनेक आत्माएँ रूह होती हैं, जबकि दूसरी स्वतन्त्र संघटनात्मक आत्माएँ मानवीकृत बिमारियाँ होती हैं और इस रूप में द्वेषपूर्ण चरित्र वाली होती हैं। बेबिलोनिया की द्वेषपूर्ण एवं बिमारियां पैदा करने वाली चूड़ेलों के सन्दर्भ में भी यही बात है। वहाँ पर भूत एवं संघटनात्मक आत्माएँ एक-दूसरे से घुल-मिल जाती हैं, जैसा हिब्रू प्रेतात्माओं में होता है। एक कृत्रिम समुदाय में यह कहना हमेशा ही कठिन होता है कि मूल रूप कौन-सा है। भारतवर्ष का एक बिमारी का देवता, हरदौर; एक बार स्पष्टतया एक आदमी ही था; परन्तु क्या भैरव "भयंकर", जो अब शिव का रूप है, वह भी कभी एक समय मनुष्य था (जैसा कुछ लोग मानते हैं)। यह कोई भी वास्तव में नहीं जानता है।

दूसरी दुनिया के प्राणियों के सन्दर्भ में अपने आपको सुरक्षित रखने से सम्बन्धित अनेक अन्ध-विश्वास पाए जाते हैं। वहाँ पर आध्यात्मिक आत्माओं की अपेक्षा शारीरिक रूह के बारे में एक विश्वास पाया जाता है। जो शारीरिक नहीं है, वह जीवित रहने वालों को परेशान नहीं करता। परन्तु इसी कारण से ही रूह की चर्चा में इसका दूसरा पहलु उपेक्षा के योग्य है; और "शारीरिक रूह" तथा प्राण-रूह पर ही पूरा बल देना एक गलती है। फिर, प्राण-रूह, स्वप्न और छाया-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

रूह (जैसा वुण्ड महोदय कहते हैं) में भ्रम पैदा करना और इस प्रकार सभी रूहों की केवल एक शारीरिक रूह के रूप में व्याख्या करना भी गलती है। क्योंकि इस प्रकार की व्याख्या में न केवल प्राण और छाया को मिला देना ही अस्वीकार्य है, अपितु इससे कहीं ज्यादा यह महत्त्वपूर्ण है कि आत्मा स्वयं अपने आपकी दृष्टि से बिल्कुल ओझिल हो जाती है; और फिर भी, अन्ततोगत्वा यह आत्मा ही एक असभ्य व्यक्ति के लिए मुख्य वस्तु होती है, जैसे विकास की सभी अवस्थाओं में प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह एक मुख्य वस्तु होती है। जो जीवित हैं और परेशानी पैदा करने वाले भूतों से जिनको सताए जाने की सम्भावना है, उनके लिए शरीर ही मुख्य वस्तु है जो महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह ही एक ऐसी वस्तु है जिससे उन्हें भय है। परन्तु अपनी आत्मा-रूह में मरे हुए आदमी का सम्बंन्ध दूसरे लोक से होता है। यही है वह जो आनन्द लोक में जाता है। असभ्य व्यक्तियों, भारतीयों तथा मिस्र के लोगों के विश्वास में इसी की चर्चा है। पृथ्वी पर एक आदमी की आत्मा ही इसके रूप में स्मरण की जाती है।

इस प्रकार स्मृति इस विश्वास पर ले जाती है कि मनुष्य न केवल शारीरिक बाल, रक्त एवं सांस में ही इसके उपरान्त जीवित रहता है परन्तु वह पूरे व्यक्तित्व में भी जीवित रहता है। मृतक की रूह हमेशा ही वैयक्तिक होती है यद्यपि जीवित रहने वाले की रूह संमिश्रित होती है। बेबिलोनिया तथा हिब्रू की पाताल लोक की उदास परछाईंयाँ शत्रुपूर्ण प्राणी हैं, परन्तु वे सम्पूर्ण व्यक्तित्व हैं। सभ्य विचार में भी आध्यात्मिक पक्ष में किसी प्रकार का शरीर होना ही चाहिए और शरीर के साथ ही व्यक्तित्व जुड़ा हुआ है। चीन में मनुष्य के यंग और यिन तत्त्वों को दो रूहों के रूप में विभाजित करने का प्रयत्न किया गया था। एक स्वर्गिक; एक पार्थिव, परन्तु यह कोई सामान्य विश्वास नहीं था और उहापोह के रूप में भी इन तत्त्वों में प्रचलित अन्तर का अभाव पाया जाता था। सामान्य चीनी प्रेत वह है जो शरीर में "वापिस आता है", परन्तु सामान्यतया एक परवर्ती शब्द का प्रयोग आत्मा के लिए रूह के रूप में किया जाता है। यह रूह के लिए आकाशीय काम करती है और "प्राण" तथा "प्रकाश" से अभिव्यक्त होती है। इसलिए रूह कब्र में निवास करती है परन्तु भले प्राणियों के सन्दर्भ में वह आकाश में प्राणियों के रूप में अभिव्यक्त होती है। इसी प्रकार अमरीकी भारतीय की खोपड़ी ही उसके प्रेत का निवास है। परन्तु संपूर्ण आध्यात्मिक प्राणी के रूप में वह उल्लासमय आखेटक स्थलों में विचरण करता है, परन्तु वह शरीर रूप में विचरण करता है, अलबत्ता उसका शरीर पृथ्वी से भिन्न होता है। फिर भी इनमें से प्रत्येक सन्दर्भों में एक असभ्य व्यक्ति या सभ्य व्यक्ति अपने विषय में यह कल्पना करता है कि न केवल उसका सांस या जिगर या कोई दूसरी "रूह" अगले जीवन में जिन्दा रहती है। उसका विश्वास है कि उसका अपना वैयक्तिक रूप ही एक

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पूर्ण व्यक्तित्व के रूप में जिन्दा रहेगा यद्यपि इसमें शक्ति और रक्त का अभाव है। यद्यपि हिब्रु रूह के समान एक आत्मा की शक्ति ने इसका परित्याग ही न कर दिया हो, वहां उसकी तात्कालिक मरणशीलता की सम्भावना की कल्पना नहीं की जाती है। बाद में वह फिर मर सकता है और क्रमशः बिल्कुल फीका पड़ सकता है। सुदूर भविष्य में क्या होगा? वह इसके विषय में परेशान नहीं होता; परन्तु सुदूर भविष्य के विषय में वह दृढ़ रूप से निश्चित है कि वह एवं उसका अहं जिन्दा रहेंगे। अपने व्यक्तित्व को जैसा वह जानता है, उसकी उपेक्षा एक असभ्य व्यक्ति के लिए उसका अहं क्या है? जैसा निश्चित रूप में चीन में है। स्पष्टतया अन्यत्र द्विगुणित रूह का सम्पूर्ण सिद्धान्त एक अधिक साधारण अहंभाव का परवर्ती दार्शनिक या धार्मिक सुधार मात्र है। द्वन्द्व रूह या तो ऊपर से ओढ़ा हुआ विश्वास है जिसमें कब्र के अहंभाव को एक तरफ छोड़ दिया जाता है और एक नए आध्यात्मिक अहंभाव को इसका स्थान दिलवा दिया जाता है। या जैसे असभ्य व्यक्तियों में होता है, द्वन्द्वमयी प्रकृति के एक भाग को आकस्मिक समझा जाता है, जो अहंभाव के लिए आवश्यक नहीं है, जैसे छाया या मेधा हैं। अपनी स्वयं की पीढ़ी में वह प्रत्येक को स्वयं उसके उपरान्त जीवित रखेगा, या दूसरे शब्दों में उसकी रूह वास्तविक रूह ही वह स्वयं है। इसलिए माइक्रोनेशिया के निवासी, जो आट्रेलिया के निवासियों की अपेक्षा अधिक विकसित हैं और जिनकी तुलना कुछ दृष्टियों से अमरीकी भारतीयों से की जा सकती है, उनका विश्वास है कि उसका व्यक्तित्व छायामय है, उसके समान धर्म वाला बिम्ब उनु या अत-न नामक प्रतिबिम्ब। "जीवित व्यक्ति" के समान किसी व्यक्ति की आत्मा रात को विचरण कर सकती है और दिखाई दे सकती है। विद्वेषपूर्ण होकर यह पृथ्वी पर रह सकती है, परन्तु अब वह केवल "मृत" आदमी होती है। जबकि स्वयं मनुष्य या आत्म-रूह दूसरी दुनिया में एक जीवन या एक दूसरी मौत खोजने के लिए एक लम्बा रास्ता तय करती है। यहां पर यह छाया, भूत और आत्मा है तथा स्पष्ट रूप से यह केवल आत्मा ही है जिसका कोई महत्त्व है। रूहें या दूसरे अंग केवल जिन्दा लोगों के लिए ही महत्त्वपूर्ण हैं जो आत्माओं को देखते हैं या इनके व्यक्तिगत रूप से पैदा होने पर इनसे परेशान होते हैं।

सभ्य व्यक्ति यह समझाते हैं कि आत्मा दूसरे जीवन में भी जर्जरित अवस्था में विद्यमान रहती हैं। किसी प्रकार की एक कमजोरी को अवश्य ही मानना चाहिए। यहोवा का सांस रुक जाता है, परन्तु प्राण तत्त्व के अतिरिक्त मनुष्य स्वयं शेओल (श्मशान) में जिन्दा रहता है। पहली अवस्था में वह कब्र में रहा करता था या उससे भी पहली अवस्था में वह जमीन पर अपने घर में रहा करता था। यह निर्विवाद है कि रूह ने अपना निवास घर, कब्र एवं पाताललोक में बदल लिया

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

है। बेबिलोनिया तथा मिस्र के लोगों में क्रमश: यही स्थिति रही है। चीनी, भारतीयों और दूसरों ने, उदाहरण के लिए अमरीकी भारतीयों ने इसमें स्वर्ग नामक चौथी विकास की स्थिति जोड़ दी है। इसी विकास की स्थिति में इससे ही सम्बन्धित होकर ही रूह अपने स्थान से पतित होती है। ज्यों ही स्वर्ग इसका घर बन जाता है, इसके सभी पुराने आवास आश्रयहीन बन जाते हैं, परन्तु वे सतत अवस्थाओं में जीवित रहते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी बिल्कुल सम्भव है कि सभ्य पुरुषों, मुखियाओं, राजाओं और कभी-कभी पुरोहितों के लिए प्रकट किए गए महान् आदर भाव के कारण ही उनको श्रेष्ठ प्रकार का व्यक्ति समझा गया हो और उनको स्वर्गिक सूर्य पुत्रों से सम्बन्धित समझा गया हो, ताकि उनका स्वर्गिक घर और बाद वाली स्वर्गिक रूह भी उनकी मानी गई हों। बाद में उसका स्वरूप सार्वभौम बन गया और सर्वजन-साधारण ने उसको ग्रहण कर लिया हो। इस प्रकार मिस्र में स्वयं राजा का व्यवहारिक रूप में सूर्य-देवता से तादात्म्य स्थापित किया जाता है और परवर्ती विश्वास द्वारा सभी लोगों के लिए वही गन्तव्य स्थान निर्धारित कर दिया गया है, जैसे ओसिरिस (मृतकों का राजा) सबसे पहले पश्चिम दिशा में गया है। बाद में सभी लोग गौण ओसिरिस (मृतकों के राजाओं) के रूप में उसके पीछे पश्चिम दिशा में गए हैं। छाया या अनुगमन करने वाले के समान दुगुनी रूह पहले मनुष्य का एक अंग होती है। मृत्यु के उपरान्त वास्तव में उसका कोई महत्त्व नहीं होता है, और एक वास्तविक रूह के रूप में आत्मा का भाव कदापि तिरोहित नहीं हुआ है। बाद में इसके दोहरे निवास की व्याख्या करने के लिए इसका प्रयोग एक साधन के रूप में किया गया है। कब्र से कहीं दूर के घर का विचार उन लोगों को परेशान करने लगा था जो इस विचार का परित्याग नहीं कर सकते थे कि रूह वहाँ मँडराया करती थीं।

समग्र विश्व में पुरुषों के लिए अपने आपमें एक व्यक्तित्व का वर्णन करना या उससी कल्पना करना कठिन है जो सांस, रक्त एवं शक्ति से रहित हैं। इसके बावजूद भी उनका यह विश्वास है कि सांस, रक्त एवं शक्ति से भिन्न रूप में उनकी आत्मा की लगातार सत्ता बनी रहती है। बोरनियो में बलि दिए गए शूअर का जिगर पीछे अवशिष्ट रह जाता है और शकुन-विचार के माध्यम से प्रत्युत्तर देता है। परन्तु इसकी रूह के समान ही इसकी आत्मा सन्देशवाहक के समान देवताओं के पास जाती है। पोलिनेशिया में जब एक बच्चे का ईसाईकरण किया जाता है तब "देवत्व का श्वास" बच्चे के श्वास में आ जाता है। जैसे "भूत का सांस" जन्म के अवसर पर शरीर धारण करके भारतीय लोमड़ी की रूह बन जाता है, परन्तु श्मशान में छाया, जिसने अभी-अभी यहोवा के सांस का परित्याग किया है, अपने व्यक्तित्व को कायम रखती है। इसलिए ये असभ्य व्यक्तियों की श्वास-रूहें, यद्यपि दैवी होने पर भी असभ्य व्यक्तियों की वास्तविक रूहें नहीं

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

होती परन्तु यह वही होता है जो उत्तेजित करता है और पृथ्वी पर जीवन का निर्माण करता है। मनुस्य के सभी कर्म उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होते हैं और इस रूप में मानसिक होते हैं। उसके कर्म उसकी रूहें होती हैं। क्रियाशील अवयव रूह-स्थान ही होता है। वैदिक विश्वास के अनुसार मरने वाले की आंख सूर्य को जाती है, उसका श्वास हवा में मिल जाता है, उसकी विचार शक्ति भी उसी प्रकार विकीर्ण हो जाती है। मनुष्य की आत्मा फिर भी नष्ट नहीं होती है। वह स्वयं पितरों के पास चला जाता है। स्वर्ग के वृक्षों के नीचे बैठकर ऐन्द्रिय उपभोगों का आनन्द लेता है। जैसे एक अमरीकी भारतीय आनन्दोल्लास युक्त आखेटक स्थलों में प्रसन्न रहता है, मिस्र एवं यूनान के लोग आनन्दधाम में प्रसन्न रहते हैं। इसी तरह वह भी एक पूर्ण व्यक्ति के रूप में सम्पूर्ण आनन्द में जीता है। चीन में भले राजाओं की आत्माएँ अपने भले मन्त्रियों की संगत में स्वर्ग में रहती थीं और साथ-साथ दुनियादारी के मामलों में भी रुचि रखती थीं। मिस्र का निवासी, जिसने अपनी मूल रूह को क और ब में सीमित कर लिया था, भी अब तक अपने पारम्परिक विश्वास को बनाए हुए था और उसके "हृदय" को भी ऐन्द्रिय इकाई के रूप में समझा जाता था, जो निर्णय के दिन उसके विरुद्ध खड़ा नहीं होता था (उसके विरुद्ध जादूई ढंग से सांठ-गांठ नहीं करता था) और उसको दोषी नहीं ठहराता था। परन्तु जैसे भारतवर्ष में है वैसे ही मिस्र में भी विभिन्न उपायों से मनुष्य की आत्मा को फिर से पूर्ण बनाने में सबसे पहले सावधानी बरती जाती थी। ये उपाय मृत्यु के रूप में पृथक् हुए व्यक्तित्व को जोड़ते थे। ऐसा लगता था जैसे मानो एक झटके में उनको अलग-अलग फेंक दिया गया हो। अपनी आत्मा के बिना वह कुछ भी नहीं था। वह आत्मा उसके पूर्णत्व तथा उसके वैयक्तिक व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करती थी। इसलिए दोनों ही देशों में ये भाग औपचारिक रूप से उसको पुनः प्राप्त हो गए थे; और इस अपूर्ण अवस्था में वह जीवन और आत्मा की पूर्ति के लिए प्रतीक्षा करता रहा है।[3] प्राचीन असभ्य लोगों का यह विश्वास था कि अनेक प्रकार की "रूहों" के रूप में ये विभिन्न शक्तियां एक मनुष्य का निर्माण करती हैं। यह संस्कार उस प्रकार के निर्माण के

---

३. एक पुत्र के अपने पिता की शक्ति धारण करने के वैदिक कर्म में एक प्राचीन विचार का सन्देह हो सकता है। जब पिता मृत्यु द्वार पर पड़ा होता है, तब पुत्र को उस पर लेटने का या उसके आमने-सामने होने का आदेश दिया जाता है और तब पिता कहता है, "मैं तुम्हें अपना श्वास, अपने नेत्र तथा श्रवण आदि प्रदान करता हूँ" और पुत्र दोहराता है, "मैं प्राण आदि ग्रहण करता हूँ।" तब तक प्राणतत्त्व के साथ शारीरिक शक्तियां समाप्त हो जाती हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

लिए समाधान प्रस्तुत करता है। आत्म-रूह को पूर्ण बनाने के लिए इन सभी रूहों को मृत्यु के उपरान्त मिल जाना चाहिए। कोई यह कह सकता है कि एक असभ्य व्यक्ति के पास कितनी ही संख्या में रूहें हो सकती हैं—तीन, चार या तीस, परन्तु इनके पीछे वह जानता है कि जब वह मरेगा, तो इनमें से कोई एक ही आत्मा के अंश के रूप में रहेगी और वह यह भी जानता है कि आत्मा ही इसकी वास्तविक रूह है। उसका आत्म-चैतन्य रूपी अहंभाव उसके शारीरिक रूप में निवास करता है। इसलिए अफ्रीका बन्टु कहता है, "मेरा शरीर और रूह एक है। मेरी रूह ही मैं स्वयं हूँ।"

जोराष्ट्री विचारधारा में असभ्य व्यक्तियों के विचारों का प्रतिरूप आधुनिक स्वरूप में उपलब्ध होता है। अच्छाई या बुराई को चुनने वाली रूह आत्मा होती है। वह जीवन रहते हुए आरमुज्द या आह्रिमन की ओर लड़ती हुई तथा मृत्यु के उपरान्त निर्णय के सेतु को पार करके अपने भाग्य को प्राप्त हो जाती है, जैसे मानो यह एक तथा अविभाज्य हो। परन्तु अनेक आध्यात्मिक अंशों द्वारा इसका निर्माण किया जाता है। पहला श्वास है, अन्हु, क्रियाकलाप के शरीर के रूप में आत्मा, दएन या चैतन्य बुद्धि, जिसके साथ कभी-कभी दएन की अदला-बदली हो जाती है, इच्छा-रूह उरवन, और अन्त में मेधा या फ्रावशी, प्राक्‌रूप श्रेष्ठ प्रकार की रूह (आरमुज्द के मन में रूह-विचार)। जीवन में किए गए कर्मों के लिए उरवन उतरदायी है। फ्रावशी मृत्यु के उपरान्त इसके साथ जाती है और एक वकील के रूप में इसके लिए बोलती है। चैतन्य बुद्धि भी उरवन के साथ जाती है। शरीर पृथ्वी पर अवशिष्ट रह जाता है परन्तु ये पाँच : जीवन, चेतना, बुद्धि, इच्छा और संरक्षिणी मेधा आध्यात्मिक लोक में जाते हैं और मृत्यु के उपरान्त तीसरे दिन मृतक न्यायाधीश के सामने दएन से मिलता है। उरवन मिस्र के ब के समान है, यद्यपि पंखों वाले रूह फ्रावशी है और अन्हु या जीवन के श्वास से इसका ताल-मेल है और शक्ति (तेविश, शक्ति कभी-कभी इसका स्थान ग्रहण कर लेती है) ही मिस्र की सेखेम या व्यक्ति की "शक्ति" है, जो एक सत्ता के रूप में मानवीकृत है।[४]

इस प्रकार जरथ्रुस्टवाद जैसे उन्नत धार्मिक वातावरण के अनुसार मनुष्य का आदिम विश्लेषण किया जा सकता है जहां एक ओर शरीर तथा दूसरी

---

४. फ्रावशी को एक "अच्छे पंखों वाले पक्षी" के रूप में बतलाया गया है। इसलिए भारत में पितर पक्षी के रूप में प्रगट होते हैं। "पंखों वाली रूह" के लिए तुलना करें, अपोलोनुएस्, आर्गन ४·२३। वेबिलोनियाई प्रेत समुद्र के ऊपर "दूर देश" के आरलु को उड़कर जाते हैं और इस प्रकार पक्षी रूप धारण कर लेते हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

और आत्मा से मनुष्य का निर्माण होता है। आत्मा उसकी आवश्यक शक्ति है, जिसमें इच्छा और बुद्धि मिलकर एक सम्पूर्ण व्यक्ति का निर्माण होता है। परन्तु बुद्धि का अनाहूत आगमन (या अधिकांश रूप से बौद्धधर्म में मनुष्य के कृत्यों की एक मानवीकृत सत्ता) और गौण मेधा या पितर का मेधा रूप में शारीरिक आत्मा के स्थान पर आदर्शीकरण यह दर्शाता है कि जरथ्रुस्टवादी विचारधारा असभ्य व्यक्तियों तथा मिस्र के लोगों की विचारधारा से कहीं ज्यादा आगे बढ़ गई है। क्योंकि अन्तिम निर्णय ही इसको एक नैतिक स्वरूप प्रदान करता है जो इसको बेबिलोनियाई विचार से दूर ले जाता है, क्योंकि बेबिलोनियाई विश्वास के अनुसार आराम या परेशानी में एक भूत का दूसरे भूत से भिन्न होने का एकमात्र कारण यह था कि शरीर की सावधानी से देखभाल की गई थी या नहीं की गई थी; यहाँ कोई नैतिक निर्णय नहीं था।

"चेतना के रूप में आत्मा ही" दएन का व्यवहारिक रूप है। इसकी अधिक शाब्दिक व्याख्या (जो लौकिक परम्परा के अनुसार है) यह है कि दएन की अभिव्यक्ति मनुष्य की आत्मा में उसके विचारों, शब्दों तथा कृत्यों में होती है। जब अन्तिम निर्णय में दएन मृत व्यक्ति के सामने प्रकट होता है तो वह कहता है, "मैं तुम्हारे (अच्छे या बुरे) विचार, शब्द और कृत्य हूँ।" ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी के एक बौद्ध विधर्मवाद ने भी यही शिक्षा दी थी कि मृत्यु के उपरान्त "हृदय, या मन या चेतना" अवशिष्ट रह जाती है।

मिस्र के लोगों के विश्वास के अनुसार मृतक के पुनरुत्थान का तात्पर्य शरीर का पुनरुजीवित होना है। इसके साथ-साथ हृदय, नस-नाड़ियाँ, फेफड़े तथा जिगर भी पुनरुजीवित हो जाते हैं। जरथ्रुस्ट लोगों का विश्वास था कि परित्राता "जिनके पास हड्डियाँ हैं उनका उत्थापक" अन्तिम रूप से शरीर को रूह से मिलवा देगा, या एक परवर्ती विचार के अनुसार ईश्वर मृतक को भौतिक तत्त्वों के माध्यम से जिन्दा कर देगा। मिट्टी से हड्डियाँ आएगीं, पानी से रक्त ग्रहण किया जाएगा, पेड़ों से बाल लिए जाएगें, अग्नि से आवश्यक जीवन आएगा। पुनरुत्थान एवं अन्तिम दिन के निर्णय के विश्वास का यही आधार था। यही भाव हिब्रु तथा ईसाई विचारधारा में प्रवेश कर गए हैं। इसके साथ-साथ ईश्वर विरोधी एक राक्षसी शक्ति का भाव भी वहाँ प्रविष्ट हुआ है और उसी के साथ दिव्य गुण वाली शक्तियों की भावना भी प्रविष्ट हुई हैं। ये ईश्वर के सन्देशवाहक एवं प्रतिपुरुष के रूप में कार्य किया करते थे। मिस्र की विचारधारा में एक नए आध्यात्मिक शरीर की सत्ता का अभाव पाया जाता है। मृत्यु के समय मनुष्य सो जाता है और उसको जादूई तरीकों से जगाया जाता है। आत्मा को मम्मी सुरक्षित रखती है। मृतकों के राजा एवं न्यायाधीश ओसिरिस (मिस्र) के सम्प्रदाय में उन्हीं तरीकों से मनुष्य को जिन्दा किया जाता है जिनसे ओसिरिस का पुनरुत्थान किया था। प्राचीन

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

र-सम्प्रदाय (सूर्य देवता सम्बन्धी) का यह विश्वास मालूम पड़ता है कि राजा को सीधा ही एक सम्पूर्ण व्यक्ति के रूप में प्रकाश में लाया जाता था। परन्तु क्योंकि सूर्य एक नैतिक पर्यवेक्षक है इसलिए राजा के इस उन्नयन के लिए कोई नैतिक आधार रहा होगा। भारतीय विश्वास में शारीरिक आत्मा को इस प्रकार दृढ़ता से घेरे में बांधा गया है कि पुनर्जन्मों के बीच रूह को पुनर्जन्म की प्रतीक्षा में एक विशिष्ट प्रकार का "सूक्ष्म शरीर" धारण करना पड़ता है।

बौद्धधर्म के प्राचीन विश्वास में उपर्युक्त विधर्मवाद के समय से पहले रूह के विचार से बिल्कुल छुटकारा प्राप्त करने का एक विफल प्रयत्न किया गया था। बुद्ध ब्राह्मण विचारधारा के "मनुष्य के अन्दर छिपे एक छोटे से आदमी" के विश्वास को लेकर लगातार इसका उपहास करते रहे। उन्होंने कहा कि मनुष्य के भीतर ऐसी कोई दूसरी आत्मा नहीं है। हृदय प्रदेश में स्थित "अंगुष्ठ मात्र के आकार" की कोई पृथक् सत्ता नहीं है जो इसके उपरान्त जीवित रहती है। जो बाद में अवशिष्ट रहता था वह केवल विचार, भावनाएँ तथा पिछले जन्म में किए गए कर्मों के आधार पर निर्मित चरित्र का मिश्रण था, विशेष रूप से मनुष्य की इच्छा, जो पूरे इंधन के जलने तक जलती रहती थी। परन्तु बहुत लम्बे समय तक रूह तथा आत्मा के "मिश्रण" में परम्परागत अन्तर करना असम्भव था। कुछ शताब्दियों के दौरान कुछ बौद्ध लोग पुद्गल के एक वास्तविक रूह के रूप के विश्वास अनुयायी बने रहे जबकि परवर्ती बौद्ध विचारधारा ने अन्तिम रूप से कोई ऐसा व्यवहारिक अन्तर नहीं किया है। इसमें विश्वास रखने वाला एक बौद्ध व्यक्ति एक रूह के समान ही स्वर्ग में जाता था बिल्कुल वैसे ही जैसे एक भला ब्राह्मण स्वर्ग में जाता है। बुद्ध भगवान् एक सतत आत्मा का स्वागत करते हैं बिल्कुल जैसे मानो यह रूह हो। स्वयं बुद्ध भी भूतकाल की स्मृति को "पाक" (कर्म विपाक) के अंग के रूप में स्वीकार करते थे और यह "पाक" नरक में अपने पापों के कारण कष्ट का अनुभव करता था। इसलिए कोई तत्त्वज्ञानी ही यह देख सकता था कि एक पाक रूह नहीं थी। रूह से छुटकारा प्राप्त करने के बुद्ध के वास्तविक अभिप्राय का उद्देश्य इसके अमरत्व के विरुद्ध था। मनुष्य के एक दिव्य अमर अंश के रूप में इसका विनाश नहीं किया जा सकता था। जबकि इच्छाओं की समाप्ति पर एक दीप के समान पाक के विषय में यह माना जाता था कि यह व्यतिक्रमण कर जाएगा। मनुष्य एक अमर सत्ता से छुटकारा प्राप्त नहीं कर सकता था, परन्तु वह भूखा रहकर इच्छाओं की अस्थायी उपज को आमूलचूल नष्ट कर सकता था, एक ऐसी संसिद्धि जिसकी श्रद्धापूर्वक कामना की जाती है। बुद्ध का "पाक" इस प्रकार रूह के लिए पर्याय था। यह आत्मा थी जो बाद में अवशिष्ट रहती थी परन्तु विनाश से बचने के लिए इसका कोई अमर सार तत्त्व नहीं रहता था। एक पुराने विश्वास की परछांई के रूप में भूत की रूह का परि-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

त्याग नहीं किया जा सकता था परन्तु यह शुष्क हो जाता था और इस तथ्य की स्मृति के रूप में अवशिष्ट रह जाता था कि मनुष्य जिस अन्तिम वस्तु का परित्याग करेगा वह है मरणोपरान्त विद्यमान रहने वाली सत्ता के रूप में उसकी अपनी आत्मा में विश्वास। एक विचित्र भाग्य की विडम्बना द्वारा यह बौद्ध धर्म ही था जिसने अवशेषों की श्रद्धास्पद देखरेख करके (यह भारतीय पद्धति नहीं थी) सबसे पहले अवशेषों की पूजा को प्रारम्भ किया है और उसमें विद्यमान रहने वाली नीरोगकारी शक्तियों तथा उनको सुरक्षित रखने वाले चैत्यों की पूजा को भी प्रारम्भ किया है। यही अन्तिम रूप से मन्दिर के रूप में विकसित हुए हैं। इसलिए स्वयं बुद्ध एवं उनकी अस्थियाँ भी पूजा की वस्तुएँ बन गई हैं, यद्यपि सभी रूह-शक्तियों तथा आध्यात्मिक वस्तुओं को एक श्रद्धा की वस्तु मानने के विरोध में ही उनका सारा प्रचार किया गया था।[५]

धर्म के दर्शन में आत्माएँ भौतिक सीमाओं से मुक्त होती हैं। इस प्रकार वे दुर्बल होने पर भी आकाश एवं काल आदि का अतिक्रमण कर सकती हैं। योगी का उद्देश्य मृत्यु से पहले ही ऐसी आध्यात्मिक शक्तियों को प्राप्त करना है, परन्तु इन निराधार कल्पनाओं के कारण हमें यहाँ रुकना नहीं चाहिए।

जिन्दा रहने वाली रूह के निवास के विषय में मिथ की चर्चा के सन्दर्भ में विचार किया जाएगा। मृतक के संस्कार से अभिप्रेत रूह के विश्वास के विषय में कुछ शब्द यहाँ कहना आवश्यक है। सबसे पुराना तरीका मृतक को फेंक देने का था और शरीर को पशु निगल जाया करते थे।[६] बौद्ध गाथाओं में भी श्मशान को कब्रों का स्थान नहीं माना गया है, एक ऐसा स्थान जहाँ शवों को फेंका जाता है। तिब्बत में शवों को कुत्तों के लिए फेंक दिया जाता है और पारसी लोग आज

---

५. बुद्ध ने हमेशा ही वैयक्तिक रूह को बुरा-भला कहा था। उनको किसी सर्प-रूह का पता नहीं था और ब्राह्मणवाद के "अंगुष्ठमात्र" के स्थूल रूह के अतिरिक्त न ही किसी वैयक्तिक रूह का उनको ज्ञान था।

६. सम्भवतः नर-भक्षण फेंकने से पहले विद्यमान था। कभी-कभी इसको धार्मिक संस्कार के रूप में किया जाता है (मृतक की शक्ति खाने वाले के शरीर में प्रविष्ट हो जाती है) या प्रेम के स्वरूप में किया जाता था। ईसाई मत के विरुद्ध समोअन जाति की मुख्य आपत्ति यह थी कि यदि इसे (शव को) रख लिया जाए तो इसका परिवार इसे नहीं खाएगा, अपितु कीड़े उसे खाएंगे। कुछ अमरीकी लोगों का विचार है कि मृत्यु के बाद प्राकृतिक रूप से मृतक का शव विकृत हो जाता है परन्तु मृतक के शव का यादृच्छिक रूप से अंगभंग नहीं किया जाता है। कुछ असभ्य व्यक्तियों का कहना है कि मृत्यु के उपरांत शरीर बूढ़ा नहीं होता है (भारतीय देवताओं के समान, "जो सभी देखने में

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भी मृतकों को पक्षियों के लिए फेंक देते हैं। प्राचीन परशिया एवं यूनान में उनको पक्षियों या पशुओं के लिए छोड़ा जाता था। पारसी विश्वास के अनुसार मृतक के पास रखी गई कुत्ते की थुथून का अभिप्राय उसी भारतीय पद्धति से है जिसकी चर्चा ऊपर की गई है। कुत्ता उस रूह को मानसिक-वैभव के रूप में ग्रहण करता है। भारतीय जाति के गोण्ड लोग तथा कुछ अमरीकी भारतीय लोग अपने मृतकों को पेड़ों पर फेंक दिया करते थे। दाह-संस्कार की अपेक्षा शवाधान जहाँ-तहाँ प्राचीन मालूम पड़ता हैं। ऐसा लगता है कि दाह-संस्कार श्रेष्ठ प्रकार के लोगों तक ही सीमित है, परन्तु टेरा-डेल-फुगो के लोगों में भी यही प्रथा है और संभवतः कहीं भी इससे बड़ा "सुधार" प्रकट नहीं होता है जैसा पहले समझाया गया था। गुफाओं में दफनाना भी आम पाया जाता है और कुछ सन्दर्भों में इससे गुफा-मन्दिरों का जन्म भी हुआ है, परन्तु इस मान्यता का कोई दूसरा महत्त्व नहीं है। भारतवर्ष एवं श्याम में दाह-संस्कार से पहले एक अस्थायी उपाय के रूप में शव-संलेपन की प्रथा थी, परन्तु मम्मी का प्रयोग मिस्र में किया जाता था और पेरू में अधिक भद्दे ढंग से किया जाता था। इससे मृतक के शरीर को रूह के रूप में रखने की इच्छा अभिव्यक्त होती है। प्रागैतिहासिक कब्रों में दफनाई गई वस्तुओं से उत्तर-पाषाण कालीन भविष्य के जीवन का विश्वास प्रकट होता है, परन्तु जरथ्रुस्टवाद यह दर्शाता है कि शवों के फेंके जाने के साथ ही ऐसे ही एक विश्वास को भी जोड़ा जा सकता है। भारतीय लोगों का विश्वास है कि मृत्यु के उपरान्त शरीर और रूह वर्तमान शरीर तथा रूह के सुधरे हुए प्रतिरूप बन जाएँगे परन्तु जीवित लोग ही इनको पहचान सकेंगे। यूनानियों तथा हिब्रु लोगों के लिए परछाईयाँ भी इसी प्रकार की थीं। जिस सावधानी से वैदिक लोग मृतकों की हड्डियों का चयन किया करते थे उससे शारीरिक पुनरुत्थान का विचार अभिप्रेत मालूम पड़ता है, परन्तु दाह-संस्कार ने इस विश्वास को समाप्त कर दिया है और इसको 'सूक्ष्म शरीर' के विचार में परिवर्तित कर दिया है।[७] वे सभी लोग मृतक के उपरान्त एक चैतन्य सत्ता में विश्वास करते थे, परन्तु यूनानी लोग शारीरिक

लगभग तीस साल के हैं") परन्तु इसमें कोई परिवर्तन नहीं आता है, फिर भी जैसा एक अफ्रीकी ने कहा था, "सम्भवतः यह (मृतक का शव) बुढ़ा होता है और इसकी दोबारा मृत्यु होती है; परन्तु हमें इसके बारे में कुछ भी पता नहीं होता है, परन्तु जब गोरे लोग हमें प्रश्नों से परेशान करते हैं, तब हम ऐसी चीजों के बारे में सोचते हैं।"

७. ब्राह्मणवाद के यज्ञीय रहस्यवाद के अनुसार मनुष्य के भविष्य के शरीर का निर्माण उन त्यागों से होता है जो उसने अपने जीवन में किए हैं। मृतक प्रेत के रूप में कार्य कर सकता है और साथ-साथ स्वर्ग में स्थित रहता है या दूसरे शरीर में स्थित रहता है—इस बात को विश्वास करने का जो अन्त-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पुनरुत्थान में विश्वास नहीं करते थे। हिब्रू लोगों पर जब जरथ्रुस्टवाद का प्रभाव पड़ा तो वे अन्तिम रूप से धर्मात्माओं के राष्ट्रीय पुनरुत्थान में विश्वास करने लगे और बाद में सभी लोगों के पुनरुत्थान में विश्वास करने लगे; यद्यपि प्रारम्भ में उन्हें किसी भी प्रकार के पुनरुत्थान का कोई ज्ञान नहीं था। इस सन्दर्भ में वे बेबिलोनियाई लोगों के समान ही थे। उनका विचार यह था कि एक देवता उन लोगों को पुनर्जीवित कर देगा जो लगभग मृत थे परन्तु उनकी रूह को एक ऐसे शरीर में वापिस नहीं लाएगा जिसका उन्होंने मूलत: परित्याग कर दिया था। परवर्ती हिब्रु विचारधारा में यहूदी सम्प्रदाय ने मृत्यु के उपरान्त चैतन्य जीवन तथा शारीरिक पुनरुत्थान—इन दोनों को ही नकार दिया गया था, परन्तु पारसी लोग पृथ्वी पर शारीरिक पुनरुत्थान में विश्वास करते थे। इसकी शिक्षा ईसा या पाल नहीं दी थी। ये पुनरुत्थान की व्याख्या उच्चतर आध्यात्मिक शरीर के अर्थ में किया करते थे। पाल के लिए ईसा के पुनरुत्थान ने न केवल मृत्यु के उपरान्त जीवन को ही सिद्ध किया है परन्तु इसने दूसरे लोगों के पुनरुत्थान के कारण भी बतलाए हैं (रोम ८ : ११)। फिर भी पुराने ईसाई लोग साधारण तौर पर जर-थ्रुस्ट लोगों के 'अन्तिम दिन' के निर्णय के विश्वास पर वापिस लौट गए थे। रूह के विषय में ईसाइयों के भिन्न विचार थे। ओरिजेन महोदय इसे अफलातूनी ढंग से पूर्व जन्म में विद्यमान रहने वाली एक विशुद्ध आत्मा समझता था (परम्परावादी लोगों द्वारा इस मत का खण्डन किया गया है) परन्तु अधिकांश ईसाई लोगों के मत के अनुसार यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्पष्ट रूप से निर्मित की गई थी। टेरटूलियन महोदय का विचार था कि रूह प्रचारित है और इसलिए ही इसने पाप को उत्तराधिकार में प्राप्त कर लिया है। यह विचार कि वैयक्तिक मानव रूह दिव्य रूह का एक भाग है—स्पष्टतया इसको भारतीयों द्वारा स्थापित किया गया है और कुछ रहस्यवादी ईसाइयों का भी यही आशय है। परन्तु ईसाई मत का सामान्यतया यह विश्वास है कि रूह वैयक्तिक है। रूह ब्रह्माण्डीय चैतन्य या ईश्वर का अंश नहीं है, जिसको रूह के अमरत्व का नैसर्गिक अनुमान (अर्थात् पूर्वसत्ता) समझा जाता है। ईसाई मत उसकी उपेक्षा करता है या उसको नकारता है। इसको अन्यत्र स्वीकार किया गया है और इसके अमरत्व का सबसे प्रबल प्रमाण समझा गया है।

विरोध है वह केवल जीवित लोगों को ही परेशान करता है क्योंकि यह उसकी अपनी प्रार्थनाओं तथा मृतकों की बलियों को प्रभावित करता है। फिर भी, ब्राह्मण पुरोहित कहता है, "शंका से परेशान मत हो, मृतकों को दिया गया भोजन उनको पहुँच जाता है चाहे वे चन्द्रमा या आकाश में हो या पृथ्वी पर दोबारा पैदा हो जाएँ।"

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अध्याय ११

यज्ञ

हमने अब तक पूजा की विभिन्न वस्तुओं पर विचार किया है। मनुष्य की प्रकृति, पूजा के सम्भव कारणों तथा मनुष्य के निजी विचारों की भी चर्चा की है। प्रासंगिक रूप से एक दूसरे विषय को छूना भी आवश्यक हो गया है। इस पर अब हमें वातावरण की दृष्टि से विचार करना चाहिए, अर्थात् यज्ञ के विषय पर। वह यज्ञ मनुष्य एवं आध्यात्मिक जगत् के बीच वस्तुगत सम्बन्ध का कार्य करता है। यज्ञ की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न सिद्धान्त रहे हैं परन्तु उनमें से कोई भी सन्तोषप्रद नहीं है, यद्यपि कुछ संघटनाओं की अपनी व्याख्या में वे सभी सही हैं। वे एक दृष्टि से सभी अपूर्ण हैं कि उनका उद्देश्य सभी संघटनाओं के लिए एक ही व्याख्या प्रस्तुत करना है। परन्तु जैसे कोई कविता के जन्म के विषय में एक वाद प्रस्तुत कर सकता है वैसे ही यज्ञ की उत्पत्ति के विषय में भी एक सिद्धान्त का आविष्कार कर सकता है। गीतिमय भाव, आवेश, कल्पना, ऐतिहासिक निबन्ध, कुछ काम की या दूरगामी महत्त्व की बात करने की इच्छा से काव्य का जन्म होता है। अत: यज्ञ विभिन्न प्रकार के भय तथा इच्छाओं से पैदा होता है—प्राप्त करना, छुटकारा पाना, सन्तुष्ट करना, संलाप करना एवं प्रायश्चित करना। सामान्य रूप से किन्हीं शक्तियों के सामने अभिमुख होने की यह इच्छा है, परन्तु क्योंकि व्यावहारिक दृष्टि से यह एक अतीव सामान्य भाव है और सभी सिद्धान्त भी इतने अधिक एकपक्षीय हैं, अत: सबसे पहले सभी तथ्यों पर विचार करना सर्वोत्तम होगा। हम यह देखेंगे कि जैसे-जैसे हम उनका अनुसरण करते हैं, कैसे तर्कसंगत रूप में उनका उपयोग किया जा सकता है।

मनुष्य अपने शरीर में निवास करने वाली आत्मा का स्पष्ट रूप प्राप्त करने से पहले वह जंगल में किसी राक्षस के भय की अपेक्षा जंगल की शक्ति से डरता है। जब उसे किसी धातु के पिण्ड में आत्मा का घर होने का विचार नहीं आता है, परन्तु फिर भी उसके साथ वह एक जीवित इकाई के समान व्यवहार करता है। अपनी इस मनोदशा में वह सबसे पहले शक्ति के प्रति अपना आदर व्यक्त करने वाला संकेत प्रस्तुत करता है। यदि उसे अपने मुखिया के सामने

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दण्डवत् लेटने की आदत है तो वह उस संकेत का प्रयोग करता है। यदि केवल सिर को हिलाना या भुजाओं को आगे फैलाना है तो वह यहाँ उसका संकेत करता है। मनुष्य के अत्याधिक सभ्य होने के बावजूद भी यह धार्मिक भय या विस्मय हमेशा ही उसके साथ विद्यमान रहता है। ऋग्वेद में पूजक औपचारिक रूप से अपने देवता का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट करता है कि यज्ञ करने में वह "अपनी बाहों को फैला" भी रहा है; ग्रहण करने के लिए नहीं अपितु अनुनय करने के लिए; और देवता के सामने सीधा लेट जाता है। किसी न किसी रूप में ऐसा एक संकेत लगभग सार्वभौम रूप से पाया जाता है। दिव्य शक्तियों के पास जाने का यह तरीका कोई सामाजिक निर्णय का परिणाम नहीं होता है। यह जन-समुदाय की गति भी नहीं है। यह व्यक्ति की मौलिक प्रवृत्ति का प्रतिबिम्ब है, जैसे एक कुत्ता तलुवे चाटता है। श्रद्धा की बाह्य वस्तु के प्रति प्रयोग में लाया जाने वाला यह एक सामाजिक तरीका है। स्वीकृत शक्ति की उपस्थिति के प्रति मनुष्य की विनम्रता को प्रकट करना ही इसका उद्देश्य है। इसलिए आस्ट्रेलिया का असभ्य व्यक्ति उस भौतिक वस्तु के प्रति झुकता है और घुटने टेक देता है जिसका आह्वान वह अपनी सहायता के लिए करता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक सन्दर्भों में जो काम ऐसी मुद्राओं के अवसरों पर किए जाने योग्य होते हैं, यहाँ उनको बर्बर लोगों की प्रतिक्रियाओं के अनेक उदाहरणों में देखा जा सकता है। अर्थात् असभ्य व्यक्ति उस शक्ति को कोई वस्तु भेंट करता है, जैसे ही वह अपने मुखिया के प्रति झुकता है तो वह उसको छोटी सी वस्तु भेंट करता है या मानव आकृति में किसी विचित्र भयावह शक्ति का सम्मान करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह भेंट दंडवत् प्रणाम के संकेत के साथ दी जाती है। इसे किसी भी रूप में किया जाए, फल या जल या मांस या शराब के रूप में—इसमें दण्डवत् प्रणाम का भाव प्रतिबिम्बित एवं निहित होता है। विनम्रता, आश्रय, श्रद्धाञ्जलि एवं प्रयत्नपूर्वक समझौते की यह सशरीर स्वीकारोक्ति ही होती है। इस प्रकार उसी समय सबसे निम्नस्तर का एक आस्ट्रेलियाई असभ्य व्यक्ति, जिसका यज्ञकर्ताओं के कबीले के प्रतिकूल रूप में शोषण किया गया है, जबकि उसको बड़े विचित्र ढंग से 'धर्म-विहीन' बतलाया जाता है। एक ओर वह अपनी मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाले जादूई कामों में व्यस्त रहता है, वह डरते-डरते अपने टोटम को खाता रहता है तो दूसरी ओर घुटने टेककर (जीवित संकल्पनात्मक सत्ता के रूप में कल्पित) वृद्धि के लिए या नुकसान पहुँचाने के लिए या अपने शत्रु को मारने के लिए शक्ति के कुछ कण या अपना चाकू माँग रहा होता है। इस प्रकार इस प्राक् धार्मिक मानव में सबसे सीधे-सादे बलि यज्ञ का मूलभूत रवैया उदाहृत होता है। इसकी यज्ञ से पहले आने वाली श्रद्धाञ्जलि यह प्रकट करती है कि उस

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सिद्धान्त में कोई गलती होनी चाहिए। यह सिद्धान्त सभी 'आदरसूचक' बलियों को गौण मानकर इनकी व्याख्या करता है।

टेलर तथा लायल महोदय यज्ञ के अनेक सिद्धान्तों में से एक की व्याख्या भेंट के रूप करते हैं। इनमें से एक को अनावश्यक रूप से एक उपसिद्धान्त से उलझा दिया गया है कि अन्न की भेंट की अपेक्षा पशुबलि बाद में आविर्भूत हुई थी। इसको इस विश्वास के साथ भी उलझा दिया गया है कि भेंट करने का तरीका, चाहे वह पृथ्वी पर भेंट किया गया हो या पृथ्वी के भीतर भेंट किया गया हो—वह तरीका ही वास्तविक महत्त्व का तरीका है। जहाँ तक परवर्ती बात का संबंध है, पृथ्वी के भीतर एक गड्ढे में दी जाने वाली भेंट सामान्यतया निम्नकोटि के गड्ढे की आत्माओं, पृथ्वी आत्माओं, नायकों, भूतों, अज्ञात संसार की दिव्यात्माओं को ही दी जाती है। परन्तु यूनान में भी हमेशा ही इस नियम का पालन नहीं किया जाता है और किसी भी सन्दर्भ में भेंट को ग्रहण करने वाले के निवास में उन्हें रख दिया जाता है, जैसे कोई व्यक्ति जल देवताओं को पृथ्वी की अपेक्षा जल में ही स्वाभाविक रूप से कोई भेंट प्रदान करता है। फिर भी यूनानियों ने निम्न प्रकार की आत्माओं को भोजन प्रदान करने में एक अन्तर किया था। उच्च प्रकार के देवताओं को खाने योग्य पशु भेंट किए जाते थे। महाविध्वंश के अतिरिक्त, जो कुछ भी देवता छोड़ दिया करते थे, लोग वही खा लिया करते थे; परन्तु पृथ्वी की निम्नकोटि की आत्माओं को विशिष्ट प्रकार के पशु भेंट किए जाते थे, शूकर तथा कुत्ते।[1] इनका खून पृथ्वी पर बहता था, और उनके शवों को जला दिया जाता था। इस प्रकार खून को (जीवन को नया करने वाला) प्रेत नायकों के लिए एक खाई में उड़ेल दिया जाता था। जहाँ तक पशु एवं खाद्यान्न की भेंट में प्राथमिकता का प्रश्न है, असभ्य व्यक्ति एक साथ दोनों को भेंट करते हैं और प्राचीनतम दस्तावेज भी दोनों के विषय में बतलाते हैं। सम्भवत: इनमें एक रूप भी उतना ही पुराना है जितना दूसरा। मानव भोज्य सम्बन्धी वातावरण ही इसमें निर्णायक तत्त्व हो सकता है क्योंकि सभी देवता वही खाते हैं जो उनके पूजक खाते हैं। कुछ विद्वान् खाद्यान्न को रक्तमय बलि से अपापनाशक होने के कारण इसका विरोध करते हैं; परन्तु इसकी विपरीत स्थिति भी ठीक नहीं होगी क्योंकि दूध तथा शहद वैदिक यज्ञ में पापनाशी हैं। माँस भी अपापनाशक है, यद्यपि यह माना जा सकता है कि पापनाशी यज्ञ आमतौर पर मांसबलि से किया जाता है। फिर भी केन तथा एबेल (एडम तथा इव के सन्तानें) समसामयिक थीं। फल या

---

१. डेमेटर को सूअर और हेकाटे को कुत्ते भेंट किए जाते थे (हेकाटे एक पृथ्वी की देवी है और साथ-साथ एक रहस्यमयी शक्ति में विचरण करने वाली भूतनी तथा चन्द्र देवी भी है)।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अन्न तथा माँस का सम्बन्ध असभ्य व्यक्तियों के विदित प्रकार के अत्यधिक आदिम यज्ञों से है।

यज्ञ के विचार को समझने का एक अच्छा तरीका पितरों के माध्यम से हो सकता है। निःसन्देह एक भूत को वही खिलाया जाता है जो उसे पसन्द है और जो सामान्यतया उसने पहले खाया है। तब पितर लोगों को भी, जो उन्नत प्रकार के भूत होते हैं, उनका रुचिकर भोजन ही दिया जाता है। ऐसी प्रथा का प्रभाव बना रहता है और यह संम्भव नहीं है कि भारतवर्ष में शताब्दियों में पितरों की बलि में बिल्कुल कोई अन्तर आ गया था, बल्कि पितरों को आजकल दिया जाने वाला भोजन, जिसको हम तथ्यों के आधार से जानते हैं, आज भी वही है जैसा यह तीन हजार साल पहले था। तब भी यह प्रकृति में वैसा ही था जैसा कई साल पहले इसकी प्रकृति थी। इसकी मूल व्यवस्था में परिवर्तन आया हो परन्तु व्यवस्था के प्रकार में कोई अन्तर नहीं आया है। यह हमेशा ही आटे तथा माँस का मिश्रण रहा है। परिवार के प्रत्येक भूत को वही माँस दिया जाता था, जो उसे पसन्द था। जहाँ तक किसी को भी यह याद होता था कि वह क्या था और सभी पितरों को मीठे लड्डू खिलाये जाते थे क्योंकि सभी भारतीयों को वैसा ही भोजन पसन्द है। जब माँस का रोजमर्रा की खुराक के रूप में परित्याग कर दिया गया, यह तब भी पितरों को स्वीकार्य माना जाता था क्योंकि सबको आदत पड़ चुकी थी। खाद्यान्न एवं माँस का मिश्रण भारतीय यज्ञ में सबसे प्राचीन है और इसका गम्भीर अध्ययन करना अच्छा होगा क्योंकि यह पूर्व उद्धृत यज्ञ के सिद्धान्तों में से एक की सोदाहरण व्याख्या भी प्रस्तुत करता है। एक पर्यवेक्षक के लिए, जैसे एक भोजन करने वाले व्यक्ति के लिए, पितरों के भोजन में परिवार के सभी सदस्य समान रूप से भाग लेते हैं, मृत एवं जीवित, जिसमें उनके मानव पड़ोसी एवं उनके पितर भी निमन्त्रित किए जाते हैं। अब एक अर्थ में कोई भी साम्प्रदायिक भोज एक प्रकार का धार्मिक सम्प्रदाय का संस्कार है तथा इस भोज को इस सिद्धान्त के प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया गया है कि सभी यज्ञ धार्मिक सम्प्रदाय की सेवा हैं जैसे एक टोटमवादी रक्त बलि तथा टोटम को खाने से टोटम की आत्मा से संलाप करता है। परन्तु वास्तव में इस अर्थ में कोई संलापन नहीं होता है, एक आध्यात्मिक शक्ति से जुड़ने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता है। इसके माध्यम से पूजक संलापन के कार्य द्वारा अपनी आध्यात्मिक शक्ति ग्रहण करता है। रात्रि भोज के धार्मिक सम्प्रदाय की अपेक्षा वहाँ कोई अधिक संलापन की क्रिया नहीं होती है। सम्प्रेषण, हाँ, और वहाँ इस चातुर्यपूर्ण विचार के होने की अधिक सम्भावना है कि भोज में निमन्त्रित व्यक्ति बाद में दाता को उदारता की भावना से स्मरण कर सकें। क्योंकि श्राद्ध-भोजन, जैसा इसका दूसरा नाम पड़ गया है (अर्थात् प्रेम-भोज), वास्तव में भूतों का प्रतिदिन का भोजन है। पितरों के दिन

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

को चन्द्रमा से गिना जाता है। अर्थात् हमारे लिए काले चन्द्रमा का सम्पूर्ण आधा भाग उनके लिए प्रकाश होता है। यह उनका 'दिन' होता है, ताकि जैसे भारतीय लोग दिन में एक बार ही भोजन करते हैं। मनुष्यों की गिनती में मासिक श्राद्ध उनके लिए केवल प्रतिदिन का भोजन ही है। अब वंशजों को यह ध्यान रखना है कि पितरों को यह भोजन मिलता रहे और खासतौर पर प्रत्येक नए भूत को वह "मांस मिलता रहे जो उसे पसन्द है"। उसी प्रकार उसको पिण्ड-दान भी प्राप्त होता है। भोजन का देने वाला साधारण रूप में अपने मित्रों तथा भूतों को निमन्त्रित करता है और वे सभी लोग इस बिल्कुल साधारण भोजन को खाने बैठ जाते हैं तथा निमन्त्रित करने वाला, मानव तथा भूत निमन्त्रित लोग—सभी मिलकर भोजन करते हैं। चीन में भी लगभग ऐसी ही स्थिति है। वहाँ पितरों का भोज वास्तव में एक पारिवारिक भोजन ही होता है और देवताओं को खिलाने के लिए उनको बलि दी जाती है परन्तु यह बिना 'संलापन' के होता है, सहभोजी के माध्यम से।

अब हमें अफ्रीकी यज्ञ पर विचार करना चाहिए। वेस्ट कोस्ट का नीग्रो निवासी गर्भावस्था तथा विवाह जैसे सामान्य अवसरों पर अपने स्थानीय देवताओं को शकरगन्द, फल, तेल तथा शराब भेंट करता है एवं राजसी अवसरों पर रक्त-मय बलि (मानव को प्राथमिकता दी जाती है) भेंट करता है। एक आदमी के मरने पर, प्रेतों को वही खाद्य पदार्थ दिया जाता है, जो प्रेत जिन्दा रहने पर पसन्द किया करता था, जैसे मुर्गा, गोश्त, शराब तथा तम्बाकू; परन्तु वैसे ही इनके लिए दासों की बलि भी दी जाती है। स्थानीय आत्मा के लिए जमीन पर शराब बखेर दी जाती है। पथिक स्वयं शराब का पान करने से पहले तथा यात्रा पर जाने से पहले एक बार रुक जाता है। क्या यह व्यक्ति द्वारा किया जाने वाला संपूजक संकेत के अतिरिक्त और कुछ हो सकता है जिसमें जाति या टोटम का कोई सन्दर्भ नहीं है? जलीय आत्माओं को प्रसन्न करने के लिए अर्थात् "उनके लिए मछली भिजवाने के लिए" गाँव की स्त्रियाँ इसके चारों ओर भोजन, तेल और शराब बिखेरती हुई नृत्य करती हैं। जब एक आदमी डूबता है तो लहरों पर शराब फेंकी जाती है। इस सन्दर्भ में जल (की आत्मा के लिए) के लिए नहीं परन्तु डूबे हुए आदमी के प्रेत के लिए शराब फेंकी जाती है। अतः यूनान के नायकों को भी उसी तरह सन्तुष्ट किया जाता था। अफ्रीका के गाँव की परिरक्षक शक्ति को प्रति-वर्ष एक स्थानीय 'पवित्र वृक्ष' पर एक हिरण को मारकर भेंट किया जाता है और इसकी टाँगे उसमें जोड़ दी जाती हैं। इस हिरण का मांस मुखिया तथा लोगों द्वारा खाया जाता है। मृत लोगों के लिए एक दूसरा वार्षिक उत्सव होता है, जिसमें कब्रों के ऊपर मुर्गे, अण्डे तथा ताडवृक्ष की शराब रख दी जाती है। इस भोज के बाद गांव का सामान्य उत्सव होता है। यह सात दिन तक चलता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

धनवान लोग उनके लिए मानव बलि भेंट करते हैं। गरीब लोग भेड़ें तथा मुर्गे भेंट करते हैं। फसल का उत्सव भी भेड़ों तथा मानव की बलि से मनाया जाता है। हम भारत एवं यूनान के गार्हस्थ देवताओं के दैनिक यज्ञों की तुलना कर सकते हैं। इनमें फल, शहद, दूध, पुरोडाश और इसके साथ मदिरा या गृहस्थी के सामान्य पेय का प्रयोग किया जाता है। इसकी तुलना में बड़े-बड़े यज्ञों में पशुओं तथा अश्वों का प्रयोग भी किया जाता है। भारतीय गृहस्थी अपने दैनिक जीवन को प्रभावित करने वाले महत्त्वपूर्ण देवताओं को नियमपूर्वक अपने पेय से कुछ बूंदें भेंट करता है। रोम में भी निजी तथा आम यज्ञों का अन्तर केवल औपचारिक रूप से मूल्य एवं खर्चे से ही किया जाता है। शूकर एक आम यज्ञीय बलि होती है परन्तु शूकर, भेड़ तथा सांड राजकीय बलि में आते हैं।

जैसा पहले ही समझाया जा चुका है, किसी भी यज्ञ को इस अर्थ में आदिम नहीं कहा जा सकता कि यह प्रागैतिहासिक आदमी की मानसिक अवस्था को प्रतिबिम्बित करता है। फिर भी यह मत प्रस्तुत किया जा सकता है कि नीग्रो यज्ञ में उसके विचारों में एक साधारण-सा भाव निहित है और उसमें कोई मानसिक उखाड़-पछाड़ एवं रहस्यवाद प्रतिबिम्बित नहीं होता है, जैसा कुछ विद्वान् हमको समझाते हैं। उस दृष्टि से यह सरल नहीं है परन्तु यह केवल ऐतिहासिक एवं तर्कसंगत भी है कि कोई व्यक्ति इसकी यज्ञीय अभिव्यक्ति में असभ्य व्यक्ति की विचारधारा को उसी रूप में सभ्य जीवन के साथ जोड़ता है। उदाहरण के रूप में एक नीग्रो के लिए प्रकृति "प्रेम" तथा औषधि रहस्यमय होते हैं परन्तु उसका रहस्यवादी सम्प्रदाय एक चीज है और उसका प्रेतों एवं आत्माओं के प्रति यथार्थवादी रवैया दूसरी चीज है। समर्थ एवं विद्वेषपूर्ण प्रेत या आत्मा या सुशील परिरक्षक देवता के प्रति बलि देने की अपेक्षा और कुछ भी अधिक सादी या आदिम वस्तु नहीं हो सकती है। नीग्रो की भेंट को हम "बलि" या "वंचना का यज्ञ" (प्रत्येक बलि एक वंचना है) या "संलाप का प्रयत्न" कह सकते हैं (जिसका तात्पर्य केवल सम्प्रेषण है)। परन्तु हमें यह आश्वस्त होना चाहिये कि एक असभ्य व्यक्ति बलि में अन्तर्निहित उद्देश्य के विषय में ऊहापोह नहीं करता है या उसके विषय में प्रश्न नहीं करता है, जैसे वह अपने मुखिया को एक भेंट प्रस्तुत करते समय करता है। "वंचना के यज्ञ" को एक दूसरे ही तरीके से किया जाता है। जब अफ्रीकी असभ्य व्यक्ति "ओरुण्ड वर्जना" में अपने तमाम जीवन में कुछ प्रकार के भोजन एवं कृत्यों से परहेज करता है क्योंकि उसके जन्म के अवसर पर या उसकी बाल्यावस्था में उसके पुरोहित ने उस पर ये चीजें लाद दी हैं; जैसे वह अपनी एक अंगुलि की "बलि देता है"। यह बिल्कुल दूसरा ही मसला है। यह सही अर्थ में बिल्कुल एक यज्ञ नहीं है। फिर भी, क्योंकि कुछ आधुनिक ग्रन्थों में उसके लिए उसी नाम का प्रयोग होता है; परन्तु एक महान् ऐतिहासिक धार्मिक उद्देश्य के

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

लिए यह सबसे पहला कदम है अर्थात् तदश्चरण—इस पर थोड़ा और गम्भीर रूप से विचार किया जाना चाहिए।

अपने लिए किसी वस्तु को नकारना या अपने आपको किसी वस्तु से वंचित रखने के अर्थ में परित्याग निस्सन्देह बलि का स्वरूप ग्रहण कर सकता है, परन्तु एक असभ्य व्यक्ति के सामान्य परित्यागवादी रवैये में एक और ज्यादा आदिम भाव दिखलाई पड़ता है। वह बिल्कुल कोई भेंट देता ही नहीं है। वह अपना परित्याग का कृत्य इसलिए करता है क्योंकि उसका यह विश्वास है कि संयम के अभ्यास से उसकी अपनी शक्ति में वृद्धि होती है। उस शक्ति के विषय में हमें आध्यात्मिक रूप से विचार करने के लिए बाध्य कर दिया जाता है। उसका मन शक्तिशाली बन जाता है। वह उस विषय में उसी तरह से सोचता है; या कोई यह कह सकता है कि वह अभिवृद्ध हुए प्राणतत्त्व के रूप में सोचता है। यही कारण है कि जानबूझकर दांतों को उखाड़ा जाता है और बाल काटे जाते हैं (यह शब्द महत्त्वपूर्ण है) और शक्ति को जाग्रत करने के लिए दूसरे कष्टदायक कृत्यों को सहन किया जाता है। हम भी ऐसे कृत्यों को स्वीकार करते हैं, परन्तु हम इनको आत्मा के उन्नायक की अपेक्षा साहस की परीक्षा के रूप में स्वीकार करते हैं। परन्तु हमारी तरह ही असभ्य व्यक्ति भी इस उद्देश्य का प्रयोग करता है और एक नौसिखए को एक वयस्क के जीवन जीने की प्रक्रिया में उसका प्रयोग करवाता है। असभ्य व्यक्ति का भाव यह है कि एक व्यक्ति की रहस्यमयी शक्ति की अभिवृद्धि हो जाती है। वह मन से और अधिक पूर्ण हो जाता है (हमें कहना चाहिए कि वह अधिक पौरुषपूर्ण बन जाता है) और अधिक आध्यात्मिक बन जाता है। वह शरीर सम्बन्धी भौतिक विचारों से अपने आपको ऊपर उठा लेता है। वह अपने शरीर को इस उद्देश्य से निकृष्ट समझता है कि उसकी शक्ति (रूह) की वृद्धि एक तपस्या के आदर्शरूप में हो सके। यह शक्ति (साहस) की परीक्षा लेने के लिए नहीं होती है परन्तु इस बात की वृद्धि करने के लिए भी होता है कि असभ्य व्यक्ति जानबूझकर अपने आपको विकृत करता है या अपने आपको कुछ वस्तुओं से वंचित रखता है तथा कुछ कृत्यों का परित्याग करता है। आश्वस्त होते हुए जब उसका कबीला उससे अपत्व का सरोकार अनुभव करता हुआ यह देखता है कि बच्चा समुचित प्रकार से शक्ति में अभिवृद्ध हो गया है तो वह (कबीला) बैठता है तथा दीक्षा के संस्कार में अंगविच्छेद की प्रक्रिया को देखता है एवं वहां और ज्यादा कष्टों को सहन करने में सहायता करता है। यहां यह शंका हो सकती है कि यहां तमाशबीनों तथा सहायता करने वाले लोगों को कुछ आनन्द आता हो। विभिन्न प्रकार के उद्देश्य प्रवीणता को प्रोत्साहित करते हैं। वध्य (बलि) की यह सम्पूर्ण इच्छा नहीं होती है कि उसके मन की अभिवृद्धि हो। इसकी अपेक्षा विश्वविद्यालय की दूसरी कक्षा का विद्यार्थी सम्पूर्ण रूप से प्रथम

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वर्ष की कक्षा के छात्र को उसकी नई निजी अवस्था के अनुकूल बनाने की इच्छा में कहीं ज्यादा परहितवादपरक होता है।[२] परन्तु मानव दुर्बलता के लिए इतनी छूट दिए जाने पर मुख्य रूप से यह सत्य है कि एक असभ्य व्यक्ति की सम्पूर्ण दीक्षा उसको एक परिवर्तित व्यक्ति तथा और ज्यादा आध्यात्मिक (शक्तिशाली) व्यक्ति बनाने के लिए होती है। इस दीक्षा के परिणामस्वरूप यह कहा जाता है कि वह वास्तव में "नया पैदा होता है" (इसके साथ तुलना कीजिए "द्विज" नामक शब्द से, जिसका भारत में प्रयोग आर्य संस्कारों में दीक्षित व्यक्ति के लिए किया जाता है)। पीड़ा शक्ति देती है—यह सिद्धान्त ही इस विषय के मूल में विद्यमान है। शरीर एवं शक्ति दोनों की वृद्धि हो जाती है (शक्ति की वृद्धि के कारण शरीर) और नए रूप में पैदा होने वाला व्यक्ति जादूई रहस्यमयी शक्ति से निपटने में अधिक समर्थ बन जाता है। इन शक्तियों का उसे जीवन में सामना करना पड़ता है। यह एश्चिलियन (यूनानी कवि एवं नाटककार एश्चिलि) सिद्धान्त (कष्ट सहन करने से ज्ञान आता है) के कारण ऐसा नहीं होता है जितना कि कष्ट के माध्यम से ईसाई विशुद्धिकरण द्वारा होता है। यह परित्याग एवं दीक्षा के इन असभ्य व्यक्तियों के उदाहरणों में प्रतिबिम्बित होता है। कोई यह कहने का साहस करता है कि इन यज्ञों को आध्यात्मिक शक्ति के लिए किया जाता है। एक परवर्ती समय में जब वह स्वयं अपने संस्कार को नहीं समझता है, वह भी अंग-भंग को आत्माओं के लिए यज्ञरूप में सोचता है, जैसा अधिक असभ्य व्यक्तियों के सन्दर्भ में होता है, उदाहरणार्थ अमरीकी भारतीय लोग।

परन्तु अंगभंग या वंचना के यज्ञ का दूसरा पहलू भी है, जिसके कारण ऊपर इस तथ्य पर बल देना आवश्यक था कि जिन अंगभंगों का वर्णन किया जा चुका है उसमें इस कृत्य को जानबूझकर एक उद्देश्य से किया जाता था। जो कृत्य पहले सोद्देश्य नहीं होते हैं परन्तु वे अनिच्छित अंग-भंग होते हैं, इससे दूसरा पहलू अभिव्यक्त होता है। यह तब होता है जब कोई अत्यधिक उत्साहित होता है। यदि एक परिवार में अचानक मृत्यु हो जाए, यदि एक कंजूस को पता चले कि उसका सोना चुरा लिया गया है, यदि कोई लड़की प्रेम-सम्बन्धों के विषय में परेशान हो; आधुनिक उपन्यास भी समुचित प्रकार से यह चित्रित करता है कि विपत्ति पर तर्क से काबू नहीं किया जा सकता। परिवार चिल्लाता है, कंजूस रोता है और अपने बाल नोंचता है, लड़की अपने रुमाल को फाड़ देती है। जिन्होंने सांप का दुःख देखा है या बत्तख को अपने साथी से वियुक्त होते देखा है, या गाय को उसके बछड़े से अलग होते देखा है, थोड़े लोग ही इसमें शंका करेंगे कि असभ्य व्यक्ति भी सही दुःख का अनुभव कर सकते हैं और शोक करने वाले के काम में अपने

२. डरखेम, दि इलिमेण्टरी फार्मज् ऑफ दि रिलीजियस् लाइफ, पृ० ३१२

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दुःख की सही अभिव्यक्ति ही हो सकती है। यज्ञ का विचार आने से पूर्व शोक करने वाला असभ्य व्यक्ति अंगभंग करने में तल्लीन हो जाता है जिसका परिणाम चीरफाड़, रक्तस्राव, बाल नोंचना, अंगुलि कर्तन एवं दाँतों का उखाड़ना होते हैं। ये सभी प्रारम्भ में वास्तविक भावों की अभिव्यक्ति होते हुए संस्कार का रूप धारण कर लेते हैं। वे सभी दुःख की अभिव्यक्ति के रूप में सही नहीं होते हैं परन्तु फिर भी वे इतने समर्पित भाव से दुःख का ढोंग करते हैं कि पात्र बेदर्दी से अपने आपको घायल कर लेते हैं तथा कभी-कभी मात्र अत्यधिक उत्साह के कारण अपने आपको मार भी लेते हैं। यह भीड़ के स्वरूप के प्रभाव का सर्वोत्तम उदाहरण है। इसके परिणामस्वरूप मनुष्य अपने आपे से बाहर हो जाते हैं और भावना के दास बन जाते हैं। वे उस दुःख के दास नहीं बनते हैं जिसको जागृत किया जाता है। परन्तु भीड़ की दौरे वाली परिस्थिति से उत्पन्न होने वाले उन्माद के वे दास बन जाते हैं। इनमें से कोई भी वास्तव में बिल्कुल यह ध्यान नहीं रखता कि सभी लोग, जो स्वयं विनाशात्मक हिंसा के कारण शोक कर रहे हैं, उनमें से कोई आदमी मर गया है या नहीं। परन्तु फिर यह स्पष्ट है कि ऐसे अवसर पर की जाने वाली चोटों तथा चीर-फाड़ को किसी भी प्रकार से यज्ञ नहीं कहा जा सकता; तब तक, जो अन्ततोगत्वा होता है, वह संस्कार इतना घिसा-पिटा सा बन जाता है कि इसको बिना किसी उत्साह से ही किया जाता है। वह उसका मात्र रूपार्थ बनकर रह जाता है। जब असभ्य व्यक्ति स्वयं अपने आपसे यह पूछता है कि वह बाल क्यों नोंच रहा है और अपने आपको क्यों काट रहा है; तब इन भेंटों को वास्तविक यज्ञीय बलियों से जोड़कर वह एक उत्तर खोजता है। वह उनको इस आत्मा या उस आत्मा के लिए किए गए यज्ञ कहता है। उदाहरण के लिए जब एक महान् मुखिया मर जाता है तो आत्माओं को बाल भेंट किए जाते हैं और सभी लोग उन्माद के साथ शोक करते हैं। वे उसकी आत्मा को बलि चढ़ाते हैं, तथा जो वे बाल नोंचते हैं और जो खून वे बहाते हैं उनको भी उसके लिए बलि ही समझा जाता है। परन्तु स्पष्टतया यह उस परिस्थिति से एक भिन्न चीज है जहाँ भारतीय संस्कार में बाल भेंट किए जाते हैं; और जिसके सिर से बाल काटे गए हैं उस बच्चे की ओर से ये शब्द कहे जाते हैं; "हे आत्मन्! इस बाल को ग्रहण करो और इसके जीवन को मत ग्रहण करो।" जैसा समझाया जा चुका है, ऐसे सन्दर्भ में सम्पूर्ण के स्थानापन्न के रूप में बाल प्राणतत्त्व की ही भेंट होते हैं।

कुल मिलाकर जो सर्वाधिक सम्भव रवैया प्रेतों तथा पितरों के प्रति अपनाया जाता है, वही अधिकांश असभ्य व्यक्ति के यज्ञों तथा सभ्य यज्ञों में दूसरी आत्माओं तथा देवताओं के लिए अपनाया जाता है। भोजन देवता को प्रसन्न करता है और मनुष्य को शक्तिशाली बनाता है। जब भोजन स्वयं पवित्र होता है मनुष्य अपने आप में दिव्यशक्ति को आत्मसात् कर लेता है। परन्तु अनेक सन्दर्भों

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

में ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता है कि भोजन पवित्र है और यज्ञ का सम्पूर्ण उद्देश्य केवल आत्माओं को सन्तुष्ट करना ही है। अत: प्राचीन चीनी ग्रन्थों का कहना है कि धान्य एवं पशु के रूप में दी गई भेंट, जिसको यज्ञ के नाम से पुकारा जाता है, उनको "देवताओं को आनन्द देने के लिए" दिया जाता है। इस सन्दर्भ में भी यही होता है। उदाहरण के रूप में भारत में अकाल की बुरी आत्मा को दूर भगाने के लिए धान्य की बलि दी जाती है। यह इसे प्रसन्न करती है और स्वत: इसका विनाश कर देती है। स्लाव लोग अपने परित्राता सर्प-आत्मा को सन्तुष्ट रखने के लिए दूध की भेंट चढ़ाते हैं तथा इस प्रकार उसको उदार बना लेते हैं। साँप एवं देवता दोनों के प्रति एक भारतीय भी वैसा ही व्यवहार करता है। यूनानी लोग भी अपने देवताओं को सन्तुष्ट करते थे तथा विद्वेषपूर्ण राक्षसों को उन्हीं साधनों द्वारा दूर भगाते थे। जबकि मृत व्यक्ति के प्रेत को भोजन करवाना यज्ञ नहीं है बल्कि परिवार के एक सदस्य के लिए दिया गया भोजन ही है। परन्तु फिर भी जब वह प्रेत दिव्य स्थिति को प्रोन्नत हो जाता है तब वह उसको ग्रहण कर लेता है। जब उसे अधिक औपचारिकता एवं श्रद्धा से भेंट किया जाता है, जैसे देवता एक बलि को ग्रहण करता है तो इन दोनों ही सन्दर्भों में इसके उद्देश्य को समझ लिया जाता है। इसके अतिरिक्त जैसे भारत में देवता न केवल पारिवारिक मित्र होते हैं परन्तु पूजक के वास्तविक सम्बन्धी होते हैं, वे वंशानुगत परम्परा के परिणाम स्वरूप नहीं होते हैं क्योंकि कबीले के देवताओं को उसी रक्त एवं प्रकृति का समझा जाता था, जैसे कबीले के आदमी होते हैं। वैदिक कवि अपने देवता को कहता है: "आप हमारे मित्र, हमारे अपने, हमारे सम्बन्धी हैं।"

परन्तु यदि कोई देवता क्रुद्ध हो जाता है तो वह क्षति पहुँचा सकता है या विनाश कर सकता है; उस सन्दर्भ में किये गए पाप के प्रायश्चित के लिए भेंट दी है। अपने सबसे सरलतम रूप में विद्वेषपूर्ण आत्माओं के लिए यही रवैया होता है। उनके द्वारा उत्पन्न किए जाने वाले प्रभाव से वह विद्वेषपूर्ण सिद्ध हो जाता है। यदि पितरों के गठिया थी तो वे विश्वास करते थे कि एक आत्मा उनको तंग करती थी। यदि एक असभ्य व्यक्ति पेड़ से अपना सिर टकराता है तो वह पेड़ से क्षमा माँगता है। पेड़ ने इस कारण उसको एक धक्का दिया है। वह यह निष्कर्ष निकालता है कि इसका कारण गुस्सा है। वह कहता है, "अवश्यमेव, मैंने अपराध किया है या आत्मा मुझ पर जादू नहीं करेगी" या यदि उसने सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया है और फिर उसे चोंट पहुँचती है तो वह कहता है, "विद्वेषपूर्ण आत्मा फिर आ गयी है; मैंने उसको शान्त करने के लिए पर्याप्त मात्रा में नहीं दिया है।" ऐसी शक्तियों की उपस्थिति में असभ्य व्यक्ति डर पर काबू प्राप्त नहीं करता है। वह कहता है, "हे भयावह! तुम्हारे लिए यहाँ बहुत कुछ है; और कृपया इसे दोबारा मत कीजिए।" वह प्रार्थना करता है और देता है। यहाँ उसका

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

रवैया जादूई नहीं होता[3] अपितु धार्मिक होता है। इसलिए वह प्रेत के विषय में कहता है, "हमें इसे भोजन देना चाहिए और हम पर इसे मँडराने नहीं देना चाहिए; हे प्रेत ! इस भोजन को लो और सन्तुष्ट हो जाओ।" कुछ भय तो होता है परन्तु कोई महान् आश्चर्यमय भय नहीं होता है। क्रोध तथा भय की भावना अधिक होती है। फिर, एक अज्ञात जिले में प्रविष्ट होने पर काकेशियन पर्वतारोही पहले ही सन्तुष्टि के लिए अतिक्रमण करने के सम्भव पाप से मुक्ति पाने के लिए बलि-रूप पत्थरों का ढेर लगा देता है, जैसे एक लखपति अपने किये गए पापों के बदले में मन्दिर का निर्माण करवाता है। उसने अपने दिल की अज्ञानता के कारण ये पाप किए होते हैं, "मैं आशा करता हूँ कि आप नाराज नहीं होंगे, यदि मैंने कोई पाप किया हो; मैंने आपके लिए अपना ढेर लगा दिया है," काकेशियन पर्वतारोही इस प्रकार सोचता है। इसी तरह एक अफरीकी मुखिया भी एक नए घुसने वाले तथा प्रदेश पर आक्रमण करने के उद्देश्य से (अर्थात् घुसने के उद्देश्य से और इस प्रकार पाप करने से) प्रदेश के राक्षस को शान्त करने के लिए पहले ही सैंकड़ों वध्य भेंट करता है। उसी सिद्धान्त के अनुसार एक मकान बनवाने वाला यज्ञ करता है। ऐसे अविज्ञात देवता भी होते हैं जिनके क्रोध को शान्त किया जाना है। अतः भारतवर्ष में 'विश्वेदेवा' को सन्तुष्ट करने के लिए यज्ञ किये जाते हैं; अर्थात् उन देवताओं के लिए यज्ञ किये जाते हैं जिनका नाम लेकर ग्रहण किया गया है। अविज्ञात देवता के लिए भी श्रद्धांजलि अर्पित की जाती है। इसके अतिरिक्त पुत्रों को पिता के पाप के लिए प्रायश्चित करना चाहिए और एक व्यक्ति को कबीलें के लिए प्रायश्चित करना चाहिए। पुत्र को इस प्रकार के पिता का पुत्र होने के लिएं सक्रिय रूप से अपराधी माना जाता है। एक व्यक्ति को अपराध करने वाली संस्था के सदस्य के रूप में अपराधी समझा जाता है। अतः ऋग्वेद में एक पुत्र, जो पीड़ित हैं, देवता को "मेरे पिता द्वारा किये पापों के लिए" प्रसन्न करता है। वह ऐसा इस सिद्धान्त के अनुसार करता है कि यदि एक व्यक्ति प्रायश्चित करता है तो वह इस बात का प्रमाण है कि देवता क्रुद्ध है और यदि देवता क्रुद्ध है तो इसका कारण यह होना चाहिए कि मनुष्य को देवता को कुछ देना है। वह एक ऋण है जिसको चुकाया नहीं गया है। वह या तो एक भेंट हो सकती है या देवता के मार्ग का अनुसरण करना है। उस मार्ग में रहना ही मनुष्य का दायित्व है जिसे मनुष्य को देवता को चुकाना है। इसलिए साधारण ब्राह्मण

---

३. आस्ट्रेलिया के लोगों की अपने पितरों के प्रति प्रार्थनाओं में एक धार्मिक रवैया अपनाया जाता है। उनको वे एक जीवित पदार्थ के समान गाते हैं और इसमें अपना गीत भी जोड़ देते हैं। इसके साथ-साथ वे इनको फैलाने तथा बहुलीभूत होने के लिए प्रार्थना भी करते हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विचारधारा के अन्तर्गत पाप के भाव का तात्पर्य है ऋण (तुलना करें लैटिन रेउस् ऋणी)। जो यज्ञ इस ऋण को चुका देता है वह मनुष्य को मुक्त करवा देता है। यह यज्ञ किसी दूसरे के द्वारा भी किया जा सकता हैं। इसलिए ब्राह्मण को पशु-यज्ञ द्वारा छुटकारा मिल जाता है (स्क्सोड १२-१३)। इस प्रकार के मुक्ति दिलवाने वाले यज्ञ वास्तव में भेंट-बलि नहीं होते हैं यद्यपि उनका रूप भेंट का ही होता हैं। प्राचीनकाल में एक आदमी, जो दूसरों को मार दिया करता था, वह क्षति पहुँचाने वाले कबीले के हाथों अपने जीवन को खो बैठता था, परन्तु वह गायों की 'भेंट' देकर अपने आपको दोबारा वापिस खरीद (छुटकारा प्राप्त) सकता था।[४] इसलिए एक आदमी, जिसने एक देवता के प्रति अपराध किया है, देवता के पास जाता है और एक दूसरा सन्तोषप्रद वध्य (पशु आदि) देकर अपने जीवन को लेकर बच सकता है। श्रेष्ठ प्रकार के धर्मों में देवता स्वयं वध्य को दे देता है या स्वयं भी वध्य बन जाता है। इसके माध्यम से न्यायिक अर्थ में सन्तुष्ट करने के लिए ऋण को चुकाया जाता है। बौद्ध धर्म के सन्दर्भ में कर्म के द्वारा मनुष्य के विरुद्ध पाप स्वतः स्थापित हो जाता है और दिव्य पुरुष द्वारा संसार के कष्टों को अपने ऊपर ग्रहण करने से ही छुटकारा मिल सकता है। पाप के लिए ऋण का चुकाना ही यह छुटकारा है। ईसाई धर्म में, जैसा प्राचीन ईसाई लोगों का विश्वास था कि एक दिव्य शक्ति दूसरे को अर्थात् राक्षस को सन्तुष्ट करने के लिए या ईश्वर के न्याय को सन्तुष्ट करने के लिए ऋण चुकाती थी। यह भाव कि पाप की अदायगी इस प्रकार दूसरे को सौंपी जा सकती है, इस भाव से परस्पर सम्बन्धित है कि पाप किसी बीमारी या किसी प्रकार की बुराई का वस्तुनिष्ठ रूप है। इसको धोया जा सकता है या किसी बलि के बकरे के सिर पर मढ़ा जा सकता है तथा इसको अन्यत्र स्थानान्तरित किया जा सकता है। बीमारी पाप का सार तत्त्व है। इस प्रकार वैदिक कवि चिल्लाकर कहता है, "ओ मुझे मेरे पाप, मेरी बीमारी से मुक्ति प्राप्त करवाइए।" सभी बीमारियों को स्थानान्तरण के योग्य सार तत्त्व रूप में समझा जाता है और जब इसका स्थानान्तरण हो जाता है तो यह पहले स्वामी को मुक्त कर देती है। भारतवर्ष में प्रत्येक किसान स्त्री, जो पीड़ित है, अपनी बीमारी को एक चीथड़े में संक्रमित करके सड़क पर इस आशा से फेंक देती है कि कोई दूसरा उसको उठा लेगा। उसने अपनी बीमारी उस पर

४. यूरोप में यह एक रिवाज था और सम्भवतः भारत में भी विद्यमान था, जैसा कानूनी दस्तावेज़ों से मालूम पड़ता है। भारतवर्ष में सबसे पहला मुक्तिदायक यज्ञ "प्रजाओं के पति" द्वारा किया गया था। यज्ञ में स्वयं अपने आपको एक बलि के रूप में मार दिए जाने की अपेक्षा इसने अपने आपको खरीद लिया था। —शतपथ ब्राह्मण, ११.१.८.४

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

डाल दी है और जब कोई दूसरा उसको लेता है वह स्वयं इस बीमारी से मुक्त हो जाएगी। प्राचीन वैदिक भारतीय लोग "अपनी बुराई, शत्रुओं तथा पापों" को एक सुदूरवर्ती तृत नामक देवता के पास भेज दिया करते थे। इस देवता के पास दूर रहने एवं पानी का रूप धारण करने का दोहरा लाभ था। इसके पास एक विशुद्धीकरण की शक्ति थी जो बुराई को स्वतः दूर भगा देती थी। जब इन्द्र देवता ने पाप किया तो जिन्होंने उसका पाप अपने ऊपर लेने के लिए प्रस्तुत किया वे दिव्य रूप वाले पहले जलीय तत्त्व ही थे। उन्होंने "उसकी लज्जा को सहन करने के लिए अपनी अनुज्ञा प्रदान की" कि अपराधी निर्दोष है और इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।[५]

दिव्य रूप में ऋण को स्वीकार करने का सर्वोत्तम स्वरूप एक विशुद्ध हृदय द्वारा किए गए यज्ञ के भाव में उपलब्ध होता है। एक आदमी एक देवता को प्रसन्न करने के लिए अपना कुछ अंश भेंट स्वरूप प्रदान करता है। उस देवता के तौर-तरीके इस प्रकार की माँग प्रस्तुत करते हैं। दिव्य शक्ति ने, जिसने मनुष्य के लिए कुछ दिया है, उसके बदले में मनुष्य को उसका ऋण चुकाना है। पूजा करने वाला देवता के चरित्र में उपलब्ध होने वाले स्तर के अनुकूल अपने आपको ढालने का प्रयत्न करता है। इसीलिए ही परित्याग एवं तपश्चरण के विभिन्न रूप पैदा होते हैं। परन्तु यद्यपि, जैसा पहले ही दिखलाया जा चुका है, परित्याग एवं तपश्चरण का सम्बन्ध असभ्य व्यक्तियों के सम्प्रदायों से है। चीनी सिद्धान्त एवं इस प्रकार की प्रक्रियाओं को असभ्य व्यक्तियों की समानान्तर स्थिति से जोड़ना अनैतिहासिक होगा। उनका स्वतन्त्र रूप से आविर्भाव हुआ है तथा वे स्वाभाविक रूप में विभिन्न धर्मों में पैदा हुए हैं। इस प्रकार व्रत करना पवित्र संस्कारों (जैसे अन्त्येष्टि संस्कार में) के लिए प्रारम्भिक अवस्था है या आध्यात्मिक शक्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना है। व्रत पवित्र करता है और आध्यात्मिक बनाता है। व्रत उस प्रक्रिया में एक दृष्टि एवं व्यामोह पैदा करता है जिसके विषय में स्वाभविक रूप से यह निर्णय किया जाता है कि इनकी उत्पत्ति अध्यात्म से हुई है। अपने टोटम-पशु का स्वप्न देखने से पहले युवा भारतीय को कई दिनों तक

५. एक स्थानापन्न वस्तु सदैव ही मूल वध्य पशु के रूप में स्वीकार्य होती है। इसलिए मृत्यु जब एक आदमी को चाहती है और उसे दूसरा मिल जाता है तो वह सन्तुष्ट हो जाती है, जैसा भारतवर्ष में छुट-पुट कथाएँ बतलाती हैं। पुरोडाश या इस जैसी आकृति से भी स्थानापन्न पशु को बनाया जा सकता हैं या बैल की जगह एक बकरे से भी काम चलाया जा सकता हैं। इसलिए आधुनिक यज्ञ में निमज्जन के लिए एक तिनकों का बना हुआ आदमी स्थापित कर दिया जाता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

व्रत रखना चाहिए। दीक्षा से पहले लगभग सभी असभ्य लोग शरीर को बुराई से मुक्त करने के लिए व्रत रखते हैं ताकि यह शोधन लगभग एक दवा का कार्य करता है। इसे शोधन के साथ प्रायः जोड़ा भी जाता है। मुखौटों एवं झुककर प्रणाम करना आदि प्रारम्भिक उपायों से दिव्यता के सादृश्य को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है और एक विशुद्ध हृदय की बलि इसकी तह में होती है। अपने आपको बुराई से मुक्त करवाना ही दिव्यता की इस दीक्षा का उद्देश्य है। इसके उपरान्त विशुद्धता की आकांक्षा एक उपलब्धि हो भी सकती है या नहीं भी हो सकती है। जब कोई यह अनुभव करता है कि वह अपनी बुरी इच्छाओं को दबाकर उन्हें ईश्वर को एक भेंट के रूप में अर्पित कर रहा है, तब वास्तव में यह एक यज्ञ होता है; जैसे एक अंगुलि को काट दिया जाए और इसकी बलि दे दी जाए। परन्तु जब कोई अपनी बुरी इच्छाओं को दबाता है और सोचता है कि वह इस प्रकार अधिक शक्तिशाली बन जाएगा या और अधिक आध्यात्मिक बन जाएगा या इस प्रकार बुरे कर्मों पर काबू प्राप्त कर सकेगा, जो उसके अन्यथा एक पशु के रूप में पुनः जन्म ग्रहण करवाएंगे। यह अपने आप में एक अयज्ञीय कार्य ही है। एक प्राचीन ब्राह्मण-कथा का निर्णय भी यही है, जिसने ईसा के समय से शताब्दियों पूर्व संस्कारों एवं यज्ञों के उत्सवों में भेद करते हुए विशुद्ध हृदय से कहा था, "यदि कोई व्यक्ति सभी नियमों का पालन करता है तथा सभी चालीस संस्कारों को करता है एवं पुण्यात्मा नहीं है वह उससे कम है जो कोई भी यज्ञ या संस्कार नहीं करता है और पुण्यात्मा है।" एक ब्राह्मण के लिए, वैसे ही प्राचीन विचारधारा के बौद्ध के लिए पुण्यात्मा होना, विशुद्ध हृदय का होना संयत मन का चिह्न था। उनके लिए यह यज्ञ दिव्यस्वरूप की नकल नहीं था। अधिकांश देवताओं के पास विशुद्ध मन के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता है। मनुष्य की दिव्य स्थिति की नकल का सम्बन्ध देवताओं से नहीं था परन्तु इसका सम्बन्ध सर्वव्यापी रूह से था। गुण के रूप में विशुद्धता का तात्पर्य भौतिक जगत् से मुक्ति था। यह मुक्ति यज्ञ द्वारा प्राप्त की जा सकती थी। सर्वोच्च को प्राप्त करने के लिए जो कुछ कम अच्छा है उसके परित्याग के अर्थ में ही यह मुक्ति सम्भव थी। एक ऐसी दिव्यशक्ति के प्रति किया गया यह कोई यज्ञ नहीं था जिसके लिए यह कोई स्वीकार्य भेंट हो। दूसरी ओर चीन में, "सदाचार ही सारतत्त्व है" यह एक प्रसिद्ध सूक्ति है। इसका तात्पर्य है कि नैतिक आचरण ईश्वर या आदरणीय पैतृक आत्माओं के प्रति एक प्रकार की भेंट है।

एक बात की खींचतान करके "बलि-यज्ञ" नामक शीर्षक के अन्तर्गत कभी-कभी ऐसी भेंट को भी लाया जाता है जो अगमेनन नामक यूनानी देवता ने दी थी और जब उसने इफिगोनिया नामक (यूनानी देवी) की भेंट चढ़ाई थी। वास्तव में यह एक प्रकार के अनुनय का ही रूप था जो दिव्य क्रोध को जीतने के

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

लिए दबाव में किया गया था। यह एक प्रकार का विशिष्ट बलि-यज्ञ का रूप होने की अपेक्षा पाप-नाशक था। इसकी तह में क्षति-पूर्ति करने के लिए एक ऋण चुकाने की भावना थी। ब्राह्मणों द्वारा यज्ञ की एक व्याख्या के मत के अनुसार प्रत्येक यज्ञ एक ऋण चुकाने के समान ही है या बल्कि एक भेंट देने में प्रत्येक व्यक्ति "अपने आपको खरीद लेता है" (आत्मानम् निष्क्रिणीते)। वह अपने आप को छुटकारा दिलवाता है। वह प्रतिनिधि के रूप में अपना ऋण चुकाता है (ऐतरेय ब्राह्मण २.३.११)।[६]

शरण में जाना तथा संलापन की भावना से यज्ञ-बलि का स्पष्ट विरोध है।[७] रोबर्टसन स्मिथ के सिद्धान्त के अनुसार सभी यज्ञों की व्युत्पत्ति सामुदायिक भोज से हुई है और हव्य या भेंट एक परवर्ती धार्मिक उपज है, जबकि पाप नाश (समागन के बिना) इसका उलट है। इस सिद्धान्त का आधार सेमेटिक टोटमवाद था या इसको ऐसा समझा गया था। टोटम एक दिव्य वस्तु होती है। रक्त-बलि (टोटम-कबीले का एक सदस्य) टोटम की हत्या के अपराध को शान्त करती है। वध्य का भक्षण करना शक्ति का नवीनीकरण करता है। इसके अतिरिक्त आस्ट्रेलिया में टोटमवाद का एक अत्यधिक आदिम रूप टोटम में किसी भी प्रकार के देवत्व को स्वीकार नहीं करता है। यह केवल कबीले की आत्मा या शक्ति को स्वीकार करता है। यज्ञ के इस संस्कार में टोटम-जाति के विकास की वृद्धि करने के लिए रक्त, धूलि एवं धान्य बिखेर दिया जाता है और उसमें से थोड़े-से टोटम को खा लिया जाता है। इसका तात्पर्य आत्मा से समागम से होता है। अफ्रीका एवं मेक्सिको में "देवता-भक्षण" एक वैसा ही समागन संस्कार है। परन्तु यह

---

६. इस यज्ञ का रक्त बुरी आत्माओं के लिए होता है। इस यज्ञ में किसी भी प्रकार की छोटी-सी गलती के लिए इन बुरी आत्माओं को सन्तुष्ट किया जाता है। यह इस विश्वास का रोचक अवशेष है कि राक्षसों को सन्तुष्ट किया जाना चाहिए। वैदिक ग्रन्थों के लेखक के लिए यह विवाद का बिन्दु है कि क्या बुरी आत्माओं के प्रति प्रार्थना करना यज्ञकर्ता के लिए वांछनीय है। —वही, २.७.१

७. देखिए रोबर्टसन स्मिथ, रिलीजन्स ऑफ दि सेमिटिस् (१८९४) और टीले गिफर्ड् लेक्चरस् (न्यू० या० १८९७)। टीले महोदय का विचार है कि धर्म मनुष्य की "असीम के प्रति उत्कंठा" को व्यक्त करता है (पहले ही चर्चित)। टीले महोदय का कहना है कि धर्म में वह सिद्धान्त भी निहित है कि एक सजातीय अलौकिक शक्ति से मनुष्य के संलापन की उत्कण्ठा ही यज्ञ का आधार है। यह विचार बहुत अस्पष्ट तथा बेकार सा है। मुक्ति के यज्ञ के लिए इसको लागू भी नहीं किया जा सकता।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जानना कठिन है कि ऐसा यह संस्कार अन्यत्र (आस्ट्रेलिया में इसने ऐसा रूप धारण नहीं किया है) एक यज्ञ बलि कैसे बन गया है। भोज अनुनय-विनय का प्रकार है—यह एक विशुद्ध धारणा है। आस्ट्रेलियाई टोटम-भोज के विषय में साधारण रूप में डरखेम महोदय घोषणा करते हैं, "यज्ञ का यही आधार है" और इसको सिद्ध करने के लिए वह यह मत प्रस्तुत करते हैं कि बिखेरे गए रक्त एवं धूलि "जैसे मानो" एक प्रकार की भेंट हो क्योंकि कोई भी व्यक्ति इसे कबीले की आत्मा के लिए सहायता का माध्यम मान सकता है और इसलिए ही यह एक भेंट होगी तथा यह एक जाति की आत्मा के लिए "यथार्थ हव्य" भी हो सकता है। परवर्ती काल में इसके विषय में ऐसी कल्पना की गई थी (आस्ट्रेलिया के बाहर) और इसलिए इसको मूलतः एक भेंट ही समझा गया था। इसी आधार पर कोई यह मत प्रस्तुत कर सकता है कि प्रारम्भ से ही यह एक बलि-यज्ञ ही है तथा इस प्रकार समागम भाव की पूरी प्राथमिकता को दुर्बल कर देता है। परन्तु कोई भी व्यक्ति आस्ट्रेलियाई इंटीच्यूआमा-संस्कार के पूरे ब्यौरे को पक्षपात शून्य मन से नहीं पढ़ सकता है और इसमें आत्मा के प्रति एक भेंट की भावना को खोज सकता है। यह केवल धार्मिक या जादुई सम्पर्क का बन्धन है। इसे टोटम को खाने के लिए व्यक्त किया जाता है और बाद में भी ज्यादा टोटम खाने के लिए यह एक साधन है। यदि कोई यह कहता है कि जब एक भारतीय किसान अपने खेत में अपनी गाय को बछड़ा दिलवाने में आश्वस्त होने के लिए धान्य बिखेरता है, वह गाय को बलि दे रहा है (जो बलि को खाती नहीं)। तब कोई यह कह सकता है कि अधिक फसल पैदा करने के लिए धान्य, धूलि एवं रक्त बिखेरने वाला आस्ट्रेलियाई जादू भी एक बलि ही है, परन्तु अन्यथा यह ऐसा है नहीं। बल्कि यह किसी भी व्यक्ति को जोरास्टर के महान् विचार का पूर्वाभास दिखलाई पड़ता है कि ईश्वर को भी बुराई से लड़ने के लिए मनुष्य की सहायता की आवश्यकता है और किसी को भी यह मालूम पड़ सकता है कि आस्ट्रेलिया का यह असभ्य व्यक्ति जो देवता की जानबूझकर सहायता करता है, उसके लिए वहाँ कोई आत्मा नहीं होती। असभ्य व्यक्ति की यही इच्छा होती है कि वह धान्य एवं पशु को चैतन्य प्राणी के रूप में ही सन्तुष्ट करे। परन्तु यह भी एक अतिशयोक्ति ही होगी। वह कोई भेंट प्रस्तुत नहीं करता है और सामान्य अर्थ के अनुसार वह किसी भी दिव्य आत्मा की सहायता नहीं करता है। जैसा डरखेम महोदय ने स्वयं स्वीकार किया है कि यह सम्प्रदाय "सभी व्यक्तियों" के लिए है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि वही आस्ट्रेलियाई दूसरे अवसरों पर वास्तव में आत्माओं को जल तथा उपकरणों की भेंट भी प्रदान करता है। इसलिए इस सन्दर्भ में एक आत्मा को भेंट प्रदान करने का भाव उतना ही प्राचीन है जितना टोटम से सम्पर्क करने का भाव। इस बात को दिखलाने के लिए कोई भी सन्तोषजनक व्याख्या

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रस्तुत नहीं की गई है कि समागन से कैसे परिमार्जन यज्ञ की उत्पत्ति होती है।

कुछ फ्रेंच विद्वानों (ह्यूबर्ट एवं माऊस) के सिद्धान्त के अनुसार एक वध्य पशु का सबसे प्राचीन यज्ञ में पवित्रीकरण किया जाता है (अर्थात् वह स्वंतः पवित्र नहीं है) और वह इस प्रकार आराधनात्मक भेंट के रूप में आध्यात्मिक शक्तियों के साथ संप्रेषण का माध्यम बन जाता है, परन्तु साथ-साथ वह बीच के समागम का माध्यम भी बनता है। पूजक के द्वारा वध्य का मांस खाया जाता है और उसे देवताओं को अर्पित भी किया जाता है। इस भाव के माध्यम से वध्य पशु मुक्तिदाता बन जाता है कि पशु पाप करने वाले का स्थान ग्रहण कर लेता है। यज्ञ के इस सिद्धान्त में बलि एवं समागम के सिद्धान्तों को मिलाने का प्रयत्न किया गया है परन्तु सभी प्रकार के यज्ञों की एक सामान्य व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए यह स्पष्ट रूप से अपर्याप्त है। सामुदायिक भोज का निर्माण आवश्यक रूप से वध्य पशु के शाप से नहीं किया जाता है। समागम एवं सम्प्रेषण के भावों में कोई भ्रम न हो, इसमें भी सावधानी रखनी चाहिए। जैसा बतलाया जा चुका है, भारतवर्ष में अन्त्येष्टि भोज का करने वाला अपने आपका भोज को ग्रहण करने वालों से तादात्म्य स्थापित करना नहीं चाहता है। वह केवल सामाजिक मेल-जोल के अन्तर्गत मृतक के विषय में परिवार के साथ केवल मिल-जुलकर बैठना चाहता है। इस प्रकार का एक भोज आवश्यक रूप से समागम को व्यक्त नहीं करता, यद्यपि यह सहभोजी हो सकता है। सम्प्रेषण का प्रत्येक यज्ञ पापनाशक या मुक्ति देने की आवश्यकता को तो बिल्कुल ही अभिव्यक्त नहीं करता है। जैसे पहले इसकी व्याख्या की जा चुकी है, यज्ञ का एक ऐसा रूप है (असाधारण नहीं)। उदाहरण के लिए बोर्नियो में, जहाँ एक सूअर या ऐसे ही पशु की हत्या की जाती है और उसके माध्यम से पितरों या देवताओं के लिए एक सन्देश या जिज्ञासा भेजी जाती है। इसकी (पशु) आत्मा सन्देश को ग्रहण करती है और इसका जिगर उत्तर देता है। भारतवर्ष में महान् अश्व-यज्ञ से पहले ऊपर जाकर देवताओं को यह बतलाने के लिए एक बकरे की बलि जाती है कि एक महान् यज्ञ होने वाला है। अफ्रीका में उसी उद्देश्य के लिए एक आदमी या अनेक आदमियों को मारा जाता है और सन्देशवाहक का कार्य करते हुए वे राजा का सन्देश ले जाते हैं। प्रायः उसको यह दोबारा विचार आता है और हड़बड़ी में उसको ले जाने के लिए एक दूसरे आदमी को मार दिया जाता है। ऐसी हत्या केवल एक सम्प्रेषण का माध्यम होती है। इस संस्कार को समागम की भेंट कहना बेढंगा होगा। पशु एक डाकिया है। टिड्डी के समान भारतवर्ष का किसान टिड्डी-दल के पास सन्देश ले जाने देता है या सही तौर पर आइनु (अफ्रीकी आदमी) भी भालू को मारता है और भालू लोमों के पास एक सन्देश भेजता है। उसी समय जब इस सन्देश से एक प्रश्न अभिप्रेत होता है तब शकुन-विचार के माध्यम से यह यज्ञ देववचन तुल्य

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

संस्कार बन जाता है। इस प्रकार हाउहाउ सम्प्रदाय (न्यूज़ीलैंड) के माओरी लोग (पोलेनोशियाई लोग) एक मुर्गे का सिर काट कर मृत शरीर की आकृति से देवताओं या पूर्वजों द्वारा वापिस भेजे गए उत्तर के रूप में इसकी व्याख्या किया करते थे। १६०५ में यह बतलाया गया कि एक वध्य पशु के रूप में उन्होंने एक यूरोपियन को स्थानापन्न कर दिया था (क्योंकि उसको देवताओं के अधिक निकट समझा गया था) और 'देवता लोग' उसके सिर के माध्यम से उनसे (माओरी लोगों से) बातचीत करते हैं।[८] लौकिक साहित्य में भी इस प्रथा के चिह्न उपलब्ध होते हैं। ऐनिड २ : ५४७ (ऐनिस के साहासिक कार्यों के विषय में वर्जिल द्वारा लिखा गया लातीनी महाकाव्य) का कहना है कि एक व्यक्ति की हत्या तीसरे (मृत) व्यक्ति को सन्देश पहुँचाने के लिए दूसरे व्यक्ति द्वारा की जाती है। यह सन्देश अच्छी इच्छा व्यक्त करने तथा प्रश्न पूछने के अतिरिक्त और काफी कार्य कर सकता है। यह समझौता करवाने का प्रयत्न कर सकता है परन्तु यह समागम का रूप नहीं है।

भारतवर्ष में देवताओं का सन्देशवाहक स्वयं अग्नि देवता है। वध्य पशु की व्याख्या भी ऊपर वाले मित्र के रूप में कार्य करने एवं सन्देशवाहक के रूप में की जा सकती है। परन्तु बिचौलिये के इस रूप में पूजक को एक ऐसी आवाज़ की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे अपने शब्दों में घोषणा करते हैं कि जो वे देवताओं को सीधे-सीधे कहना चाहते हैं; जिनके विषय में यह समझा जाता है कि वे सुनते और समक्षते हैं ("मेरी ओर कान लगाओ," यज्ञकर्ता कहता है)। जैसा यह स्वयं इसके विषय में ज्ञापित करता है, सम्पूर्ण यज्ञीय क्रिया-कलाप एकमात्र जादुई बाधक शक्ति बनने से पूर्व यज्ञ एक बलि होता है। जैसा भारतवर्ष के धार्मिक विकास के दूसरे चरण में हुआ है, इसमें केवल याचना का रूप ही अवशिष्ट रह गया है परन्तु जोड़ने वाले शब्द जादुई प्रभाव रखते हैं और वे देवताओं को पालन करने के लिए बाध्य करते हैं। देवता कभी-कभी अपने आपको विभाजित कर लेते हैं और वे इस प्रकार ब्रह्माण्ड बन जाते हैं परन्तु आदिम विचार के अनुसार यह यज्ञ नहीं है।[९]

---

८. देखिए दि जर्नल ऑफ दि पोलिनेशियाई सोसाइटी, दिसम्बर १६०६, पृ० १७२ तथा दि जर्नल ऑफ दि अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी, २६, पृ० १३४। इसके साथ लेखक की टिप्पणी देखें। —वही, पृ० ४१६

९. विछिन्न देवता को पृथ्वी पर बिखेरने का दूसरा मामला है। विकास को बढ़ाने के लिए यह एक जादुई तरीका है (जीवन, जैसे रक्त ही जीवन है)। खोण्ड लोग वध्य पशु को विभाजित करके उसके टुकड़ों की वृद्धि के लिए पृथ्वी पर बिखेर देते हैं। ऐटिस ओसिरिस आदि को इसलिए ही विछिन्न किया जाता है। वे उत्पादन के देवता हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वध्यपशु यदि पहले से पवित्र न हो तो इसे सदैव पवित्र किया जाता है। सर जे० जी० फ्रेजर द्वारा अपने गोल्डन बो नामक ग्रन्थ में संगृहीत सन्दर्भों में एक राजा को कभी-कभी मार दिया जाता है क्योंकि वह दुर्बल हो गया है। अब लेखक यह तर्क देता है कि यदि कबीले की शक्ति मुखिया में निहित है और यदि मुखिया की हत्या कर दी जाए तथा उसकी शक्ति किसी दूसरे के पास या कबीले के पास पहुँच जाए और ओसिरिस (मृतकों का राजा एवं न्यायाधीश) मिथ (मिस्री धर्म में) एक ऐसे राजा को अभिव्यक्त करता है जो फसल की आत्मा भी है; फसल की आत्मा को उसकी शक्ति को आत्मसात् करने के लिए खा लिया जाए और "यदि लोगों को इन दोनों प्रथाओं को मिलाने की सूझ गई हो" तो हमें यज्ञ की उत्पत्ति की व्याख्या मिल जाती है। इसमें जीसस क्राइस्ट का सूली पर चढ़ना भी सम्मिलित है।

इस सिद्धान्त में कई स्थानों पर 'यदि' शब्द का प्रयोग किया गया है। कबीले के कमजोर मुखिया को मारने की ऐसी प्रथा है जो भेड़ियों को ज्ञात है। उसी व्यावहारिक कारण से भारतीय लोगों द्वारा यह सलाह दी जाती है, "यदि राजा अपनी प्रजा की रक्षा नहीं कर सकता तो उसे एक पागल कुत्ते के समान मार दिया जाना चाहिए।" इसमें शक्ति का हस्तान्तरण अभिप्रेत नहीं है।

इ० वेस्टरमार्क महोदय के प्रयत्नसाध्य मत में बलि-सिद्धान्त की एक विभिन्नता उपलब्ध होती है कि देवताओं को भूखे मरने से बचाने के लिए भोजन दिया जाता है ताकि क्रमशः मनुष्य बुराइयों से बच सकें। देवताओं की कमी के कारण एक ऐसी अपरिहार्य स्थिति पैदा हो जाएगी; अतएव अन्त में स्पष्ट रूप से बलि-प्रदान के कारण यज्ञ झाड़-फूंक ही है। यह विचक्षण है परन्तु अविश्वासप्रद है। असभ्य व्यक्ति जो भेंट प्रदान करते हैं उनमें ऐसी कोई वितृष्णा नहीं पायी जाती है। इस सन्दर्भ में लेगरंगे महोदय का सुझाव विचार करने के योग्य है कि यज्ञ पवित्र करने की अपेक्षा यह भोजन को अशुद्ध कर देता है। यहाँ तात्पर्य यह है कि नए-नए फलों के समान वध्य पशु को खाना खतरनाक होता है, क्योंकि सभी पशु मूलतः पवित्र होते हैं। पशु के बुरे मन से छुटकारा प्राप्त करने के लिए देवता को रक्तदान किया जाता है, क्योंकि रक्त इसकी आध्यात्मिक शक्ति होता है। इस प्रकार पशु के भयानक गुण की उपेक्षा की जाती है क्योंकि जब पुरोहित उसी उद्देश्य से बलि को चखता है, वह पुरोहित उस आश्चर्यमय मन से निपटने के लिए सर्वोत्तम होता है।[१०] जिस उद्देश्य के विषय में यहाँ चर्चा

---

१०. एम०जे० लेगरंगे, एइडेस सूर ले रिलीजियन्स सेमेटिक्यूस् (पेरिस, १९०२)। टोटमवाद तथा सामुदियक भोज को यज्ञ में प्राथमिक तत्त्व मानकर एम० लेगरंगे द्वारा इनको छोड़ दिया गया है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

की गई है, वह निश्चित रूप से उपलब्ध नहीं होता है, यद्यपि असभ्य व्यक्तियों की विचारधारा से इसका तालमेल बैठ जाता है।

यज्ञ के मुख्य सिद्धान्तों में से, बलि देने वाला सिद्धान्त, जो श्रद्धाञ्जलि एवं परित्याग की भावना को आगे बढ़ाता है, यह सिद्धान्त उस यज्ञ की व्याख्या करने के लिए अपर्याप्त है जिसमें मेलजोल तथा समागम पाया है। समागम का सिद्धान्त, जिसमें सम्मानसूचक एवं पापनाशक यज्ञ की भावना को बढ़ावा मिलता है, पाप नाश की एक उपज के रूप में व्याख्या प्रस्तुत नहीं कर सकता और बलि की प्राचीन रीति-रिवाज की समान भाव से उपेक्षा करता है।[11] तब ऐतिहासिक दृष्टि से हमें दोनों सिद्धान्तों के परिणामों को मिला देना चाहिए और यह मानना चाहिए कि विभिन्न केन्द्रों में जहाँ एक प्रकार के स्वरूप का विकास हुआ है वहाँ अन्यत्र दूसरे प्रकार के स्वरूप का भी विकास हुआ है। हमें यह भी मानना चाहिए कि दोनों का तार्किक ढंग से एक साथ विकास हुआ है, क्योंकि आस्ट्रेलियाई विचारधारा के अनुसार अत्यधिक भिन्न धरातल पर हमें वास्तव में बलि एवं समागम साथ-साथ उपलब्ध होते हैं। जब तक मनुष्य पशुओं को अतिमानव या दिव्य समझता रहा है, वह किसी भी वातावरण में उनको एक खतरनाक कार्य समझकर उनकी हत्या किया करता था। साथ-साथ वह यह कल्पना भी किया करता था कि उनका भक्षण कबीले के जीवन में हाथ बटाने के समान ही है। उसी समय वे किसी भी प्रेतमयी या आध्यात्मिक शक्ति को आराधनात्मक भेंट भी चढ़ाया करते थे अपने आपको उनका कृपापात्र बनाने के लिए तथा अपने अपराधों की क्षतिपूर्ति करने के लिए वे दोनों ही कार्य किया करते थे। फिर, क्योंकि रक्त भी जीवन की ही भेंट है, इसको पाप करने वाले के जीवन के बदले में स्थानापन्न

११. असभ्य व्यक्तियों द्वारा, जो वध्य मानव भेंट रूप में दिया जाता है, वह सामान्यतया कबीले का सदस्य नहीं होता है। थलेन नामक सर्प-राक्षस की बलि देने के लिए खासी लोग एक आदमी को मारकर खाते हैं परन्तु यह आदमी हमेशा अजनबी ही होता है। नागा लोग अजनबी लोगों तथा युद्ध में बन्दी बनाए गए लोगों की बलि देकर देवताओं के क्रोध को शान्त करते हैं। असम में देवताओं की बलि दिए जाने वाले वध्य मानव कबीले के निवासी कभी नहीं होते हैं। सभी यज्ञों के संलापन सिद्धान्त का तात्पर्य एक वध्य टोटम ही होता है जबकि अधिकांश असभ्य लोग टोटमवादी नहीं होते हैं। उनका उद्देश्य संलापन करना नहीं होता है। मांस खाकर आनन्दित होना तथा आत्माओं को दावत देना ही उनका उद्देश्य होता है। प्राकृतिक रुचि को प्रसन्न करना या आत्माओं के क्रोध को शान्त करना ही उनका उद्देश्य होता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मानकर खून बहाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, जब कोई व्यक्ति पाप करके किसी आत्मा में जबर्दस्ती घुसता है और एक स्थानापन्न पशु पाप करने वाले को छुटकारा दिलवा देता है, ऐसी आत्मा क्रोधित होकर बदला ले रही होती है। जिन पशुओं को भोजन के रूप में भेंट दी जाती है तथा जिनको पूरा ही जला दिया जाता है, उनके लिए यह स्वाभाविक है कि पाताल के नीचे रहने वाले राक्षसों में किसी एक को खाने के लिए नहीं देना चाहिए। उनसे मेलजोल वाली जान-पहचान करना स्वाभाविक है, जैसे ऊपर वाले उदार देवताओं से भोजन के एक भाग या सम्पूर्ण भोजन को खाने के लिए जान-पहचान किया जाना स्वाभाविक है। पापनाशक बलियों को इसलिए जलाया जाता है क्योंकि जो बुरा दिखलाई पड़ता है उसे कोई भी स्वेच्छा से नहीं खाता है। असभ्य व्यक्तियों एवं सुसंस्कृत व्यक्तियों—सभी लोगों की यह राय है कि आत्माएँ आत्माओं के भोजन पर ही जीवित रहती हैं। वे माँस पर जीवित नहीं रहती अपितु माँस की रूह पर जीवित रहती हैं। वे उसमें से अधिकांश भाग को अपने हिस्से के रूप में गहण कर लेती हैं और सार को या जो अंश मनुष्यों के भोजन के रूप में अवांछनीय है उनको देवताओं के लिए छोड़ देती हैं। कुछ सन्दर्भों में मिल-जुल कर खाने की अपेक्षा पूरा भोजन ही देवताओं को बलि के रूप में दे दिया जाता है। अफ्रीकी लोग तरल पदार्थ को बलि के रूप में दिए जाने पर भाप बन कर उड़ने की व्याख्या इस सिद्धान्त के अनुसार करते हैं कि आत्माओं ने इसे पी लिया है।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि दुनिया में अब तक जो सबसे भयानक यज्ञ देखे गए हैं, उनका तात्पर्य केवल देवताओं पर 'सहानुभूतिपूर्ण' कार्य करने के लिए बल देना ही है। बिना देवताओं को ध्यान में रखे जैसे कोई पानी फेंकता है कि वर्षा आ जाए; इसलिए देवताओं को ध्यान में रख कर कोई व्यक्ति जल या रक्त फेंकता है कि वर्षा आ जाए, परन्तु यह सहानुभूतिपूर्ण नकल देवताओं के लिए कार्य करने के लिए एक आदर्श बन जाती है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि क्या पुरोहित तथा इन भीषण संस्कारों को करने वाले लोग यह सोचते हैं कि वे जादू के द्वारा देवताओं को बाध्य कर रहे हैं या क्या वे इस मान्यता पर कार्य कर रहे हैं कि देवता उस मार्ग पर चलेंगे जो मार्ग उनको दिखलाया गया है। अतः मेक्सिको में वर्षा के लिए किए गए यज्ञ में, जो अपने आप में आदिम नहीं है, और जिसका आविर्भाव ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ था, ट्ललोक को छोटे-छोटे बच्चों की टुकड़ियां भेंट की जाती थीं। जब उनकी बलि देने के लिए उनको ले जाया जाता था तो उनको रुलाया जाता था, "ताकि और अधिक वर्षा हो सके।" उर्वरकता की देवी के लिए मक्का के दानों को अभिव्यक्त करने वाले पशुओं के सिर काट दिए जाते थे और उनके दिलों को गर्म झरनों में वर्षा के अधिक बादल पैदा करने के लिए फेंक दिया जाता था। यह सब दिखावटी भेंट के रूप में किया जाता था।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मेक्सिको के लोग अपने देवताओं को बाध्य करने की नहीं सोचते थे परन्तु वे उनको केवल समझाने-बुझाने की सोचते थे। जादू धर्म का रूप धारण कर लेता था। इसका अन्तिम परिणाम इस प्रकार से अनुनयात्मक यज्ञ है। यह देवता को भक्षण करने या उन्हीं लोगों द्वारा किए जाने वाले समागम यज्ञ से बिल्कुल भिन्न है। फिर भी द्रविड़ लोग बिल्कुल वही यज्ञ किया करते थे जो मेक्सिको के लोग किया करते थे, अर्थात् वे खून बहाते थे। इसके साथ-साथ वे पार्थिव देवता को बाध्य करने के लिए (किसी अन्य शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता क्योंकि देवता स्वभावत: उदार होता है) अपने आँसू भी बहाते थे ताकि देवता मनुष्य की नकल करें तथा मूसलाधार वर्षा करें। जब कि मिस्मी लोग, जो एक उदार देवता के प्रति श्रद्धा रखते हैं, अपने देवताओं को केवल सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

उच्च प्रकार के धर्मों में कुछ छुट-पुट सुधार दिखलाई पड़ते हैं। श्रद्धांजलि उनमें एक मुख्य उद्देश्य बन गया है। प्राचीन जापानी सम्प्रदाय के दर्पण एवं तलवार ने दिव्य रूप धारण कर लिया है। कृतज्ञता ज्ञापन सम्बन्धी यज्ञ, जो सम्भवत: असभ्य लोगों को अज्ञात नहीं हैं, ज्यादा प्रखर बन गए हैं। उदाहरण के लिए ट्यूटोनिक जाति का संस्कार सम्बन्धी यज्ञ परिमार्जन के लिए, लाभ प्राप्त करने के लिए तथा धन्यवाद के लिए किये जाते थे।[१२] प्रत्येक नौ वर्षों में उपासला

---

१२. सुसंस्कृत सम्प्रदायों में धन्यवाद ज्ञापन सम्बन्धी यज्ञ प्रथम रूप में आने वाले फलों की भेंट देकर किया जाता था परन्तु मूलत: यह 'भेंट' उन लोगों का एक विशिष्ट भोज था जो उस समय उस खतरे को उठाते थे, जब पाबन्दी हटा दी जाती थी। असभ्य लोगों के जीवन में विशुद्ध धन्यवाद देने का यज्ञ हमेशा ही सन्देहास्पद हुआ करता है परन्तु ऐसा लगता है कि कुछ अफ्रीकी कबीलों द्वारा विजय के अवसर पर इसको किया जाता था। हमारे अमरीकी भारतीय लोग भी धन्यवाद सम्बन्धी भोज करते हैं, परन्तु, जैसा पहले बतलाया जा चुका है, इसके उदाहरण हमेशा ही तर्कसंगत नहीं होते हैं। उदाहरण के लिए, कैटलिन महोदय के अनुसार, चेरी जाति का "हरी-फसल का भोज" हुआ करता था। सात परिवार तथा एक जादूगर इसको मिलकर बनाते थे। राष्ट्रीय स्तर पर विशुद्धीकरण होने तथा भोज के होने तक कोई भी फसल के अन्न को खा नहीं सकता था। इसको धन्यवाद ज्ञापन के भोज के रूप में वर्णित किया गया है। परन्तु उसी वर्णन में असभ्य लोग "ईश्वर से सहायता" माँगते हैं और एक जादूगर सात हिरणों के चारों ओर सात बार नाँचकर इनको मारकर एक पेय पदार्थ तैयार किया करता था। सात आदमी एक खम्भे पर सात दिन तक पानी डाला करते थे। यह वर्णन एक युवा की चर्चा करता है जो भली आत्मा के प्रति समर्पित था, जब उसको

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

में एक सामान्य प्रकार का प्रायश्चित यज्ञ हुआ करता था। अकाल के समय में देवताओं को प्रसन्न करने के लिए नर-वलि दी जाती थी। इसमें राजा को भी एक वध्य पशु के रूप में सम्मिलित किया जाता था। कुछ शताब्दियों पूर्व यूरोप में उर्वरकता के देवता को नर-बलि (पापनाशक नहीं) दी जाती थी। परिष्कृत मानव स्वभाव ने धर्म को भी सुधार दिया है। जोरास्टर भली प्रकार की आत्माओं, अपने मानवीकृत गुणों एवं विशुद्ध आत्माओं के लिए बलि की बिल्कुल भी अनुज्ञा प्रदान नहीं करते परन्तु घटिया प्रकार की आत्माएँ तब भी भेंट ग्रहण कर लिया करती थीं। बुरी आत्माओं को भी भेंट दी जाती रही होगी (प्लुटारख महोदय ने उनका उल्लेख किया है परन्तु परम्परावादी सम्प्रदाय में उनको स्वीकृत नहीं किया गया है)। परवर्ती भारतीय धर्मों ने कभी-कभी सभी प्रकार के यज्ञों की सार्थकता को नकारा है (विष्णु धर्म ने पशु बलि का तिरस्कार किया परन्तु धान्य सम्बन्धी वलि को बनाए रखा)।[13] यूनान में होमर ने एक आदिम यज्ञ का शान्ति कारक बलि के रूप में उल्लेख किया है। वे एक संस्कार का वर्णन करते हैं जिसमें नदी को सन्तुष्ट करने के लिए घोड़ों को उसमें डुबोया जाता है (जैसे परशिया के राजा एक्ससेम्स ने हेलेसपॉण्ट की आराधना स्वर्णनिर्मित प्यालों से की थी)। होमर द्वारा वर्णित देवताओं के भोज, यद्यपि यह सहभोजी था, अंशतः देवताओं को प्रसन्न करने एवं उनकी आराधना के लिए एक भेंट ही था। यह दिव्यशक्ति के नवीनीकरण के लिए नहीं था।[14] यूनान की रक्तहीन आहूतियाँ विशुद्ध भेंट ही तो थीं। प्रेतों एवं बुरी आत्माओं से छुटकारा प्राप्त करने वाला यज्ञ निम्न कोटि

कबीले में प्रविष्ट किया जा था तो विशुद्धीकरण के लिए वह नदी में कूद जाता था और सात दिन तक स्त्री से दूर रहता था। सामान्य अमरीकी भारतीयों की चार की पवित्र संख्या के स्थान पर यहाँ अनेक सात (संख्या) हैं। किसी को यह सन्देह हो सकता है कि क्या यह "धन्यवाद ज्ञापन" आदिम है।

१३. प्रचलित बौद्ध धर्म ने यज्ञ को कम महत्त्वपूर्ण देवताओं तक ही सीमित रखा है और अपने ह्रासकाल में (आठवीं शताब्दी ए० डी०) पशु-बलि तथा जली हुई बलि देने की प्रथा पर दोबारा आ गया था।

१४. पेस फार्नेल महोदय इसको इस रूप में वर्णित करते हैं, जिसमें यद्यपि होमर को इसका पता नहीं है, होमर कालीन नायक, "अपने देवता के साथ रहस्य-मय संघ में प्रविष्ट हो जाते हैं।" (एनसाईक्लोपिडीया, रिलीजियन, ११)। होमरकालीन वध्य पशु वेदी पर चढ़ाए जाने से पहले न तो दिव्य होता है और न पवित्र, परन्तु फार्नेल के अनुसार, "(वेदी की पवित्र) आत्मा इसमें आ जाती है।" परवर्ती रहस्यवाद में (भोज के द्वारा) संलापन का तात्पर्य एक वास्तविक रहस्यमयी बिरादरी से है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

के अनार्य लोगों से आया था (आर्य लोगों द्वारा विजित) तथा सायुज्य सम्बन्धी विदेशी विचारों द्वारा इन श्रोतों में वृद्धि भी की गई थी। ये श्रोत ही आगे चलकर यूनानी देवताओं के साथ रोम पहुँच गए और एक आदर्श स्थिति में इनको एक दार्शनिक पद्धति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस दार्शनिक पद्धति ने धर्म के वस्तुवादी रूप का परित्याग कर दिया है। रहस्यवाद की ओर ले जाने वाली समता की चेष्टा यूनानियों एवं भारतीयों की इच्छा में दिखलायी पड़ती है। यह इच्छा वध्य पशु को देवता के पास ले जाने वाली है; क्योंकि जब एक पुरुष और स्त्री क्रमशः देवता और देवी को भेंट किए जाते हैं, पृथ्वी-माता से अत्यधिक उपज देने वाली बुवाई की आशा बन जाती है और द्रुतगामी पवनों को द्रुतगामी गर्दभ मिल जाते हैं आदि-आदि। बलि सिद्धान्त से यह प्रश्न करना पर्याप्त आपत्ति नहीं है कि यदि कोई भेंट दी जाती थी तो यूनानी लोगों ने ऐसे भेंट क्यों दिए? अतः सूर्य देवता के लिए रथ की भेंट उचित मालूम पड़ती है। युद्ध के देवता के लिए लड़ने वाला मुर्गा उचित प्रतीत होता है। तूफान की काली शक्तियों एवं पाताल-लोक के लिए काले पशु अधिक उचित मालूल पड़ते हैं।

देवताओं के लिए यज्ञ एक भोज है—यह विचार कहीं भी इतना अधिक व्यक्त नहीं किया गया है परन्तु भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य में इसकी स्पष्ट रूप से पर्याप्त अभिव्यक्ति हुई है। सामान्यतया यह कहा जाता है कि यज्ञों का उद्देश्य यज्ञकर्ता का भला करना है या उसके शत्रु को क्षति पहुँचाना है (तसल्ली देने वाले या भर्त्सनापूर्ण)। यज्ञीय भोज का वर्णन इस प्रकार किया गया है, "सभी देवता यज्ञकर्ता के घर यज्ञ के प्रारम्भ होने से एक दिन पूर्व आ जाते हैं; क्योंकि मनुष्यों (अतिथियों) के खाने से पहले उसके लिए भोजन करना अनुचित होगा। वैसे देवताओं के खाने से पहले उसके लिए भोजन करना अनुचित होगा। इसी कारण ही यज्ञ करने से पहले व्यक्ति को व्रत रखना चाहिए···यदि किसी को खाना ही है तो उसे वह भोजन खाना चाहिए जिसका यज्ञ में प्रयोग नहीं होगा—फलियाँ या फल।" यहाँ देवता यज्ञकर्ता के रात्रि-भोज के अतिथि रूप में होते हैं। पितरगण भी वैसे ही होते हैं। फिर यह भोजन की पवित्रता को दूषित नहीं करता है, जो संस्कारित होने के कारण गम्भीर रूप से रहस्यमयी शक्ति से सराबोर हो जाता है। एक व्यक्ति यज्ञ करने के बाद अपने हाथ धोता है। इसका निम्नलिखित कारण दिया गया है: यज्ञ करने के बाद लोग गन्दा करने वाले धब्बों को हटाने के लिए हस्त प्रक्षालन करते हैं। इस प्रकार वे यज्ञ के पाप को धो देते हैं, "क्योंकि जिन पुराने लोगों ने रक्तमयी वेदी का स्पर्श किया, वे पापयुक्त हो गए।" (शतपथ ब्राह्मण; १.२.५.२३)। यहाँ अपवित्रता की व्याख्या पापयुक्त रूप में की गई है परन्तु यह स्पष्ट रूप से आध्यात्मिक शक्ति की अपवित्रता है। यह वही भाव है जो मन एवं वर्जना को अपने अधिकार में रखता है और जो पवित्रता के जेविश

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

(जिव सम्बन्धी) दूषण में अवशिष्ट रह गया है। शिव को जो नर-बलि दी जाती है उसके विषय में कहा जाता है कि "यज्ञ शिव है", अर्थात् संस्कारित वध्य स्वयं अपने आप में वास्तव में देवता बन जाता है और निःसन्देह एक "अपवित्रता करने वाला" तत्त्व होता है और वह दिव्य रूप से भयावह होता है।

परन्तु भारतवर्ष में यज्ञ की सभी व्याख्याओं को "देव-बलि" एवं "आत्म-बलि" में अन्तर करना चाहिए। प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार पहली देवताओं के लिए सीधी-सादी भेंट है। यह स्पष्ट रूप से "देहि मे, ददामि ते" के सिद्धान्त पर आधारित है "मुझे दो, मैं तुम्हे देता हूँ"। दूसरी यज्ञ में दी जाने वाली देवता एवं यज्ञकर्ता की रहस्यमयी बलि है। यह वह माध्यमिक अवस्था है जिसका सम्बन्ध प्राक्-उपनिषदीय रहस्यवाद से है। भारतीय ब्राह्मण लोग भी यह अन्तर (ऐतिहासिक) किया करते थे। शतपथ ब्राह्मण का कहना है कि देव-बलि वहाँ होती है जहाँ कोई व्यक्ति देवता को कुछ देता है जैसे "एक मध्य जाति का व्यक्ति राजा को भेंट अर्पित करता है" परन्तु आत्म-बलि दैवीकृत भेंट के रूप में आत्मा की रहस्यमयी भेंट है; "और आत्म-बलि देने वाला व्यक्ति महान् एवं दिव्य प्रतिफल प्राप्त करता है, देव-बलि देने वाला व्यक्ति केवल छोटा-सा प्रतिफल प्राप्त करता है" (११ २.६.१३)। यहाँ यज्ञकर्ता का यज्ञ उसका स्वर्गिक शरीर बन जाता है।

निःसन्देह भेंट केवल भोजन तक ही सीमित नहीं है। जापानी लोग अपने देवताओं को सम्मान सूचक भेंट तथा खेलने के लिए मनके प्रदान करते हैं। नृत्य एवं संगीत भी अन्ततोगत्वा भेंट का रूप धारण कर लेते हैं, जैसे आत्माओं के सम्मान में नाटकीय मनोरंजन किए जाते हैं। एक देवता के लिए निर्मित मन्दिर, एक चैत्य, पुष्प, कला की वस्तुएँ, मन्दिर के दास, लोगों की जीवित भेंट, और अन्तिम रूप से रूपमयी जीवित भेंट—इन सभी को भेंट समझा जाना चाहिए। उत्कृष्ट धर्मों में मांस की भेंट के स्थान पर नैतिकता एवं समुचित जीवन की आध्यात्मिक शक्तियों को अधिक अच्छा लगने के कारण स्थानापन्न कर दिया गया है। यह श्रृंखला लगभग सम्पूर्ण रूप में हमारे निजी धार्मिक पूर्वरूप में खोजी जा सकती है। सेमेटिक लोग पाप को दूर करने के लिए एक बकरे या एक मेमने या एक पक्षी की भेंट दिया करते थे। बेबिलोनियाई यज्ञीय हिंसा शकुन विचार के लिए की जाती थी। बीमारी की बुरी आत्मा को दूर भगाने के लिए आहूतियाँ दी जाती थीं। अज्ञात पाप (बीमारी द्वारा सिद्ध होने पर) के लिए प्रायश्चित किया जाता था। अरब लोग जल, तेल, रक्त आदि का तर्पण किया करते थे और मृतकों के लिए यज्ञ किया करते थे। फल, दूध, पशु तथा आम भेंट होते थे। वैदिक देवता को रक्त एवं भोजन प्रदान किया जाता था। बाद में अरब एवं हिब्रू दोनों ही वध्य को श्रद्धांजलि समझने लगे थे। हिब्रू पैगम्बर नैतिक आचार एवं धार्मिक गुणों के प्रतिरूप म यज्ञों का प्रत्याख्यान किया करते थे, परन्तु थोड़े लोग ही यज्ञ का

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अन्यथा रूप में विरोध करते थे। परवर्ती जैविश धर्म में नियमित रूप में किए जाने वाले यज्ञों को, प्रतिदिन दी जाने वाली भेंट को, (इज़रायल के लिए धार्मिक विश्राम हेतु नियत) सप्ताह के सातवें दिन को, नए चन्द्रमा को, पूर्ण चन्द्रमा को और पहले तथा सातवें महीने के पूर्णचन्द्र वाले वार्षिक यज्ञों को तथा फसल में आने वाले पहले फलों के लिए किए जाने वाले यज्ञों को वैध रूप में स्वीकार कर लिया था। यद्यपि कुछ नियमित, परन्तु सामयिक रूप में किए जाने वाले यज्ञों को समाप्त भी कर दिया गया था (उदाहरण के लिए, लाल गाय का शुद्धि-सम्बन्धी संस्कार, प्रारम्भिक यज्ञ)। एक आम उत्सव के अंग के अतिरिक्त मुस्लिम धर्म ने सभी प्रकार के यज्ञों का बहिष्कार कर दिया है तथा प्रायश्चित को श्रद्धा का विषय बना दिया है। प्रायश्चित करना मनुष्य का काम है और दया करना अल्लाह का काम है। ईसाई धर्म में भेंट, समागम, प्रायश्चित—यज्ञ के इन विभिन्न रूपों को मिला दिया गया है। मारिया के लिए मोमबत्तियाँ जलाई जाती हैं। ईश्वर के लिए गिरिजाघर बना दिया गया है। स्वयं व्यक्ति को "जीवित यज्ञ" के रूप में मान लिया गया है। परित्याग एवं तपश्चरण इन दोनों में परित्याग किया जाता है और इस प्रकार के त्याग के माध्यम से व्यक्ति ईश्वर का सामीप्य खोजता है। परमात्मा के "वास्तविक शरीर" का भक्षण करने में दैवी-प्रकृति को आत्म-सात् करने के माध्यम से ईश्वर से सायुज्य के पुराने सिद्धान्त का नवीनीकरण किया गया है और मेक्सिको का निवासी उस दिव्य रोटी को खा जाया करता था जो धान्य के देवत्व को अभिव्यक्त करती थी। इस विश्वास से कि ईसा की मृत्यु पाप से छुटकारा दिलवाती है, मनुष्य दूसरे के लिए बहाए गए रक्त के माध्यम से प्रतिनिधि रूप प्रायश्चित के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेता है।[१५]

---

१५. गिरिजाघरों में दिए गए चन्दों को ईश्वर के प्रति भेंट कहा जाता है। गिरिजाघर ईश्वर या "ईश्वर की शान" के प्रति समर्पित होता है (सण्डुस्काई आदियों में एक टिकिया पर "ईश्वर की शान तथा जे० कुक के लिए" यह अंकित है, यह जे० कुक तथा ईश्वर का असामान्य-सा मेल है)। मरे हुए लोगों के प्रति की गयी प्रार्थनाएँ उन प्रेतों के प्रति भेंट होती है जो प्राचीन गिरिजाघर द्वारा समर्पित हैं। यह भेंट बलि के अवशेष रूप में मृतकों को दी जाती है। जब (ईसाई मत में) लार्ड का सायंकालीन तरल भोजन मात्र "स्मृति के संस्कार" के रूप में सम्पन्न होता है और वास्तव में "ईसा का बलिदान" नहीं होता है, तो शारीरिक सायुज्य का सिद्धान्त आध्यात्मिक समानता में परिष्कृत हो जाता है। बौद्ध धर्म में कोई औपचारिक बलि नहीं होती है परन्तु नृत्य, गीत, संगीत एवं मालाएँ मृत बुद्ध के सम्मान में श्रद्धाञ्जलि के रूप में भेंट किए जाते हैं। प्रतिदिन के सिद्धान्त ने इस विश्वास को

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सभी धर्मों में श्रद्धा की आवश्यकता है। "हे दिव्य श्रद्धे ! हमें श्रद्धा दीजिए" वैदिक कवि का कथन है। श्रद्धा एवं प्रायश्चित का ईसाई धर्म में मेल है और इसके साथ-साथ मनुष्य को यह विश्वास भी करना चाहिए कि दूसरे लोगों के पापों के लिए ईसा का बलिदान प्रायश्चित है। पश्चिमी धर्म में मुक्ति के लिए इस सिद्धान्त की स्वीकृति आवश्यक है, जहाँ प्रारम्भ से ही पाप से छुटकारा ही मुक्ति है। पूर्वी धर्म में मुक्ति का पाप से छुटकारे से उतना सम्बन्ध नहीं है जितना मृत्यु से है। यह अमरत्व का दान था जो पुनरुत्थान के सिद्धान्त द्वारा दिया गया था। अतः ईसाई धर्मेतर पूर्वी, भारतीय एवं बौद्ध, दोनों धर्मों की त्राण देने वाली श्रद्धा एक प्रकार से यह बौद्धिक विश्वास है कि अपने आपको त्राता ईश्वर की कृपा पर छोड़कर कोई व्यक्ति मृत्यु के बाद उसके पास आ सकता है। पापों को क्षमा करने का भाव यहाँ बिल्कुल अनुपस्थित है; बल्कि मानव प्रशंसक की प्रेममयी भक्ति उसका देवता के साथ तादात्म्य स्थापित करती है। देवता का मनुष्य के लिए अगाध प्रेम भक्त के पापों के बदले में पहले ही प्रायश्चित कर चुका होता है। इस प्रकार वह इसके विपरीत अवशेष भाग को भी धो देता है; जैसे बौद्ध धर्म में हुआ है, या रूह का अपना प्रायश्चित भी पर्याप्त होता है। रूह प्रेममयी भक्ति से मिलकर मनुष्य के सभी पापों को पोंछ देती है। क्योंकि मनुष्य अपने ईश्वर के प्रेम के माध्यम से अपने आपको पवित्र करता है; जो अखण्ड रूप से विशुद्ध है, ऐसे ईश्वर से तादात्म्य स्थापित करके स्वयं रूह अपने आप में विशुद्ध हो जाती है। योगियों की तपस्या एवं संसार की मलिनता से अपने आपको पृथक् करने की रहस्यमयी तैयारी तथ्यतः एक विशुद्धिकरण की प्रक्रिया है। इससे नैतिक एवं आध्यात्मिक पवित्रता प्राप्त होती है। यद्यपि इसे एक ऊचे धरातल पर देखा जाए तो उस असभ्य व्यक्ति का यज्ञ, जो आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करने के लिए योगियों का सा तपश्चरण करता है, अपने लिए किया गया एक प्रकार का त्याग है। यह किसी अन्य व्यक्ति के लिए दी गई यज्ञीय भेंट नहीं है। परित्राता का भाव अन्य धर्मों में महत्त्वपूर्ण है, विशेष रूप से जरदस्थ्रवाद में, परन्तु यह परित्राता अपनी शिक्षाओं के माध्यम से मुक्ति प्रदान करता है। अपने आपको बलि चढ़ाकर मुक्ति प्रदान नहीं करता है। बौद्ध धर्म का यही मूल भाव था परन्तु महायान ने दिव्य परित्राता के रूप में बुद्ध को प्रस्तुत किया है, जो बोधिसत्व के रूप में मानवता के लिए अपना बलिदान कर देते हैं।

अनुज्ञा प्रदान कर दी थी कि बुद्ध ने अपने आपको मनुष्य के लिए बलिदान कर दिया था तथा उनके पापों का बोझ अपने ऊपर ले लिया था। भारतवर्ष के बाहर बौद्धधर्म ने बुद्ध के प्रति जली हुई भेंट तथा मांस-बलि की भी अनुज्ञा प्रदान कर दी थी और जीवित लोगों का अपने "पुण्य" का मृतकों के लिए दान आम बात थी।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

बुद्ध एवं प्लेटो का वैज्ञानिक रवैया, जो दोनों ही एक बात कहते हैं, अर्थात् "दैहिक की इच्छा" पुनर्जन्म की ओर अग्रसर करता है और "सर्वोच्च प्रकार के ज्ञान एवं गुणों की प्राप्ति के अतिरिक्त बुराई से छुटकारा पाने का कोई साधन नहीं है।"[१६] बुद्ध एवं प्लेटो का वैज्ञानिक रवैया यज्ञ के पूरे विचार को नकारता सा दिखलाई पड़ता है। फिर भी दोनों धर्मों में मौलिक विचार यह है कि पूर्णता के लिए संघर्ष निम्न प्रकार की आत्मा के द्वारा किया गया एक यज्ञ है। इसको एक आदर्श प्राप्ति के लिए किया जाता है तथा वह सर्वोच्च प्रकार की आत्मा द्वारा ही प्राप्य है। स्वयं ब्राह्मणवाद अपने उन्नत क्षणों में सम्पूर्ण देवविद्या की प्रतीकात्मक रूप में व्याख्या करने में संकोच नहीं करता, "हे इन्द्र आपने कोई भी युद्ध नहीं किया है" (यहाँ देवता मात्र एक भाव है)। पुराणों में, "पुण्य एवं पाप के लिए केवल नाम के लिए" स्वर्ग एवं नरक बतलाए गए हैं। हमेशा ही कुछ ऐसे लोग रहे हैं जिनके लिए धार्मिक आवश्यकता की अपेक्षा यज्ञ एक भौतिक प्रतीक ही था। विद्यार्थी के लिए वैदिक उपदेश में एक बिल्कुल नयापन दिखलाई पड़ता है, "तुम्हारा अध्ययन तुम्हारे लिए यज्ञ होवे। देखो, सूर्य, चन्द्रमा, तारे तथा जल हमेशा कैसे चलते ही रहते हैं। वे दिव्य, कठोर एवं परिश्रमी भी हैं। तुम भी इन दिव्य शक्तियों की भाँति ही कार्य करो। तुम्हारा कठिन परिश्रम ही तुम्हारा यज्ञ होगा।" जो लोग यह सोचते हैं कि प्राचीन भारतीय लोग निश्चल समाधि में लीन रहा करते थे, उनको यह याद रखना चाहिए जो तथागत ने कहा था, "मैं हमेशा ही कठोर परिश्रम करता हूँ जिसको कठोर परिश्रम करने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति जो मेरा अनुगमन करता है, मेरे से प्रेम करता है और मेरी नकल करता है। उसे पृथ्वी पर पौरुषपूर्ण रूप से कठोर परिश्रम करना चाहिए और अपना निश्चित कार्य करना चाहिए।" जो कृष्ण के धर्म का पालन करते हैं उनसे ऐसे यज्ञ की अपेक्षा की जाती है।

यद्यपि यज्ञ एक ऐसा रूप है जो अपने आप में एक गम्भीर ऐतिहासिक सत्य को सन्निहित किए हुए है, क्योंकि बिना यज्ञ के मनुष्य ने किसी भी मूल्यवान वस्तु को प्राप्त नहीं किया है; परन्तु मानव आज भूतकाल में किए जाने वाले दूसरों के प्रतिनिधि रूप यज्ञ का अपनी उच्चतम उपलब्धि के लिए ऋणी है।

---

१६. फेडो, ८१ और १०७

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अध्याय १२

कर्मकाण्ड

कर्मकाण्ड भावना एवं विश्वास या दोनों की मिली-जुली तथा घिसी-पिटी अभिव्यक्ति है। मौसम से सम्बन्धित कर्मकाण्ड का एक निश्चित समय होता है तथा उनमें एक नियत विधि पायी जाती है, परन्तु युद्ध सम्बन्धी कुछ ऐसी विधियाँ होती हैं जिनका निर्णय मौसम से नहीं किया जाता है। कर्मकाण्ड एक ऐसा ढांचा है जो धर्म को सुरक्षित भी रखता है तथा इसको प्रदर्शित भी करता है, परन्तु जिसे यह सुरक्षित रखना चाहता है, यह प्रायः उससे कहीं अधिक समय तक चलता है। धर्म की अपेक्षा इसका आदिम महत्त्व कहीं ज्यादा है, क्योंकि इसने धर्म एवं अधार्मिक कृत्यों में एक गहरा सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। इसने रीति-रिवाज को पवित्र किया है और काफी हद तक मनुष्य को निश्चित तिथियों के पालन के सम्बन्ध में इसने निश्चित समय का पहला स्पष्ट आभास करवाया है। इसका उद्देश्य पंचांग के रूप में उसका सही-सही आकलन करना है। ऐतिहासिक महत्त्व वाले एंवं प्रदर्शन वाले कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में कर्मकाण्ड ने मनुष्य के मन पर एक तिथि क्रम सम्बन्धी तथ्यों की एक गहरी छाप भी छोड़ी है।

परन्तु वुण्ड महोदय के अनुसार यह मानना गलत है कि सभी लौकिक विधि-विधान का उद्‌भव धर्म है। विशेष रूप से संस्मरणात्मक संस्कारों में कर्म-काण्ड विधि-विधानों के एक समुदाय को सुरक्षित रखा जाता है। इसका उद्‌भव लोकप्रिय है और अधार्मिक रीति-रिवाजों में इसे खोजने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। बीजारोपण एवं फसल पर आधारित आर्थिक उत्सव सबसे पहले होने धार्मिक उत्सव नहीं हैं। डरमेख महोदय के अनुसार यह कहना अनुचित है कि प्रत्येक भोज धार्मिक है। उसका तर्क है कि कोई भी भोज जन-समुदाय को प्रेरित करता है, परिणाम स्वरूप वे (जनता) अपने आप से बाहर आ जाते हैं और वे यह अनुभव करते है कि जैसे मानों वे एक दूसरी दुनियां में हैं, बिल्कुल ठीक वैसे ही जैसे वे धर्म के द्वारा प्रभावपूर्ण ढंग से प्रेरित हो जाते हैं, और "दूसरी दुनियां में" रहने की चेतना भोज को धार्मिक रूप प्रदान करती है। इस दृढ़ोक्ति के लिए प्रमाण आसानी से मिल सकते हैं। प्रमाण के अभाव में इसको एक विशुद्ध धारणा

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ही समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रचलित भोज प्राय: बिना धार्मिक प्रभाव के भी अवशिष्ट रह जाते हैं, यद्यपि उनको धर्म के रूप में माना भी गया है। फ़सल का आनन्द अपने आपको एक उन्मुक्त उल्लास में व्यक्त करता है। इसकी धार्मिक रूप में व्याख्या बाद में की जाती है। यहूदियों द्वारा खेमों में रात्रि भोज से इसकी तुलना कीजिए और अन्तिम रूप में यह आनन्दोत्सव के रूप में रह जाता है। अपने मूल स्वरूप से मिलान करने पर यह (आनन्द) भद्रता में भी संस्कारित हो जाता है। नैतिक भावना एवं इसके पहले धर्म से सम्बन्धित होने के कारण ऐसा होता है। यदि इस दिन का लोक प्रचलित आकलन किया तो इसमें मुश्किल से ही कोई धर्म का चिह्न अवशिष्ट रह सकेगा (तुलना करें प्राचीन शनिदेवता का उत्सव एवं आजकल का कृतज्ञता ज्ञापन का दिन)। बीजारोपण एवं जीवन का आनन्द अपने आपको अधार्मिक स्वरूपों में अभिव्यक्त करता है और तब वसन्त ऋतु का अधार्मिक उत्सव ईस्टर बन गया है। इसके साथ अनेक बाह्य धार्मिक सम्बन्ध जुड़ जाते हैं और अन्तिम रूप से ईस्टर सिर पर पहनी जाने वाली टोपियों का प्रदर्शन मात्र बन जाता है। इस प्रकार वेशभूषा स्वयं धार्मिक बन जाती है। असभ्य व्यक्ति सिर की वेशभूषा, रंग, तैल, सज्जासूचक चिह्नों को आर्थिक एवं सामाजिक उद्देश्यों के कारण धारण करते हैं। इनको वैद्य तथा पुरोहितों के चिह्न समझा जाता है तथा इनका प्रयोग कर्मकाण्डीय उद्देश्यों के लिए किया जाता है। तैल का प्रयोग धार्मिक अभिसिचन के लिए किया जाता है। श्रृंगारात्मक गोदने का प्रयोग झाड़-फूंक सम्बन्धी उपायों के लिए किया जाता है और रंग तथा चिह्न टोटमवाद के कर्मकाण्ड के अंग के रूप में प्रयुक्त होते हैं।[1]

कृषि की अवस्था यह दर्शाती है कि कर्मकाण्ड में असभ्य व्यक्तियों के विचारों में धर्म का काफी समावेश हुआ है। इससे पूर्ववर्ती सामान्य यायावरीय स्थिति में ऐसा नहीं हुआ है। अंशत: यह इसलिए ऐसा नहीं हुआ कि क्योंकि देवता अधिक मानवीकृत हो गए हैं। धार्मिक दृष्टि की अपेक्षा धान्य में जाजुई ढंग से रक्त के द्वारा उर्वरकता पैदा की जाती है, क्योंकि जीवन को अभिव्यक्त करने वाला रक्त खेत को सजीव बना देता है, अर्थात् मानों वह राक्षसों को भगा देता है। परन्तु शिकारी अवस्था की अपेक्षा मनुष्य कृषि की अवस्था में अपने आपको मौसम एव सूर्य पर आश्रित पाता है और पुन: पुन: आने वाला मौसम उसके लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है, ताकि वह उस आत्मा को (जैसे एक मुखिया को) श्रद्धांजलि देने के योग्य बन जाता है। उसे आत्मा की आवश्यकता कथित अवसरों पर ही पड़ती रहती है। वह उसको श्रद्धांजलि में रक्त प्रदान करता है। वह पहले फलों एवं सबसे पहले पैदा होने वाली वस्तुओं को उन देवताओं को

१. तैल का प्रयोग श्रृंगारादि के लिए बाद में देखिए।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

समर्पित करता है जिनको वह मानव जैसा समझता है, यद्यपि उस समय वह पानी या रक्त फेंककर वर्षा को बुला सकता है जैसे सूफियों की मूर्तियों पर हवा लाने के लिए कोड़े बरसाए जाते थे और काफी बाद में मल्लाह ने उनकी पूजा करना सीखा था। जादू बड़ी मुश्किल से मरता है और कर्मकाण्ड धर्म के साथ गुंथा हुआ रहता है। कृषि की अवस्था के कारण ही मौसम की तरफ बड़ी सावधानी से ध्यान दिया जाने लगा है; परन्तु इस दोहराए हुए एवं घिसे-पिटे सत्य पर बल देते समय अतिशयोक्ति नहीं करनी चाहिए, क्योंकि शिकार खेलने वाले के लिए चन्द्रमा ही समय का विभाजन किया करता था। अधिकांश असभ्य लोग चन्द्रमा संबन्धी समय को मानते हैं तथा उसके अनुसार ही उत्सवों को मनाते हैं। संभवतः इस स्पष्ट सत्य तक अपने आपको सीमित रखना ही सबसे अधिक सुरक्षित है कि चन्द्रीय पंचांग एवं इसका धार्मिक कर्मकाण्ड कृषि की अवस्था के कारण ही पैदा हुआ है। नववर्ष के दिन का धार्मिक महत्त्व हमारे लिए आज भी बना हुआ है। यह दिन या सप्ताह के रूप में हमें आने वाले वर्ष का पूर्व लक्षण या भविष्यवाणी कर देता है। संक्रान्ति काल एवं विषुव सम्बन्धी सूर्य-नृत्य तथा उत्सव बिल्कुल एक ही कोटि में नहीं आते हैं। फिर भी, जैसा एक सन्दर्भ में है कि सूर्य के कारण उत्सव मनाये जाते हैं। सूर्य की अपेक्षा शरद्कालीन शोक मौसम के समाप्त होने के कारण मनाया जाता है। ग्रीष्मकालीन आनन्दोत्सव (फ़सल के भोज से तुलना कीजिए) सूर्य की एक आध्यात्मिक शक्ति की पहचान के रूप में नहीं मनाया जाता था परन्तु यह बदलने वाले साल का उत्सव था।

रीति-रिवाज को अर्ध-दैवी या पूर्वजों की सत्ता के रूप में धार्मिक मानने से रीति-रिवाज एवं धर्म में अन्तर पैदा होता है। कर्मकाण्ड ही मिथ को जन्म देता है। 'क्योंकि देवताओं ने सूर्य के सामने अपने आपको भोजन के रूप में प्रस्तुत किया था, हम भी वैसा ही करते हैं।"[२] एक नियम, जो यह कहता है, "क्योंकि मनु ने ऐसा-ऐसा किया, हम भी इसे अपना धार्मिक कर्तव्य मानकर करते हैं", ही धर्म में बदलाव पैदा करता है। अतः क्योंकि इब्राहीम ने सुन्नत करवाया था "इसलिए हम भी सुन्नत करवाते हैं"; क्योंकि जापानी देवी दर्पण धारण किया करती थी, उसके कर्मकांड में दर्पण का प्रयोग किया जाता है आदि-आदि। मिथ भी कर्मकाण्ड की अभिवृद्धि कर सकता है। ग्रहण पैदा करने वाले सात राक्षसों से लड़ने वाले साधन भी कर्मकाण्ड बन गए हैं।

कर्मकाण्ड सामान्यतया जीवन की अवस्थाओं को बहुत गहराई से व्यक्त

---

२. मेक्सिको की एक जाति ने मानव वध्य की व्याख्या सूर्य देवता के भोजन के रूप में की है। इस व्याख्या ने मानव वध्य की अनैच्छिक बलि को ध्यान में नहीं रखा है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

करता है। अमरीकी ग्वालों ने एक सीमित दूध दोहने वाले कर्मकाण्ड का विकास किया है। टोडा लोगों का एक भैंस सम्बन्धी धार्मिक संस्कार होता है। आस्ट्रेलियाई कर्मकाण्ड का सम्बन्ध चारे दाने एवं अन्य स्थानीय खाद्य सामग्री के प्रचार से है। ऐतिहासिक कर्मकाण्ड भूतकाल की आदिवासी घटनाओं को नाटकीय ढंग से अभिव्यक्त करता है। युद्ध सम्बन्धी नृत्य (यूनानियों तथा अमरीकी भारतीयों दोनों के एक समान) उत्साह को पैदा करके तथा उसके साथ-साथ जो होने वाला है उसकी नकल करके तैयारी करते हैं। साधारण रूप में कर्मकाण्ड किसी भी प्रकार से विशिष्ट रूप में धार्मिक नहीं होता है बल्कि इसकी अपेक्षा यह सामाजिक एवं आर्थिक होता है। बल्कि धर्म यहाँ एक बाहरी वस्तु है, परन्तु पुराने पितरों को प्रशंसक एवं सहायक के रूप में उनको घसीटने के बल से तथा आत्माओं की तरफ सहायता के लिए दिखावे के रूप में यह संस्कार धार्मिक रूप धारण कर लेता है। यह समय पाकर लगभग सम्पूर्ण रूप से धार्मिक बन जाता है। उदाहरण के लिए, अमरीकी भारतीय नृत्य धार्मिक होने की अपेक्षा ऐतिहासिक अधिक होते हैं, परन्तु सूर्य-नृत्य की समाप्ति पर, उदाहरण के लिए पाखण्डपूर्ण आत्माओं के लिए प्रार्थनाओं का बहाना किया जाता है।[3] फिर कभी-कभी मात्र किसी भूत को प्रसन्न करने के लिए भी एक नृत्य का प्रयोग किया जाता है(आविष्कार नहीं किया) जैसे उनके सम्मान में कुछ गीत गाये जाते हैं। ये सभी संस्कार भीड़ के होते हैं और यहाँ ही डरखेम महोदय को इस सिद्धान्त के लिए सबसे अधिक प्रबल आश्रय प्राप्त होता है कि पूरा धर्म जन समुदाय का भ्रम है। परन्तु इस बात की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए कि निजी कर्मकाण्ड भी होते हैं। परन्तु निजी एवं आम जनता के बीच का विरोध बहुत वास्तविक नहीं है, यद्यपि इसकी स्थापना प्रायः तब की जाती है जब इसका प्रयोग धर्म एवं जादू के लिए किया जाता है। धर्म भी निजी होता है और कर्मकाण्ड निजी एवं आम जनता दोनों का ही होता है। मंगोल धर्म के कर्मकाण्ड में कोई भीड़ नहीं होती है, न ही अफ्रीकी लोगों में पादरी के लिए उम्मीदवारों में कोई भीड़ होती है। सुधरे हुए मंगोलधर्म का एक कर्मकाण्ड ही चीनी लोगों की पितर-पूजा है। इसमें कोई भी भीड़ की आत्मा किसी भी प्रकार का भ्रम पैदा नहीं करती या इसमें कोई कर्मकाण्ड नहीं किया जाता है।

प्रसन्नता के संस्कार एवं दुःख के संस्कार का अन्तर निजी-कर्मकाण्ड के इस विषय को बहुत गहराई से स्पष्ट करता है। कृतज्ञता ज्ञापन या आम जनता का

---

३. स्वयं ऐतिहासिक नृत्य में फिर भी कोई धार्मिक तत्त्व हो सकता है, क्योंकि पूर्वजों का ऐतिहासिक शक्तियों के रूप में सम्मान किया जाता है। इसलिए चीन एवं आस्ट्रेलिया में मरे हुए लोगों के कृत्यों के धार्मिक संस्कार के रूप में नृत्य में नकल की जाती है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आनन्दोत्सव या विजयोल्लास या फसल संबंधी कर्मकाण्ड–ये सभी सामान्य भावना के साधारण निकास हैं। प्रसन्नता के संस्कार अधिकांश रूप में समूह के संस्कार होते हैं परन्तु विपत्ति न केवल आम जनता की होती है, इसका निजी रूप व्यक्तियों, पशुओं एवं मनुष्यों द्वारा अनुभव किया जाता है और इसे अभिव्यक्त भी किया जाता है। आम जनता के शोक एवं इसके संस्कार की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं, परंतु इसकी चर्चा हमने प्रत्यक्ष रूप से नहीं की है। इस विषय में डरखेम महोदय का सिद्धांत है कि शोक कभी भी बिल्कुल वैयक्तिक नहीं होता हैं। इस मत के अनुसार कोई भी आदिम व्यक्ति अपने मरे हुए के लिए शोक नहीं करता है। केवल वर्ग सामूहिक रूप में उत्तेजित हो जाता है क्योंकि वह अनुभव करता है कि उसके वर्ग की एकता पर चोट लगीं है या इसमें क्षति आयी है और इसीलिए वह इसे सार्वजनिक बना देता है। वह अपना शोक-संस्कार करता हुआ आक्रन्दन करता है। यह सब उसकी शोक करने की इच्छा से पहले होता है, "यह संस्कार ही शोक करने की इच्छा को स्थापित करता है, शोक करने की इच्छा शोक-संस्कार को स्थापति नहीं करती है।"[४] इस पूरे तर्क के विरोध में हमें यह विचार करना चाहिए कि प्रेत एक परिवार या एक व्यक्ति को प्राय: निराश छोड़ देता है। इससे वह प्राय: प्रेम किया करता था। कुछ भी हो, मृत्यु सबसे पहले व्यक्ति को प्रभावित करती है और शोक करने की इच्छा या शोक की अभिव्यक्ति पशुओं में भी एक वैयक्तिक विषय के रूप में पायी जाती है। जैसा पहले अध्याय में बतलाया जा चुका है, व्यक्ति के वर्ग में विलय को अतिरंजित रूप में कहा गया है। यह सच है कि काफी हद तक वर्ग ही नैतिकता एवं संस्कार को निश्चित करता है। फिर भी यह मानना इस सत्य को बेढंगे रूप में गलत-बयानी करना है कि आदिम वर्गों में कोई वैयक्तिकता ही नहीं है। परन्तु यह सामान्य सिद्धान्त के अनुक्रम में है कि "बुरी शक्तियाँ कर्मकाण्ड की उपज हैं और वे उनका प्रतीक हैं" (आत्मा एवं प्रेत के रूप में) अर्थात् यदि ऐसे भ्रमों से भीड़ का उत्साह पैदा होता हो तो प्रेत या बुरी आत्माएँ होंगी ही नहीं।[५]

निजी एवं आम जनता के संस्कार में परम्परागत अन्तर यह है कि निजी संस्कार व्यक्ति के लिए होता है और आम जनता का संस्कार आम जनता के लिए

४. डरखेम : वही पृ० ३९८

५. वही, पृ० ४११। यह सिद्धान्त कि बुरी आत्माएँ कर्मकाण्ड की उपज हैं, विलक्षण ढंग से असंगत दिखलाई पड़ता है। यह इस तथ्य के कारण है कि वेबिलोनिया के समान सभी वर्ग प्रेतों को विद्वेषपूर्ण ढंग से सक्रिय मानते हैं, जबकि वेड्डा लोगों तथा अमरीकी भारतीयों के समान दूसरे वर्ग उनको मित्र मानते हैं और किसी भी वर्ग में ऐसे विश्वासों के संवर्धन के लिए कोई भीड़ के संस्कार नहीं होते हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

होता है। ऐसे उत्सव-संस्कार, जिनकी हम चर्चा करते हैं, आम जनता के भले या आनन्द के लिए होते हैं। एक खास सीमा तक आम जनता उनको करती है, यद्यपि कुछ योद्धा एवं पुरोहित आम जनता से अलग हटकर नायक बनने के योग्य भी हो जाते हैं। फिर भी सभी लोग भोज या सामान्य यज्ञ में हिस्सा बटवाते हैं। परन्तु एक निजी संस्कार कुछ के भले के लिए या एक के भले के लिए ही होता है, जैसे जन्मोत्सव, सुन्नत करवाना, नामकरण संस्कार, विवाह संस्कार। फिर भी, इसमें भाग लेने वाले लोग इस संस्कार को वास्तव में बड़ी संख्या में करते हैं। विवाह या अन्त्येष्टि संस्कार में यह संस्कार इसी अर्थ में निजी संस्कार होता है कि परिवार के एक या दो व्यक्तियों का ही इससे सम्बन्ध होता है। पूरा कबीला इस उत्सव में हाथ बँटाता है जैसे वे लोग शोक-संस्कार में करते हैं। आम जनता एवं निजी संस्कार में बीच का संस्कार वहाँ होता है, जैसे एक सहयोगी भोज में, एक कबीले या जाति का उपविभाग या कार्य करने वालों का एक सघ (जैसे रोम में) स्मरणोत्सव मनाता है परन्तु उनका पुनर्मिलन भी होता है। दूसरे शब्दों में, आम जनता के उत्सवों में एवं निजी संस्कारों में कोई आनुवंशिक अन्तर नहीं होता है। परन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि असभ्य व्यक्ति इनको निजी संस्कार के रूप में मनाते हैं, जैसे उदाहरण के लिए, अफ्रीकी लोगों में, जब एक स्त्री गर्भ धारण कर लेती है तो परिरक्षक आत्मा की सुरक्षा के विषय में आश्वस्त होने के लिए एक संस्कार होता है, जैसे उन लोगों में निजी धार्मिक आवेग होते हैं। निजी एवं आम जनता के अनुष्ठानों में मुख्य अन्तर यह है कि एक परिवार के मामलों में पुरोहित प्रायः आवश्यक होता है। यहाँ प्रत्येक पिता अपने आप में ही एक पुरोहित के रूप में कार्य करता है, जैसे भारत के उदाहरण के लिए मनोकामना और निजी मामलों के विषयों में होता है। परन्तु इसका केवल यही अर्थ है कि पिता वहाँ आवश्यकतानुसार पर्याप्त रूप में पुरोहित का कार्य कर देता है। यह सम्भवतः उतना ही आदिम है जितना धार्मिक उद्देश्यों के लिए कबीले की भीड़ होती है। अतः स्त्रियों से सम्बन्धित परिचित पारिवारिक वर्जनाएँ मूलतः कबीले के मसले नहीं हैं। भारतीय विवाह में या जीवन तथा स्वास्थ्य की मनोकामना करने वाले अनेक घरेलू संस्कारों में प्राचीनकाल में किसी पुरोहित की आवश्यकता नहीं होती थी।

आम जनता के संस्कारों में धान्य की वृद्धि के लिए नृत्य एवं मुखौटे वाले नाँच प्रमुख हैं। यदि हम उस समय में जाएँ जब धान्य के देवता विदित नहीं थे, हम यह पाते हैं कि स्वयं धान्य को या पशु को एक समझदार शक्ति के रूप में समझा जाता है। इसको विकास एवं अभिवृद्धि के लिए प्रेरित किया जाता है। उस अवस्था में नृत्य खास तौर पर एक उत्पत्तिदायक प्रेरणा स्रोत होता है; जैसा पशुओं के राज्य में होता है। नृत्य का उद्देश्य भी स्पष्ट हो जाता है, यद्यपि, चाहे

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उसमें, जैसा आस्ट्रेलियाई तथा अन्य असभ्य व्यक्तियों के संस्कार में होता है, यौन-सम्बन्धी मूक अभिनय एवं पानोत्सव आदि न भी हों। उस स्थिति में शक्तियों को अभिव्यक्त करने वाले मुखौटे वाले नांच उस संस्कार में साधारण तौर पर पाए जाते हैं। वहां संगीत विकास को प्रेरित करता है तथा नृत्य शक्ति को प्रेरित करता है। यहां कोई प्रतीकवाद नहीं है, परन्तु विकास को पैदा करने वाले वासनापूर्ण नृत्य के द्वारा मुखौटे का भाव पैदा किया जाता है। नृत्य एवं संगीत उसकी अभिव्यक्ति होते हैं। कहने का अभिप्राय है कि नृत्य धार्मिक संस्कार के अंग के रूप में न तो सबसे पहले देवता को डराने के लिए झाड़-फूंक है और न ही देवताओं को प्रसन्न करने के लिए है। स्वतः उन्मादक के रूप में यह शक्ति देता है और विकास में सहायक होता है। दूसरी अवस्था वह होती है जब आध्यात्मिक शक्तियों की फसल पर बुरा असर डालने वाली शक्तियों के रूप में कल्पना की जाती है। बुरे राक्षस फसल में अवरोध पैदा करते हैं और फसल को क्षति पहुँचाते हैं। उस संस्कार को, जो परम्परा के अनुसार फसल की सहायता करता है, आज के मत में उसका प्रयोग सहायता के लिए किया जाता है। अतः नृत्य की व्याख्या बुरी आत्माओं को भगाने वाले साधन के रूप में की जाती है। अमरीकी भारतीय एवं नीग्रो लोगों द्वारा व्यक्त होने वाली स्थिति से इसका सम्बन्ध है। यह आज भी इसी रूप में अवशिष्ट है। अब इस बात का साधरणीकरण किया जा चुका है कि नृत्य राक्षसों को भगा देता है। केवल कुछ वर्ष पहले ही हमारे उत्तरी नीग्रो लोग अपनी शिविर की बैठकों में नृत्य को बुराई के विरोध में प्रतिषेधक के रूप में समझा करते थे और नाचते-नाचते (धार्मिक रूप में) यह गाया करते थे—

> "ठूंठ के चारों ओर हम यहाँ नाचते हैं
> और प्रत्येक छलांग से बुराई को ठोकर मारते हैं।"

प्रसंगवश नृत्य का घेरा भी आदिम है। यह गुलाब के पास वृत्त रूप वाले नृत्य में आज भी सुरक्षित है। यह उस पुराने एवं भयावह धार्मिक संस्कार का निरापद अवशेष है। धार्मिक नृत्य में तीसरी स्थिति वह है जो डेविड के ईश्वर के[६] सामने वाले नृत्य से व्यक्त होती है और धार्मिक नृत्य की वही तीसरी स्थिति आज स्पेनिश गिरिजाघर के अवकाशी नृत्य से भी व्यक्त होती है। युद्ध-नृत्य शौर्य को जाग्रत करने के लिए कबीले के द्वारा किया जाने वाला निजी नृत्य है। यह मिलन

---

६. डेविड के नृत्य की अभद्रता पर उसकी पत्नी ने आपत्ति की थी, परन्तु मुख्यतया यह आपत्ति इस कारण से थी कि यह उसकी रूढ़िवादी भावनाओं को ठेस पहुँचाती थी। स्वयं अपने आपका तमाशा बनाने से उसकी भावनाओं को धक्का लगता था।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

की ऋतु में नर पशु के नृत्य से प्रारम्भ होता है। इसमें मोर या हंस अपने स्वतः उन्माद के एक अंग के रूप में नृत्य करता है। यह उसके साथी के अन्य किसी दावेदार से लड़ने की तैयारी में किया जाता है। सम्भवतः अपने मादा साथी को अपने शौर्य प्रदर्शन से सम्मोहित करने के लिए ऐसा किया जाता है। आस्ट्रेलियाई लोगों के यहाँ भी मुखौटे वाले नाटक एवं ऐतिहासिक नाटक होते हैं तथा वे लोग अनेक संस्कार-चिह्नों की सम्भावित प्रारम्भिक स्थितियों को भी प्रकट करते हैं। उनके जादुई-धार्मिक कर्मकाण्ड के अंग के रूप में उनके यहाँ कामदी नाटक भी पाया जाता है। इसके धार्मिक तत्त्वों ने आज के नाटक को जन्म दिया है। ये तत्त्व प्रशान्त सागर के निवासियों तथा अमरीकी भारतीयों में भी पाए जाते हैं।

मेक्सिकन एवं यूनानी उर्वरक रहस्यों की समानान्तर स्थिति का प्रारम्भिक रूप उत्तरी अमेरिका के चिरोकी भारतीय कबीलों में पहले ही देखा जा चुका था और इसका एक नैतिक प्रभाव भी था। सीरिया एवं यूनान का तामूज तथा एडोनिस का सम्प्रदाय द्रविड़ जाति के जंगली कबीलों से मिलता-जुलता है। द्रविड़ एवं अमरीकी भारतीय लोगों के सूर्य-संस्कारों में एक रोचक साम्य दिखलाई पड़ता है। यह इस बात का द्योतक है कि इस प्रकार का संस्कार कैसे अपना आदिम अर्थ खो सकता है। अमरीकी भारतीय लोग इस बात को नहीं जानते थे कि उनका यह संस्कार क्यों किया जाता है। यह संस्कार चार दिन के व्रत से प्रारम्भ होता था। इसमें लोग न केवल अपने भोजन एवं पेय का परित्याग कर दिया करते थे अपितु अपनी निद्रा का भी परित्याग किया करते थे। उस जर्जरित अवस्था में उनकी पीठ की मांसपेशियों में लकड़ी की सीखें लगा दी जाती थीं और उन व्रतधारियों को रस्सी से उठाया जाता था। उनको लकड़ी के कुंडों से बांध दिया जाता था और चक्कर देकर उनको तब तक घुमाया जाता था जब वे उस पीड़ा को और अधिक सहन नहीं कर सकते थे। द्रविड़ मूक-संस्कार भी ऐसा ही है जिसमें आदमी की पीठ में कुंडा डालकर उसे रस्सी से बाँधा जाता था और उसको बिल्कुल उसी तरह घुमाया जाता था जैसे अमेरिका में किया जाता था परन्तु भारतवर्ष में इस संस्कार की व्याख्या इस तरह की जाती है कि इसका फसल पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।[७] अमरीकी लोगों के लिए यह उनकी पीड़ा एवं शौर्य की मात्र परीक्षा थी। फिर भी, दोनों सन्दर्भों में हमें सूर्य के साथ झूलने के इस आदिम संस्कार को फसल की सहायता के लिए सूर्य की सहायता के माध्यम के रूप में समझना चाहिए। जैसे भारतवर्ष के उसी जिले में रात्रि में एक स्त्री द्वारा मुँह ढककर हल चलाकर वर्षा पैदा की जाती है या रात्रि में जमीन में मेंढक को गाड़कर वर्षा पैदा की जाती है (विचार में यह जल एवं काली शक्तियों से मिलता

---

७. बेतूल डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर, व्रा० ए०, पृ० ५७, ६१ (१९०७)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

है)[८]। इस प्रकार का संस्कार, जिसे अच्छी फसल प्राप्त करने के लिए किया जाता है, पीड़ा पैदा करता है या पशुओं या मनुष्यों को मार देता है। यह संस्कार मध्य युग में चलता रहा है (जैसा समझाया जा चुका है) और आज भी मे पोल (मई का बांस) के सम्प्रदाय में सामान्यतया अस्वीकृत रूप में अवशिष्ट है।

यद्यपि कर्मकाण्ड प्रयोग पर आधारित है, इसमें परिवर्तन भी होता है। प्राचीन ब्राह्मण-साहित्य में अनेक व्यक्तियों ने ऐसे संस्कारों को आपत्तिजनक बतलाया है। उन्होंने इसमें सुधार की चर्चा भी की है या उनको छोड़ने की चर्चा भी की है। कबीले एवं इसके झगड़े तथा विभिन्न परम्पराओं का एक साथ जुड़ना ही ऐसे सन्दर्भों की व्याख्या प्रस्तुत कर सकते हैं परन्तु इनमें एक विकसित नैतिक भावना या ज्यादा समझदार मन की भी खोज की जा सकती हैं। इनमें से एक पुराने कर्म-काण्डी ने कर्मकाण्ड के एक अंग को निरर्थक भी बतलाया है। कर्मकाण्ड को लेकर विभिन्न विचारधाराएँ लगातार विरोधी "पारिवारिक परम्पराएँ" उद्धृत करती रही हैं। सामाजिक विकास कर्मकाण्ड को आत्मसात् कर लेता है या नए संस्कारों को जन्म देता है, जैसा रोम में हुआ है। मौसम का परिवर्तन नई परिस्थितियों में जीवन—सभी तत्त्व घिसे-पिटे कर्मकाण्ड का विरोध करते हैं। इसमें कभी थोड़ी या ज्यादा सफलता भी मिल जाती है। यूनाइटिड स्टेट्स ने गिरिजाघर की सेवा में राजा के लिए प्रार्थना का परित्याग कर दिया था। १८९७ के अकाल ने अहमदा-बाद के पुरोहितों से वैदिक मन्त्रोच्चारण करते हुए नगर की परिक्रमा करवाई थी। यह पूरे रूप से एक नया ही संस्कार था। ग्रहण सम्बन्धी भारतीय संस्कार आमूल चूल रूप से बदल गया है। यह एक स्नान के महान् संस्कार के रूप में परि-वर्तित हो गया है। अतः संस्कार की आन्तरिक शक्ति बदल जाती है। अमरीकी भारतीयों का सर्व-नृत्य वर्षा लाने के लिए एक जादुई संस्कार के रूप में प्रारम्भ हुआ था, परन्तु अब धार्मिक एवं प्रार्थनात्मक बन गया है, जैसे एक संस्कार सामाजिक उपयोग की अभिव्यक्ति के रूप में प्रारम्भ होता है। अतः विचार एवं कार्य में, जहाँ तक सम्भव हो सके उससे तालमेल रखते हुए इसको सुरक्षित रखा जाता है, परन्तु एक रूढ़िवादी शक्ति के रूप में यह बहुत पीछे छूट जाता है। अतः यह घिसे-पिटे विचारों को साकार रूप प्रदान करता है। पन्थ की तुलना में यह

---

८. देसी दिमाग के लिए नर्तक-स्त्री की नग्नता मातृ देवी को व्यक्त करती है, परन्तु जैसा डरखेम महोदय बतलाते हैं, ऐसे सन्दर्भों में नग्नता मात्र कपड़ों का हटाना है। जैसे गिरिजाघर में हैट का उतारना, कपड़ा हटाना एक श्रद्धा का काम है, या धार्मिक स्थिति में रहना भी श्रद्धा है। सामान्य स्थिति में साधारण कृत्य एव वस्त्र वर्जना समझे जाते हैं। विभिन्नता से अवज्ञा व्यक्त होती है। इसलिए शोक एवं दूसरे धार्मिक काम नग्नता को जन्म दते हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सम्प्रदाय प्राय: कालदोषयुक्त हो जाता है।

इस प्रकार अस्पष्ट होने की अपेक्षा किसी भी संस्कार को नए विचारों की अभिव्यक्ति में परिवर्तित किया जा सकता है। इसी प्रकार जापान में देवताओं को भेंट प्रदान करने के संस्कार के अतिरिक्त जमीन को बुराईयों से मुक्त करने के लिए विशुद्धीकरण का सामान्य संस्कार हुआ करता था। "नीचता" को एक घोड़े पर लाद कर उसको समुद्र में स्नान करवाया जाता था। यह संस्कार अब भी विद्यमान है परन्तु अब यह संस्कार "अनुरंजनार्थक" बन गया है। इसी प्रकार कृपा प्राप्त करने का दूसरा जापानी संस्कार अब "स्तुति" बन गया है। इन सन्दर्भों में परवर्ती लोकाचार ने इस पुराने संस्कार की आधुनिक शब्दों में इसकी व्याख्या प्रस्तुत की है।

एक संस्कार किसी विशिष्ट उद्देश्य से प्रारम्भ होता है। यह उस संस्कार की वैसी ही समानुरूप घटना के अनुकूल होता है। इस प्रकार शब्दों की एक लम्बी कोटि होती है। वे शब्द मूलत: सावेग उच्चरित होते हैं और संस्कार में वर्णित घोषणाओं को पुष्ट करना ही उनका निश्चित उद्देश्य होता है। इनमें यह कहा जाता है ऐसा हो या ऐसा है (हाँ, सत्य रूप में)। फिर इसका भाव अस्पष्ट हो जाता है। उनको शामानी धर्म में आवेगपूर्वक उच्चरित होने वाले गीत के अंग के रूप में नहीं समझा जाता है परन्तु उनको रहस्यात्मक या बल्कि भयानक शब्द के रूप में समझा जाता है। इनका प्रयोग किसी भी स्थान पर गम्भीर अवसरों पर किया जा सकता है जैसे निश्चयात्मक शपथ के शब्द आश्चर्य या गुस्से की अस्पष्ट अभिव्यक्ति बन जाते हैं, जैसे शपथ, नर्क, शाप। ब्राह्मण भक्तिमार्ग में इन आश्चर्य-सूचक शब्दों में एक शब्द जादुई शक्ति का यथार्थ शब्द बन गया है। इसका आशीर्वाद में एक "दिव्य शस्त्र" के रूप में प्रयोग किया जाता है। अत: फिर यज्ञीय जल किसी उद्देश्य के लिए होते हैं, परन्तु भारतीय नाटक में एक भयभीत पुरोहित, जो लू लगे आदमी को ठीक करना चाहता है, "यज्ञीय जल" लाने के लिए कहता है "जो अपने आप में रोग निरोधक होता है" अर्थात् यह किसी भी परेशानी के लिए अच्छा होता है। फिर बाईबल एवं कुरान के शब्दों का कागज़ के टुकड़ों के प्रयोग को सामान्य ताबीज के रूप में समझा जाता है। इन सभी सन्दर्भों में एक धार्मिक कृत्य या एक निश्चित चरित्र वाली वस्तु को अस्पष्ट एवं सामान्य जादुई कार्य या तलिस्मन में बदलने की प्रवृत्ति पायी जाती है। पवित्र शब्द स्वयं अपने आप में दिव्य शक्ति बन जाता है। बौद्ध तन्त्र में इसको वास्तविक रूप से एक व्यवस्थित रूप दे दिया गया है। वहाँ वशीकरण एवं शब्दों का जादुई प्रभाव होता है। वे बाध्य करने वाली शक्ति के रूप में कार्य करते हैं, प्राचीन वैदिक कर्म-काण्ड के समान।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कुछ ऐसे ही तरीके से हमें उस असाधारण तथ्य की व्याख्या करनी चाहिए, जिसकी हम पहले ही चर्चा कर आए हैं। एक ही संस्कार का प्रयोग अत्याधिक विरोधी उद्देश्यों के लिए किया जाता है। उदाहरण के लिए संगीत समारोह का प्रयोग विवाह संस्कार या एक अन्त्येष्टि के लिए किया जाता है। व्रत का प्रयोग प्रायश्चित एवं समागम के लिए किया जाता है। भारतीय संस्कार में प्रायश्चित, समागम, व्रत और शपथ—इन सभी का प्रयोग कुछ सुधरे हुए यज्ञीय विधान द्वारा उपेक्षा भाव से किया जाता है। यह भाव अस्पष्ट हो गया है और धार्मिक विशुद्धीकरण का एक सामान्य अर्थ में ही संस्कार से सम्बन्ध बना रहता है ताकि इसका प्रयोग लगभग किसी भी विशिष्ट उद्देश्य के लिए किया जा सकता है। डरखेम महोदय द्वारा दी गई व्याख्या की अपेक्षा लेखक को यह व्याख्या ज्यादा सम्भव प्रतीत होती है। डरखेम महोदय का विचार है कि संस्कार अपनी प्रारम्भिक अवस्था में कोई विशिष्ट कार्य नहीं है। इसका कोई भी निश्चित उद्देश्य हो सकता है परन्तु यह सामूहिक शक्ति एवं विश्वास स्थापित करने का एक सामान्य एवं अस्पष्ट साधन हैं। इसके द्वारा समूह समय-समय पर अपने आपको पुनः दृढ़ता से स्थापित करता है। एक विशिष्ट वस्तु के गौण एवं निश्चयात्मक विचार के द्वारा ही संस्कार के विभिन्न प्रभाव पैदा होते हैं।[९]

कर्मकाण्ड का एक परवर्ती रूप किसी मन्दिर एवं चैत्य की तीर्थयात्रा है। वहाँ हमेशा ही चमत्कार पैदा होते हैं, मक्का, बनारस, लुर्डरस आदि-आदि। ऐसी तीर्थयात्रा देवताओं की वृद्धि करती है। इस प्रकार उसका एक स्पष्ट धार्मिक मूल्य होता है। अमुक-अमुक स्थान का वृहस्पति प्रत्येक स्थान के वृहस्पति से भिन्न है, अतः अमुक या अमुक मन्दिर की हमारी देवी वही शक्ति नहीं है। निःसन्देह यह कहा जाता है कि यह वही बृहस्पति है, यह वही साधु है, यह वही देवी है परन्तु थका माँदा तीर्थयात्री यह भली-भाँति जानता है कि उसका मुख्य सहायक केवल एक मन्दिर में ही उपलब्ध होगा। प्रसंगवश तीर्थयात्रियों द्वारा देवताओं के नए भवनों का निर्माण होता है और मन्दिर की सेवा-सुश्रूषा में वृद्धि की जाती है। ऐसे स्थान बनाए जाते हैं जहाँ महापुरुषों के अवशेषों को रखा जाता है, परन्तु ये कोई नए लक्षण नहीं हैं। सुरक्षात्मक चैत्य एवं मन्दिरों के निर्माण से स्वाभाविक रूप से वास्तुकला सम्बन्धी भाव का विकास होता है, जैसे चित्रकला एवं मूर्तिकला में हुआ है और धर्म लेने की अपेक्षा वापिस देता अधिक है। कई विद्वानों के मत के अनुसार कला अपने सभी रूपों में धार्मिक क्रिया-कलापों से ही पैदा होती है। कला एवं विज्ञान धर्म से कितने लाभान्वित हुए हैं—यह बात एक भारतीय विद्याशास्त्री के लिए कम महत्त्वपूर्ण हो सकती है; क्योंकि भारतवर्ष में ज्यामिति,

---

९. डरखेम, वही, पृ० ३८७

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विज्ञान के रूप में संगीत, ज्योतिष, आयुर्वेद, मूर्तिकला और चित्रकला, धर्मशास्त्र एवं दर्शन का तो कहना व्यर्थ है—ये सभी धर्म की ही प्रशाखाएँ हैं। धर्म के इस रूप ने आस्ट्रेलिया में नाट्य की प्रारम्भिक अवस्था, खण्डकाव्य एवं प्रारम्भिक प्रकार के महाकाव्य तथा चैत्य की भावना को जन्म दिया है। फिर भी, वेशभूषा, साज-सज्जा तैल आदि के प्रारम्भिक प्रयोग को धर्म के साथ जोड़ना एक अतिशयोक्ति है। पशु भी साज-सिंगार को पसन्द करते हैं और आदमी जितना ज्यादा असभ्य होता है वह उतना ही प्रदर्शन करना पसन्द करता है। जितने पुराने यूरोपियन हाथी होते हैं, यूरोपियन गुफाओं में उतने ही पुरानी मछली की हड्डी से बने नेकलेस साज-सज्जा के लिए उपलब्ध होते हैं; क्योंकि असभ्य व्यक्ति तैल का धार्मिक उद्देश्य से प्रयोग करने से पहले ही अपने आपको स्निग्ध रखने के लिए तैल का प्रयोग करते हैं। जैसा डॉ० गेवान्स का कहना है, पहले छत्रों का प्रयोग सूर्य को मनुष्य की साधारणीकृत अलौकिक शक्ति से सुरक्षित रखने के लिए नहीं किया जाता था परन्तु मनुष्य को सूर्य से सुरक्षित रखने के लिए किया जाता था।

हमारा अपना धर्म कुछ मात्रा में प्राचीन रोम के कर्मकाण्ड को सुरक्षित रखता है (तुलना करें जुलूस, धूपबत्ती का प्रयोग मूर्तियाँ आदि)। इसमें जो परिवर्तन प्राचीन सम्प्रदायों को सुधारने के लिए किए जाते हैं, उनको स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। आगस्टाइन महोदय हमें यह बतलाते हैं कि मृतकों के लिए स्तुति अविश्वास के योग्य थी और वे यह सलाह देते हैं कि उसको गाया जाना चाहिए। म्लेच्छ देवताओं के लिए बनाए गए मन्दिरों को ईसाई सन्तों के सिर मढ़कर उनको आमूल चूल रूप से परिवर्तित नहीं किया गया था। प्रेम की देवी वीनस के लिए गीतों को वीनस साधु के लिए उच्चारित किया गया था। डेमेटेर का अह्वान अभी भी पवित्र माँ के नाम से किया जाता था। आरटेमिस का आह्वान पवित्र कुँवारी के रूप में किया जाता था। एस्क्लोपोइस की गुफा को आज भी उसी भक्तिपूर्ण भेंटों से सजाया जाता है, जैसे प्राचीन काल में सजाया जाता था, परन्तु एस्क्लोपोइस का नाम ईसाई है। बुद्ध को भी ईसाई संन्यासी का रूप प्रदान कर दिया गया था। इस दृष्टि से हमारे धर्म ने किसी दूसरे धर्म को इतना नहीं हटाया जितना इसने दूसरों को आत्मसात् किया है। धर्म ने प्राचीन पूजा-पद्धति एवं संस्कारों को एक नई व्याख्या प्रदान की है। जैसे भारत में जंगली कबीलों के देवता भी अपनी पूजा-पद्धति सहित ब्राह्मणधर्म में आत्मसात् कर लिए गए हैं, सभी बड़े धर्मों ने पूजा-पद्धति के भाव को स्वल्प रूप में आत्मसात् कर लिया गया है। लामावाद या ईसाई मत का कर्मकाण्ड हमेशा ही अपने मूल में विदेशी तत्त्वों का सम्मिश्रण रहा है। इस तरह उधार लेने का प्रश्न पैदा होता है। एफ्रोडाइट के सम्प्रदाय ने अपने कर्मकाण्ड का एक अंग पूर्व से उधार लिया है

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

और वैसे ही डायनोसिस ने उत्तर से उधार लिया है। ईसाई धर्म ने सम्भवतः मिथ्रवाद एवं अन्य दूसरे स्रोतों से उधार लिया है। सम्भवतः लामावाद ने भी ईसाई धर्म से कुछ तत्त्व उधार लिए हैं, परन्तु उधार लेने का प्रश्न हमेशा ही ऐसा है जिसका उत्तर निश्चितता से नहीं दिया जा सकता है। लामावाद की घण्टियों की झनझनाहट, दण्ड प्रणाम, पवित्र चित्र एवं झण्डियाँ, इसका पुरोहित, इसके प्रचारक, इनके पुरोहित तथा इनकी भव्य पूजा की पोशाक, इसके महन्त, मठ, भिक्षु और भिक्षुणी—ये सभी चीज़ें इसके पहले ईसाई मिशनरी लोगों के लिए उनके अपने गिरिजाघर के लिए विकृतियाँ ही थीं। परन्तु एक वस्तु के लिए दूसरी वस्तु उधार लेने का क्या प्रमाण है? अपने सम्पर्क में आने से पहले ही दोनों धर्मों में साधुओं की झण्डियाँ एवं चित्रों का प्रचलन था। उपासना के लिए घुटने टेकने की पद्धति, झण्डियाँ, जुलूस और धूप, पूर्व तथा पश्चिम के प्रत्येक धर्म में इनका सर्वसाधारण प्रयोग पाया जाता है। प्रारम्भ से ही बौद्ध धर्म में भिक्षु एवं भिक्षुणियाँ थीं। वहाँ केवल यही आवश्यक था कि सभी तत्त्व एक साथ मिश्रित हो जाएँ। उन्होंने ऐसा किया भी तथा इसको और भी आसानी से किया क्योंकि मौसम के कारण चैत्य के बन्द भवनों के लिए यह और भी आवश्यक बन गया था। मौसम के कारण बहुत-सी विरोधी वस्तुओं को एक साथ रख दिया गया, उदाहरण के लिए चित्रों का लटकाना तथा परिवृत्ताकार जुलूस। ईसाई मत में धूप भी भूमध्यसागरीय प्रयोग से उत्तराधिकार में आयी है (अरब के अतिरिक्त सभी सेमेटिक लोग इसका प्रयोग किया करते थे) तथा बौद्ध धर्म ने इसको ब्राह्मण धर्म से उत्तराधिकार में प्राप्त किया है। कर्मकाण्डीय प्रभामण्डल यूनान से उधार लिया गया था और स्पष्ट रूप से यह यहाँ से भारतवर्ष में ले जाया गया और रुद्राक्ष भारतवर्ष से ईसाई धर्म में ले जाया गया है।[१०]

आदिम विचारों को अभिव्यक्त करने वाले हमारे अपने कर्मकाण्ड का विषय अधिक महत्त्वपूर्ण है। ईसाई मत में दीक्षा का संस्कार, जैसा पहले ही समझाया जा चुका है, बुरी शक्ति को धोकर विशुद्ध करता है। असभ्य व्यक्तियों के यज्ञीय कर्मकाण्ड में प्रायश्चित का संस्कार अभिव्यक्त होता है। इससे पहले विशुद्धीकरण किया जाता है। यह विशुद्धीकरण नैतिक बुराई की अपेक्षा बीमारी

१०. रुद्राक्ष मूलतः बौद्ध धर्म का स्मरण दिलाने वाला एक तरीका था। उन्होंने इसे शैवमत से उधार लिया था (शिव की अपनी माला नरमुण्डों की बनी हुई थी)। यह सीधे-सीधे बौद्ध धर्म से ईसाई मत में पहुँच गया। बौद्ध भिक्षुओं पर प्रभामण्डल का गोला बाद में दिखलाई पड़ता है और यह सीधा यूनान से आया होगा, बुद्ध की यूनानी प्रतिमा के समान।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

से होता है,[११] परन्तु जैसा हम देख चुके हैं, ये दोनों ही असभ्य व्यक्तियों की विचारधारा में मिल गए हैं। अभिचार, स्नान, विशुद्धि, भाप-स्नान, व्रत मूल—अमरीकी लोग इन सबका व्यवहार शोधक के रूप में किया करते थे। इन साधनों द्वारा वे कुप्रभाव, बीमारी एवं पापों को दूर भगाया करते थे। वे बूराई से मुक्त होकर अपने आपको धो लिया करते थे, जैसे ईसाई मत की दीक्षा असुर को दूर भगा देती है। रोगनाशक गंधक के स्नान के विषय में असभ्य व्यक्ति का विश्वास था कि उसका परवर्ती बढ़िया स्वास्थ्य, बुराई के ऊपर विजय का ही परिणाम था। अत: वे पापपूर्ण शक्तियाँ हैं। व्रत के द्वारा वह कलुषित भोजन का परित्याग किया करता था। वह साफ-सुथरा रहा करता था और साथ-साथ उसको एक दृष्टि भी प्राप्त होती थी। स्पष्टतया इसके द्वारा वह आध्यात्मिक शक्तियों के निकट के सम्पर्क में आ जाता था। अग्नि के द्वारा विशुद्धीकरण विरल नहीं है, यद्यपि जल एवं व्रत के द्वारा विशुद्धीकरण की अपेक्षा कम सामान्य है। सामान्यत: किसी व्यक्ति के शब्द या कार्य की पवित्रता की परीक्षा के लिए यह एक अग्नि-परीक्षा है। यज्ञ के द्वारा प्रायश्चित करने का यह सामान्य साधन है। पाप करने वाले के स्थानापन्न के रूप में या एक सन्तोषप्रद बलि के रूप में वध्य पशु को जलाया जाता है। अनेक धर्मों में अग्नि शोधक है। यह बुराई को जला देती है। मत्यंता (यूनान) का धब्बा खेत को विशुद्ध कर देता है। फ्लोरेंस में आज भी ईस्टर फायर का सम्प्रदाय सुरक्षित है।

विशुद्धीकरण का संस्कार इस प्रकार काफी हद तक झाड़-फूंक वाले संस्कार की प्रशाखा है। बुराई से मुक्ति एक ऐसे संस्कार को जन्म देती है जिसके द्वारा सभी बुरी आत्माएँ भाग जाती है। इस सामान्य विचार से यह भाव पैदा होता है कि जब कोई पाप कर लेता है, उसके पाप द्वारा मनुष्य को दूषित करने वाली बुराई को वैसे ही संस्कार के द्वारा उसमें से भगाया जा सकता है। व्रत, स्नान एवं यज्ञ का सम्पादन करके वह अच्छी शक्ति के साथ अपना सामान्य सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। शोधक कर्म उसको स्वच्छ बना देता है और उस अवस्था में वह यज्ञ के द्वारा समझौते का प्रयत्न कर सकता है। वह यज्ञ उस शक्ति को उसका ऋण चुका देता है जिसके विषय में वह कल्पना करता है कि उसने अपराध किया है। कभी-कभी अग्रिमरूप से अपने आपको आत्मपीड़ा देकर भी प्रायश्चित किया जाता था—प्रायश्चित यज्ञ करने से पहले या प्रायश्चित यज्ञ के स्वीकार होने से पहले। सभी धर्मों में शुद्धि के लिए तैयारी की जाती है। यज्ञ के एक मात्र

११. जल एवं अग्नि के द्वारा विशुद्धीकरण के लिए इस पुस्तक में पहले देखिए। पवित्रता के लिए जल एक अतीव आदिम प्रकार है। पशु भी, जैसे बिल्ली या कौवा अपनी मिट्टी को धो लेते हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

संस्कार के रूप के विरोध में बुद्ध के प्रतिवाद की यही कुंजी है। उन्होंने कहा था कि बिना पवित्र हृदय के यज्ञ आपके झूठे विश्वास को जन्म देता है। धर्म का आधार नैतिक पवित्रता है। असभ्य व्यक्तियों के धर्म में फिर नैतिक-पक्ष एवं धार्मिक पक्ष सामान्यतः पृथक् ही हैं। अर्थात् पाप आवश्यक रूप से नैतिक नहीं होते हैं और वे आकस्मिक और ऐच्छिक भी हो सकते हैं।[१२]

झाड़-फूंक वाले उपाय हमारे लिए मात्र गंवारू अन्धविश्वास बन कर रह गए हैं। प्राचीन समय में प्रेत, सर्दी, अकाल तथा उन बुरी शक्तियों को भगाने के लिए एक औपचारिक संस्कार हुआ करते थे जिनको आध्यात्मिक समझा जाता था। सामान्य प्रकार की बुरी आत्माओं के लिए शोर, लोहा, गन्ध, अग्नि एवं जल—इन सभी को झाड़-फूंक समझा जाता था। इसके अतिरिक्त रक्त को भी झाड़फूंक- समझा जाता था। इसके बदले में बुरी आत्माओं को दूर भगाने के लिए रक्त का प्रयोग किया जाता रहा होगा और मेमने का खून बहाना ऐतिहासिक रूप से इस संस्कार से जुड़ा हुआ है; परन्तु इसकी व्याख्या यज्ञ के रूप में की गयी है, न कि एक झाड़-फूंक वाले उपाय के रूप में की गयी है। ईसाई मत में प्रायश्चित का पूरा सिद्धान्त ही यज्ञीय बन गया है।[१३] परन्तु सामान्यतः इसको कुछ संकोच के साथ स्वीकार किया गया है कि व्यक्ति ने यह जो प्राथमिक कदम उठाया होगा और अपने आपको विशुद्ध किया गया होगा, जिसके बदले में पुरोहित द्वारा उसके द्वारा किये गए प्रायश्चित को स्वीकार किया जाता है, यह स्वीकार करने पर एक दूसरा कदम उठाया जाता है। श्रद्धास्पद स्वीकारोक्ति से व्यक्ति साफ़ तौर पर पछतावा करता है। अन्तिम कदम तब उठाया जाता है जब रक्षक के नाम के मात्र मृत्युपरक नामोच्चारण को श्रद्धापूर्ण स्वीकारोक्ति के रूप में समझा जाता है। यदि इससे कोई सिद्धान्त नहीं निकलता तो इससे एक प्रश्न पैदा हो जाता है कि वह पापी, जो मृत्युशय्या पर जीसस का नामोच्चारण करता है, मुक्ति के विषय

---

१२. बेबिलोनिया में जादुई तरीकों, अग्नि एवं जल के प्रयोग द्वारा प्रायश्चित किला जाता था। इसके द्वारा बीमारी या असमर्थता के विद्वेषपूर्ण कारण को दूर किया जाता था।

१३. तुलना करें, हेब्र ९·११·२८। इसकी प्रतिज्ञात्मक यज्ञ तथा मुक्तिदायक यज्ञ के रूप में व्याख्या की गयी है, या तो यह दण्ड से मुक्ति या भ्रष्टाचार और मृत्यु से मुक्ति हो सकती है। कुछ लोगों का विचार है कि मेमने का मूल प्रयोग झाड़-फूंक नहीं था परन्तु यह कबीले की आत्मा से संलापन के लिए था। भारतीय धर्मों मे वैयक्तिक बन्धनों से छुटकारा ही मुक्ति है। यह मुक्ति ही सम्पूर्ण जीवन की प्राप्ति के लिए है; परन्तु इसका तात्पर्य पापपूर्ण प्रवृत्तियों से छुटकारा भी है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

में आश्वस्त हो जाता है। राम एवं बुद्ध के भक्तों में भी ऐसा ही होता है और इस विषय में तीनों ही धर्मों में एक हत्यारे के लिए मुक्ति के विषय में निश्चिन्त होकर शान्ति से मरना सम्भव बना दिया गया है; चाहे अन्त तक उसका पाप वास्तव में कितना भयंकर क्यों न हो। सौभाग्य से नैतिकता के लिए यह धार्मिक हठधर्मिता प्रचलित नहीं है और कुछ सम्प्रदायों में ही "पवित्र नाम की आवृत्ति" को स्वर्ग का पारपत्र समझा जाता है।

क्योंकि ईसाई-मत में दीक्षा एवं प्रायश्चित संस्कारों का सम्बन्ध असभ्य व्यक्तियों के प्रयोग से है, अतः स्वीकारोक्ति का संस्कार आदिम दीक्षा का आधुनिक रूप है। गिरिजाघर निजी समाज को अभिव्यक्त करता है जो अफ्रीका, पोलिनेशिया और अमेरिका के असभ्य व्यक्तियों के कबीलों में उपलब्ध होता है। जब एक लड़का युवा हो जाता है, तब एक संस्कार के द्वारा उसको कबीले में ग्रहण किया जाता है। जैसा हम देख चुके हैं, वह संस्कार उसको सुरक्षित करता है और उसको आध्यात्मिक शक्तियों से युक्त करता है। सफलतापूर्वक परीक्षण किये जाने पर उसको बाद के मनुष्यत्व के चोले के समान वस्त्र पहनाए जाते हैं और उसको राजनैतिक संस्था के एक सदस्य के रूप में स्वीकार कर लिया है। भारतवर्ष में यह संस्कार इतना कष्टदायक है कि एक लड़का, जिसकी दीक्षा न हुई हो, उसका कोई स्थान नहीं होता है, उसको अछूत समझा जाता है। असभ्य व्यक्तियों के जीवन में जब कबीले का महत्त्व एक सत्ता के रूप में कम हो जाता है, निजी समाज उसका स्थान ग्रहण कर लेता है और जाति कबीले का स्थान ग्रहण कर लेती है। उसे कबीले के समान निजी समाज में किसी संस्कार के बाद ही स्वीकार किया जाता है। इस संस्कार की व्याख्या सामान्यतः पुरुषत्व के परीक्षणों के रूप में की जाती है।[१४] तब उसको उसकी नयी व्यवस्था के रहस्यों के सुपुर्द कर दिया जाता है। इस नयी व्यवस्था में प्रवेश के द्वारा वह विभिन्न बुराइयों से विशुद्ध हो जाता है। वह उसको एक प्राणी बना देती है, अर्थात् जैसा पहले समझाया जा चुका है, उसके विषय में यह भी कहा जाता है कि उसका 'पुनर्जन्म' हुआ है। इन सभी समाजों में (वह) नौसिखिया एक रहस्यमय समाज का सदस्य बन जाता है।

इन निजी समाजों में आध्यात्मिक बिरादरी के वह तत्त्व पाए जाते हैं जिन्होंने निजी समाज को पैदा किया है। अन्ततोगत्वा एक रहस्यमय आध्यात्मिक

---

१४. लिंगाग्रच्छेदन इन असभ्य लोगों के गोपनीय समाज में प्रवेश के समय किए जाने वाले कर्मकाण्ड का एक अंग है। कुछ सन्दर्भों में यह कबीले में दीक्षित होने का एक अंग है। लिंगाग्रच्छेदन अफ्रीकी, आस्ट्रेलियाई, मिस्र के लोगों तथा हिब्रू लोगों में पाया जाता है। मूलतः इसका कोई धार्मिक महत्त्व नहीं था और विरल रूप से इसका लिंग-पूजा से कोई सम्बन्ध है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

संस्था के रूप में तथा धर्म के रूप में ही इसको अभिव्यक्ति मिली है। इसमें व्यक्ति को समुन्नत प्राणी के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। दीक्षित होने वाले के ऊपर व्रत एवं प्रार्थना के द्वारा असभ्य व्यक्तियों द्वारा निगरानी रखी जाती है और उस व्यक्ति को एक दृष्टि प्राप्त हो जाती है। एक ऐसी धार्मिक संस्था कबीले को एक सत्ता के रूप में उसका परित्याग कर देती है और जिसे हम धर्म की सत्ता कहते हैं, उसको उसके स्थान पर स्थानापन्न कर देती है। परन्तु सामान्यतः सभी सन्दर्भों में, विशेष रूप से जैसे यूनान में, रहस्यमय समाज उस कबीले की आत्मा के ह्रास का अनुसरण करता है। यह समाज उन सदस्यों का बनता है जिसका विभिन्न कबीलों से सम्बन्ध होता है। वे इस प्रकार एकता के नए सिद्धान्तों की शुरूआत करते हैं। इस प्रकार भारतवर्ष में परिवार नामक विभिन्न कबीलों के सदस्यों ने मिलकर एक जाति का निर्माण किया है। अफ्रीका में एक रहस्यवादी समाज कबीले के सम्बन्धों की उपेक्षा करके एक आध्यात्मिक बिरादरी को पैदा करता है, ताकि कोई यह कल्पना कर सके कि आध्यात्मिक एकता के कारण टोटमवाद ने मनुष्यों को एक साथ जोड़ दिया है, ताकि यदि एक कबीले का रूखा भाई स्वयं कबीले के पास आए और साथ-साथ दूसरे भाई-लोग भी आएँ तो एक भिन्न राजनैतिक संगठन से आने पर भी उसका एक भाई के रूप में स्वागत किया जाए। यह अभिलिखित है कि असभ्य व्यक्तियों के निजी समाज के सदस्य कभी-कभी एक विशिष्ट प्रकार के भविष्य-सुख की कामना करते हैं, जैसे यूनान की रहस्यवादी बिरादरी इस जीवन के उपरान्त एक विशिष्ट प्रकार के फल की आशा किया करती थी। इस जीवन में भी, जिन सदस्यों को एक बार (गोपनीय समाज) स्वीकृत कर लिया जाता है, उनका विशिष्ट आदर होता है और प्रायः उनसे भय भी होता है। हमारे धर्म में साधुओं के समान आत्माओं के पास भी शक्ति होती है; और मध्यस्थ के रूप में उनके लिए प्रार्थनाएँ की जाती हैं, "मरे हुए व्यक्ति के लिए दीक्षा ग्रहण की जाती है", जैसे मानो मनुष्य, अब भी एक सामान्य आत्मा की सहायता कर सकता है।

उदाहरण के लिए ऐतिहासिक दृष्टि से इन आदिम विचारों ने बपतिस्मा, स्वीकारोक्ति के बाद निर्मुक्ति, और मेक्सिको की एजटेम्स जन-जाति में समागम का आविष्कार किया गया (ये लोग भी क्रॉस को एक धार्मिक प्रतीक के रूप में श्रद्धास्पद मानते थे)। पोलिनोशिया में कुछ चुने हुए लोगों के लिए एक विशेष स्वर्ग, अफ्रीकी समाजों के सदस्यों के लिए इस जीवन के उपरान्त एक विशिष्ट आनन्द; असभ्य व्यक्तियों के व्रत, प्रार्थना एवं मन्त्रों के सामान्य संस्कार (इन सबका आविष्कार किया) तथा एक रहस्यवादी बिरादरी की स्थापना की। इसके द्वारा आध्यात्मिक बन्धन के माध्यम से मनुष्य एक दूसरे के अधिक निकट आ जाते हैं। ये बन्धन ही इनको आत्मा के साथ भी जोड़ते हैं। ये आदिम विचार उसी प्रकार

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

की ईसाई विचारधारा के सहज पूर्व रूप नहीं हैं। अधिक विकसित प्रकार के मध्यस्थ विचारों द्वारा इनमें सुधार किया गया है और इनको स्पष्ट भी किया गया है, क्योंकि ईसाई रहस्यमय बिरादरी के पीछे आरफियस के रहस्यों की आध्यात्मिकता थी। इसने (आरफियस ने) धर्म परित्याग करने वालों के लिए सबसे पहली बार आनन्दमय पुनरुत्थान की आशा की आवाज उठाई थी। वे विभिन्न तत्त्व, जिससे सम्पूर्ण धर्म के कर्मकाण्ड का निर्माण होता है, वास्तव में, अन्ततोगत्वा बर्बर प्रकार के हैं और उन तत्त्वों में से प्रत्येक तत्त्व को उसी प्रकार के बीच वाले सुधारों में से निकलने के बाद उनको ज्यादा से ज्यादा आध्यात्मिक बनाया गया है।[१५] निःसन्देह ये सभी विभिन्न संस्कार यहाँ संस्कारों की किसी दूसरी संस्था से पृथक् रूप में एक संस्था के रूप में एक साथ वृद्धि को प्राप्त हुए हैं। इस प्रक्रिया में गिरिजाघर ने अपने आपको असाधारण या अमानव नहीं दिखलाया है; परन्तु अपने संयुक्त कर्मकाण्ड में इसने मिली-जुली आशाओं एवं मिली-जुली आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति की है। मनुष्यों ने इनको अनेक अवसरों तथा स्थानों पर अभिव्यक्त किया हैं परन्तु अब तक इनको असम्पूर्ण रूप में ही अभिव्यक्त किया है और आध्यात्मिकता को तो बिल्कुल ही अभिव्यक्त नहीं किया गया है। कुछ लोग इन संस्कारों की उत्पत्ति की उपेक्षा करने का प्रयत्न करते है। कुछ लोग इनको प्राचीन असभ्य व्यक्तियों के अंधविश्वासों की संस्था मानकर इनका उपहास उड़ाते हैं; परन्तु इनकी उत्पत्ति को पहचानना बुद्धिमानी है। उसी समय यह अहसास करना भी बुद्धिमानी है कि असभ्य व्यक्तियों से उद्भूत होने की अपेक्षा वे अधिक सुन्दर एवं उदार बन गए हैं, जैसे यूनानी एवं हिब्रू लोगों ने उत्तराधिकार में प्राप्त हुए अपने मिथकों को सुसंस्कृत बनाया है तथा आम लोगों की कहानियों में से प्रेरित काव्य का निर्माण भी किया है।

कर्मकाण्ड से उद्भूत होने वाले लाभों की पहले ही आलोचना की जा चुकी है। इसने जीवन के सामाजिक पक्ष को धार्मिक पक्ष से जोड़ा था। यह धार्मिक रूपों को सुरक्षित रखने के लिए एक साधन था। इसने आध्यात्मिक शक्तियों की सेवा में सामाजिक संगठन को एकजुट बनाए रखा था। इसके दोष ये हैं, जैसे-जैसे यह आवृत्ति के कारण कमोवेश रूप में निरर्थक बनने लगता है तो यह

---

१५. अन्तिम भोजन के समय ईसामसीह द्वारा व्यवहृत थाली की गाथा में एक बढ़िया उदाहरण मिल सकता है। ईसामसीह की थाली की अभिषेकीय प्रकृति, देवता के गुणों वाली प्राकृतिक चीजों का खाना एवं पीना—ये सीरियाई एडोनिस मिथ की गाथा की उत्पत्ति को बतलाते हैं। देखिए जे० एल० वेस्टन, दि ग्रेल १६०७ और डब्लू० ए० नित्से इन माडर्न लेंग्वेज, एस० पब्लिकेशंस फार १६०६, पृ० ३६५ फुटनोट।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सहजता को (कर्मकाण्डीय) आकृति में बदलने लगता है तथा एक शक्ति की मशीन बनने लगता है। इस मशीन को कुछ लोग ही अपने लाभ के लिए चलाते हैं (अगला अध्याय देखिए)। इस समय, गिरिजाघर की सेवा का कर्मकाण्ड कैसा होना चाहिए, यह प्रश्न धार्मिक विषय की अपेक्षा सौन्दर्यानुभूति का विषय अधिक है; क्योंकि कुछ लोगों के लिए स्वतः स्फुरित उद्‌गारों की अपेक्षा राजकीय गौरवपूर्ण प्रक्रिया अधिक रुचिकर होते हैं। इस प्रकार अनेक लोगों के लिए वैयक्तिक अभिव्यक्तियों की अपेक्षा संस्कार युक्त प्रार्थना ज्यादा सन्तोषप्रद होती है। दूसरे लोगों के लिए कर्मकाण्ड में भावना एक बहुत ही कमजोर स्थिति में स्थानापन्न हो जाती है और यदि उनको अधिक सुन्दर अभिव्यक्ति तथा क्रिया-कलाप की आवश्यकता होती है तो वे लोग सादी बातचीत एवं सादी प्रक्रिया को बढ़िया मानते हैं। धूप-बत्ती, मोमबत्ती और घुटने टेक कर उपासना करना कुछ लोगों को सान्त्वना प्रदान करते हैं तो दूसरों के लिए चिड़चिड़ाहट पैदा करते हैं। परन्तु ऐसी चीजें न तो आवश्यक होती हैं और न ही महत्त्वपूर्ण होती हैं।

भारतवर्ष में परिवार के प्रिय सदस्य की मृत्यु पर घिसे-पिटे कर्मकाण्ड की अपेक्षा किसी अन्य महत्त्वपूर्ण वस्तु की आवश्यकता को सुन्दर ढंग से प्रदर्शित किया गया है। धर्म ग्रन्थ हमें यह बतलाते हैं कि "वृद्ध पुरुषों एवं स्त्रियों" के कहने के अनुसार मृतक के लिए "छोटे-मोटे संस्कारों" को किया जाना चाहिए। पुरोहितों के साथ-साथ ऐसे लोग प्राचीन स्थानीय रीति-रिवाज़ों के स्वाभाविक रक्षक होते हैं। अतः पुरोहितों के औपचारिक संस्कारों को किए जाने के बाद शोकाकुल लोगों को सान्त्वना देने वाली पुरानी कथाओं को सुनने की सलाह दी जाती है। ऐसा प्रस्ताव किया जाता है (आवश्यक नहीं होता है) कि कुछ वृद्ध लोग शोकाकुल लोगों को एकत्रित करें और सान्त्वना प्रदान करने वाले मन्त्रों का उच्चारण करें। तब धर्मशास्त्रकारों द्वारा एक नमूना दिया गया कि सलाह देने के लिए क्या उचित होगा :

"जीवन में कुछ भी निश्चित या आवश्यक नहीं है; पानी के बुलबुले कभी भी सहन नहीं कर सकते;
जीवन की समाप्ति पर तत्त्व तत्त्व में मिल जाता है;
स्वयं पृथ्वी भी चली जाएगी; समुद्र भी; देवताओं का भी ह्रास होता है और मर्त्य भी; जीवन के समुद्र पर झाग एवं बुलबुले तथा परेशानी;
पृथ्वी, समुद्र एवं आकाश जीवित रहते हैं।
मर्त्य के नाम पर आंसू मत बहाओ।
हे शोकाकुल लोगों! रोओ मत, परन्तु सोचो, 'प्रेम गर्हित पेय है।'
शोकाकुल लोग आंसुओं को बहाते हैं; तो वे अपने मृतक के लिए निरर्थक आंसू बहाते हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अतः भलाई की कथाएँ, भले लोगों ने पृथिवी पर क्या किया है, मरने पर महान् लोगों ने क्या छोड़ा है, एक दूसरे को बतलाओ। वंचित होने पर सोचो कि मरने वाला आदमी दुःखी हृदयों को अब भी देखता है।

क्या आपके आंसू उसके आनन्द को बढ़ाएँगे ? वह शान्ति का जीवन कहाँ बिता सकता है ?

बिना बाधा के उसको आनन्द लेने दो; शोर से उसके आनन्द में बाधा मत डालो।"

संस्कार युक्त धार्मिक गीत प्रशंसासूचक एवं पश्चाताप सूचक दोनों ही होते हैं। भारतवर्ष में ये गीत मुख्य रूप से प्रशंसा सूचक ही होते हैं। वेबीलोन में मुख्यतया पश्चात्ताप सूचक होते हैं; परन्तु दोनों प्रकार के गीतों को प्रायः एक ही मन्त्र में मिला दिया जाता है। दोनों ही वातावरणों में मन्त्रों ने अपनी मूल ताज़गी को खो दिया है तथा आवृत्ति के कारण वे फामूले जैसे एवं जादुई बनने लगे हैं। वर्ष के निश्चित समय पर धार्मिक जलूसों एवं तीर्थयात्राओं द्वारा पूजा एवं यज्ञ की औपचारिकताओं में वृद्धि हो जाती है। सामान्यतः यह संस्मरण सेवा के छद्म के अन्तर्गत होता है, जैसे कोई घटना या देवता के कोई कर्म, उसका जन्म-दिन या शत्रुओं पर विजय। इस उद्देश्य के लिए प्रायः एक प्राचीन संस्कार को जलूस के रूप में किया जाता है।[१६] इस प्रकार नए मन्दिरों एवं पूजा के नए रूपों की शुरुआत होती है। पूर्व में साधारण विधि-विधान से देवता के मूर्ति रूप शरीर की सामान्य पूजा की जाती थी। भारतवर्ष में देवता घर पर रहा करता था तथा किन्हीं दिनों ही उसका आह्वान भी किया जाता था। इससे पहले उसको जगाना पड़ता था। उसे स्नान करवाना पड़ता था और न्यायालय में राजा के समान उसकी प्रतीक्षा करनी होती थी। परवर्ती काल में प्रत्येक मन्दिर में बहुत से पुजारी हो गए हैं, जो यूनानी पुजारियों के समान केवल मन्दिर के देवताओं की सेवा करते हैं और निजी एवं आम जनता से चन्दा वसूल करते हैं। मिस्र एवं अन्यत्र मन्दिर के पास इस प्रकार प्रचुर सम्पत्ति हो जाती थी और मिस्र के पुरोहितों का अंशतः अपने धन के कारण काफी राजनैतिक प्रभाव हो गया था।

---

१६. इस प्रकार वैदिक कर्मकाण्ड ने जादुई सूर्य एवं वर्षा से सम्बन्धित संस्कारों को रूढ़िवादी कर्मकाण्ड में सम्मिलित कर लिया और जब बौद्ध धर्म कम्बोजिया एवं स्याम में पहुँचा तो इसने प्राचीन देशीय भोजों को ग्रहण करके अपने कर्म-काण्ड में स्मृति के रूप में रखकर उनको पवित्र बना दिया। लोगों ने इसकी तरफ ध्यान नहीं दिया है। उन्होंने हँसकर एवं नाचकर अपने पुराने तरीके से वसन्त ऋतु का उत्सव मनाया। परन्तु यह अब नए धार्मिक उत्सव का एक अंग बन गया था।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मन्दिर का विचार, कब्र के समान न होकर, एक विकसित प्रेत-घर या देव-कुटी से आया है। किसी न किसी रूप में इसमें वर्जित वस्तु निवास करती है। मन्दिर या तो धार्मिक साधन हैं या दिव्य संस्थाएँ हैं (जड़-प्रतीक आदि आदि)। कभी-कभी अमरीकी भारतीयों द्वारा युद्ध में बण्डल बाँधकर पूर्वजों के कंकाल इस प्रकार आदिम सन्दूकों में ले जाए जाते हैं जैसे हिब्रू लोग सन्दूक में अपनी पवित्र वस्तुओं को ले जाया करते थे। एक आत्मा के घर के लिए पवित्र स्थान का भाव तथा आत्मा के यज्ञ के लिए पवित्र स्थान का भाव—ये दोनों भाव विकसित मन्दिर में मिश्रित हो गए हैं। आत्मा या तो मूर्ति या वेदी (मूलतः दिव्य) में मूर्त रूप में विद्यमान है या जब वेदी यज्ञ का मात्र पत्थर बन जाती है तो उसका रूप अमूर्त बन जाता है। जैविश लोगों के मन्दिर ने स्वतन्त्र खुले यज्ञों का बहिष्कार कर दिया था। मन्दिरों को पहले कहीं भी बनाया जा सकता था जैसे वे भारतवर्ष में पहले बनाए जाते थे। आधुनिक देवताओं द्वारा वैदिक धर्म के स्वतन्त्र देवताओं को तिरोहित करने से पहले किसी भी प्रकार के मन्दिरों का निर्माण नहीं किया जाता था। यह प्रश्न किया जा सकता है कि प्राचीन आर्यों के पास बिल्कुल मन्दिर थे या नहीं? ऐसा मालूम पड़ता है कि होमर युग के यूनानी लोग बिना स्थान का ध्यान रखे यज्ञ किया करते थे और इस अवसर के लिए एक सीधी-सादी वेदी बनाना ही आवश्यक था। वैदिक एवं होमर युग के देवताओं के पास असीमित शक्तियाँ थीं और यूनान के आर्यों ने अपने पड़ोसियों से मन्दिर का भाव उधार लिया लगता है जैसे जिव लोगों ने किया था।[१७] आधुनिक अर्थ में न तो यूनानी

---

१७. आर्य शब्द को जातीय महत्त्व प्रदान करने के विरोध ने इस सन्दर्भ को अतिरंजित बना दिया है। यह सही है कि आर्य भाषा में कई जातियाँ आती हैं, परन्तु कुछ ऐसे आर्य लोग भी हुए होंगे जिन्होंने भाषाई तौर पर सभ्यता पर कोई विशिष्ट छाप नहीं छोड़ी है। वैदिक आर्य लोग भारतीय खानाबदोशों से निश्चित रूप से भिन्न थे। यूनानी लोग भी इन खानाबदोशों से भिन्न थे जिनको इन्होंने जीता था और क्रमशः उन यूनानियों को जिन्होंने जीता था, अर्थात् आत्मसात् करने के कारण, जैसे भारत के आर्य लोगों को आत्मसात् कर लिया गया था और देसी लोगों के धर्म के साथ उनका धर्म जुड़ गया था। अन्तर वही था। स्वतन्त्र एवं रूखी आत्मा आर्यों पर राज्य करती थी। आर्य लोगों ने देवताओं से अपनी बिरादरी स्थापित कर ली और भूतों तथा ज़मीन की दूसरी रहस्यमयी चीजों की उन्होंने बिल्कुल परवाह नहीं की। उनसे अभिभूत होने की अपेक्षा उन्होंने उनका शोषण किया। केवल केल्ट लोगों में ही, जिनका आर्य रक्त लम्बे-लम्बे रास्तों को पार करने तथा समय के कारण पतला पड़ गया था, आर्यों के रवैये के कुछ हल्के से लक्षण पाए जाते

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मन्दिर और न ही हिब्रू मन्दिर मिलन-स्थल के रूप में प्रयुक्त होते थे। यहूदी पूजा-गृह ने ही इस आवश्यकता को पूरा किया है। आदिम या आधुनिक यज्ञों में भी वेदी की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। भारतवर्ष में हस्ति-देवता (गणेश) की सामान्य-पूजा पुष्प, फल, मछली, दूध, पुरोडाश और मादक पदार्थों से की जाती है। इनको एक टोकरी में रखकर चौराहे पर घास (वैदिक बर्हिष् के समान) के ऊपर रख दिया जाता है। भारतीय गाँव में पत्थर देवता और वेदी दोनों ही हैं। पंजाब के पटियाला जिले में एक अवसर (जब चेचक का भय होता है) पर बीन्नी पत्थर की अब भी पूजा होती है, जो वेदी, पत्थर और देवता भी है।

क्योंकि धर्म के सिद्धान्तों का कला, वास्तुशास्त्र और कर्मकाण्ड के आडम्बर के परवर्ती विकास से बहुत थोड़ा ही सम्बन्ध है, यहाँ राष्ट्रीय मन्दिरों तथा पूजा-सेवा की बारीकियों के विकास की खोज करना अनावश्यक होगा परन्तु मन्दिरों की अल्परूप में ज्ञात मूर्तियों की ओर ध्यान देना चाहिए जैसे मैक्सिको के निवासियों का छत एवं गुम्बद वाला सर्प मन्दिर। इसमें साँप का नकली मुँह दरवाज़े का कार्य करता है। मेक्सिको के निवासियों अजेटेक्स जनजाति का टेओ-कल्लि नामक शंकु मन्दिर पिरामिडाकार की ऊँचाई में पाँच से नौ मंजिल के "ऊँचे स्थान"—ये इस अनुमान को सन्देहास्पद बना देते हैं कि बेबिलोनिया के शंकु मन्दिर प्राचीन काल के पर्वत-वेदी[१८] को प्रतिबिम्बित करते हैं। मन्दिरों की अपेक्षा मिस्र की वास्तविक पिरामिडें गुम्बद थे और चीन के मन्दिरों का विकास प्रायः प्रेत-घरों में खोजा जाता है। यूनानी मन्दिर ही ईसाइयों का गिरिजाघर बन गया है और अवसर आने पर वही यूनानी मन्दिर बिना किसी कठिनाई के

हैं और अधिकांश रूप में आदिम निवासियों का पृथिवी धर्म ही उनमें प्रतिबिम्बित होता है।

१८. जैसा पहले विवाद किया जा चुका है कि मिस्री धर्म को पेरु ले जाया गया था। पेरु के मन्दिर मिस्र के मन्दिरों से मिलते हैं। यह याद रखना उचित है कि इस प्रकार की सबसे ज्यादा आश्चर्यमय समानता मेक्सिको तथा जावा के मन्दिरों में पायी जाती है। ये मन्दिर पन्द्रहवीं शताब्दी के हैं। बाद वाले (जावा) मन्दिर बनावट में खुरदरे हैं और वैष्णव मत के एक उखड़े हुए सम्प्रदाय के द्वारा इनका प्रयोग किया जाता है परन्तु "उनकी अद्वितीय समानता में ही उनकी अभिरुचि है। यह समानता मेक्सिको तथा युकाटन के मन्दिरों में पायी जाती है।" यह एक ऐसी समानता है जिसको किसी ने भी नहीं समझाया है। फर्गुसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटैक्चर (१९२१) सर चार्ल्स इलियट द्वारा हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म III, पृ० १६८ में उद्धृत।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मुसलमानों की मस्जिद बन जाती है। वेदी वाले तथा खंभों से युक्त वीथि वाले बौद्ध चैत्यों तथा गॉथिक महामन्दिरों में एक विशिष्ट साम्य है। गॉथिक महामन्दिर के विषय में यह कल्पना की जाती है कि इसकी नकल कब्र के रूप से की गयी है और इसे पत्थर से बनाया गया है। सम्पूर्ण विस्तृत कर्मकाण्ड उन्हीं तत्त्वों की शुरूआत करता है, जैसे, नृत्य-मण्डली, धूपबत्ती, भड़कीले वस्त्र, संगीतमय सुर में प्रार्थना एवं सेवा करना, घण्टियाँ, दीपक आदि। वे धार्मिक संवेदनशीलता को प्रेरित करने का कार्य करते हैं। वे लौकिक एवं पवित्र में अन्तर करते हैं। वे आत्मा को उन्नत बनाते हैं तथा आत्मा में विस्मय युक्त भय उत्पन्न करते हैं। वे वस्तु रूप में प्रस्तुत "पवित्रता के सौन्दर्य में (स्थित) परमात्मा" की पूजा करते हैं। पूर्वजों की मूर्तियाँ तथा चित्र, जैसे रोम एवं चीन में, परिवार के विगत सदस्यों के लिए सबसे पहले यथार्थ-निवास (आश्रय स्थान) का कार्य करते हैं; परन्तु प्रेतों को मानव-शरीर से हटाने के लिए भी मूर्तियों का प्रयोग किया जाता है। वे निवास के रूप में मूर्ति में प्रवेश कर जाते हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अध्याय १३

धर्माचार्य एवं पूजा-स्थल

धर्माचार्य

परिस्थितियों के अनुसार मूल धर्माचार्य एक आध्यात्मिक सत्ता, एक भविष्यवक्ता, गायक(मन्त्रों का गायक जिनका अर्थ जादू है) या एक ऐसा व्यक्ति होता था जिसमें ये सभी कार्य शामिल थे। अनेक बर्बर धर्मों में वह सबसे पहले एक नर्तक ही था और इस प्रकार उसको एक दिव्य व्यक्ति या भविष्यवक्ता के रूप में जाना जाता था। उसका दूसरा अन्य कार्य सुन्दर मौसम का निर्माण करना था। जो धर्माचार्य ऐसा काम नहीं कर सकता था उसका विश्वास नहीं किया जाता था। अच्छा धर्माचार्य उसको समझा जाता था जिसका वर्षा करने वाली शक्तियों पर प्रभाव होता था। इन सभी सन्दर्भों में, धर्माचार्य को मनुष्यों एवं आध्यात्मिक शक्तियों के बीच एक बिचोलिया समझा जाता था। कभी-कभी उसके बारे में यह समझा जाता था कि जो शक्तियाँ जानती हैं वह उसको बतला सकता है और कभी-कभी वह आध्यात्मिक शक्तियों को प्रभावित भी कर सकता है। फिर, एक पवित्र स्थान का रक्षक या धार्मिक अवशेषों का अभिभावक भी कर्मकाण्ड का निदेशक बन सकता था और इस प्रकार वह अपने कन्धों पर धर्माचार्य के पद का भार सम्भाल सकता था। परन्तु सामान्यतः किसी विशिष्ट वैयक्तिक योग्यता के कारण या उत्तराधिकार में प्राप्त शक्ति के कारण आध्यात्मिक आशीर्वाद के ग्राहक के कारण ही उसको आदिम लोगों में ऐसा समझा जाता है। असभ्य व्यक्तियों के धर्माचार्य को आह्लादकारी एवं उन्मादक वाणी तथा अपने काम के द्वारा यह सिद्ध करना चाहिए कि वह प्रेरित है।[1] वह पागलपन में नृत्य करता है, निरर्थक अक्षरों को बड़बड़ाता है, या वह लोगों को ठीक करता है या घटनाओं को पहले से ही बतला देता है या उस बात को जानता है जो दूसरे लोगों को अविदित है (जैसे अपराधों

---

१. हिब्रू-धर्म में बीमारी, पागलपन, प्रेरणा तथा सभी असामान्य शक्तियाँ येहोवा से ही आती हैं परन्तु यह मात्र इस कारण से है कि उसने पुराने प्रेतात्मा के आधिपत्य को अपने में आत्मसात् कर लिया था।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

को खोज निकालना आदि)। अमरीकी एवं अफ्रीकी कबीलों में स्वप्न में देखे हुए व्यक्ति को धर्माचार्य के रूप में चुना जा सकता है। वह चुने हुए व्यक्तियों में से एक बन जाता है। दोनों ही देशों में बचपन से ही धर्माचार्य बनाने की प्रथा विदित थी। उनको धर्माचार्य के कार्यों के लिए नियमपूर्वक शिक्षा दी जाती थी।

उच्च धर्मों में धर्माचार्य का पद प्रायः आनुवंशिक हुआ करता था तथा निम्न धर्मों में कभी-कभी ही आनुवंशिक हुआ करता था। धर्माचार्य का पद उसी वर्ण तक सीमित रहता था[2], जो वर्ण धार्मिक विषयों का नियमन करता था। फिर भी घरेलू संस्कारों का यह अधिकार, भारतवर्ष में भी जहां आम जनता के सभी धार्मिक क्रिया-कलाप धर्माचार्य की जाति के पास थे, परिवार के मुखिया के पास ही था। परिवार का ऐसा मुखिया कबीले का मुखिया बन सकता था और फिर भी धार्मिक कार्यों का निर्वाह कर सकता था। इसी प्रकार अनेक जातियों में मुखिया और धर्माचार्य में एक प्रकार की प्रतिद्वन्दिता पायी जाती है। इनमें से प्रत्येक धर्म का अभिभावक होता है। फिर परिवार के मुखिया एवं कबीले के धर्माध्यक्ष का विरोध अधिक सामान्य है। इस प्रकार यूग्रो-फिनिश कबीलों में परिवार का पिता परिवार का यज्ञ करने वाला बना रहता है; परन्तु कबीले के यज्ञ आनुवंशिक धर्माचार्यों द्वारा 'बड़ी झोंपड़ी' या पूरे कबीले के मन्दिर में संपादन किए जाते हैं। यह एक पवित्र कब्र से बनाया जाता है। परन्तु भविष्यवाणी करने वाले धर्माचार्य भी राजकीय धर्माध्यक्षों से पृथक् रूप में अपना एक वर्ग बना सकते हैं और वे एक प्रकार का अवैध पौरोहित्य बना सकते हैं। राजकीय-पौरोहित्य स्थापित होने के काफी देर बाद तक भी यह अपने आपको बनाए रखता है। कभी-कभी यह वास्तव में राजकीय-पौरोहित्य में प्रवेश कर जाता है और उन क्रिया-कलापों को अपने में आत्मसात् कर लेता है जिनसे प्रारम्भ में इसका कोई सरोकार ही नहीं था। चीन में आनुवंशिक चरित्र वाले व्यावसायिक ओझा हुआ करते थे। वे मृत्यु का आह्वान किया करते थे। वे सभी की बुराई की पूर्व सूचना दिया करते थे और उन पर रोक भी लगाया करते थे। यद्यपि एक वर्ग के रूप में राजकीय धर्म से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था, बाद के संघों ने कर्मकाण्ड के राजकीय संघ के अध्यक्ष के अन्तर्गत उनको सम्मिलित कर लिया था। बिल्कुल शामानी धर्म की आकृति रखने वाले ये ओझे सम्भवतः मूल चीनी धर्माचार्य ही थे। अधिकांश रूप में वे अस्थायी धर्माचार्य हुआ करते थे और वे स्थायी धर्माचार्य

---

२. आनुवंशिक रूप में आने वाले धर्माचार्य भारत, मिस्र एवं हिब्रू लोगों को विदित थे परन्तु हिब्रू धर्माचार्यों की कोई जाति नहीं होती थी। उनका केवल एक वर्ग ही होता था। तेज परसे तथा तरास्कान् लोगों में (मेक्सिको) आनुवशिक धर्माचार्य हुआ करते थे।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नहीं होते थे। बाद में राज्य के धर्माचार्य विहीन धर्म में इनका स्थानान्तरण कर दिया था।

चीन के राजकीय धर्म की अपेक्षा इस्लाम धर्म विशिष्ट रूप से अपुरोहितीय है। चीन ने अन्ततोगत्वा कन्फुसीयाई धर्माचार्यों (अध्यापकों) एवं ताओवादी जादूगरों को स्वीकृत प्रदान कर दी थी। इस्लाम धर्म न तो धर्माचार्य को मानता है और न ही मन्दिर को मानता है। बौद्ध धर्म ने भी धर्माचार्य का एक आध्यात्मिक नियन्ता के रूप में तथा धर्माचार्य जाति का धर्म के सहायक रूप में बहिष्कार कर दिया था (न कि एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में); परन्तु इसमें वास्तव में धर्माचार्यों को एक उत्कृष्ट कोटि की 'बिरादरी' से स्थानापन्न कर दिया था। यह बिरादरी धार्मिक संगठन का नियमन किया करती थी। वे उसको सीमित तो नहीं कर सकते थे परन्तु हठधर्मी सदस्यों को बाहर निकाल सकते थे। सामान्य जन के लिए व्यावहारिक रूप से भिक्षु भी एक प्रकार की पुरोहितीय व्यवस्था बन गए थे। कुछ बुद्ध सम्प्रदायों में कुलपिताओं की आध्यात्मिक शृंखला सी बन गई थी जो मनुष्य एवं पृथ्वी तथा आकाश की आध्यात्मिक शक्तियों के बीच बिचौलिये का काम किया करती थी।

राजा एवं धर्माचार्य के बीच के सम्बन्ध पर हमेशा ही ध्यान दिया गया है। यह मानने के लिए कोई वैध कारण नहीं है कि राजा मूलत; धर्माचार्य था। वह केवल यही है कि समुदाय के मुखिया एवं उनके प्रतिनिधि होने के कारण उन्होंने धर्माचार्यों के क्रिया-कलापों को ग्रहण कर लिया था और इसी कारण ही वे देवताओं के बिचौलिये बन गए थे। पेरू में राजा का भाई सूर्य का महान् धर्माचार्य हुआ करता था। राज्य करने वाले परिवार को सूर्य का ही वंशज माना जाता था। अमरीकी भारतीयों के छिबचा धर्माचार्यों ने योद्धाओं एवं कृषकों की जाति से पृथक् अपनी एक जाति बनाई थी (भारतवर्ष को भी शामिल करके, जैसे व्यापारी) और इस अवसर का दिव्य रूप में या बल्कि दिव्य धर्माचार्यों के रूप में शासकों का दैवीकरण किया जाता था, परन्तु राजाओं का कार्य करने वाले वे लोग धर्माचार्य नहीं थे। बेबिलोन में भी राजा लोग मूलत: पुरोहित नहीं थे, जैसा दृढ़तापूर्वक कहा गया है। भारतवर्ष में धर्माचार्य की अपनी राय के अनुसार भी, जिसका विरोध नहीं किया गया है, वे लोग शासकीय राज्य के अंग भी नहीं थे। नए राजा को जनता के लिए प्रस्तुत हुए धर्माचार्यों द्वारा यह औपचारिक घोषणा की जाती थी : "हे लोगो! यह तुम्हारा राजा है, हमारा नहीं; क्योंकि हमारा राजा सोम (देवता) है।" राजा धर्माचार्य के ऊपर कोई अधिकार नहीं रखता था। धर्माचार्य की पहले हत्या नहीं की जा सकती थी या उसे शारीरिक दण्ड नहीं दिया जा सकता था, यद्यपि उसे राज्य से बाहर निकाला जा सकता था। बाद में भयंकर अपराधों के कारण उसको दण्ड दिया जाता था और धर्मसूत्रों के समय में

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यह विचित्र नियम सामने आया कि "जितनी ऊँची जाति उतना ही अधिक दण्ड", क्योंकि पाप करने वाले का जितना अधिक ज्ञान है, वह उतना ही अधिक पाप करता है, परन्तु यह संदेहास्पद है कि किसी धर्मप्राण राजा ने इस नियम के अनुसार कार्य करने का साहस किया हो।

यूनान में होमरकालीन धर्माचार्य या (उसकी) 'प्रार्थना' स्थानीय वेदी का स्थानापन्न कार्यकर्त्री होती थी और वह "देवता के समान आदरणीय" होता था, यद्यपि किसी भी प्रकार से वह संन्यासी नहीं होता था। वह कभी-कभी विवाहित होता था और किसी समय यूनानी धर्माचार्य को विशेष रूप से पवित्र नहीं समझा जाता था। धर्माचार्य एवं धर्माचार्या (स्त्री) विभिन्न मन्दिरों में सेवा कार्य किया करते थे। जो धर्माचार्य पद को प्राप्त करने के इच्छुक होते थे उनके लिए स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार कार्य करना अनिवार्य था, जैसे लिंग भेद एवं आयु, इसके अतिरक्त सौन्दर्य एवं शारीरिक क्षमता आदि की सामान्य आवश्यकता आदि।[3] कोई सामान्त नियम नहीं था, यद्यपि धर्माचार्य सामान्यतः देवियों की ही सेवा किया करते थे, परन्तु उदाहरण के लिए हेराक्लीज की थेस्पाई नगर में एक युवती द्वारा सेवा की जाती थी। कुछ विशिष्ट परिवार इस पद पर बने रहते थे या राजकीय धर्माचार्य को नियुक्त कर दिया जाता था या सबसे ज्यादा बोली लगाने वाले को यह पद बेच दिया जाता था या लाटरी से सुपुर्द कर दिया जाता था। धर्माचार्य दान की वस्तुओं (दशम अंश कर आदि) एवं मन्दिर के भवन की देख-भाल से अपना जीवन-यापन करता था आदि। वह आम जनता का सम्मान प्राप्त करता था। वह परिवार या राज्य के गण के रूप में कार्य करता था और उसके मालिकों द्वारा उसको आश्रय प्रदान किया जाता था जो क्रमशः उसकी सेवाओं से लाभान्वित होते थे। वह यज्ञ एवं प्रार्थना के कर्मकाण्ड का निदेशक एवं मन्दिर का अभिभावक होता था तथा अनेक किराए पर रखे गए सहायकों का वह ओवर-सियर हुआ करता था। परन्तु वहाँ राजकीय अधिकारी राजा या न्यायाधीश भी हुआ करते थे, जो सभी मन्दिरों की निगरानी किया करते थे। वे मन्दिर की चोरी करने वालों पर मुकदमा चलाते थे तथा नए-नए सम्प्रदायों को अपनी स्वीकृति प्रदान करते थे आदि-आदि। यूनानी लोगों का सम्पूर्ण रूप से अपने

३. इसलिए परम्परागत आरोनिक धर्माचार्य को कुछ शारीरिक आवश्यकताओं को भी पूरा करना पड़ता था। सभी धर्मों में इस प्रकार के आद्य रूप वाले कर्मकाण्ड होते हैं, यद्यपि यह कभी-कभी प्रेतमय बनने लगता हैं, या तो दीक्षा में प्रेत को ग्रहण किया जाता है या इस पर हाथ डाल कर इसको ग्रहण किया जाता था, या यह प्रेतों की भेंट होती है, जिसको चरित्र, भक्ति एवं वाणी के रूप में से ईसाई मत में स्वीकार किया गया है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

देवताओं से घनिष्ठ सम्बन्ध था और अपने प्रयासों की सफलता के लिए बिना धर्माचार्य की सहायता से प्रार्थना किया करते थे। "सभी लोगों को देवताओं की आवश्यकता पड़ती है", खतरे से मुक्ति पाने के लिए राज्य के द्वारा कृतज्ञता ज्ञापन वाले यज्ञों का सम्पादन किया जाता था और भक्तिपूर्ण भेंटें वैयक्तिक रूप में प्रदान की जाती थीं। मन्त्रों, नृत्यों और पूजा के जलूसों में, जैसे यज्ञ में धर्माचार्य या उसका प्रतिनिधि, सन्देशवाहक आवश्यक तत्त्व होने की अपेक्षा एक निदेशक के रूप में कार्य करता था। वह मन्दिर में भक्तिपूण भेंट को स्वीकार किया करता था। धर्माचार्य का मन्दिर खेलों की प्रतिद्वन्द्विता के लिए विजेता को जोश प्रदान करता था। ये प्रतिद्वन्द्विताएँ एक प्रकार के धार्मिक उत्सव बन गए थे।[४] परन्तु यज्ञ में भी धर्माचार्य हमेशा ही आवश्यक नहीं था, या बल्कि मुखिया, परिवार या कबीले का स्वामी स्वयं धर्माचार्य हुआ करता था। विशुद्धीकरण के लिए धर्माचार्य की आवश्यकता तब ही पड़ती थी जब इसका सम्बन्ध आम जनता से होता था और तब भी ऐपिमेन्डीज जैसा ऋषि कर्मकाण्ड का निदेशक बन सकता था। दूसरी ओर, बेओटिया में डेमेटर की धर्माचार्या (स्त्री) वधु को देवी की ओर से औपचारिक आशीर्वाद प्रदान कर दिया करती थी। यह देवी ही विवाह में अध्यक्षता करती थी। एस्केलपीओस के मन्दिरों के धर्माचार्य वैद्य एवं चीरफाड़ करने वाले भी हुआ करते थे। ये लोग कई प्रकार की बीमारियों को ठीक कर दिया करते थे और इसका श्रेय देवता को मिलता था।

यद्यपि यूनानी धर्माचार्यों ने कभी भी एक जाति का निर्माण नहीं किया, वे भारतवर्ष के पुरोहितों के समान बिना किसी सामंजस्य के कार्य किया करते थे। उन्होंने कभी ऐसी संस्था का निर्माण नहीं किया जो आगे चल कर एक सर्वोच्च शक्ति के रूप में उद्भूत हो सके। भारतवर्ष में भी इस जाति के सदस्य इतने पृथक्-पृथक् थे और एक दूसरे से इतने जलते थे कि वे एक राजनैतिक शक्ति के रूप में मिल नहीं सके। कुछ पुरोहित राजा की आज्ञा का विरोध कर सकते थे परन्तु संगठित पौरोहित्य ने भारतवर्ष या यूनान में कभी भी मिलकर राजसत्ता या राजशक्ति का विरोध नहीं किया है। मेक्सिको तथा बेबिलोनिया जैसे कम संस्कृत देशों में भी धर्माचार्य के मुख्य पद का उद्देश्य ऐन्द्रजालिक एवं दिव्य व्यक्ति बनना ही था और वह राजनैतिक दृष्टि से राज्य के सेवक की स्थिति से कभी भी ऊपर नहीं उठ सका है, यद्यपि वह एक न्यायाधीश के समान ही कार्य किया करता था। जैसे भारतवर्ष एवं मिस्र में, अन्यत्र भी धर्माचार्य न्यायिक शक्ति से युक्त हुआ करता था, परन्तु यह न्यायिक शक्ति राजा के सम्बन्ध के अन्तर्गत हुआ करती थी।

---

४. उसी प्रकार दौड़ों तथा खेलों को दक्षिणी अमरीकी बोगोटा लोगों के कर्मकाण्ड में सम्मिलित किया गया था।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मिस्र में राजा स्वयं एक उच्च धर्माचार्य होता था। धर्माचार्य एवं राज्य के मुखिया का ऐसा मिश्रण तब ही दिखलाई पड़ता है, जब होमरकालीन मुखिया यज्ञ में भेंट अर्पण करता है। मिस्र, बेबिलोनिया तथा हिब्रू धर्माचार्यों की एक विशिष्ट वेश-भूषा, पद एवं पदवियाँ हुआ करती थीं जो प्राचीन काल से चली आ रही हैं, यद्यपि यज्ञ के लिए पहले हिब्रू धर्माचार्य की बिल्कुल आवश्यकता नहीं थी, परन्तु यहूदी धर्माचार्य का मुख्य कर्तव्य प्रायश्चित के यज्ञ करना एवं मन्दिर की देखभाल करना था।

एक नए आदेश के अनुसार (हेब ५ : १०) हमारा अपना पौरोहित्य प्राचीन हिब्रू पौरोहित्य की भावना के पुनस्स्थापन से आया है। इस नए यज्ञ में ईसा एक उच्च पादरी हैं। अतः मन्दिर ने पूजा स्थान के लिए रास्ता बनाया और इस पर एक मिलन-घर के रूप में गिरिजा का निर्माण हुआ, परन्तु इस गिरिजा-घर का निर्माण यज्ञ की अपेक्षा प्रार्थना एवं प्रेरणा वाले आध्यात्मिक भोजन के लिए किया गया था (इसके कर्मकाण्ड ने पूजा-स्थल के कर्मकाण्ड से नकल की थी)। दान के लिए नियुक्त अधिकारी (पादरी), ओवरसियर, पादरी—ये सभी लोग नए संगठन की स्वाभाविक उपज थे। गिरिजाघर की स्थापना के तुरन्त बाद इनको अधिकारियों के रूप में स्वीकार भी कर लिया गया था। कुछ देशों में पश्चिमी शाखा का मुखिया पश्चिमी उपशाखाओं का सर्वोच्च आध्यात्मिक प्रमुख भी बन गया था। दूसरे गिरिजाघर इसकी आज्ञापालन की अपेक्षा इसको ही सबसे पहले अपना 'प्रेम एवं आदर' प्रदान किया करते थे। फिर राजनैतिक परिस्थितियों ने रोम के पादरी को एक ऐसी स्थिति में स्थापित कर दिया जहाँ वह गिरिजाघर एवं राज्य के शासक के रूप में आज्ञापालन करवा सके और इसने आज्ञापालन करवाया भी। परम्परागत विश्वास के अनुसार पूजा समारोह में ईसाई पौरोहित्य एक उच्च पादरी के रूप में ईसा द्वारा स्थापित यज्ञ का ही निर्वहन करता है।[५] धर्माचार्य की पुष्टि पादरी द्वारा की जानी चाहिए।

सभी पौरोहित्य सम्बन्धी कार्यों में विशेषज्ञों की आवश्यकता पड़ती है। एक पुरोहित को वध्य पशु की हत्या करने में प्रवीण होना चाहिए तो दूसरे को कर्म-काण्ड आदि में प्रवीण होना चाहिए। इस प्रकार भारतवर्ष में जटिल वैदिक यज्ञ के सम्पादन के लिए सोलह पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती थी, एक वेदी का निर्माण करने के लिए, दूसरा गायन के लिए, अन्य कार्यों की देखभाल करने के

---

५. धर्माचार्य किसी खास आयु का होना चाहिए (२४ वर्ष या अधिक)। संलापन, बपिश्ता तथा दूसरे कर्मकाण्डों में धर्माचार्य के कृत्यों से पूजक लोग यज्ञ के फल को प्राप्त करते है। केवल उसको ही धार्मिक निर्देश के रूप में स्वीकारा जाता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

लिए आदि। इनमें कोई भी दूसरा कार्य नहीं कर सकता था अपितु अपना निर्दिष्ट कार्य ही कर सकता था। प्रार्थना करने वाले पुरोहित होते थे तथा गायन करने वाले पुरोहित होते थे और अपने विशिष्ट कर्मों के कारण दूसरे विख्यात पुरोहित भी हुआ करते थे। इस प्रकार सभी विस्तृत कर्मकाण्डों का स्वाभाविक रूप से विकास हुआ है (जैसे मैक्सिको के लोगों में, पेरू के लोगों में, मिस्र के लोगों में तथा हिब्रू लोगों में)[1] अतः पौरोहित्य वर्गों में विभाजित हो गया है। यह विभाजन भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के कारण नहीं अपितु कुछ विभिन्न कार्य करने के कारण हुआ है। इसका अन्त में जाकर गहरा अन्तर पड़ता है और यह अन्तर इस कार्य पर सामाजिक रूप से बल देता है। पवित्र ऋचा का गान करने की अपेक्षा वध्य पशु को मारने वाले को कम महत्त्वपूर्ण समझा जाता है और वह स्वयं भी अपने आप को कम महत्त्वपूर्ण समझता है। इस प्रकार एक वर्ण के अन्तर्गत एक वर्ण का विकास होता है, क्योंकि असभ्य व्यक्तियों में मन्दिर के सेवक की अपेक्षा "बड़ी-बड़ी बातें करने वाला" धर्माचार्य ऊँचा समझा जाता है। एक जटिल सामाजिक व्यवस्था में साधारण सांसारिक सफलता के तत्त्व भी सामान्यतः धर्माचार्य के साथ ही कार्य करते हैं। हमेशा ही सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त नहीं होता है परन्तु सर्वश्रेष्ठ स्थान उसी व्यक्ति को प्राप्त होता है जिसका प्रभाव एवं संरक्षण होता है। मध्ययुग के प्राणघातक महन्तों एवं गिरिजाघर के विषय-परायण नेता-गणों ने संसार को धर्मान्दोलन के लिए तैयार कर दिया था, वैसे ही स्वार्थी एवं विषयपरायण ब्राह्मणों ने भारतवर्ष को बौद्ध धर्म के नैतिक प्रतिषेध को उत्साह से स्वीकार करने के लिए तैयार कर दिया था।

सभी पौरोहित्यों में ही धर्माचार्य मनुष्य एवं आध्यात्मिक शक्तियों के बीच बिचौलिये का काम करता है। हमारी भाषा में वह "स्वर्ग की कुंजी को" धारण करता है। वह या दिव्य होता है या देवत्व से मिलती-जुलती एक विशिष्ट आध्यात्मिक शक्ति से आपूर्त होता है। वह देवत्व का प्रतिनिधित्व भी करता है। इस प्रकार आज भी गुरु (आध्यात्मिक निदेशक) एक छोटा-सा देव होता है। उसका सम्प्रदाय उसके साथ देवता जैसा व्यवहार करता है। उसका स्पर्श खतरनाक होता है और उसके प्रति अपराध करना भयावह होता है। यह वर्जना-भाव का बिल्कुल पलट है। यह वर्जना-भाव धर्माचार्यों एवं सम्प्रदायों के नेताओं के सन्दर्भों में उपलब्ध होता है। पश्चिम में, दिव्य प्रतिनिधियों की पूजा कम प्रखर है परन्तु पृथ्वी पर ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में उनके प्रति वही बौद्धिक समर्पण की भावना पायी जाती है। कर्मकाण्ड ही अधिकांश रूप में इसके लिए जिम्मेदार है, क्योंकि इसने धर्माचार्य को एक ऐसे दुर्भेद्य कवच में जकड़ दिया है। यह उसको (धर्माचार्य को) एक ऐसा श्रेष्ठ मानव के रूप में उन्नत बना देता है जिसका पद साधारण आदमी की पहुँच से बाहर है। वह देवताओं से निकट के सम्पर्क में आता

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

है और इस तथ्य के कारण कि कर्मकाण्ड में उसकी वाणी का क्या अर्थ है, कोई भी उसे नहीं समझता है (भारतवर्ष में संस्कृत, पश्चिम में लैटिन)। जैसा पहले ही बतलाया जा चुका है, भव्य आध्यात्मिक मशीन का वह अकेला ही नियन्ता बन जाता है। मुक्ति के लिए उस मशीन की गति आवश्यक है, परन्तु धर्माचार्य के अतिरिक्त और कोई व्यक्ति यह नहीं जानता कि इस मशीन को कैसे चलाया जाए, क्योंकि पुरोहित या पादरी के अतिरिक्त कोई दूसरा उस तपश्चरण को बतला नहीं सकता जिसके द्वारा पापों का प्रायश्चित किया जा सके, या ऐसे व्यवहार को बतला सके जिसके द्वारा सुरक्षापूर्वक उनका आचरण किया जाता है।[६]

धर्माचार्य एवं कर्मकाण्ड के अपरिहार्य सम्मिश्रण में तब एक दोहरा खतरा बना रहता है। प्रथम, कर्मकाण्ड धर्म का स्थानापन्न बन सकता है। उत्तराधिकार में प्राप्त क्रियाओं एवं शब्दों के सही पुनरुत्पादन पर दयाभाव के कारण अत्यधिक बल दिया जाता है, अर्थात् जैसे भारतीय कर्मकाण्ड में, वेदी के नापतोल में परम्परागत प्राप्त हुए प्रयोग का सावधानी से सम्पादन, प्रत्येक शब्द एवं उक्ति का उच्चारण तथा स्वर की बिना समझे आवृत्ति, आँखों तथा अंगुलियों की निश्चित व्यवधान के बाद गति—सब कुछ निरर्थक एवं मूल आत्मा का ह्रास करता हुआ यह सब उस धर्माचार्य के धर्म का निष्कर्ष बन जाता है। धर्माचार्य यह नहीं जानता कि वह इस कार्य या उस कार्य को क्यों करता है, या जिन शब्दों की आवृत्ति वह करता है, उन शब्दों का अर्थ क्या है। वह एक जादूई कार्य करता हुआ उन्हें बोलता है तथा कार्य करता है और श्रोताओं को स्वतः उसकी सेवा से लाभ प्राप्त हो रहा है। दूसरे, कर्मकाण्ड के अन्तर्गत किया जाने वाला पूजा समारोह मात्र रहस्य एवं आश्चर्य युक्त जटिलता को उत्पन्न करता हुआ पूजा करने वाले को अहसास करवाता है कि उसका वैयक्तिक अंश इस पूजा में कुछ भी नहीं रह गया है। धर्माचार्य कार्य करता है। लोग धर्माचार्य को चलते हुए तथा बड़बड़ाते हुए देखते हैं। जिन्हें पूजा करना चाहिए, वे देवताओं के सम्पर्क से अलग

---

६. उदाहरण के लिए तिब्बत का लामा हमेशा ही कुछ बातों में अतिशयता का प्रयोग किया करता था और इसका एक बार उसको अच्छा फल मिला। उसने अपने पहाड़ी लोगों से यह कहा कि यदि वे मिशनरी लोगों के ठिकाने को उखाड़ फेंके तो वह उनके द्वारा किए गए सभी पाप तथा भविष्य में किए जाने वाले पापों को क्षमा कर देगा। जब उन्होंने ऐसा कर दिया तो इन असभ्य व्यक्तियों को लगा कि अभी इनके सारे पापों को क्षमा कर दिया जाएगा (क्षमा का समय अभी समाप्त नहीं हुआ था)। इसलिए वे लामा के अपने मन्दिरों की ओर मुड़े और उन सबको गिरा दिया, यद्यपि वे सभी मन्दिर उनके अपने चैत्य भी थे।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त भाड़े के टट्टुओं की मशीनी मध्यस्था के कारण, जो भाड़े के टट्टु, यद्यपि मात्र भाड़े के टट्टु होते हुए भी उनके पास मध्यस्था की शक्ति होने के कारण अपने आप को धार्मिक विशेषज्ञों के रूप में अपने दुःखी मालिकों के भयानक स्वामी बन बैठते हैं। जैसे भारतवर्ष में हुआ है, ऐसा ही प्रत्येक गिरिजाघर में होना चाहिए, जहाँ लोग अपनी आध्यात्मिक शक्तियों को उनको दे देते हैं जो धर्म का प्रयोग जोर-जबरदस्ती के साधन के रूप में करते हैं। यह आत्माओं के साथ दिखावे की जोर-जबरदस्ती होती है और लोगों के साथ यह वास्तविक जोर-जबरदस्ती होती है। इस प्रकार रोम के गणतन्त्र के पतन से काफी पहले ही रोम का कर्मकाण्ड बेईमान राजनीतिज्ञों एवं देवताओं के झूठे नौकरों के हाथों में एक औजार बनकर रह गया था और परवर्ती कालीन रोम के कर्मकाण्ड का प्रयोग राजाओं तथा निजी व्यक्तियों को पीड़ित करने के लिए ही किया जाता था। निःसन्देह यह कर्मकाण्ड का दोष नहीं है। कर्मकाण्ड स्वयं अपने आप में खतरनाक नहीं है। यह धर्माचार्य का दोष है जब वह अपने कर्मकाण्ड का प्रयोग नासमझी या बेईमानी से करता है। स्त्रियों के लिए पहली स्वीकारोक्ति की भारतवर्ष में इस प्रकार व्यवस्था की गयी थी : "स्वीकारोक्ति ही सत्य है, अतः पाप पुण्य बन जाता है।" स्वीकारोक्ति का संस्कार अनुपघातक हो सकता है, जैसे बौद्ध लोग महीने में एक बार खुले संघ में अपने पापों को स्वीकार करते हैं, या जब इसको एकान्त में स्वीकार किया जाता है तथा इसका प्रयोग राजनैतिक उद्देश्यों के लिए किया जाए तो यह एक अस्त्र बन जाता है जैसे पेरू में हुआ है।[७] इसके अतिरिक्त बिना कर्मकाण्ड के भी धर्माचार्य राजा का भी स्वामी बन सकता है जैसे भारतवर्ष में राजपुरोहित बन गए हैं, यद्यपि अत्यधिक गर्हित एवं अज्ञानी धर्माचार्यों का प्रायः सर्वाधिक प्रभाव होता था।[८]

दूसरी ओर यह स्पष्ट ही है कि धर्माचार्यों ने अपने कर्मकाण्ड के बावजूद हमेशा ही श्रद्धा के रूप में धार्मिक ज्योति को धारण किया है और इसे जीवित रखा है। इस श्रद्धा के प्रति वे पहले ही आबद्ध थे। प्राचीन काल में भी धर्माचार्य ही मिस्र, बेबिलोन, भारतवर्ष और मेक्सिको एवं पेरू के लोगों के बौद्धिक नेता थे। सामान्यतः पौरोहित्य दकियानूसी होता है और यह उसे काफी सुरक्षित बनाए

---

७. रोमन कैथोलिक चर्च में स्वीकारोक्ति निजी होती है (ऐसा विश्वास किया जाता है) और कभी भी इसका उल्लंघन नहीं किया गया है। आजकल कर्मकाण्ड इतना गर्हित बन गया है कि इसने भूत-प्रेतों का एक स्थानापन्न रूप धारण कर लिया है।

८. "भविष्यवाणी में चतुर एवं धर्मशास्त्र एवं जादु में विद्वान होना ही" इसके काम थे। (यर्जु० ध० १·३१२)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

रखता है। साहित्य एवं पुरातन कीर्तिमानों तथा नियमों को बनाए रखना इसका काम है अन्यथा वे विलुप्त हो गए होते। पुरानी दुनिया में धर्माचार्य लौकिक विद्याओं एवं धर्म के आचार्य थे, विशेष रूप से पूर्व में। धार्मिक समूह के सेवक, गडरियों के रूप में वे आज भी गिरिजाघर के लिए अपरिहार्य हैं। गिरिजाघर पादरी अधिकारियों के बिना कमजोर हो जाएगा तथा अधिकारियों से रहित वह एक राजनीतिक संस्था के समान बन जाएगा। धर्मशास्त्र में प्रवीण होने के कारण उन्हें अनेक अज्ञानियों को आदेश देना चाहिए और वे इस प्रकार के परम्परागत विज्ञान एवं पांडित्य को बनाए रखते हैं। भारतवर्ष एवं मिस्र के लिए यह बुरा होता यदि वहाँ धर्माचार्य नहीं होते और यूरोप के लिए भी वही बात सही है, यद्यपि दूसरी ओर उन्होंने बौद्धिक प्रगति का विरोध भी किया है। उन्होंने बुराई एवं भलाई दोनों को सुरक्षित रखा है। वे अत्याचारी एवं उपकारक भी रहे हैं और वे राज्य के खतरनाक विरोधी भी रहे हैं। परन्तु धर्माचार्यों के आन्तरिक कलहों के कारण ही उनके दुर्व्यवहार एवं अप्रासंगिकता के खिलाफ उपद्रव खड़ा हुआ है। कुल मिलाकर, आम आदमी की अपेक्षा धर्माचार्यों द्वारा धर्म को अच्छी प्रकार समझा गया है और इसका सद्व्यवहार भी किया गया है। क्योंकि भक्तों में उनकी वाणी का अधिक प्रभाव होता है, अतः सामान्यतः उनका प्रभाव अच्छाई एवं बुराई के लिए ज्यादा असरदार है। नैतिकता की दृष्टि से भी धर्माचार्य अनेक धर्मों में एक पृथक् व्यक्ति ही था। पवित्र रहना उसका धर्म था, न केवल संस्कार के अर्थ में अपितु आचार में भी। वह प्रायः (हमेशा नहीं) ब्रह्मचारी होता था और असभ्य व्यक्तियों के जादू-टोने से लेकर संस्कृति की नैतिकता तक सामान्य रूप से वह गुणों का धारक रहा है। वह अपनी समझ के अनुसार पापों को खोजता है एवं दण्डित करता रहा है। वह नैतिक श्रेष्ठता का प्रचार करता है और एक व्यक्ति के रूप में मानव दुर्बलता के उदाहरण के रूप में सेवा करता है। इसी मानव दुर्बलता को आध्यात्मिक जीवन द्वारा उन्नत बनाना है।[९] वह कितनी बार असफल हुआ है, एक व्यक्ति एवं एक वर्ग दोनों के रूप में, भारतवर्ष एवं यूरोप का इतिहास इसको पर्याप्त रूप से बतलाता है। परन्तु वह इसे भी प्रदर्शित करता है कि धर्माचार्य जितने अपरिहार्य रहे हैं, वे उतने ही उपयोगी भी रहे हैं। इनका प्रयोग

९. अफ्रीका में एल्युऐट्स जाति में धर्माचार्यों की दीक्षा के समय दावत तथा विशुद्धीकरण किए जाते हैं। उनके जीवन पर ब्रह्मचर्य एवं शुद्धता के अनेक नियम लागू होते हैं। उन पर भोजन, वस्त्र एवं केशों से सम्बन्धित अनेक पाबन्दियां लगाई जाती हैं। अनेक विकसित धर्माचार्यों ने इन वर्जनाओं को अभी भी बनाए रखा है। आध्यात्मिक शक्तियों को बनाए रखना ही इन वर्जनाओं का मूल उद्देश्य था।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अब नगण्य नहीं है क्योंकि अनेक लोग ऐसे हैं जो अच्छी तरह सेवा कर रहे हैं। अनेक धार्मिक क्षेत्रों में की गयी प्रगति के प्रकाश द्वारा उनकी बहानेबाजी को दूर फेंक दिया गया है। वे प्राचीन रहस्यवाद के स्मारक के रूप में दिखलाई नहीं पड़ते हैं, अपितु आध्यात्मिक उन्नति के लिए निर्देशक के रूप दिखलाई पड़ते हैं। वे मात्र सेवक के रूप में भी हैं, जो उच्च जीवन प्राप्त करने के लिए दूसरों के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं। वे आज भी बहुमूल्य हैं। वे मूल्यहीन नहीं हैं, जैसा अनेक लोग बहाना लगाते हैं। आध्यात्मिक एवं नैतिक उन्नति के लिए समर्पित व्यक्तियों की संस्था का होना किसी भी सम्प्रदाय के लिए काफी अर्थ रखता है।

अमेरिका में यद्यपि ईसाई क्षेत्रों में पादरी शब्द का सामान्यतः बहिष्कार किया जाता है, ग्राम पुरोहित या सेवक यथार्थ रूप में एक धर्माचार्य ही होता है। उस तरह वह आध्यात्मिक रूप से धार्मिक परिषद् का प्रतिनिधित्व करता है तथा उसको एक स्वीकृत संस्कार द्वारा अपने पद पर अभिसिंचित किया जाता है। उसके धार्मिक वर्ग के द्वारा यह संस्कार पर्याप्त समझा जाता है। यद्यपि चाहे उसके पास उस परम्परागत सीढ़ी की कमी भी हो, जिस सीढ़ी के माध्यम से उसके पास सत्ता आती है, पोप सम्बन्धी उत्तराधिकार का प्रश्न या इसके समानान्तर स्थिति को बौद्ध मठों में दो बार उठाया जा चुका है। श्री लंका एवं बर्मा में एक-एक बार उठाया गया है। दोनों ही सन्दर्भों में व्यवस्था सम्बन्धी निर्णय के लिए इसको विदेश भेजना आवश्यक समझा गया था। श्रीलंका में, क्योंकि भिक्षुणियों के पास कोई सत्ता नहीं होती, गिरिजाघर की सिस्टरों को इस सत्ता को प्राप्त करने के लिए बर्मा भेजना पड़ा।

एशिया के छुट-पुट धर्मों में मन्दिर के देवताओं की सेवा धर्माचार्या (स्त्री) तथा धर्माचार्यों द्वारा की जाती थी। कुछ सन्दर्भों में ये स्त्रियाँ वस्तुतः मन्दिर की दासियाँ थीं और उनका आचरण अनैतिक था, जैसा आज भी कुछ भारतीय मन्दिरों में होता है, जहाँ नर्तकियाँ वैश्याओं से कुछ ही अच्छी हैं। परन्तु अनेक धर्मों में धर्माचार्या तिरस्कार से ऊपर हैं। वे न केवल धर्माचार्या से स्वतन्त्र हैं अपितु धर्माचार्यों द्वारा कराए जाने वाले संस्कारों में भाग भी ग्रहण करती हैं। यूनान में धर्माचार्या (स्त्री) ही देवता की मात्र सेविका बन सकती थी। मिस्र में देवता की पत्नी मुख्य धर्माचार्या (स्त्री) बन सकती थी। बेबिलोन में एक राजा या किसी ऊँचे अधिकारी की बेटी मन्दिर की पवित्र धर्माचार्या (स्त्री) होती थी। धर्माचार्यों के साथ काम करने वाली धर्माचार्या (स्त्री) के कर्तव्य सामान्यतः अनैतिक न होने पर गौण ही हुआ करते थे। वे बलि नहीं दिया करती थीं परन्तु सेवा-सुश्रूषा का काम किया करती थीं तथा नृत्य एवं गायन का काम भी किया थीं। क्योंकि असभ्य व्यक्तियों में धर्माचार्याएँ असामान्य नहीं हैं (कुछ अफरीकी कबीलों के धार्मिक संगठन की मुखिया स्त्री होती है) यह हो सकता है कि पूर्व के

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"देवताओं की पत्नियाँ" मूलतः ऐसी स्वतन्त्र धर्माचार्याएँ थीं। यद्यपि यह सुझाव दिया गया है कि वे यौन सम्बन्धी संकीर्णता के युग को प्रतिबिम्बित करती हैं, परन्तु एक ऐसे युग की सत्ता संदिग्ध है। लेखक को इसमें कोई भी व्याख्या सम्भव नहीं प्रतीत होती कि स्त्री-सेविकाओं की संस्था की उत्पत्ति दोहरी हो। इनमें से एक पेरु के देवता को समर्पित कुंवारियों द्वारा अभिव्यक्त होता है। इसका एक समान रूप कैल्ट तथा रोमन धर्मों में सुविदित है एवं इसका असभ्य प्रारूप अफरीका में उपलब्ध हो सकता है। वहाँ अग्नि की देखभाल का कार्य कुछ स्त्रियों को सौंप दिया जाता है, जिनका व्यवहार निर्दोष होता है। दूसरे शब्दों में धर्माचार्या की उत्पत्ति पृथ्वी की आत्मा के इरोक्वाइस सम्प्रदाय की समान सेवा में खोजी जानी चाहिए। इस पृथ्वी को रोमन तथा पेरू की स्त्रियों को देखभाल के लिए सौंप दिया गया था। शोभायात्राओं में नृत्य करने वाली युवतियों को मन्दिर की सेवा में गौण रूप से नियुक्त किया जाता था—धर्माचार्या (स्त्री) का उद्भव इसमें भी खोजा जा सकता है। इस प्रकार भारतवर्ष की नृत्य करने वाली वेश्याओं (तुलनात्मक दृष्टि से आधुनिक घटना) की सर्वोत्तम व्याख्या धार्मिक उत्सवों एवं जलूसों से की जा सकती है। जलूसों में आज भी नृत्य, संगीत एवं झंडियों का प्रयोग होता है। अर्थात् बहिर्वर्ती देशों के इस वसन्तोत्सव में स्पष्ट रूप से मौलिक अधार्मिक उत्सवों के चिह्न पाए जाते हैं। इन उत्सवों का अभी हाल ही में गिरिजाघर की सत्ता में अधिग्रहण किया गया है तथा इनमें बाह्य कर्मकाण्ड भी जोड़ दिया गया है। इन सभी का वर्णन पहले किया जा चुका है और इनको कम्बोज एवं स्याम में मनाया जाता है। इस प्रकार कम्बोज के अंगकोर मन्दिर की चार हजार सेविकाओं में से छः सौ सेविकाएँ नृत्य करने वाली बालिकाएँ (बारहवीं शताब्दी) थीं, परन्तु उनका प्रयोग जलूसों एवं आनन्दोत्सव के अवसरों के लिए किया जाता था। एक पवित्र भारतीय के लिए धार्मिक नृत्य ब्रह्माण्ड की दिव्य लय को अभिव्यक्त करता है। इस ब्रह्माण्ड को उन नृत्य करने वाले देवताओं की आकृति में प्रस्तुत किया जाता है। देवताओं के सर्जनात्मक कार्य की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति इस प्रकार लयात्मक आनन्द में होती है। ईश्वर आनन्द है। भारतीय एवं बौद्ध कर्मकाण्ड में लोकप्रचलित नृत्य को शामिल करना आसान था तथा नृत्य करने वाली बालिकाओं को नियमित सेवा का अंग बनाना भी आसान था। ऐसा नृत्य श्रीलंका के कापुरल नृत्य से भिन्न है। इसमें नृत्य करते-करते नर्तक अपने आपको इस विश्वास से उन्मत्त बना लेते हैं कि वे प्रेरित बन रहे हैं (राक्षस-नर्तक)। सेमिटिक वेश्याएँ, जिनको हिब्रू सेवा में ग्रहण कर लिया गया था, सम्भवतः नर्तकियाँ ही थीं, परन्तु इनका सम्बन्ध ऐसे धर्मों से था जो खुले तौर पर कामवासना को उत्तेजित करते थे। वे इस सीमा तक उत्तेजित करते थे कि नर्तकियों को साधारणतः अपने कुंवारेपन की भी बलि देनी पड़ती थी। धर्माचार्य

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

के पुंसत्व की माँ के प्रति बलि सम्भवत: उसको देवी के पास जाने की इच्छा से दी जाती है। उन धर्माचार्यों द्वारा पहने गए स्त्रियों के वस्त्र देवी की पोशाक के साथ-साथ लटकते रहते हैं। अतः मध्यकालीन राधा-वल्लभ सम्प्रदाय में स्त्री तत्त्व को कृष्ण की प्रिया के रूप में चित्रित किया जाता है। स्पष्टतः देवी की नकल के क़ारण ही ऐसा किया जाता है।

पूजा-स्थल

ईसायिओं की पादरियों की धार्मिक संस्था विभिन्न छोटे-छोटे पदों से मिलकर एक सेना के रूप में बन गयी है, जैसे राजपुरोहित के अधिकारीगण, दलाई लामा या पादरी, जो देवताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, या देवताओं को साकार करते हैं।[10] एक ऐसी सेना अपने आप में सफलतापूर्वक सन्तुष्ट रहती है, जैसे जापान, तिब्बत तथा यूरोप में धर्म निरपेक्ष सेना सन्तुष्ट होकर रहती है। यूरोप में मठों एवं महंतों की संस्थाएँ, जिनको मूलत: मिस्र से आदर्श रूप मानकर बनाया गया था, सामान्यत: अपने मूल चरित्र को बनाए रखती थीं। परन्तु पूर्व में सैनिकों को घूस देने की अपेक्षा ये संस्थाएँ स्वयं परमात्मा के सिपाही बन गए तथा सर्वोच्च नागरिक शक्ति से डटकर लड़ाई करने लगे, जबकि पश्चिम में एक सम्प्रदाय ने दूसरे सम्प्रदाय के विरोध में परस्पर विनाशकारी संघर्ष जारी कर दिया। साधारणतः यह संघर्ष ऐसे प्रश्नों पर होता था जिस पर स्वयं आत्मा के विरोध में उसके स्वरूप पर वे स्वयं एकमत हो जाते थे, जहाँ से सुधार एवं पुनः सुधार की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी और अन्ततोगत्वा बड़े-बड़े मुद्दों ने एक सैनिक रूप धारण करके अपना राजनैतिक विच्छेद कर दिया था। तब मोर्चा बन्द भक्त लोग ही धर्म एवं राज्य का प्रतिनिधित्व किया करते थे। ऐसी कोई घटना कभी भी भारतवर्ष में नहीं हुई है। वहाँ राज्य ने कभी भी धार्मिक मसलों में दिलचस्पी नहीं ली है। बिना कहे भी सभी सम्प्रदायों को सामंजस्य रखना चाहिए और सभी सम्प्रदाय आपस में एक दूसरे से वैमत्य रखने का अधिकार प्रदान करते थे। आज तक भी कोई वास्तव में राज्य का धर्म नहीं था (सिखों एवं मरहटों के सन्दर्भ में) क्योंकि अशोक ने बौद्ध धर्म को समर्थन प्रदान किया था,

---

१०. कम्बोज में राजा के दैवीकरण से देवता के नाम से तादात्म्य स्थापित हो जाता है। यह वही देवता है, "जो राज्य में देवता के समान है।" शिवलिंग के रूप में "राजा का सूक्ष्म शरीर" होता है। यह राजकीय देव-सम्प्रदाय लामाओं के सम्प्रदाय से भिन्न नहीं है। यह लामा तुरन्त पोप, राजा एवं देवता का अवतार बन जाता है। देखिए सर चार्लस इलियट, वही, ३, पृ० ११०

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

परन्तु स्वयं बौद्ध के रूप में वह सभी धर्मों का सम्मान करता था। नागरिक सत्ता के साथ लगभग सभी धर्मों ने धीरे-धीरे एक समझौते की स्थिति पैदा कर ली है। आध्यात्मिक संसार के स्वामी एवं सांसारिक शक्ति के स्वामी में सम्मान से प्राप्त होने वाले लाभों को दोनों ने आपस में विभाजित कर लिया है। यह एक मिश्रित ऐश्वर्य था। अपने आपसी लाभ के लिए राजा पुरोहित का सम्मान करता था और पुरोहित राजा का सम्मान करता था। भारतवर्ष में लगभग १००० ईसा पूर्व ये दोनों संस्थाएँ या वर्ग ऐसी जातियों का निर्माण कर रहे थे जो बहुत शीघ्र ही आम आदमी से ऊपर उठ रहे थे। पहले ही (लगभग ८०० ईसा पूर्व) पुरोहित लोग व्यंग्यपूर्ण ढंग से आम आदमी को 'राजा का भोजन' कहा करते थे, परन्तु पुरोहित लोग भी उसी भोजन से अपने आपको मोटा-ताजा बनाते थे। यूरोप में कोई भी राजा एक ऐसा आधार नहीं था जिसको गिरिजाघर के आशीर्वाद की आवश्यकता न हो। कोई भी ईसाई धार्मिक संस्था इतनी भ्रष्ट नहीं थी कि इसको कार्डिनल या पादरी न बनाया जा सके। परन्तु वह पवित्र बदमाश, जो उत्साह से गिरिजा-घर की सेवा करता था, दुगुने उत्साह से राजा की भी सेवा किया करता था और वह सर्वविदित था।

परन्तु धर्म एवं राज्य तुलनात्मक दृष्टि से आधुनिक संस्थाएँ हैं। झुण्ड राज्य नहीं होता है। यह सब लोगों का एक ढीला-ढाला गठबन्धन है, जिसको आसानी से तोड़ा जा सकता है और यह वर्गों को इस प्रकार का विभाजन है ताकि ये अन्यान्य क्षेत्रों में पहुँच जाएँ। एक झुण्ड की कोई धार्मिक या राजनैतिक एकता नहीं होती है। माओरी लोगों के समान किसी अस्थायी वर्ग का एक आदमी खड़ा होकर अपने मित्रों के विरुद्ध लड़ने लगता है। उनकी औरतें भी अधिकांश रूप में दूसरे वर्गों से आती हैं। परिवार को बांधने वाला कोई बन्धन नहीं होता है। परिवार का पिता भी धर्माचार्य रूप में नहीं होता है और न ही मुखिया प्रमुख धर्माचार्य के रूप में होता है। परिवार का धर्म एक सुदृढ़ परिवार से प्रारम्भ होता है और यह एक विकास की उपज होता है। यह विकास वातावरण द्वारा सम्पन्न होता है तथा यायावरीय स्थिति में से गुजरने के बाद वातावरण ही झुण्ड को एक कबीले के रूप में एक निश्चित स्थान पर बनाए रखता है। दूसरे शब्दों में कबीला एवं परिवार का धर्म संस्कृति के विषय होते हैं। उच्च संस्कृति वास्तव में कृषि से ही प्रारम्भ होती है। कृषि ही एक वर्ग को एक स्थान से बांधती है और परिवार को सुदृढ़ बनाती है या कबीले को स्थायी बनाती है।[११] अमरीकी भारतीय के

११. कोई यह कह सकता है कि कबीले एवं परिवार के प्रभाव के कारण विभिन्न प्रकार के धर्म पैदा होते हैं। अरेबियन धर्म एक कबीले का धर्म है जिसमें ऐसा होता है। वंश के देवता एवं आतिथ्य के विधि-विधान खासतौर पर

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शिकारी का जीवन होने के बावजूद भी उसकी कृषि की निर्भरता ने ही उसको सीमाओं के भीतर ही रखा है और उसकी सर्वोत्तम सभ्यता या इसके प्रति उसका रवैया उसके घर रहने का ही परिणाम था। परन्तु कबीले के सुदृढ़ हो जाने पर भी युद्ध के मुखिया का क्रिया-कलाप प्रमुख रूप से युद्ध के धर्म तक ही सीमित रहता है। वह युद्ध धर्म कृषि समुदाय में भी महत्त्वपूर्ण हो सकता है ताकि मंगल के समान इसका प्रमुख देवता तुरन्त युद्ध देवता तथा एक धान्य का देवता बन सके। फिर भी, साधारण धार्मिक मसले परिवार के मसलों के अतिरिक्त प्रमुख या राजा के हाथों में नहीं होते हैं परन्तु जादूगर, वैद्य आदि के हाथों में होते हैं। जहाँ परिवार का मुखिया धार्मिक मुखिया भी होता है, जैसे उदाहरण के लिए भारत-वर्ष में वह अनेक शताब्दियों तक प्रमुख बना रहा है। जहाँ अनेक घरेलू संस्कारों के लिए किसी भी पुरोहित की आवश्यकता नहीं पड़ती, या बल्कि पिता एक पुरोहित के रूप में कार्य करता है। परन्तु एक परिवार एक कबीला बन सकता है और इसका स्वामी अभी भी कबीले का पुरोहित रह सकता है और उसके सामान्य धार्मिक प्रमुख बनने पर राजा के द्वारा किए जाने वाले संस्कारों का विस्तार कर दिया जाता है। इस प्रकार वह स्वाभाविक रूप से न्यायाधीश होता है और सम्पूर्ण धार्मिक-न्यायिक प्रक्रिया उसके हाथों में ही रहती है। "राजा दण्ड धारण करेगा एवं चोर की हत्या करेगा", यह एक प्राचीन हिन्दू धर्मशास्त्र के नियमों में से एक है। यहाँ वह राज्य का प्रमुख न्यायाधीश एवं न्याय का क्रिया-न्वयन करने वाला होता है। उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि वह धार्मिक ही है। राजा को अभिव्यक्त करने वाला धर्माचार्य मेक्सिको, बेबिलोन एवं रोम में न्यायाधीश के रूप में कार्य किया करता था। न्यायालय की सम्पूर्ण प्रक्रिया, शपथ एवं परीक्षा सहित, एक धार्मिक कृत्य थी। इसमें राजा एवं अभियुक्त मुख्य पात्र होते थे।

राज्य के विकास की वृद्धि अधिकांश रूप से आतिथ्य (जिसके द्वारा गृहणियाँ ही अतिथि-गृह बन जाती थीं और इससे व्यापार सम्भव होता था) के नियम तथा अनाथालय के नियम से ही होती थी। ये दोनों घनिष्ट रूप से सम्बद्ध थे। जब कोई यात्रा करता है तो स्थानीय देवता पीछे छूट जाते हैं और पुराने दिनों में एक यात्रिक बिना देवता वाला आदमी होता था। वह अतिथि बनकर धार्मिक सुरक्षा प्राप्त करता था (या ग्रहण कर लिया जाता था), और जब वह आश्रय खोजता था तो वह इसे मात्र एक धार्मिक आधार के रूप में या तो वेदी या

वहाँ देखे जा सकते हैं। आर्य धर्म परिवार का धर्म है जिसमें परिवार के प्रेतों की पूजा होती है (इसमें टोटम या कबीले का देवता नहीं होता)। इसमें बाद में "अतिथि के निम" जुड़ गए हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मन्दिर में या गिरिजाघर में या शरण देने वाले शहरों में ही पाता था। हवाई के मन्दिर एवं महल दोनों अनाथालय ही हैं और सेमिटिक लोगों तथा आर्यों में यह विचार समान रूप से पाया जाता है। न्यू गिनी के असभ्य व्यक्तियों में भी यह विचार पाया जाता है। जैसा विलुत्ज्काई महोदय का कहना है[१२] कि अनाथालय मानव न्याय के विरोध में देवताओं के प्रति अपील नहीं है परन्तु देवताओं के भय के प्रति एक अपील है। कबीले के देवता के प्रति अपील की बात बाद में आती है। पताकाओं और झंडों, शहनशाओं की मूर्तियों (रोमन लोगों में), कब्रों (मुसलमानों में) के द्वारा अनाथालय में सुधार किया गया। जर्मन लोगों के 'गिरिजाघर के द्वार के घेरे' या गिरिजाघर के गुम्बद (रोमन कैथोलिक) के अन्दर की तीस कदम की भूमि के किसी भाग को अनाथालय में शामिल करना भी एक सुधार था। (सबसे प्राचीन जर्मन अनाथालय इरमन-पिलर था)। घर-रूप अनाथालय भी मूलत: धार्मिक ही होता था, क्योंकि इसका तात्पर्य अग्निकुण्ड से था और वह एक पवित्र वर्जना-स्थल होता था, परन्तु एक बहादुर जाति के द्वारा इस धार्मिक विचार को सम्भवत: भारतीयों (महाकाव्य) की इस अवज्ञा अभिव्यक्ति, "प्रत्येक व्यक्ति अपने घर में राजा होता है" के साथ मिला दिया है। पोलिनेशियाई लोगों का माओरी मुखिया शरणागत को अपने चोले में छुपाकर पूर्ण आश्रय प्रदान किया करता था और कोई भी स्त्री एक जर्मन बहिष्कृत नागरिक के लिए एक अक्षत अनाथालय के रूप में कार्य कर सकती थी। एक अस्थायी सहारे के रूप में अनाथालय द्वेष की भावना को सन्तुष्ट करने के लिए रक्त-रूप-पैसे को व्यवस्थित करने के लिए अवसर प्रदान करता था (द्वेष की भावना अधिकांश रूप में धार्मिक होती थी)। इस प्रकार गलत बातों के लिए तार्किक ढंग से अदले का बदला करने की अपेक्षा मुआवजे की सम्पूर्ण व्यवस्था की शुरूआत की गयी। उदाहरण के लिए पाँच जातियों तथा पोलिनेशयाई लोगों में (वहाँ दास प्रथा मुआवजे के रूप में है) यह 'मुआवजा' एक लोकप्रचलित संस्था है, और वैसे ही यह आर्य तथा सेमेटिक लोगों में भी पायी जाती है। परन्तु इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि जब अयोग्य लोगों को इस प्रकार बचाया जाता है तो आश्रय प्रदान करने से गिरिजाघर एवं राज्य में एक प्रकार का गतिरोध पैदा होता है। बौद्ध संगीति के विरुद्ध पहली शिकायत यही थी कि तपस्वियों के रूप में उनकी बिरादरी अदण्डनीय थी। अत: कोई डाकू या हत्यारा एक बौद्ध संगीति में आश्रय ले सकता था और इस प्रकार न्याय को झुठला सकता था। बुद्ध को यह नियम बनाना पड़ा कि संगीति के बड़े लोगों को पहले सन्तुष्ट किए बिना किसी भी व्यक्ति को संगीति में प्रवेश नहीं दिया जाना चाहिए। उनको सन्तुष्ट करना चाहिए कि

१२. पाल विलुत्ज्काई, फारगेस्जिस्त्से डेस रेख्टस् ३, पृ० १०१, फुटनोट।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वह बदमाश नहीं है वह कानून के अन्तर्गत दण्डनीय है। यूनानी लोग उसी प्रकार 'सुरक्षा की वेदी' का दुष्प्रयोग किया करते थे।[13]

अब हम धर्म एवं राज्य के विस्तृत सम्बन्धों की ओर मुड़ते हैं। कबीले के देवता को एक व्यापक दृष्टिकोण प्रदान करने से राज्य के विस्तार का धर्म पर एक विस्तृत प्रभाव पड़ता है। यदि 'हिब्रू' लोग एक बड़े भारी क्षेत्र में बिखरे न होते तो उनके देवता स्थानीय ही रहे होते, और सम्भवत: एकेश्वरवाद की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति कबीले के दुर्भाग्य के कारण हुई है। मिस्र में राज्य के विकास ने देवताओं को आत्मसात् कर लिया है और सूर्य से भी एक बड़े देवता के विचार को अग्रसर किया है। मिस्र के प्राचीन धर्माचार्यों ने भी एक मिले-जुले धर्म को उत्तराधिकार में प्राप्त किया है जो विभिन्न स्थानीय सांस्कृतिक विचारों से मिल-जुल कर बना था। दूसरी ओर कुछ आयातित विचार राज्य की इतनी उपेक्षा कर सकते हैं कि ताकि इसको धर्म से बिलकुल पृथक् कर दिया जाए। इस प्रकार यूनान के रहस्यवादियों ने बची हुई स्थानीय धार्मिक भावनाओं को नज़र-अन्दाज किया और उन्होंने राजनैतिक बिरादरी की अपेक्षा एक धार्मिक बिरादरी की स्थापना की। धर्म का अराष्ट्रीयकरण कर दिया गया। दास का एक मानव 'भाई' के रूप में प्रभाव बढ़ने लगा। इसलिए भारतवर्ष में भी एक धार्मिक प्रेम-पानोत्सव में सबसे निम्न वर्ण वाली जाति अपना आधार खो देती है (केवल एक रात्रि के लिए) और इस विचार की शुरुआत होती है कि देवता के सामने सभी लोग समान हैं, जबकि राज्य का ऐसा विचार नहीं होता है और इसके गम्भीर राजनैतिक परिणाम हो सकते हैं। इसके उलट, इस उखाड़-पछाड़ में जैसे-जैसे दास ऊपर उठता है, धर्माचार्य की धर्माचार्य की हैसियत से अधोगति होती है। धार्मिक-राजनैतिक षडयन्त्र पर एक और चोट लगती है। राज्य से अधिकार प्राप्त लुच्चा आदमी कभी भी भारतीय धर्म में धर्माचार्य नहीं बन सकता।

जब धर्माचार्य काफी सशक्त होता है और राजा के साथ जबरदस्ती कर सकता है तो वह इस षडयन्त्र का स्वयं भेदन करने योग्य बन जाता है, क्योंकि जब राजा एवं धर्माचार्य का बस चलता है तो वे दोनों मिलकर प्रजा को दबाते हैं। इस प्रकार फेरनाडो पो में धर्माचार्यों ने ऐसी शक्ति प्राप्त कर ली कि उन्होंने राजा को जमीन में एक गड्ढे में गाढ़ कर एक अहाय अस्त्र के रूप में बना लिया, और

---

१३. असभ्य लोगों में आश्रय के लिए देखिए—ए० हेवविग, डास असाईलमरेखट् डेर नेचूरकाल्चर, बर्लिन, १९०३। क्योंकि गिरिजाघर राजकीय करों से मुक्त हुआ करते थे, कुछ चीनी बौद्ध लोगों ने नाम मात्र से अपनी सम्पत्ति गिरिजाघर को प्रदान कर दी और इस प्रकार से राज्य से सीधे विरोध में आ गए थे।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जापान में शासक को मात्र एक औपचारिक गुड़िया बना दिया जाता था। सांसारिक वस्तुओं पर आध्यात्मिक शक्तियों का प्रभुत्व या सांसारिक वस्तुओं का आध्यात्मिक शक्तियों पर प्रभुत्व—ये दोनों ही समान रूप से घातक हैं, परन्तु एक ऐसी चरम सीमा आने से पहले, जब दोनों ही समानान्तर स्थिति में विद्यमान रहते हैं, एक-दूसरे से हस्तक्षेप का अभाव भी हानिकारक है। इस प्रकार भारतीय राजाओं की पूर्ण स्वतन्त्रता की नीति ने धार्मिक जुगुप्साओं के मामलों में कभी भी हस्तक्षेप नहीं किया है, जैसे विधवा का जलाना, बालिका की हत्या, ठगी, वासनामय लुच्चापन और नर बलि, जिसका अभी हाल तक प्रचलन रहा है और देसी धर्म इसको आश्रय देते रहे हैं। दूसरी ओर चीन ने पूरे धर्म को अपनी राजकीय संस्थाओं के अन्तर्गत कर दिया है और जिसको यह घातक समझता है, उसको उसने दबा दिया है और यहाँ तक कि जिन देवताओं की साख बुरी पड़ गयी थी, उन देवताओं को भी तिरस्कृत कर दिया गया है। जहाँ धर्म को राज्य से गौण बना दिया गया है, यह उसका बढ़िया उदाहरण है। परन्तु यह ऐसी व्यवस्था की कमियों को भी उदाहृत करता है, जिससे धार्मिक उपक्रम में गतिरोध पैदा हो गया है। जहाँ राज्य धर्म पर शासन करता है, वहाँ वस्तुस्थिति आदर्श बनी रहती है। जहाँ धर्म बौद्ध मसलों में सर्वोच्च न्यायकर्ता रहा है, विज्ञान एवं दर्शन की क्षति हुई है। जहाँ धर्म एवं राज्य एक-दूसरे के प्रति उदासीन रहे हैं, दोनों ही पक्षों की क्षति हुई है।

जैसे-जैसे धर्म अपने आपको देख-रेख से मुक्त करता है, राज्य का पैतृक स्वरूप हटकर धीरे-धीरे एक संस्था के रूप में धार्मिक संगठन में बदल गया है। नैतिकता के सन्दर्भ में यह संस्था तब तक एक अधिकारी बोर्ड के रूप में कार्य करती है और जब नैतिकता में विकल्प को भी शामिल समझा जाता है तब यह एक जिज्ञासा के रूप में कार्य करता है। किसी भी पुराने धर्म ने स्वय अपने आप स्वतन्त्र विचारों को शक्ति से दबाने का प्रयत्न नहीं किया है। यह राजनीतिज्ञों के लिए छोड़ दिया गया था। केवल प्लेटो की यह इच्छा थी कि जो कट्टरपन्थी नहीं है, उनको राज्य द्वारा दण्ड दिया जाना चाहिए। परन्तु जब धर्म स्वयं अपना सर्वोच्च न्यायकर्ता बनने लगा और स्वयं अपने आप में राज्य की आवाज बन गया तो यह उन लोगों के लिए खतरनाक बनने लगा जो इससे मतैक्य नहीं रखते थे। जब क्रमशः राज्य ने अपना अधिकार संगठन को सुपुर्द किया, इस संस्था ने राज्य के सारे दमनकारी अधिकार अपने पास ले लिए और जहाँ तक सम्भव हो सका, इसने सभी धर्मभ्रष्ट अध्यापकों को मताधिकार से वंचित कर दिया। इस प्रकार, यद्यपि आधुनिक संगठन उनके राजनीतिक अधिकारों को छू नहीं सकता (जैसे ईसाई सस्थाएँ, जिनसे विभिन्न सम्प्रदाय बनते हैं, इनको ऐसा कहा जा सकता है), फिर भी, यह प्रत्येक अपन क्षेत्र मे अपनी राय देने के रूप में एक न्यायाधीश का

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कार्य करता है और मात्र यह प्रश्न रह जाता है कि जब उसका कोई सदस्य स्वीकृत राय से भिन्न मत रखने का दुःसाहस करता है तो संगठन कितना उदासीन या उदार बनता है। संगठन, यदि उसे निजी निर्णय में हस्तक्षेप करने की आदत है तो वह स्वेच्छा से देश से निष्कासित कर सकता है। इस सन्दर्भ में हमारे ईसाई सम्प्रदायों तथा पुरानी दुनिया की धार्मिक संस्थाओं में एक विशिष्ट अन्तर रहा है, और पूर्वी दुनिया में, आज, जहाँ ईश्वर को लेकर मनुष्य का विश्वास उसका अपना निजी मामला होता है, और पर्याप्त विचार स्वातन्त्र्य की अनुज्ञा है।[१४] यह अधिकांश रूप में इसलिए होता है क्योंकि हम अपने धर्म की व्याख्या धर्मशास्त्र के शब्दों में करते हैं; जो अन्य धर्मों में धर्म का मसला नहीं था (और है) परन्तु दर्शन का मसला था। राम का एक पूजक कहता है कि राम की पूजा करना ही धर्म है। राम की परिभाषा करना ही धर्म नहीं है। ईश्वर से प्रेम करना ही धर्म है। उसकी अव्याख्येय प्रकृति की व्याख्या करना धर्म नहीं है। वैज्ञानिक एवं दार्शनिक विचार करें और इसको समझाएँ; धर्म अपने आपको भक्तिपूर्ण भावनाओं एवं सम्यक् जीवन में अभिव्यक्त करता है न कि मानसिक ऊठापटक में।

धर्म एवं राज्य के बीच सम्बन्ध वैसे ही हैं जैसे संस्कृति के किसी अन्य स्वरूप एवं राज्य के बीच होते हैं। जब सहनशीलता अविदित होती है, तो राज्य स्वयं कृशकाय हो जाता हैं, जैसे स्पारटा (यूनान) में हुआ है। जब इसको प्रोत्साहन मिलता है तो इसकी वृद्धि होती है, जैसे एथेन्स में हुआ है। अत्यधिक सहमति सड़ांध पैदा कर देती है। विविधता विकास को जन्म देती है। इस तथ्य की चेतना धीरे-धीरे सहनशीलता को नैतिकता के रूप में ग्रहण करवा देती है। असहनशील होना अनैतिक बन जाता है। यह धीरे-धीरे कैसे होता हैं, यह उनके रवैये से देखा जा सकता है जो यह कहते हैं कि एक मनुष्य भला होता है परन्तु कट्टर होता है। दूसरी ओर, क्योंकि किसी भी समवेत संस्था को बनाए रखने के लिए दृढ़ता की आवश्यकता होती है। यह आवश्यक बन जाता है कि अत्यधिक सहनशीलता संस्था को बिखेर देती है। एक ऐसा धार्मिक विश्वास, जो राजद्रोह को उकसाता है, वह राज्य के लिए खतरा पैदा करता है। राज्य के उत्तराधिकारी के रूप में, संगठन को अपने आप से यह पूछना होता है कि क्या इसके अच्छे (अधिक पुराने) विचारों पर सुरक्षात्मक ढंग से प्रहार किया जा सकता है। शायद अत्यधिक उदारवादी

---

१४. इसका यह आशय नहीं है कि ब्राह्मण या बौद्ध लोग अपने धार्मिक सदस्यों से मौलिक कट्टर मतों के विषय में मौन रहें। परन्तु इनमें से कोई भी इनमें विश्वास न रखने पर जोर-जबरदस्ती किया करते थे या जब सत्ता में होते तो उन पर अपने मत थोपते थे।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

राय के द्वारा इसे उखाड़ फेंका जा सकता है। स्पष्टतः इसका केवल एक ही उत्तर है, ऐसी किसी चीज के लिए आसानी से आज्ञा नहीं दी जा सकती, जो विनाश करने के लिए तुला हुआ है।

परन्तु इस विकट स्थिति से बच निकलने का एक उपाय है। संगठन एक संस्था के रूप में अपना पूरा रवैया बदल दे, झगड़े के मामले को आवश्यक न समझे परन्तु उसको गौण समझे, और दूसरे दृष्टिकोण से एकता पर अपना ध्यान केन्द्रित करे। सहनशीलता की शिला एवं स्वतः विनाश के भँवर की निराशाजनक स्थिति से बचा जा सकता है। हमारे अपने धर्म में वास्तव में ऐसा ही हो चुका है और आज भी हो रहा है। धर्म के अन्तर्गत तेजी से विकास करने वाली एक असहमति रखने वाली संस्था ने यह रवैया अपना लिया है कि रूढ़ि, जो अतीत काल में आवश्यक रह चुकी है, को भी संस्कार जैसा मानकर इसको धार्मिक महत्त्व में गौण समझा जाना चाहिए। न तो औपचारिक पन्थ और न ही धर्म का कर्मकाण्ड मूल ईसाई मत का एक अंग है। तथाकथित ईसाई धर्म के सिद्धान्त का ईसा की शिक्षाओं से उतना ही कम सम्बन्ध है जितना दीप एवं धूपबत्ती के पूजा-स्थल के विधान का आदिम पूजा पद्धति से है। रूप या सिद्धान्त की अपेक्षा आत्मा धीरे-धीरे अधिक महत्त्वपूर्ण बनती जा रही है। मध्यकालीन मतमतान्तर काफी समय से समाप्त हो चुके हैं और परवर्ती काल के मतमतान्तर भी पहले ही मर चुके हैं। धर्म प्रत्येक चीज़ का प्रत्याख्यान करेगा, ऐसी आशा रखना अति होगी। यह कभी भी उसका तरीका नहीं रहा है। परन्तु यह विश्वास व्यक्ति के लिए पर्याप्त आधार है कि अपने दिव्य संस्थापक के धर्म को चतुर्थी शताब्दी की मानव रूढ़ियों के लिए स्थानापन्न करने की आधुनिक प्रवृत्ति में धर्म गुप्त रूप से मौन रहेगा। ऐसे मौन के दो लाभ होंगे। इसके द्वारा पश्चिम के बुद्धिमान लोग धर्म के अन्तर्गत रहेंगे और मिशनरी लोगों को पूर्व के बुद्धिमान लोग आदरभाव से सुनेंगे।

वैज्ञानिक का कथन है कि अनेक कोशिकाओं की एक संघटना के सम्मिश्रण द्वारा जीवन का प्रथम महान् विकास हो सका है। परन्तु अनेक कोशिकाओं वाली संघटना की उत्पत्ति विशिष्ट रूप वाले श्रेष्ठ कोशिकाओं द्वारा नहीं हुई है। इन श्रेष्ठ कोशिकाओं ने अपनी श्रेष्ठता निम्न प्रकार की कोशिकाओं से युद्ध करके बनाए रखी है। परन्तु अनेक कोशिकाओं वाली संघटना की उत्पत्ति अभिन्नकृत कोशिकाओं के औसत कोशिकाओं के मिश्रण द्वारा हुई है। ये कोशिकाएँ प्रति-स्पर्द्धात्मक कम थीं और सामाजिक अधिक थीं, अर्थात् सामाजिक एकता में अधिक गौण थीं। "विकास के नियम में संघर्ष एवं सामंजस्य दोनों ही होते हैं", परन्तु जो विकास के साथ बिल्कुल तालमेल नहीं बैठा पाता है, उसे अलग हटा दिया जाता है। दूसरे तत्त्व एक नए और सम्पूर्ण में मिला दिए जाते हैं। अतः ईसाई मत

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

की अभिवृद्धि न केवल ईमाई मत से विभिन्न तत्त्वों के आत्मसात् करने से हुई है, परन्तु ईसाई मत के अन्तवर्ती विरोधी तत्त्वों के स्थिरीकरण से भी इसकी वृद्धि हुई है। मोहम्मद एवं जरथुस्ट धर्मों द्वारा अपनाए गए मार्ग में भी यह अभिव्यक्त होता है। जो आवश्यक समझा गया है, उसे बलपूर्लक संजोए रखा गया है। अन्य विश्वासों एवं शक्तियों को भी अपने-अपने क्षेत्र में कार्य करने का अवसर प्रदान किया गया है। अपनी शिक्षाओं के सार को दृढ़ता से अपनी छाती से लगाए रहने एवं अनावश्यक रूपों में स्वातन्त्र्य भाव की आज्ञा देते हुए प्रत्येक महान् धर्म को जिन्दा रहना चाहिए। विरोधी शक्तियों को भी छूट होनी चाहिए। सम्प्रदायों का यही लाभ है कि यह स्वरूप के प्रेमियों तथा विचारों के प्रेमियों को भी समान रूप से अवसर प्रदान करता है। सौन्दर्य भावना, तपश्चरण की भावना और मानसिक आवश्यकताएँ—ये सभी सन्तुष्ट हो जाते हैं। परन्तु सम्प्रदाय मात्र एक अनुभाग है, एक अंश सम्पूर्ण से कभी बड़ा नहीं हो सकता, सभी के लिए स्थान होना चाहिए।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अध्याय १४

धर्म एवं देवशास्त्र

मिथ कहानियाँ होती हैं, वे सच्ची या झूठी हो सकती हैं। क्या मिथ या इसको उदाहृत करने वाला कर्मकाण्ड पुराना है, यह बात वातावरण पर निर्भर करती है। कर्मकाण्ड से एक कहानी बन सकती है। कहानी कर्मकाण्ड को जन्म दे सकती है। लोगों के विस्तृत कर्मकाण्ड की उत्पत्ति किसी मिथकीय उत्पादक के द्वारा हुई है—इस बात को मानने की सम्भावना प्रबल है या जैसे आस्ट्रेलिया एवं भारतवर्ष में उनका सम्बन्ध पितरों के एक वर्ग से बतलाया जाता है। वे कमोबेश उनको दिव्य समझा करते थे। कुछ ऐसे भी मिथ हैं जिनका कर्मकाण्ड से कोई सम्बन्ध नहीं है और वे मात्र कहानियों के रूप में प्रचलित हैं और दूसरे कुछ ऐसे हैं जहाँ पूरा संस्कार एक नाटकीय अभिव्यक्ति ही है। देवताओं के मिथों को प्रारम्भ से ही धार्मिक कहा जा सकता है। जबकि जैसे-जैसे नायक अत्यधिक भक्ति की वस्तु बनने लगते हैं, धीरे-धीरे मनुष्यों से सम्बन्धित वे मिथ धार्मिक स्वरूप ग्रहण करते हैं। नैतिक एवं धार्मिक व्याख्याओं द्वारा भी मिथों में सुधार किया जाता है। अमरीकी भारतीय मिथ की नाटकीय अभिव्यक्ति अत्यधिक रूप में धार्मिक बन जाती है।[1] जहाँ तक जापानी मिथों का अपने देवताओं के साथ व्यवहार का प्रश्न है, जापानी ब्रह्माण्ड विषयक मिथ प्रारम्भ से ही धार्मिक होते हैं। स्वर्ग की कथा फिर यह प्रदर्शित करती है कि नैतिकता एवं धर्मविद्या किस प्रकार मिथ को एक नया अर्थ प्रदान करते हैं।

---

१. जिन्होंने निस्संकोच दुरखेम के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है, वे दूसरी ओर यह कहते हैं कि किसी भी कबीले का हर एक उत्सव प्रारम्भ से ही धार्मिक ही होता है। धार्मिक संस्कार के बिना कोई भी असभ्य व्यक्ति न तो दावत कर सकता है या नृत्य कर सकता है। यह एक ऐसा कथन है जो तब ही ग्राह्य होगा जबकि सभी सामाजिक क्रिया-कलापों को धर्म की परिभाषा में ले लिया जाए। इससे इस शब्द में अर्थ निकाल दिया जाता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जहाँ तक मिथ आध्यात्मिक शक्तियों में विश्वास जगाते हैं और उस विश्वास पर आधारित आचरण को पैदा करते हैं, मिथ धार्मिक ही होते हैं। सम्बन्धित आध्यात्मिक शक्तियाँ सामान्यतः देवता या महान् राक्षस ही होते हैं। छोटे-छोटे राक्षसों को कभी-कभी ही ऐसा आदर प्रदान किया जाता है। क्योंकि उदाहरण के लिए जिस राक्षस को शोर का कारण या एक उद्यान जैसे छोटे स्थान का एक छोटा-सा संरक्षक आत्मा समझा जाता है, उसका ऐसा व्यक्तित्व नहीं होता कि वह एक मिथ का निर्माण कर सके। दूसरी ओर, जब एक महान् आत्मा लोगों की अभिभावक बन जाती है, तब उसका बिम्ब मिथकीय एवं काव्यात्मक प्रवृत्तियों से युक्त हो जाता है। वह अत्यधिक मानवीकृत हो जाता है और उसके ऐसे चरित्र के चारों ओर उसके कृत्यों की कथाओं का विकास होने लगता है। उसको नायक बतलाया जाता है। दिव्य लोगों से उसके सम्बन्ध स्थापित कर दिए जाते हैं। आँधी-अंधड़ का देवता इन्द्र दूसरे देवताओं से बातचीत करता है, अपनी माँ से दुर्व्यवहार करता है, झूठ बोलता है आदि आदि। सूर्यदेवता जनसमूह की ओर झुकता है या एक लड़की के प्रेम-पाश में फँस जाता है, शरद के आगमन पर वह क्षीण हो जाता, तब वह या उर्वरक आत्मा (हमेशा ही जिसको पृथक् रूप से पहचाना नहीं जाता है) मर जाती है, उसे दफना दिया जाता है और उसका पुनरुत्थान होता है। या फिर, एक देवता नए-नए विचारों को लाता है और वह सांस्कृतिक नायक बन जाता है। वह अर्द्ध-देवता, अर्द्ध-मानव बन जाता है और इसके चारों ओर मिथकों के समूह का विकास होने लगता है। तब एक उत्पत्ति-विषयक मिथ का जन्म होता है कि एक देवता ने कैसे संसार को पैदा किया है। कभी-कभी उसके साथ ऐतिहासिक मिथ भी जुड़ जाते हैं, जैसे जाति की उत्पत्ति का मिथ, पितरगण भी इसी दिशा से आए थे आदि आदि। यह बात सांस्कृतिक नायक के साथ आसानी से घुल-मिल जाती है। उस नायक के मिथ धार्मिक या लौकिक रीति-रिवाजों की व्याख्या करते हैं।

अनेक दशकों से धर्म के विद्यार्थी इस बात पर बल देते आए हैं कि तार्किक, वैज्ञानिक (काव्यापरक) या ऐतिहासिक मिथ धार्मिक नहीं होते हैं। उनका कहना है कि आदिम तर्क या विज्ञान के द्वारा संसार की उत्पत्ति की व्याख्या की जा सकती है या उनका यह भी कहना है कि एक पार्थिव स्वर्ग की कहानी इतिहास का प्रतिबिम्ब मात्र है। उनका धर्म से क्या सम्बन्ध है? जिस बल से इस मत की स्थापना की गई है, वह ऐतिहासिक प्रमाण से रहित नहीं है। पहले कुछ लोग हुआ करते थे जिनका विचार था कि देवशास्त्र धर्म का एक आवश्यक अंग है। मिथ की यथार्थता पर प्रश्न करना स्वयं धर्म को दुर्बल बनाना है। या तो आप 'बाईबल की कहानी' पर विश्वास करते हैं या आप ईसाई नहीं हैं। युवा अवस्था में इस लेखक को यही सिखाया गया था। जब वह इस भ्रम में परेशान रहता था कि क्योंकि

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ह्वेल मछली द्वारा जोनाह को निगलने की कहानी उसके (लेखक के) गले नहीं उतरती है, अतः वह ईसाई नहीं है। परन्तु आज यह बात मान भी ली जाए तो भी कोई भी पढ़ा-लिखा आदमी यह विश्वास नहीं करता कि देवशास्त्र धर्म का एक आवश्यक अंग है। हम यह प्रश्न कर सकते हैं कि क्या धर्म को देवशास्त्र से बिलकुल पृथक् किया जा सकता है। जहाँ तक हमारे अपने विश्वास का सम्बन्ध है, जैसा अर्द्ध शताब्दी पहले यह समझा जाता था कि दोनों में ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि अब हम यह नहीं मानते कि एक आदमी अधार्मिक हो जाता है क्योंकि वह जिस किसी भी भद्दे मिथ में विश्वास नहीं करता है। जैसा धर्म आज है या इसे कैसा होना चाहिए? जब हम धर्म के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करते हैं परन्तु जब हम इसके अतीत को लेकर इसके साथ व्यवहार करते हैं तो हम एक भिन्न दृष्टिकोण अपनाते हैं। अब हमारे लिए यह प्रश्न नहीं है कि धर्म का निर्माण किससे होता है या किसके द्वारा धर्म का निर्माण होना चाएिए? परन्तु हमारा प्रश्न यह है कि अतीत काल में किसके द्वारा धर्म का निर्माण होता था? क्योंकि पिछली पीढ़ियों के लिए देवशास्त्र, चाहे वह वैज्ञानिक हो या ऐतिहासिक, धर्म का आवश्यक अंग नहीं था, अब इस बात पर बल देना अवैज्ञानिक एवं अनैतिहासिक होगा। आदम के बिना मूल पाप का सिद्धान्त कहाँ हो सकता था और मूल पाप के बिना धर्म का क्या होता? "मेरा मूल पाप मुझसे ले लो और मेरा शाश्वत अभिशाप मुझसे ले लो, मेरे में क्या धर्म बच जाता है?" स्काटलैण्ड की पुरानी स्त्री ने अकारण ही नहीं पूछा था। या हमें भारतीय नरक के तार्किक मिथ पर भी विचार करना चाहिए। यह अन्धकारमय पाताल लोक के धुंधले से विश्वास से प्रारम्भ होता है और यातनाएँ, अत्याचारी, नरक का देवता और छोटे-छोटे राक्षसों पर समाप्त हो जाता है, जहाँ यमराज और उसका मन्त्री लेखा-जोखा रख रहे हैं, जहाँ गड्ढे में आग जल रही है और धीरे-धीरे पापों का शोधन होता रहता है। संक्षेप में इसमें अन्य दूसरे रूढ़िवादी नरकों का पूरा तामझाम पाया जाता है। परन्तु यह एक अतीव गम्भीर राष्ट्रीय धारणा से समाप्त होता है कि क्योंकि मनुष्य नरक की यातनाओं से बचना चाहते हैं, वे नैतिक हैं। बहुधा उद्धृत किए जाने वाले संस्कृत पद का कहना है, "नरक के दण्ड के भय मात्र से मनुष्य पुण्यात्मा होते हैं।" हमें यह कहना चाहिए कि प्रतिशोध लेने वाले देवता का भाव तथा उसके दूतों द्वारा दी जाने वाली यातनाओं के भाव का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है? फिर भी, नरक मात्र स्वर्ग और अच्छाई के लिए पुरस्कार के तार्किक विरोध के रूप में प्रारम्भ हुआ है। नरक की भावना के उदय होने से पहले ही अच्छाई के लिए अच्छे परिणाम का भाव पहले ही सुदृढ़ता से स्थापित हो चुका था। पाप करने वाला पहले विनाश की खाड़ी में अदृश्य हो जाता था, परन्तु तब प्रतिशोध की भावना आती थी। यदि उसने मुझे इस जीवन में मारा है,

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मुझे उसे अगले जीवन में यातना देनी चाहिए। अतः भारतवर्ष में नरक का पहला रूप उन हत्यारों का है, जहाँ पर उनमें से किसी को भी अपने पहले हत्यारे द्वारा दया के साथ नहीं मारा गया है।[2] तब दण्ड देने का काम दिव्य न्यायाधीश एवं उसके अनुजीवियों को सौंप दिया गया। पोलिनेशिया और दक्षिणी अमेरिका में शक्तिशाली आत्माएँ दुष्टों तथा निर्बल लोगों की रूहों को निगल जाती हैं। फिर अमरीकी भारतीयों का एक वैज्ञानिक मिथ यह बतलाता है कि एक कबीला कैसे दैवी विपत्ति से बच सका और एक नए देश में भाग गया। इसे हमें दिव्य संरक्षण कहना चाहिए और कैसे इस दिव्य प्राणी ने कुछ चुने हुए लोगों के लिए निवास योग्य भूमि का निर्माण किया। क्या यह धार्मिक नहीं है? प्रत्येक धर्म, जिसमें देवशास्त्र है, कमोवेश इससे बँधा हुआ है और इससे प्रभावित है। यह लोगों को नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ बनाता है या धार्मिक आधार पर उनको घटिया बनाता है। जो ठग अपने शिकार का गला घोंटता है, वह इसको धार्मिक कृत्य मानकर करता है, क्योंकि वह देवी के मिथ में विश्वास करता है जो बलि माँगती है। यूनानी लोगों को यह पता था कि उनके प्रचलित देवशास्त्र का अनैतिक प्रभाव पड़ रहा था और उन्होंने मिथ एवं धर्म के बीच घनिष्ठ सम्बन्धों को पहचानते हुए अपने देवताओं को तदनुकूल बदलने का प्रयत्न भी किया था। मिथ सम्बन्धी दिव्य आचरण की नकल करने से आचरण पर प्रभाव पड़ता है। मिथकीय दृष्टि से उन्मत्त होने पर वारुणी देव एक धार्मिक शराबी का रूप धारण कर लेता है।

ब्रह्माण्ड विषयक मिथकों का सामान्यतः धर्म पर बहुत थोड़ा ही प्रभाव पड़ता है परन्तु वे सर्वसाधारण मिथ होते हैं और अपने आप कभी-कभी परवर्ती धार्मिक विश्वासों पर छा जाते हैं। वे दो या तीन प्रकार के होते हैं। कोई पूर्वज या एक देवता इस संसार को बनाता है या आदिम विषय-सामग्री से संसार का विकास होता है। यह बल्कि विलक्षण है कि असभ्य व्यक्तियों में यह परवर्ती विचार किसी भी दृष्टि से असामान्य नहीं है। यह उत्पत्ति विषयक बौद्धिकता को समाप्त कर देता है। जब कोई देवता या पूर्वज संसार का निर्माण करता है, वह उसको एक ऐसे उस पदार्थ से निर्मित करता है जो उसके रूप वाला नहीं है। असभ्य व्यक्तियों के सामान्य उत्पत्ति विषयक मिथ इस प्रकार ही बनते हैं। असभ्य व्यक्ति अपने आपको विभाजित कर देता है और उसके अंगों से संसार का निर्माण होता है (सूर्य उसकी आँख हैं, वृक्ष उसके बाल हैं), जैसा चीनी, भारतीय तथा ट्यूटोनिक देवशास्त्र में हुआ है—एक आदिम सर्वेश्वरवाद। अफ्रीकी एवं बेबिलोनियाई विश्वास के अनुसार देवता धूल या मिट्टी और रक्त (जीवन) से मनुष्य

२. इस प्रकार यूनान में कोप देवी (गलत कार्य करने वाली आत्मा) में इसके पश्चात् प्राप्त होने वाले दण्ड का प्रथम भाव साकार होता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

को उत्पन्न करते हैं या भौतिक सामग्री को ग्रहण करके इससे एक मानव प्राणी बनाने के लिए इसमें रूह का संचार कर देते हैं, जैसा पोलिनेशियाई, अमरीकी, भारतीय तथा हिब्रू लोग कहते हैं या जैसा एक प्राचीन भारतीय मिथ बतलाता है। वह देवताओं एवं मनुष्यों को अपने बच्चों के रूप में पैदा करता है। यद्यपि मनुष्य की, जैसा हम पहले ही देख चुके हैं, प्रायः पत्थरों, वृक्षों या पशुओं से उत्पन्न बतलाया गया है या वे पृथ्वी के भीतर से रेंगकर निकल आए हैं। संसार की उत्पत्ति का दूसरा सामान्य रूप वहां है जब ऊबड़-खाबड़ तत्त्व टूटकर एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं। यह सामान्यतः किसी दिव्य शक्ति के द्वारा होता है और यह आदिम द्वन्द्व बन जाता है (आकाश पुरुष एवं पृथ्वी स्त्री)। पृथ्वी पर रहने वाले लोग इसके बच्चे हैं। हिरण्यगर्भ द्वन्द्व मिथ का दूसरा रूप है। इसके दो टुकड़े दिव्य शक्ति के द्वारा टूटकर आकाश एवं पृथ्वी का निर्माण करते हैं। यह एक यूनानी तथा भारतीय मिथ है या सम्भवतः यह एक दार्शनिक की मात्र व्याख्या है क्योंकि दोनों ही मिथ गौण उत्पत्ति से सम्बन्धित हैं। संसार या पृथ्वी एक बार उत्पन्न होने पर सामान्यतः किसी चीज पर, हाथी या कछूए या एक राक्षस पर टिकी रहती है। अव्यवस्था का विरोध भाव व्यवस्था से काफी पुराना है। गड़बड़ी बुरी है, वह अव्यवस्था है। बेबिलोन में यह एक सात फण वाले सांप या पिशाचनी के रूप में मानवीकृत है। इसको संसार की भलाई के लिए व्यवस्था की दिव्य शक्तियों द्वारा जीता गया है। उसका आधा-आधा भाग आकाश एवं पृथ्वी बन गए हैं। अतः भारतीय कहते हैं, "राक्षस (अव्यवस्था के प्रेमी) देवताओं के पुराने भाई हैं।" दुर्व्यवस्था की बुराई के रूप में स्वीकृति का तात्पर्य व्यवस्था एवं ऋत की स्वीकृति है, ब्रह्माण्ड में निर्वैयक्तिक नैतिकता (तेरी एवं मेरी की नहीं) की स्वीकृति।

ब्रह्माण्ड विषयक मिथों की अपेक्षा प्रलय, स्वर्ग, आनन्द द्वीपों के मिथ कम प्रचलित हैं या अतीत एवं भविष्य के आनन्द के दूसरे स्थानों, वृक्ष या जीवन के जल से सम्बन्धित मिथ और आकाश में उत्पात मचाने वाले राक्षसों के मिथ भी कम प्रचलित हैं। आदि मानवों के घर के रूप में स्वर्ग का मिथ उत्पत्ति के मिथ से सम्बद्ध है। यह घर स्पष्टतः प्रशान्त महासागर के द्वीपों के मिथ के कबीलों के निवासियों का पुराना निवास ही है और यह एक मात्र घटना नहीं है कि एक ऐसा ही परम्परागत स्वर्ग उत्तर में यूनान में तथा उत्तर कुरु के भारतीय मिथ में उपलब्ध होता है। स्वर्ग में रहने वाले पूर्वजों को आज के मानवों की अपेक्षा बड़ा एवं अधिक योग्य चित्रित किया गया है। उनकी आयु भी अधिक लम्बी बतलाई गयी है, वे देवताओं जैसे हैं। इस पुराने पार्थिव स्वर्ग को यिन के जरथ्रुस्ट मिथ में भविष्य के रूप में स्थानान्तरण कर दिया गया है, जहां यह इस जीवन के उपरान्त

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

का आनन्दमय स्वर्ग बन गया है।[3] मनुष्य पहले अमर था और बाद में उसने अपने अमरत्व को खो दिया—यह प्रशान्त महासागरीय द्वीपों, अफ्रीका एवं भारतवर्ष में मिथ है। जीवन के सेमिटिक वृक्ष की यह मान्यता है कि देवताओं के समान मनुष्य भी उस वृक्ष के फल खा सकते हैं और सदैव जीवित रह सकते हैं। देवताओं एवं मनुष्यों के सम्मिश्रण से जातियों की उत्पत्ति हुई है या उनकी उत्पत्ति विलक्षण रूप से किसी स्वीकृत पूर्वज से हुई है जो कबीले का मानवीकृत रूप है। परन्तु रामुलस (राम का संस्थापक) वास्तव में रोम से व्युत्पन्न है और रोम रोमुलस से व्युत्पन्न नहीं है। निवासी पहले प्राय: सांस्कृतिक नायक बनते हैं, उत्पत्ति करने वाले लोगों द्वारा भी कभी यह भूमिका निभाई जाती है। मेक्सिन क्यूएट्जल कोट्ल, आलगोल्किन मिकाबो, बेबिलोनियाई ए, हिब्रूइ टुबल काइन तथा यूनानी केडमोस का इसी श्रेणी से सम्बन्ध है। इन्हीं लोगों द्वारा कला, नियम एवं संस्कारों को स्थापित किया गया है। हिब्रू लोगों के दश आदेश (टेन कमाण्डमेन्ट्स) भारतीय लोगों के दस नैतिक नियम, यज्ञ एवं कर्मकाण्ड भी, दिव्य सत्ता द्वारा ही आरोपित किए गए हैं। इनका प्रसारण मानव द्वारा किया गया है, परन्तु यह (प्रसारण) विशिष्ट प्रकार से प्रेरित, ऋषि नामक मध्यस्थों या संन्यासियों द्वारा किया जाता है। अत: आस्ट्रेलियाई तथा अमरीकी भारतीयों का कर्मकाण्ड अब उसकी नकल है जो दिव्य पूर्वजों द्वारा सिखलाया गया था। भारतवर्ष में देवता के नृत्य धार्मिक नृत्यों की नकल करते हैं। कानूनी प्रक्रिया को भी पूर्वजों से संबंधित बतलाया जाता है। भारतीयों के आदिम मनु ने "अपनी सम्पत्ति का बँटवारा अपने पुत्रों में किया था", अत: आज भी मनुष्यों को वैसा ही करना चाहिए।

अनन्त जीवन का भौतिक स्रोत स्वर्ग का वृक्ष है। यह बेबिलोनिया में ज्ञान का वृक्ष हो सकता है। जरथ्रुस्ट परम्परा में पवित्र होम एक जीवन का वृक्ष है क्योंकि यह प्राणतत्त्व की वृद्धि करता है, क्योंकि यह ज्ञान भी प्रदान करता है और सभी प्रकार के आशीर्वाद प्रदान करता है। उत्पत्ति में ये दोनों विचार परस्पर सम्बद्ध हैं, परन्तु वे सम्भवत: सदैव ऐसे ही रहे होंगे, क्योंकि ज्ञान को अमर जीवन प्राप्त करने का एक साधन माना गया होगा। स्वर्गीय आचार्य डब्लू० मेक्समूलर के अनुसार मिस्र के आलेखों में उत्पत्ति, स्वर्ग, सर्प-राक्षस (बेबिलोनियाई तियामत, दुर्व्यवस्था) और ज्ञान एवं जीवन के वृक्ष की कहानी पायी जाती है, किसी स्पष्ट सम्बन्ध द्वारा यह प्रकट नहीं है और केवल इसके आशय द्वारा ही

३. जब यह कहा जाता है, "तुम इस दिन मेरे साथ स्वर्ग में होंगे" (ल्यूक २३ : ४३) एडेन को बतलाने वाले शब्द के समान उसी शब्द का प्रयोग किया गया है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ऐसा स्पष्ट नहीं है, अनुमान लगाया जा सकता है।[४]

जैसा हम पहले ही देख चुके हैं कि यिम के पार्थिव स्वर्ग के मिथ का भविष्य में स्थानान्तरण हो गया था, अत: आनन्द के अन्य भविष्य के गृहों के वर्णनों में भी यही हुआ होगा। उदाहरण के लिए बौद्ध धर्म के आनन्द भूमि के सम्प्रदाय वालों ने सुख को भविष्य में स्थानान्तर कर दिया है। इस सुख के आनन्द की कल्पना एक प्राचीन पश्चिमी घर में की गयी थी। वर्णन मात्र ही मिथ का निर्माण करता है, क्योंकि हम कितने भी निशिचन्त क्यों न हो जाएँ कि अगले जीवन में किसी अच्छे स्थान पर जाएँगे। कोई भी यह नहीं बतला सकता है कि वहाँ किस प्रकार का आनन्द मिलने वाला है। कल्पना भूत या वर्तमान को आदर्श रूप प्रदान करती है और यही स्वर्ग है। वैदिक काल के भारतीय के लिए यह यम के वृक्ष के नीचे एक ऐसा स्थान था जहाँ पूर्वज आनन्द में बैठा करते थे, या वह एक ऐसा स्थान था, जहाँ "सभी कामनाओं की पूर्ति होती है", मेक्सिको की एक जन-जाति के लिए उत्तर (जहाँ से वे आए थे) या पश्चिम में एक निवास था, जिस पर एक पुल के माध्यम से जाया जाता था परन्तु यह एक 'छाया' लोक था। अमरीकी भारतीय के लिए पश्चिमी आकाश में यह सहजता एवं अच्छे शिकार का स्थान था। गेट्स अजार नामक ग्रन्थ के लेखक के लिए यह स्थान वह था जहाँ अदरक की रोटी तथा प्याज मिलते हैं। मेरी कोरिल्ली महोदय के लिए वहाँ नक्षत्र मण्डल एवं घूमने के लिए (पृथ्वी के) गोलार्द्ध होंगे। मृत्यु के बाद भी मनुष्य के कुछ अंश की सत्ता बनी रहती है—आज धर्म का आधार यही है (इसके लिए हम लेसिंग महोदय को उद्धृत कर सकते हैं) और भविष्य जीवन का विश्वास ही भविष्य के जीवन के रूप में जिज्ञासा पैदा करता है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि मनुष्य स्वाभावत: अपने भविष्य के विषय में उत्सुक है या उससे उसका सम्बन्ध भी है। एक बार एक अमरीकी भारतीय ने कहा था[५]: "हम जानते हैं कि आकाश गंगा का मार्ग आनन्दोल्लास वाले शिकारी स्थल को ले जाता है, क्योंकि हमारे पूर्वजों ने हमें इतना बतलाया है, परन्तु हम ऐसे विषयों पर बातचीत नहीं करते हैं।" असभ्य व्यक्ति का सामान्यत: अपने भविष्य के विषय में बात करने का ज्यादा झुकाव नहीं होता है या उसके विषय में वह सोचता भी नहीं है। जहाँ तक इस बात का सम्बन्ध है, केटलिन एवं पादरी

---

४. दिसम्बर ३, १९०३ को एक आम भाषण में यह वक्तव्य दिया गया था। मैक्समूलर ने इन अनुमानित कथाओं का समय "लगभग ३००० ईसा पूर्व" निर्धारित किया था। ये वृक्ष "दो वृक्ष या एक आकृति वाले" दिखलाई पड़ते हैं।

५. जी० ई० फोस्टर, सेकोयाह्, पृ० ३३

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कोलेन्सो अमरीकी भारतीयों एवं अफ्रीकी लोगों का क्रमशः यही ब्यौरा प्रस्तुत करते हैं। असभ्य व्यक्ति का खाली समय उसके पूर्वजों की कथाओं में व्यतीत होता है कि उन्होंने क्या किया, वह इस बात की परवाह नहीं करता कि अगले जीवन में उसका क्या होगा।

यह उपेक्षापूर्ण रवैया असभ्य व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है। आधुनिक अरब निवासी भी इस जीवन के उपरान्त के विषय में बातचीत करने के लिए तैयार नहीं है। स्पष्टतः भय की अपेक्षा वे उपेक्षा के कारण ऐसा करते हैं। दूसरी ओर पोलिनेशिया के कल्पनाशील लोग भविष्य जीवन के विषय पर वाद-विवाद करके आनन्द लेते हैं और उनका परलोकशास्त्र का विस्तृत सिद्धान्त है। वास्तव में भले लोग (बहादुर) "पश्चिम में जाते हैं" जैसा वे कहते हैं, और नीचे की तरफ के निन्दित लोगों (कायर) की परेशानियों को देखते हुए और उनके दुःख को बढ़ा कर वे भविष्य के सुख का आनन्द लेते हैं। सामान्यतः फिर असभ्य व्यक्तियों का स्वर्गिक मिथ इसकी अपेक्षा और अधिक अस्पष्ट है और मुख्यतया एतदनुसार यह घोषणा करता है कि सबसे बढ़िया (या बहादुर) लोग इस जीवन के उपरान्त भी अच्छी तरह रहेंगे। एक साधारण सा स्वर्ग का रास्ता उस मिथ में मिलता है जो जरथ्रुस्टावाद में उस्तरे की आकृति वाले किंवत पुल (न्याय के) के रूप में प्रतीत होता है। असभ्य व्यक्ति के विश्वास के अनुसार यह कीचड़ में एक लकड़ी के टुकड़े के समान है। इसके ऊपर से केवल भले लोग ही सुरक्षा से निकल सकते हैं। लकड़ी का टुकड़ा स्वतः कापुरुषों एवं दूसरे पापियों को नीचे गिरा देता है। अमरीकी भारतीयों ने मिशनरियों से मुलाकात के बाद ही उस लकड़ी के टुकड़े की व्याख्या नरक के रूप में की थी। फीलीपिनो लोग मात्र यह कहते हैं कि दुष्ट लोग लकड़ी को पार करने में सफल नहीं होते। एक एकाकी बाल ही पेरु के लोगों के लिए सेतु था।

भविष्य के जीवन में विश्वास के लिए अमरत्व का होना किसी भी प्रकार से आवश्यक तत्त्व नहीं है। न ही सारे भले एवं बहादुर लोग भविष्य में सुख को प्राप्त करते हैं। मेक्सिको की एज़्टेक्स जनजाति का बीमार एवं बहादुर आदमी अपनी इच्छाओं के स्वर्ग को प्राप्त करने में असफल हो सकता है (देवताओं ने उसको निगल लिया था)। ऐसा भारतीय जिसके सिर की खाल उतार ली गई है या जिसको फांसी दी गयी है, वह आनंदोल्लास वाले शिकारी स्थल को प्राप्त नहीं कर सकता; चाहे यह कितना भी योग्य क्यों न हो। वह एक ऐसे यूनानी के समान है जिसको दफ़नाया नहीं गया है और जो निर्दोष होने पर भी वह कष्ट पाता है। इसके अतिरिक्त मृत्यु ही पार्थिव जीवन का आवश्यक अन्त नहीं है। एक आदमी मर कर आदमी या पशु के रूप में फिर दोबारा पैदा हो सकता है। जो अद्यावधि मानव प्राणी है, कुछ अफ्रीकी कबीले के लोग उसकी पुनः पुनः मृत्यु में विश्वास

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

करते हैं। यह प्राणी यहाँ-वहाँ अस्थायी जीवन में से गुजरता है, परन्तु तीसरी मृत्यु के बाद वह वापस नहीं आता। अन्य लोग अनन्त पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। मिस्र के लोग इसको जादुई सम्भावना समझा करते थे। इस प्रकार भविष्य के जीवन से सम्बन्धित मिथ तीन प्रकार के होते हैं। इनके अनुसार सर्वप्रथम रूह इस जीवन के उपरान्त एक मकबरे या छाया-लोक[६] में विद्यमान रहती है। दूसरे, एक सुख का स्थान होता है, सुखी लोगों का संसार; तीसरे, एक दुःख का संसार होता है। सामान्य रूप से भी विश्वास का यही क्रम होता है। बाद में नरक में एक कैद और जुड़ जाती है। वह कुछ रूहों के लिए छायालोक की वापसी के समान है। नैतिक व्यवहार या संयोग के कारण ही स्वर्ग में प्रवेश का निश्चय होता है। कुछ सन्दर्भों में पुनर्जन्म में पुराना विश्वास भी हो सकता है। जैसा पहले भी बतलाया गया था, यह दृष्टिकोण इतना 'सुधरा हुआ' नहीं है कि इसको आदिम न माना जाए। इसके विपरीत यह अमरीकी भारतीयों में भी पाया जाता है। उदाहरण के लिए यह आस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका में सर्वसाधारण है। अफ्रीकी लोगों का मुखिया उस प्राणी को चुन लेता है, जो वह मरने के बाद बनेगा। वह तितली को चुन लेता है और इसको अपने कबीले के लिए एक वर्जना बना देता है : "मरने के बाद मैं तितली बनूंगा, इसके बाद तितलियों को मत मारना।" मृत्युशय्या से इस प्रकार का एक कथन कहा गया है। अतः मिस्र का निवासी, जो पशु बनना श्रेष्ठ समझता है, अपना चुनाव कर लेता है और उचित प्रकार के जादू का प्रयोग करके प्रसन्नता से मर जाता है। यह जादू उसकी इच्छा को सुदृढ़ प्रकार से अभिव्यक्त करता है। उसका नियमन पुरोहित द्वारा किया जाता है, जो जादू के बिना कुछ भी नहीं कर सकता। वह इस विश्वास के साथ मरता है कि जो पशु उसने चुना है वह उसके रूप में ही दोबारा पैदा होगा। ऋग्वेद में रूह, यदि आदमी चाहे तो, (उसके पास एक विकल्प है) पौधों में चली जाती है। फिर, जन्मान्तरण के विश्वास में भी अमरत्व का कोई विवक्षित विश्वास नहीं होता है, यद्यपि यह भाव कि पहले शरीरों में रहने के बाद रूह जन्म धारण करती रहेगी, यह इस विश्वास के पास आता है कि आदमी मर जाता है और एक छायामय प्राणी के रूप में जिन्दा रहता है, यह परवर्ती प्राणी प्रायः बिल्कुल धूमिल हो जाता है।[७] असभ्य

---

६. उत्तम तथा भाग्यशाली लोगों के लिए आनन्दलोक के आविष्कार किए जाने के बाद छायालोक को कभी-कभी घटिया एवं अभागे लोगों के लिए सुरक्षित रखा जाता है।

७. स्वर्ग में दण्डित होने के विषय में पहले यह सोचा जाता है कि यह दण्ड अनिश्चित समय का होगा और सम्भवतः यह अपराध के अनुकूल होता है। यह केवल परवर्ती भारतीय ग्रन्थों में हैं कि शाश्वत आनन्द की तुलना में शाश्वत दण्ड की बात कही जाती है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

व्यक्ति इस बात पर आश्चर्य नहीं करता कि इसके बाद वह कोई क्यों जिन्दा रहता है। वह केवल इस बात पर ही आश्चर्य करता है कि आदमी को मरना चाहिए। व्यक्तित्व के स्वाभाविक नैरन्तर्य को आवश्यक रूप में स्वीकार किया गया है, परन्तु इस जीवन को दूसरे जीवन के प्रति रूप के विषय में असभ्य व्यक्ति यह विश्वास करने के लिए भी बिल्कुल तैयार है कि एक बार मरने के उपरान्त इस जीवित रूह को दोबारा मरना चाहिए। विशेष रूप से उष्णकटिबन्धों में, जहाँ निरन्तर ह्रास होता है और उसी ह्रास से जीवन का नवीनीकरण होता है। मन अत्यधिक स्वाभाविक रूप से सतत सत्ता में विश्वास करता है। अविरल जीवन के नवीनीकरण के कारण मृत्यु एक अस्थायी परिवर्तन सी दिखलाई पड़ती है। परन्तु कल्पना के लिए ऐसा प्रेरणास्रोत के न होने पर भी यह भाव कि अहंकार पहले जिन्दा रह चुका है और जिन्दा रहता रहेगा, इसके बारे में ऐसा सोचना भी बिल्कुल स्वाभाविक ही है। आयरलैण्ड की तरुणी, जिसने यह कहा था कि उसे यह पता था कि वह हमेशा ही जिन्दा रही होगी, क्योंकि इसे ऐसा कोई समय याद नहीं है जब वह जिन्दा नहीं थी, यह वर्ड्स्वर्थ की "ओड् टू इम्मोरटेलिटी" का हास्योत्पादक प्रतिबिम्ब है। यह विचार कि रूह को अपना भूतकाल याद होता है, दार्शनिक एवं कवि दोनों में समान भाव से पाया जाता है। बौद्ध लोग भी, जो रूह को नकारते थे, यह विश्वास करते थे जो कुछ अवशिष्ट रह जाता है, वह अपने भूतकाल को याद रख सकता है।

देहान्तरण के सीधे सादे भाव एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त के बीच यह विचार घुस आया है कि पुनर्जन्म के रूप के लिए रूह का नैतिक चरित्र आवश्यक है। पोलिनेशियाई मक्खियों एवं नारियलों के भाग्य के सन्दर्भ से यह कहा जाता है कि उनकी अमर रूह नैतिकता विहीन होती है और उनके भाग्य का कोई क्रम नहीं होता है, परन्तु ब्राइनहिल्ड के श्राप में "वह कभी भी दोबारा पैदा न हो" देहान्तरण के विश्वास के साथ यह विचार जुड़ा हुआ है कि वह अपने पाप के कारण पुनर्जन्म में असफल हो जाएगी। परन्तु स्कैण्डनेविया के निवासी के लिए पुनर्जन्म "पुरानी औरतों की बात" था, जिससे यह प्रगट होता है कि यदि यह नैतिक नहीं है तो कम से कम प्राचीन तो है। यूनान एवं भारतवर्ष में देहान्तरण करने वाली रूह के भाग्य में पुरस्कार या दण्ड का भाव अन्तर्निहित होता है, परन्तु भारतीयों के यहाँ यूनान की पतित रूह या एक पूर्ण वृत्त का भाव नहीं है (भारतीयों की "रूह के पतित होना", का सम्बन्ध इसके भौतिक तत्त्वों के बुरे आवरण में प्रविष्ट होने से है)। यह रूह को अपने प्रारम्भ वाले बिन्दु पर ले आता है। दिव्य इच्छा पर आधारित जन्म शृंखलाओं की विवृत्ति तो और भी कम है।

सेमिटिक लोगों का विश्वास था कि रूह पहले अपने घर में निवास करती है, तब बाद में कब्र में जाती है। फिर ईश्वर या पहले येहोवा के अधिकार

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

के बाहर संगठित रूहों के सभागार में पाताल में रहती है। निरर्थक जलीय स्थलों से परे यह (पाताल) पृथ्वी के नीचे पृथ्वी का पश्चिमी भूभाग था, एक ऐसा प्रदेश जहाँ मृत्यु का सात परदों वाला राज्य होता था। अत्याचारों का राजा, वेलियाल राक्षसों को निगल जाया करता। यहाँ भूतों एवं बीमारियों के राक्षसों का निवास था (बाइबल में जिसे 'नरक की पीड़ा' कहा गया है) और यहाँ पुनरुत्थान असंभव था। पुनरुत्थान का सबसे सरल तरीका यह था कि जब रूह शरीर से बिल्कुल अलग नहीं हुई थी, तब यह इसके साथ बिल्कुल वैसे ही जुड़ सकती है जैसे स्पष्टतः मरे हुए और (शरीर) के साथ जुड़ सकती है। उस स्थिति में मरदुक उसे पुनर्जीवित कर सकता था और एक आध्यात्मिक पुरुष (पुरोहित, पैगम्बर) शरीर को दोबारा जिन्दा रहने योग्य बना सकता था, परन्तु शरीर के विघटन के बाद यह नहीं हो सकता था।[८] प्राचीन हिब्रू विचारधारा में पुरस्कार एवं प्रतिशोध सभी इसी जीवन के लिए थे परन्तु इनको आधुनिक पीढ़ी से आगे भी बढ़ाया जा सकता है। पिता द्वारा किए गए पापों के लिए बच्चों के दाँतों को धार पर रखा जा सकता था या इसके लिए बच्चों को मारा जा सकता था; यद्यपि ऐसी स्थिति में भोजन के न मिलने पर पितरों की छाया वास्तव में बाद में परेशान होती थी। छायाओं में मात्र यही अन्तर था कि उनको समुचित प्रकार से दफ़नाया गया है या नहीं। जिन शरीरों के प्रति लापरवाही बरती जाती है, वे अत्यधिक दयनीय भूत बन जाते हैं। भारतवर्ष एवं यूनान में वही विचार पाया जाता है परन्तु इसके साथ नैतिक तत्त्व भी जुड़ जाता है।[९] मिस्र के विश्वास के अनुसार रूह का नैतिक चरित्र महत्त्वपूर्ण होता था, क्योंकि इसका निर्णय इसके बाद में होता था; परन्तु जादुई उपचार स्पष्टतः किसी भी प्रकार के दुष्कर्म की क्षतिपूर्ति कर सकता था। धनाढ्य मिस्र-निवासी (मृत्यु के उपरान्त) वैसे ही काफी समय तक जिन्दा रहता था जैसे जीवन में रहता था। वह धनवान होकर प्रसन्नतापूर्वक एक दास के समान रहा करता था। कैल्टिक जीवन भी इसके उपरान्त लगभग वैसा ही था। इस प्रकार अगले जीवन को लेकर सभी सम्भव मिथ हैं; इनमें से कोई भी इतना ही असम्भव है जितना कोई अन्य।[१०]

---

८. पेटन, वही, पृ० २४७, ऊपर भी देखिए।

९. परवर्ती वैदिक विश्वास के अनुसार यदि मनुष्य के पास अपनी हड्डियों के लिए कोई स्तूप (या समाधि-स्थल) नहीं है तो उसके 'सतकर्मों' का विनाश हो जाएगा।

१०. भारत एवं परशिया दोनों में ही लौकिक अन्तर्ज्ञान पाया जाता है जो यहाँ से बाद के जीवन की परिस्थितियों को व्यक्त करता है। नरक की यातना जीवन के न्यायिक दण्ड की नकल है, जिसको कुछ-कुछ आदर्श बना दिया गया है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अगला विचारणीय ऐतिहासिक मिथ प्रलय का है। पृथ्वी पर स्वर्गिक जीवन बिताने के बाद मनुष्य का ह्रास होता है और वह पाप करती है। एक भारतीय कथानक के अनुसार तब उसके पापों को प्रलय द्वारा धो दिया जाता है परन्तु फिर यहाँ धर्म एक प्राचीन ऐतिहासिक मिथ का प्रयोग करता है। क्योंकि पृथ्वी पर प्रलय सम्बन्धी दो सौ से भी ज्यादा कहानियाँ हैं और उनमें अतीव स्वाभाविक रूप से कुछ ऐतिहासिक घटनाएँ प्रतिबिम्बित होती हैं जिसमें संसार को (असभ्य वक्ता का) एक बहावदार नदी या भयंकार लहर द्वारा बहा दिया गया था और कबीले की परम्परा में यह स्मृति एक स्मृति बनकर रह जाती है, जैसे दानवों, बौनों तथा राक्षसों के सामान्य मिथ इस परम्परा को बतलाते हैं। ये सभी एक जाति के दूसरी जाति के वास्तविक सम्पर्क या किसी प्राक्-प्रलय सम्बन्धी राक्षस की हड्डियों की खोज को प्रतिबिम्बित करते हैं। जब एक भिन्न सामर्थ्य वाली जाति किसी दूसरी जाति को उखाड़ फेंकती है, इसके वास्तविक निवासी, यदि वे निर्माण कर्ता हों तो, राक्षस बन जाते हैं, जैसे प्राक् ऐतिहासिक भारत के महान् ईंटों के बनाने वालों को समझा जाता है, या वे पर्वतों में छिप जाते हैं और धातु के काम में चतुर होने के कारण वे जर्मनी में बौने बन जाते हैं। निस्सन्देह ये कहानियाँ अतिरंजित होती हैं। अत: बात भी अतिरंजित होती है। फिर दो सौ बाढ़ सम्बन्धी कहानियों में से कुछ का ही धार्मिक महत्त्व है। वे पात्र ऐतिहासिक तथ्य हैं और इन्हें काव्यात्मक ढंग से अलंकृत किया गया है। परन्तु उच्चस्तरीय सभ्यता बाढ़ का सम्बन्ध एक लेखक से जोड़ती है और अन्तिम रूप से, क्योंकि जल पावन होता है, मिथ को एक नैतिक महत्त्व प्रदान कर दिया जाता है। भारतवर्ष में पहली बाढ़ की कहानी का कथन है कि एक मछली ने अपने आने की घोषणा कर दी थी और जब यह आयी (क्योंकि कोई कारण नहीं बतलाया गया है) तो मछली ने नौका को बचा लिया। मछली ने पिता मनु को एक नौका बनाने की सलाह दी थी और जब यह मनु ने उस नौका को बाँध कर बाढ़ के शान्त होने तक विश्राम किया। तब मनु बाहर आए और यज्ञ से उत्पन्न होने वाली एक स्त्री के साथ सम्भोग करके मानव जाति का सूत्रपात किया। यहाँ ऐसा कोई प्रस्ताव नहीं है कि दण्ड देने के लिए या पाप को धोने के लिए किसी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा बाढ़ आयी थी। कथानक में केवल एक ही बात है कि किसी यज्ञ के संस्कार की स्थापना मनु द्वारा प्रामाणिक रूप से की गयी थी। परन्तु परवर्ती संस्करण बाढ़ को "विशुद्धिकरण" (संप्रक्षालन)—संसार का प्रक्षालन बना देता हैं। यह सब सर्वोच्च देवता के द्वारा किया गया था। मनु की पेटी में (इस संस्करण में)

हिन्दु तथा बौद्ध ग्रन्थों में उनका विस्तार से वर्णन किया गया है। स्वर्ग के सुखों का भी वैसे ही वर्णन किया गया है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सात ऋषि भी थे और जीवित वस्तुओं के सभी बीज भी थे। मछली यहाँ ब्रह्म का रूप है, "जिसकी कृपा से मनु ने संसार को पुनरुत्पादित किया है।"

बेबिलोनियाई प्रलय सम्बन्धी मिथ में संसार के प्रलय होने पर देवता स्वयं भयभीत हो जाते हैं। बेल नामक राक्षस द्वारा उसके राक्षसी क्रोध एवं अत्याचार के कारण प्रलय होती है। यह स्पष्टतः कथानक का पुराना रूप है परन्तु एक परवर्ती संस्करण में बाढ़ को पापी लोगों के पाप को धोने वाला एवं उसको शोधक रूप में चित्रित किया गया है, यद्यपि ये थोड़े से लोग ही थे जिनको दण्डित करने में सभी देवता एकमत थे। बेल नामक राक्षस ने गोपनीय ढंग से सभी को नष्ट करने का प्रयत्न किया था ताकि कोई भी बच न सके। बुद्धिमान एवं दयालु 'ए' बेल से कहता है—"पापी को पापों के लिए दण्ड दो, परन्तु दयालु बनो; प्रत्येक चीज़ का नाश मत करो"। प्रलय सम्बन्धी हिब्रू संस्करण में नैतिक एवं धार्मिक पक्ष ही प्रमुख है।[११]

पाप एक प्रकल्पना है जिसके दण्ड पर दूसरे मिथ का निर्माण किया जाता है। एलोआइदो लोग (यूनानी) पेलिआन पर्वत को ओस एवं ओलंपस पर स्वर्ग में तूफान मचाने के लिए रख देते हैं और उनकी प्रकल्पना के लिए अपोलो द्वारा दण्डित किए जाते हैं (ओड० ११, ३०५, फुटनोट)। भारतवर्ष में इन्द्र ने देखा कि राक्षस एक यज्ञीय वेदी से एक स्तम्भ का निर्माण कर रहे हैं। एक ऐसा देवता होने के कारण जिसको क्रीड़ाओं से प्रेम है, उसने एक सहायक का रूप धारण किया और एक आधारभूत ईंट रखी। उसी समय लौटकर जब "राक्षस गण ऊपर चढ़ रहे थे और आकाश में चढ़ने का प्रयत्न कर रहे थे", उसने अपनी ईंट को खिसका दिया और स्तम्भ नीचे गिर गया। अतः इन्द्र ने "उनको उनकी वेदी की ईंटों से ही मार दिया।" फिर यहाँ भी प्रकल्पना मात्र का ही पाप था, यद्यपि इन्द्र को यह प्रच्छन्न भय रहता है कि "कहीं राक्षस गण अपनी इस आरोहण वेदी का निर्माण न कर लें और देवताओं को अभिभूत न कर लें।" यह एक ऐसा उद्देश्य है जिसमें सम्भवतः एडन के बहिष्कार को भी प्रभावित किया हो कि कहीं मनुष्य देवताओं के समान न बन जाए। यूनान में भी एक महान् पाप प्रकल्पना ही है। प्रकल्पना यह है कि देवता सदैव दण्डित करते हैं और मनुष्य को इसके विरुद्ध सुरक्षित रखना चाहिए। बबेल स्तम्भ के कथानक में बवेल, 'भ्रम' एवं बबिली 'देवता का द्वार' इन शब्दों में श्लेष द्वारा एक नया तत्त्व जोड़ दिया गया होगा।

ये बिल्कुल सामान्य प्रकार के मिथ कथा एवं धर्म के बीच सेतु का उदाहरण

---

११. बोगोता (दक्षिण अमेरिका) नामक प्रलय मिथ में, जिस द्वेषपूर्ण देवता ने प्रलय करवाई थी, उसको एक एटलस नामक राक्षस में परिवर्तित कर दिया गया था। वह पृथ्वी को अपने कन्धों पर धारण करता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रस्तुत करते हैं। कुछ कहानियाँ ऐतिहासिक हैं। कुछ तार्किक हैं। वे एक ओर देवताओं से गुंथ कर तथा दूसरी ओर धार्मिक अनुभव से जुड़कर ही धार्मिक बन जाती हैं। एक कबीले का इतिहास पृथ्वी की उत्पत्ति एवं उसकी अपनी उत्पत्ति से ही प्रारम्भ होता है। तब यह धार्मिक बन जाता है, जैसे ही कबीले के देवता को इसका निर्माता एवं उत्पादक बना दिया जाता है। जीवन की बुराई का हिसाब दिया जाना चाहिए। विद्वेषपूर्ण आत्माओं को इसका कारण बतलाया जाता है। कभी-कभी वे ऐसी आत्माएँ होती हैं जिनकी प्रकृति विद्वेषपूर्ण हो सकती है। कभी-कभी वे स्वाभाविक एवं आवश्यक रूप से बुरी होती हैं। इस रूप में वे एक पृथक् वर्ग बन जाती हैं और किसी विरल सन्दर्भों में ही उनको भली आत्माओं के वर्ग के प्रमुख आत्मा की तुलना में एक प्रमुख आत्मा का स्थान दिया जाता है। एक ऐसा राक्षस-प्रमुख आवश्यक रूप से वाद की तार्किक कल्पना की उपज नहीं हो सकता है। एक भारतीय जंगली कबीले के अनुसार हमारी सारी विपत्तियों का एकमात्र स्रोत पृथ्वी देवी ही है। यह सूर्य-देवता में दिखलाई देने वाले आशीर्वादों के स्रोत (पुरुष) का स्वाभाविक आदिम विरोध है और यह एक प्रकार का दोहरा द्वैतवाद है। शामानी धर्म का अनुयायी मुख्य राक्षस एरलिक को सर्वोच्च देवता के विरोध में मुकाबले में खड़ा कर देता है और कहता है कि बुराई ही हमारा पिता है। जरथ्रुस्ट् यह कल्पना करता है कि सभी बुरी आत्माएँ एक वर्ग के रूप में हैं और उनका मुकाबला सभी भली आत्माओं से है और वह प्रत्येक वर्ग को अहरिमन एवं ओरमुज को मुखिया के रूप में बतलाता है। तब सदियों पुरानी दो महान् आत्माओं के बीच के संघर्ष का मिथ शुरू होता है। षडयन्त्र एवं विरोधी षडयन्त्र को धार्मिक इतिहास बतलाया जाता है। फिर, सामान्यतः बुरी आत्माएँ इतनी अच्छी तरह सुसंगठित नहीं हैं। उनमें एक शासक की कमी है।

भारतवर्ष में कोई शैतान नहीं है[१२], यद्यपि अनेक महान् एवं क्रूर व्यक्ति हैं,

---

१२. भारतीय देवता, जो पापियों को दण्ड देता है और स्वयं नरक का स्वामी है; स्वयं एक अच्छा देवता है, न वह और न ही उसके मित्र बुरे हैं। बुराई के राजकुमार को बुरे मन वाली रूहों को वैयक्तिक दण्ड देने वाला बनाने की अपेक्षा वास्तव में यह ज्यादा तर्कसंगत है। मध्य युग में शैतान स्वयं (अग्नि) की शाश्वत लपटों पर थूक कर अपने आपको आनन्दित करता था। ये लपटें उसकी अपनी सबसे अधिक स्वामीभक्त अनुयायी थीं। ईसाई युग के प्रारम्भ तक भी एडन के सर्प का तादात्म्य शैतान के साथ स्थापित नहीं किया गया था। यह कहा जा सकता है कि प्राचीन हिब्रू विश्वास के अनुसार पाप के लिए दण्ड अंशतः स्वतः ही दिया जाता था। यह एक प्रकार की वर्जना का दण्ड था। यदि कोई अनचाहे में भी तिजोरी को छू लेता था, तो यह पाप

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जिनमें से कई तो देवताओं से भी श्रेष्ठ हैं, जैसे अहरिमन गोपनीय ढंग से ओरमुज से घटिया था। असभ्य व्यक्तियों (अमरीकी भारतीयों को शामिल करके) के यहाँ कभी भी ऐसा पूर्ण द्वैतवाद नहीं था कि वे उनको भली आत्माओं एवं बुरी आत्माओं के वर्ग के रूप में संगठित कर सकें और प्रत्येक वर्ग को एक प्रमुख आत्मा को मुखिया के रूप में प्रदान कर सकें। अन्त में मिशनरी लोगों ने उनको ऐसा विचार प्रदान किया था। सेमिटिक लोगों के यहाँ तियामत एवं बैल मरदुक के बीच संघर्ष का एक मिथ है, परन्तु उनका झुकाव देवताओं के विषय में कहानियाँ घड़ने की तरह नहीं है। इन देवताओं के कोई ऐसे साहसिक कार्य नहीं हैं जिनकी चर्चा की जा सके (दूसरे लोगों के कार्यों की तुलना में) और वे राक्षसों की सुसंगठित सेना के विरुद्ध एकत्रित भी नहीं होते हैं। यह सिद्धांत कि (नक्षत्रीय) मिथ बेबिलोनिया में पैदा हुए हैं और सारे संसार में इन मिथों का प्रचार हुआ है; इस सिद्धान्त ने एक ऐसा परिणाम पैदा करने के लिए एक ऊसर भूमि चुन ली है।

प्राचीन सभ्यता में मिथों की अन्योक्तियों के रूप में व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया था, परन्तु इस प्रक्रिया से आदिम मिथों को युक्तियुक्त बनाना एक व्यर्थ प्रयत्न है। मिथ पहले कहानियाँ होती थीं, जिनका अक्षरशः विश्वास किया जाता था। गोपनीय सत्यों को दिमाग में बैठाना उनका उद्देश्य नहीं था। यह स्पष्ट है कि मिथों को एक प्रचलित विचार के साथ नहीं जोड़ा जा सकता है और इनको किसी एक स्थान विशेष से भी नहीं जोड़ा जा सकता है। उर्वरकता सम्बन्धी मिथ हैं परन्तु इन सभी मिथों की उत्पत्ति उर्वरकता की आत्मा के ह्रास एवं पतन में नहीं खोजी जा सकती। भूतों के मिथ हैं परन्तु सभी मिथ भूतों की कहानियाँ नहीं हैं। एक वास्तविक सूर्य मिथ है परन्तु वर्तमान सभी मिथों में से बहुत थोड़े मिथों का सम्बन्ध सूर्य से है। एक नक्षत्रीय मिथ है परन्तु उसके क्षेत्र एवं प्रचार बहुत ही सीमित हैं।[13]

माना जाता था और उसे परेशानी होती थी। आदिम सेमिटिक विश्वास का भी यही कबीले वाला दृष्टिकोण था कि व्यक्तियों के पापों के लिए कबीले को दण्ड मिलना चाहिए।

१३. इन गलतियों की पर्याप्त आलोचना के लिए देखिए प्रोफेसर टोयज् इन्ट्रोडक्सन टू दि हिस्ट्री आफ् रिलीजन्स्, पृ० ३८४, फुटनोट। नक्षत्रीय मिथों के लिए ऊपर देखिए। यूनान का बेबिलोन के प्रति ऋण अल्प ही है। अनहित के सन्दर्भ के अतिरिक्त जरथ्रुस्टवाद का ऋण सन्देहास्पद है। यह सम्भव है कि भारत की बाढ़ वाली कहानी बेबिलोनियाई कहानी की प्रतिध्वनि हो, परन्तु यह इतनी प्राचीन है और बेबिलोनीयाई कहानी से इतनी कम मिलती

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मिथ का एक आम रूप चमत्कार कथा है। कुछ चमत्कार सत्य होते हैं। कुछ को किसी महान् आचार्य या नेता के यश के विषय में कहा जाता है। जिन मिथों के द्वारा प्रभावी ढंग से इलाज किया जाता है, वे प्रायः वास्तविक चिकित्साओं के ही अतिरंजित रूप होते हैं।[१४] एक चमत्कार 'एक आश्चर्य' होता है जो आध्यात्मिक शक्ति के माध्यम से घटित होता है। यह देखना आश्चर्यजनक होता है कि अन्धा आदमी अपनी आँखों का प्रयोग करता है। लंगड़े व्यक्ति को भली-भाँति चलते हुए देखना भी आश्चर्यजनक है। परन्तु ऐसे आश्चर्य प्रतिदिन होते रहते हैं और इनको तब किया जा सकता है जब शरीर समुचित स्फूर्ति प्राप्त कर लेता है। धार्मिक नेताओं के पास ऐसे चमत्कार विशेष रूप से पाए जाते हैं। फिर भी ऐसे लोग न केवल कमजोरी को ठीक कर देते हैं अपितु प्रकृति पर भी काबू पा लेते हैं। परम्परा का कहना है कि जैसे बुद्ध के सन्दर्भ में प्रकृति स्वयं इनके जन्म एवं मृत्यु पर शकुनकारी घटनाओं की सहानुभूति में आन्दोलित हो जाती है। जब कोई व्यक्ति मरता है या जब कोई महत्त्वपूर्ण घटना होती है, तो आँधी-तूफान एवं भूकम्प आते हैं। ऐसी कहानियां (मिथ्र एवं आश्चर्यजनक घटनाएँ) आवश्यक रूप में गलत नहीं होती हैं। धर्मों का इतिहास, विशेष रूप से पूर्वी धर्मों का, यह दर्शाता है कि किसी आदरणीय चरित्र को महिमान्वित करने के लिए मनुष्य कहानियाँ घड़ लेते हैं और उनके लिए प्रमाण को तौलने की अपेक्षा उनमें विश्वास करने लगते हैं। श्रद्धा वस्तु को बिना ध्यान में रखे ही विश्वास चमत्कार पैदा कर सकता है। ("विश्वास से की गयी प्रार्थना बीमार को बचा लेगी"), मन्दिरों में फकीर, देवताओं तथा पूजा की अन्य वस्तुओं के लिए भी उन्हीं उपायों को किया जाता है। एक विश्वास के कुछ चमत्कार दूसरे विश्वास से उधार से लिए जाते हैं परन्तु वे सभी उसी एक कारण से ही पैदा होते हैं। विभिन्न धर्मों में स्वतन्त्र रूप से समान रूप वाले चमत्कार दिखलाई पड़ते हैं। प्रत्येक सन्दर्भ में ऐतिहासिक प्रमाण की पृथक्-पृथक् रूप से जांच-पड़ताल की जानी चाहिए। सामान्यतः

है कि ऋण की बात सम्भव मालूम नहीं पड़ती है। यूनानी तथा बेबिलोनियाई मिथों के सम्बन्ध के विषय में देखिए, एल० आर० फार्नेल, ग्रीस एण्ड बेबिलोन (१९११)।

१४. इस लेखक के एक साथी ने एशिया माइनर में काम करते हुए एक कामगार की आँख में से धूल पोंछकर उसके अन्धेपन को ठीक कर दिया। अगले दिन उसका तंबु लंगड़ों तथा अन्धों से भर गया। इन सबका यही विश्वास था कि वह 'जादू' कर सकता था। पूर्व में, जो दिव्य शक्ति रखने का दावा करता है, वह कुछ जादू का काम करके अपने दावे को सिद्ध कर देता है औरजो इलाज कर देता है वह तथ्यतः मानव से कहीं ज्यादा होता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जीसिस द्वारा किए गए चमत्कारों के लिए पीटर एवं जॉन जैसे अशिक्षित एवं अज्ञानी लोग ही गवाह थे (एक्टेस् ४ : १३)। अस्तु, फिर अन्य विख्यात चमत्कार कर्ताओं[१५] के संदर्भ की अपेक्षा उनका प्रामाण्य घटना के पास के समय द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, हालांकि सेन्ट पॉल जीसिस के उन चमत्कारों के करने की बात नहीं करते हैं। इस तथ्य को एक और अधिक पुराना स्वत: प्रामाण्य समझा जाना चाहिए।

देवता निस्सन्देह कितने ही चमत्कार कर सकते हैं। शिव के चौंसठ प्रकार के चमत्कार बतलाए गए हैं। भारतवर्ष में एक सतत परम्परा रही है कि देवताओं के युग्लों (यूनानी डिओसक्यूरोआई) ने अनेक इलाज किए हैं। उनमें से युद्ध में विक्षत युद्ध-राज्ञी की टाँग के स्थान पर एक कृत्रिम टाँग लगाने का भी है। आश्चर्य किया जाता है कि उन्होंने पूरी टाँग ही क्यों नहीं लगाई। स्पष्टत: यह वास्तव में की जाने वाली शल्यचिकित्सा का एक मामला था, जिसके लिए श्रेय 'भिषज' देवताओं को दिया गया था, बिल्कुल वैसे ही जैसे यूनानी पुरोहित ने एक वैद्य का कार्य किया और इलाज का श्रेय एस्क्लेपिओस को दिया गया था। जब एक चमत्कार होता है तब आदिम मस्तिष्क प्रमाण को नहीं खोजता है। स्वयं चमत्कार ही प्रमाण या दिव्य शक्ति का चिह्न होता है। "स्वयं जोन ने कोई संकेत नहीं किए।" (जे० न० १० : ४१)। सबसे प्राचीन चमत्कर्ताओं में एक राजा है, जो एक दिव्य पुरुष के रूप में अपने 'दिव्य स्पर्श' से इलाज करता है। कुछ साल पहले दस्तुर मेहरजी राजा एक कदम और आगे बढ़ गया और उसने "आकाश में एक दूसरे सूर्य का निर्माण कर दिया।" अत: कवि लोग चमत्कार पैदा करते हैं। वर्जिल मध्य युग का बड़ा भारी जादूगर था। 'चमत्कार' प्राय: वास्तव में किया

---

१५. बुद्ध या कृष्ण जादू किया करते थे। इसके विषय में कोई प्राचीन प्रमाण नहीं है। जो बुद्ध के जादू माने जाते हैं उनको उनकी मृत्यु एवं कृष्ण के जन्म के बाद ही वर्णित किया जाता है। यदि वे एक वास्तविक मनुष्य थे तो उनके चमत्कार पैदा करने वाले दिव्य रूप में स्थापित होने से अनेक शताब्दियों पूर्व यह बात दृढ़ हो जानी चाहिए। भारत के कुछ आधुनिक संन्यासियों का यह दावा करने का सबसे बढ़िया अधिकार है कि उनकी चमत्कारी शक्तियों को आँखों के आगे सिद्ध किया जा चुका है। दुर्भाग्यवश यह सन्देहास्पद है और इन समसामयिक दर्शकों को हिपनोटाइज किया गया था। भारतवर्ष में दूसरों के वशीकरण को तथा स्वयं के वशीकरण को दो हजार वर्ष तक एक विद्या के रूप में अध्ययन किया गया है। महाभारत में एक ऐसा सन्दर्भ का वर्णन आता है जिसमें एक आदमी से वह कहलाया गया था जो वह कहना नहीं चाहता था।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जाता है। इसको केवल सही व्याख्या की आवश्यकता होती हैं। एक पुराना यात्री एक जादूगर के विषय में बतलाता है : "कोई भी इसकी चमत्कारी शक्ति के विषय में सन्देह न करे, क्योंकि मैंने स्वयं देखा कि यह प्रकृति पर काबू पा सकता है।" वह यह बतलाकर इसका उदाहरण देता है कि जादूगर ने कैसे एक चक्की लगाई जिसमें "बिना पानी की चक्की का पत्थर ही उसके द्वारा धारण की जाने वाली चमत्कारी शक्ति से घूमने लगा; उसने उसको हवा-पानी की चक्की का नाम दिया।"

भारतवर्ष में प्रत्येक श्रेष्ठ प्रकार का फकीर अपनी स्वेच्छा से पानी पर चलना, हवा में उड़ना जैसे चमत्कार करता है परन्तु यदि वह सच्चा फकीर है तो वह ऐसा नहीं करेगा। यह सिद्धान्त है क्योंकि साधारण प्रकार का फकीर ही वाह-वाही लूटने के लिए चमत्कार करने का बहाना करता है। सच्चा आध्यात्मिक सिद्ध ऐसे प्रदर्शन के प्रति घृणा करता है। ऊँचे प्रकार के योगी के व्यक्ति-निष्ठ विचार में सम्भवतः कुछ सत्य दिखलाई पड़ता है कि वह ऐसी चीजें कर सकता है, क्योंकि वह एक संन्यासी होता है जो न केवल व्रत करता है अपितु औषधि भी खाता है। अन्त में वह इन्द्रजाल के वशीभूत हो जाता है, परन्तु वैज्ञानिक पद्धति से चेतना के क्षेत्र में संकीर्णता को पैदा करता है (चमकीली तख्ती पर घूरकर देखने एवं ऐसे दूसरे साधनों द्वारा)। इससे रहस्यमय तन्म्यता की उत्पत्ति होती है, जहाँ वह अपने आप में भौतिक तत्त्वों में प्रविष्ट होकर उड़ता हुआ तथा उच्च क्षेत्रों में तैरता-सा दिखलाई पड़ता है। यह मानसिक प्रक्रिया होती है। अन्त में यह स्मरण रखना चाहिए कि पुराने चमत्कार कम चमत्कारी थे। आज की अपेक्षा वे अधिक सम्भव थे। वेस्ले महोदय का विश्वास था कि उसने चमत्कार किए थे और हमारे युग की द्वितीय शताब्दी में मृतकों के पुनरुत्थान को कोई असाधारण घटना नहीं समझा जाता था।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अध्याय १५

धर्म एवं नैतिकता

सही और गलत को सापेक्ष शब्द बतलाए गए हैं। कुछ भी बिलकुल सही नहीं है, न ही कुछ बिलकुल गलत है। चोरी करना उस समय इतना बुरा नहीं है जब आदमी भूखा मर रहा है, अपेक्षाकृत जब कि उसको भोजन की आवश्यकता नहीं है। जो शान्ति में गलत है, वह युद्ध में सही है, धोखा देना, ठगना, दूसरे आदमियों की हत्या करना। भारतीयों की दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति सापेक्ष रूप में बुरा और अच्छा है, उसमें इतनी अच्छाई है, इतनी बुराई है और इतनी ही मूर्खता है। इसके अनुसार आदमी में इनमें से एक ज्यादा या कम होती है या वह बुरे की अपेक्षा अच्छा होता है, या अच्छा होने की अपेक्षा ज्यादा बुरा होता है, या अच्छा या बुरा होने की अपेक्षा ज्यादा मूर्ख है। पूर्ण होने पर वह सारी बुराई तथा मूर्खता को छोड़ देता है और पूरा भला आदमी रह जाता है।

परन्तु सापेक्षता का यह सिद्धान्त, चाहे आदमी पर लागू किया जाए या उसके कार्य पर लागू किया जाए, यह प्रदर्शित करने में असफल रहता है कि सही और गलत एक ही जड़ की विरोधी शाखाएँ हैं। युद्ध में मारना गलत नहीं है—यह अचानक सही रूप में रूपान्तरित नहीं हो सकता (शान्तिवादी यह कहने में बिलकुल तर्कयुक्त है, "यदि गलत, तो युद्ध में भी गलत")। युद्ध में मारना भी उसी कारण से सही है कि यह शान्ति में गलत है, क्योंकि यह कार्य आत्म-सुरक्षा के मूलभूत नियम की सहायता करता है, एक ऐसा नियम जो नैतिकता का निर्माण करता है, जिस रूप में यह नैतिकता से पहले विद्यमान रहता है और पशु भी इसको स्वीकार करते हैं।

प्रत्येक पशु में अधिग्रहण एवं स्वामित्व की भावना होती है। यह अपनी स्वेच्छा से किसी दूसरे पशु को अपने शिकार के ले जाने के लिए आज्ञा प्रदान नहीं करता है। यूथचारी पशु बिना किसी कारण के एक-दूसरे पर हमला नहीं करते, परन्तु प्रत्येक पशु वैयक्तिक रूप में अपनी सुरक्षा करता है और दल सम्पूर्ण रूप में कमजोर सदस्यों का विनाश कर देता है। वह अपने मुखिया का भी विनाश कर देता है। वैयक्तिक आत्म संरक्षण एवं सामूहिक एकता इस प्रकार सहज रूप में

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सुरक्षित रहते हैं। एक भद्दे लगने वाले व्यक्ति को भी, क्योंकि वह एकता के विरुद्ध युद्ध करता है, मार दिया जाता है या भगा दिया जाता है। जंगल का शिकारी जानवर अपने बच्चे को स्वयं निगल सकता है, परन्तु किसी दूसरे को ऐसा करने की आज्ञा नहीं देता। यह रोष प्रकट करता है और चोरी एवं हत्या का बदला लेता है। एक पत्नीक पशु भी किसी प्रतिद्वन्द्वी की उपस्थिति पर आक्रोश प्रकट करता है। यह अपने हित के विरोध में व्यभिचार किए जाने की आज्ञा नहीं देता है।[1] एक पशु इस प्रवृत्ति को उत्तराधिकार में प्राप्त करता है। वह कर्तव्य की भावना का विकास करता है। वह जानता है कि उसे क्या करना चाहिए और वह अपने कर्तव्य-पालन की असफलता पर शर्म अनुभव करता है। लेखक का कुत्ता डेश एक दिन पूरा भोजन करके आराम से लेट रहा था। तब एक घूरने वाला बदमाश पिल्ला अपनी पोंछ सहित उसकी टाँगों में घुस गया और उसने विरोध नहीं किया। चोरी करने के लिए आज्ञा देता हुआ वह सुस्तीपूर्वक उदार बन गया और दूसरी ओर देखने का बहाना करने लगा। तब अचानक ही उसका स्वामी दिखाई पड़ गया। जोर से भोंकता हुआ क्षण में ही डेश अपने पैरों पर खड़ा हो गया और अपने स्वामी के भले के लिए क्रोध करने लगा। उसके मालिक के आने से उसकी सुप्त भावना कि उसे क्या करना उचित है, जाग्रत हो गयी। हड्डी की सुरक्षा करना उसका कुत्ता सम्बन्धी कर्तव्य था। उसने यह अनुभव किया कि उसकी क्षणिक लापरवाही कुत्ते के समान नहीं थी। वह अनुचित एवं दोषपूर्ण थी। उसके सभी पूर्वजों की आवाज उसे ऐसा कह रही थी।

मनुष्य के सन्दर्भ में पूर्वजों के प्रयोग के अनुसरण करने से ही कर्तव्य की अभिव्यक्ति होती है। बोर्नियो के एक प्रमुख शिकारी द्वारा सुनाई गयी कहानी यह व्यक्त करती है कि पूर्वज लोग अपने वंशज का कैसे नियमन करते हैं। वह कहता है, "मेरा अपनी पुरानी आया के प्रति काफी लगाव था। एक समय आया जब मेरे पिता ने मुझसे कहा कि मुझे एक मर्द बनना चाहिए और किसी की हत्या करनी चाहिए। यह एक नियम था कि जो बूढ़ी और बेकार औरतें थीं, उनकी हत्या कर देनी चाहिए। मेरे पिता ने मुझे मेरी बूढ़ी आया को दिखलाया। वह अकेली बैठी थी। उसने मुझसे कहा कि मैं अभी युवा हूँ और किसी आदिम को मार नहीं सकता, परन्तु मुझे उस (आया) पर अभ्यास करना चाहिए। उसने मुझे मेरा तीर और कमान थमा दिया और उसकी हत्या करने के लिए कह दिया। मैं

---

१. एक साथी से संभोग—इससे एक पत्नीत्व का सार स्पष्ट हो जाता है। सामान्यतया यह ऊँचे प्रकार के पशुओं में पाया जाता है (उदाहरण के लिए हाथी, सिंह, चीता)। संकुलता कुत्ते का नियम है, परन्तु उसका सभ्य उत्पादक भेड़िया एक पत्नी वाला होता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उसे मारना नहीं चाहता था, परन्तु उसने मुझे कह दिया था कि मैं उसे मारूँ। मैंने एक तीर छोड़ा। यह उसके नहीं लगा परन्तु वह यह जानती थी कि इसका क्या मतलब होता है। वह रोने लगी। मैं भी चिल्लाने लगा। मेरा पिता नाराज हो गया। उसने मुझे कहा कि मैं न चिल्लाऊँ और सीधा निशाना लगाऊँ। उन्होंने मुझसे कहा कि उसको न मारना बुराई है। तब मैं तीर चलाता गया और तीर चलाता गया और हालांकि वह चिल्लाई, मैंने उसकी परवाह नहीं की; जब तक मैंने उसे मार नहीं दिया, मैं तीर चलाता गया। वह मेरे लिए माँ के समान रह चुकी थी परन्तु मैंने परवाह नहीं की। मेरे पिता ने कहा, "अब तुम अच्छे हो, तुमने मर्द जैसा काम किया है। तुमने सही काम किया है।" यह छोटी-सी भयंकर दुर्घटना यह दर्शाती है कि कबीला कैसे एक व्यक्ति के परम्परागत प्रयोग का प्रतिरोध करने के लिए मना करता है। कबीले के नियम का पालन होना ही चाहिए। अतः जहाँ तक कबीले का प्रश्न है, व्यक्ति के पास कोई दूसरी आवाज नहीं होती है। कबीले का नियम स्वयं सुरक्षात्मक होता है। यह एक सुगठित संस्था होती है। देखरेख द्वारा ही इसकी अभिवृद्धि होती है या इसकी क्षति होती है। दूसरों को क्षति पहुँचना अपने आप में गलत नहीं है और आवश्यक भी हो सकता है, अतः सही भी है। अतः हमारे भारतीयों के समान असभ्य व्यक्ति शत्रु के खिलाफ भी की गयी बुराई को गलत नहीं समझते हैं। परन्तु दल या कबीले के अन्तर्गत व्यक्ति भी यह अपनी भावना अभी भी बनी रहती कि उसके अपने वैयक्तिक लाभ के अनुसार क्या सही है और क्या गलत है। जब फोस्टर महोदय ने सही एवं गलत के बीच अन्तर के विषय में चेरोकी से सवाल किया। उसने उत्तर दिया, "किसी दूसरे कबीले या किसी सफेद आदमी से घोड़े चुराना उचित है, मेरे अपने कबीले से चुराना गलत है।"[२]

इस प्रकार नैतिकता किसी भी प्रकार के धार्मिक आदेश के बिना प्रारम्भ होती है। जो कबीला करता है, कबीले के आदमियों को भी वही करना चाहिए। वर्ग की अखण्डता को बनाए रखने के लिए उनके साथ हत्या भी करनी चाहिए। प्राणी को मारने के सन्दर्भ में पहला नैतिक नियम यह नहीं है कि आप हत्या नहीं करेंगे परन्तु यह है कि आप हत्या करेंगे, तब हत्या करने से वर्ग की सहायता होती है। यही कारण है कि १७७६ में एक अंग्रेज को मारना उचित था और ११ नवम्बर १९१८ तक एक जर्मन को मारना उचित था। नैतिकता के इस वर्ग-नियम से मिलता-जुलता ही एक वैयक्तिक नियम है। आजकल यह कहना सामान्य है कि आदिम आदमी में कोई वैयक्तिकता की भावना ही नहीं है। उसके लिए वर्ग ही सब कुछ है। पशुओं के सन्दर्भ में यह कैसे होता है? एक भेड़िया, जिसको

---

२. जी० डब्लू० फोस्टर, पृ० ३२

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अपने गुट के साथी भेड़िये द्वारा ही लूटा जाता है, तत्काल सुरक्षा एवं बदले की भावना से कार्य करता है। आदमी, जिस पर अपने कबीले के आदमियों द्वारा ही आक्रमण किया जाता है, उसको मार देता है और कबीले में उचित ठहराया जाता है। धार्मिक अन्तर्बोध की पहली हलचल में, जब नैतिकता की अभिव्यक्ति वर्जना में होती है, हत्या को रोकने वाला एवं धुँधले रूप में अनुभव होने वाला धार्मिक विस्मय प्रकृति के अपने नियम की मात्र एक सम्पुष्टि ही है। निषेध के द्वारा चोरी, हत्या और व्यभिचार को रोका जाता है। परन्तु लाल चीथड़ा, जो निषेध को तोड़ने के भय से सम्पत्ति की सुरक्षा करता है, उसकी अपनी सम्पत्ति पर नाजायज घुसपैठ के विरुद्ध मनुष्य की अपनी शत्रुता का मात्र दृश्य चिह्न ही है। पहली दशा में देवताओं का नैतिकता एवं पाप से कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु पितरों का उनसे सम्बन्ध है हालाँकि उनका प्रभाव आज तक अशंकित रहा है। हमें उनसे यह प्रवृत्ति दाय के रूप में प्राप्त हुई है और यही हमको सत्ता भी प्रदान करती है।

परन्तु इस समय, जैसा प्रमुख शिकारी के सन्दर्भ में है, मनुष्यों ने इस सत्ता को स्वीकार कर लिया है और वे समझदारी से इस पर काम करते हैं। उनका कहना है, "हमारे पितरों ने ऐसा किया, यह प्रथा है।" परम्परा से व्युत्पन्न प्रथा को इस प्रकार एक स्वीकृत आधार प्राप्त हो जाता है। यह अर्द्ध-धार्मिक बन जाती है, क्योंकि पितरों को आत्माओं के रूप में देखा जाता है। उनकी प्रक्रिया को तोड़ने से वे नाराज हो जाते हैं। उनकी परम्परागत प्रथा से एक नैतिक नियम बन जाता है। इसलिए यह एक दूसरा मामला है जिसको आदिम व्यक्तियों के नैतिक नियमों की चर्चा में शामिल नहीं किया गया है। शब्द विचारों की अभिव्यक्ति के लिए होते हैं, न कि जैसा राजनयिक लोग कहते हैं, शब्द विचारों को छिपाने के लिए होते हैं। बच्चे शब्दों का वैसे ही स्वाभाविक प्रयोग करते हैं, जैसे वे अपनी टाँगों का प्रयोग करते हैं। वे सीधे चलते हैं और सीधी-सादी बात करते हैं। वे स्वाभाविक रूप में टेढ़े-मेढ़े नहीं चलते हैं (अप्रभावित) और जब उनका अभिप्राय ना होता है तब वे हाँ नहीं कहते हैं। असभ्य व्यक्ति ऐसा नहीं करते हैं। कल्पनाशील बच्चे ऐसी कहानियाँ सुनाते हैं जो सच्ची नहीं होती हैं परन्तु वे जान-बूझकर झूठ नहीं बोलते हैं। परन्तु दूसरी ओर प्रकृति द्वारा कमजोर प्राणी को चारों ओर चक्कर लगाना, मुड़ना और धोखा देना सिखलाया जाता है और जैसे एक खरगोश चारों ओर चक्कर लगाता है, वैसे ही स्वाभाविक रूप से भयभीत बच्चा झूठ बोलता है। सभी डरे हुए बच्चे स्वाभविक झूठे होते हैं, जब पकड़े जाने लगते हैं तब सभी असभ्य व्यक्ति धोखा देते हैं। केवल सुसंस्कृत या ईसाई मत में दीक्षित बच्चे को प्रारम्भिक अवस्था में ही अपनी स्वाभाविक सुरक्षा को पाने की शिक्षा दी जाती है कि जिस समय तक वह (शिक्षा) सुरूप बनती है तब तक वह

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पहले से ही विकृत हो जाती है। परन्तु सामान्य अच्छाई के लिए यह लाभप्रद है कि मनुष्य विश्वास के योग्य हो। अतः आदिम सम्प्रदाय प्रायः एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच जाते हैं जहाँ कबीले के अन्तर्गत सत्य को एक गुण समझा जाता है और स्वीकृत परम्परागत प्रथा की निधि में इसको भी जोड़ दिया जाता है। धर्मात्मा यूलिसस (यूनान) को अपने शत्रुओं को ठगने की अत्यधिक सामर्थ्य के कारण ही अधिक धर्मात्मा माना जाता था।

ये सभी नैतिक परिणाम क्रमशः एक पारस्परिक दायित्व की भावना प्रदान करते हैं। सम्मत होने से मनुष्य अपना दायित्व अनुभव करता है। ऐसा न करने से पाप होता है। एक कुत्ता भी, जो हड्डी छीनता है, प्रतिशोध की आशा करता है। यह भावना इतनी बलवती होती है कि जब एक धक्का लगता है तो आदमी उस प्रतिशोध के लिए एक कारण की कल्पना करता है। जैसे आदमी से लगे धक्के का तात्पर्य ही यह होता है कि किसी ने उसके प्रति गलती की है। अतः एक अफ्रीकी असभ्य आदमी, जब वह अचानक शाखा से टकरा जाता है, इसको एक दुर्घटना नहीं मानता। वह कल्पना करता है कि शाखा उसके घुसपैठ के रोष को प्रकट कर रही है और एक नियम के रूप में वह शाखा से यह सोचकर माफी माँगता है कि उसने एक गलती की है और पेड़ नाराज है। इस प्रकार जब एक सुसंस्कृत व्यक्ति भी बीमार पड़ जाता है, वह यह कल्पना करता है कि एक आध्यात्मिक शक्ति को कष्ट करने के कारण उसको दण्डित किया जा रहा है। कितने लम्बे समय तक यह विचार चलता है, यह बतलाना बेकार है। १८९७ में भारतवर्ष में प्लेग को रुष्ट देवी सम्राज्ञी विक्टोरिया के मत्थे मढ दिया गया था। वह स्वयं लोगों से बदला ले रही थी क्योंकि कुछ बदमाशों ने उसकी प्रतिमा का अनादर किया था। उसी अवसर पर वैसे ही एक व्यापक दृष्टिकोण से श्रीमती बेसन्ट ने बम्बई में अपने अनुयायियों को काफी टोका और उनको यह विश्वास दिलाया कि पाप को दण्डित करने के लिए प्लेग को भेजा गया है, परन्तु पुण्यात्मा लोगों को डरना नहीं चाहिए और देश से भागना नहीं चाहिए। अच्छाई के शक्तिशाली शत्रुओं के ऊपर महामारी भी आ सकती है। यात्रा करने वाले पितरों द्वारा पड़ाव डालने का बहुत थोड़े लोग ही विरोध करते थे। क्योंकि जैसा वे कहते थे, ईश्वर ने अपनी कृपा से रक्त चमड़ी वाले लोगों के लिए प्लेग भेजी है और उनमें से बहुतों को मार दिया गया ताकि कुछ चुने हुए लोग ही कब्जा कर सकें।

फिर, सामान्यतः अपराध के लिए प्रतिशोध होता है तथा लापरवाही के लिए दण्ड होता है और आत्माओं के सन्दर्भ में यह मर्यादा-भंग के लिए होता है। असभ्य व्यक्तियों के सभ्य बनने तक कोई आदमी उनके विरुद्ध जघन्य अपराध नहीं कर सकता है। हत्या और चोरी (मर्यादा-भंग के अतिरिक्त), झूठ बोलना एवं व्यभिचार मनुष्यों के विरुद्ध अपराध होते हैं और देवता लोग मनुष्यों के नैतिक

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विचारों से प्रभावित होते हैं, परन्तु उनके पाप उनको क्षुब्ध कर देते हैं। लापरवाही एवं घुसपैंठ से वे क्रोधित होते हैं क्योंकि वे मानव आचार-संहिता को तोड़ने से क्रोधित नहीं होते हैं। वेस्ट कोस्ट के अफ्रीकी लोगों के यहाँ वास्तव में एक ऐसा देवता है जिसको मिशनरी लोग न केवल असभ्य व्यक्तियों के आचार देवता के उदाहरण के रूप में ही उदाहृत करते हैं परन्तु असभ्य व्यक्तियों के एकेश्वरवाद के उदाहरण के रूप में उदाहृत करते हैं। परन्तु पचास साल पहले या इसके आसपास ही यह देवता अज्ञात था और पहले मिशनरी[3] लोगों द्वारा ही असभ्य व्यक्तियों को इसके बारे में बतलाया गया था। अधिकांश आदिम "आचार देवता" सामान्यतः इसी प्रकार के होते हैं, हालांकि विकसित असभ्य व्यक्ति कभी-कभी उनकी नैतिकता को आध्यात्मिक सत्ता के मत्थे मढ़ देते हैं।

लापरवाही त्रुटि का पाप है। मर्यादा-भंग (घुसपैंठ आदि) अभिकर्म का पाप है। आत्माओं के अधिकारों या स्थान पर घुसपैंठ करना स्वयं एक प्रकल्पना का द्योतक कार्य है। उनके निजी अधिकारों का उल्लंघन एक प्रकार की चोरी है। जैसे आदमी चोरी के लिए सजा देता है, स्वर्ग में जाने के लिए खम्भे स्थापित करने वाले लोगों को देवता दण्डित करते हैं और जो लोग अत्यधिक बुद्धिमान या प्रसन्न बनने का प्रयत्न करते हैं, देवता उनको दुःख देते हैं। दूसरे शब्दों में, जो देवता-सदृश बनने का प्रयत्न करते हैं, वे अपने आप दिव्य अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, देवता उनको भी दुःख देते हैं। अतः अमरत्व को प्राप्त करने वाला, वर्जित फल के चाहने वाला और भारतवर्ष में वह व्यक्ति भी, जो अत्यधिक आध्यात्मिक बनने का प्रयत्न करता है, उसे कठोरता से दण्डित किया जाता है। आध्यात्मिकता का एक महान् भण्डार जो मानवता के लिए उपयुक्त होने से भी बड़ा है, वह भण्डार मनुष्य को इतना अधिक देव-सदृश बना देता है कि वह देवताओं के आक्रोश का उत्तेजक हो जाता है। इसीलिए ही भारतीय देवता एक संन्यासी से डरते हैं जो अनावश्यक रूप से सज्जन होता है और वे सुन्दर कन्याओं के रूप में प्रलोभन देते हैं, उसकी परीक्षा लेने के लिए नहीं, सेन्ट एन्थेनि की तरह, परन्तु उसको आश्रयहीन बनाने के लिए ताकि वे बिना परेशान हुए अपने-अपने सिंहासनों पर विराजमान रहें। "अपनी शक्ति को (खोने) के भय से देवता अत्यधिक पवित्रता की अनुभूति नहीं देते हैं।" महाभारत का कहना है। यह उसी काव्य में उक्त एक सामान्य नियम का ही सन्दर्भ है : "मर्त्य लोग मृत्यु से पीड़ित होते हैं क्योंकि वे ऐसे कार्य करते हैं जो देवताओं को पसन्द नहीं हैं।" मृत्यु के उपरान्त रूह के भाग्य का इस जीवन में शरीर के भाग्य का निर्णय अधिकांश धर्मों में धार्मिक दृष्टि से या नैतिक दृष्टि से किया जाता है। बर्बर व्यक्तियों के

३. एलिस, वही और मिस किंग्सले, टेवेल्स् इन वेस्ट अफ्रीका।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सन्दर्भ में भी यही होता है।[४]

परन्तु ये देवता मानव प्रगति को भी देखते हैं या वे स्थान भ्रष्ट हो जाते हैं और उनको मात्र राक्षस समझने से ही उनकी समाप्ति भी हो सकती है। उनको मनुष्य के साथ-साथ नैतिक बनना चाहिए। इस प्रकार दिव्यत्व के भाव चलते-फिरते चित्रों की एक शृंखला बन जाते हैं और मनुष्यों के नैतिक विचार इनमें प्रतिबिम्बित होते हैं। एलोहिम (हिब्रू लोगों का देवता) से लेकर ज्यू लोगों के चालाक येहोवा तक, कैलविन (फ्रेन्च धार्मिक सुधारक) के भयावह जेहोयाह तक; ईश्वर तक, निम्न वैदिक आत्माओं से, जो चोरी करती हैं और दूसरे पाप भी करती हैं, उच्च वरुण तक जो "पाप को देखता है और दण्ड देता है", विश्वेश्वर तक, जो पूरी तरह से पवित्र है, सब चित्र ही हैं। परन्तु इन भावों के पीछे कितने ही और अधिक आदिम (भाव) पड़े हुए हैं। मध्य भारत में एक कबीला है जिसकी आचार संहिता में इस प्रकार के आदेश हैं, "बहादुर बनो और मारो तथा विवाह में अपने पितरों की परम्परागत प्रथा का पालन करो।"

हालांकि यह स्पष्ट है कि पहली आचार संहिता साभिप्राय और निरभिप्राय पाप में कोई अन्तर नहीं करती है। यदि कोई वर्जना को तोड़ता है, तो वह दुःख पाता है, जैसे कोई चाहे-अनचाहे कीड़े वाले शव को छूता है। प्राचीन आचार संहिताओं में आदमी के मारने एवं हत्या करने को पृथक् नहीं माना गया है। मध्य युग में भी, जो बैलगाड़ी हत्या कर देती थी, उसको नष्ट कर दिया जाता था। उज्जा का अर्थ भला होता था, परन्तु वह उसकी रक्षा नहीं कर सकता था। पाप पाप ही होता है साभिप्राय या निरभिप्राय। यदि एक असभ्य व्यक्ति अनजाने में अपने कबीले के आदमी की हत्या कर देता है, तो भी वही जिम्मेदार है। पोलिनेशिया का एक सनसनीदार मुकद्दमा इसको उदाहृत करता है। एक आदमी एक ऐसी लड़की से प्रेम करता था जो उससे प्रेम नहीं करती थी। जब उसने उसको मना कर दिया तो वह निराश हो गया और अन्त में वह निराशा में मर गया। कबीले ने उस लड़की को अपराधी ठहरा दिया। लड़की ने स्वयं अपना अपराध स्वीकार कर लिया, यद्यपि उसने इस बात पर विरोध प्रकट किया कि उसने उसको नहीं बतलाया था कि वह मर जाएगा। "मैं जानती हूँ", उसने बहादुरी से घोषणा की कि "मैं अपराधी हूँ परन्तु मुझे यह पता नहीं था कि मैं हत्यारी बनने वाली हूँ।" कबीले ने विचार-विमर्श किया और कबीला इस नतीजे पर पहुँचा :

---

४. गुवाना के निग्रो लोगों का विश्वास है कि मृत्यु के उपरान्त आत्मा रूह से मिलेगी और यह पूछेगी कि क्या इसने 'भोजन सम्बन्धी दैनिक नियमों' का पालन किया है। अतः वर्जना रूप में किया गया पूजा-विधि सम्बन्धी पाप नैतिक पाप से पहले आता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"कार्य का अज्ञान कार्य को नष्ट नहीं करता है। यदि एक आदमी अपने भाई को अचानक मार देता है, मरा हुआ आदमी वैसे ही पड़ा रहता है तो हत्यारा वैसे ही दण्डित किया जाता है। उसे मरना चाहिए।"

अधिकांश कर्तव्य सामाजिक जीवन की प्रशाखाएँ हैं। सत्य, निष्ठा, औदार्य, मानवता, देशभक्ति आदि से सामाजिक कर्तव्यों का अभिप्राय है। वे दूसरों के सम्पर्क से पैदा होते हैं। आध्यात्मवादी पूर्वजों द्वारा आरोपित एक नियम के रूप में परम्परा की शुद्धता द्वारा वे पहले धार्मिक बनते हैं और फिर दिव्य अनुज्ञा द्वारा भी वे धार्मिक बनते हैं। सब से पहले भूतकालीन एवं वर्तमानकालीन कबीला, सार्वभौम सहमति के रूप में स्वयं एक धार्मिक संस्था बन जाता है और आचार का नियमन करता है। अमूर्त आध्यात्मिक शक्ति एक वास्तविक आध्यात्मिक शक्ति बन जाती है और कभी-कभी एक मुखिया या स्वामी में अमूर्त रूप में विद्यमान रहती है, जैसे जापान में, जहाँ मिकाडो देवत्व के रूप में अमूर्त रूप में राज्य करता है परन्तु सामान्यतः, जैसे हम देख चुके हैं, दूसरी आध्यात्मिक शक्तियाँ, मानवता में आत्मसात् हो जाती हैं। पैतृक शक्तियाँ मानवता में आत्मसात् नहीं होती हैं। वे आध्यत्मिक शक्तियाँ अपने नैतिक गुणों से युक्त हो जाती हैं। सभ्यता का विकास करने के लिए मनुष्य को ऐसी अवस्था में से गुजरना पड़ा है जहाँ कबीला एकजुट होकर रह सके। परन्तु एकजुट होकर रहना बिलकुल आवश्यक हो गया था कि युद्ध एवं इसका परवर्ती नरसंहार, व्यक्ति के लिए एक नैतिक आवश्यकता के रूप में एक मजबूरी बन गया था। जो मसले महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, वहाँ पर भी एकजुट होकर काम होना चाहिए। असभ्य व्यक्तियों की आचार संहिता प्रभावी रूप से ऊँचे उद्देश्य के लिए एक साधन बन गयी थी, और इस दृष्टि से सभ्यता के गर्वित अहंकार के साथ यह कहना गलत है: "असभ्य व्यक्ति जो उचित समझता था, वह असभ्य अज्ञानी व्यक्ति उसी प्रकार उचित काम भी करता था, इससे बढ़िया बात वह जानता ही नहीं था।" हमें यह कहना चाहिए, "वह हत्या करने में बिलकुल सही था, और जो भी वह करता था, वह अपने कबीले को सुरक्षित करने के लिए करता था।" हम यह नहीं कह सकते कि उसने गलती की परन्तु उसे पता नहीं था। उसने बिना यह स्वीकार किए ऐसा किया कि प्रारम्भिक अवस्था में विकास अशोभनीय होता है, परन्तु यह एक बेहूदी बात है। परवर्ती नैतिकता का जन्म केवल विकसित सभ्यता से ही हो सकता है। इसकी सत्ता अपनी पूर्ववर्ती अर्द्ध-सभ्यता की स्थिति के कारण है। यह क्रमशः सजातीय वर्ग से पैदा होती है। असभ्य व्यक्तियों का वह वर्ग अपनी नैतिकता का सख्ती से पालन किए बिना नष्ट-भ्रष्ट हो गया होता। यह कहना चाहिए कि कबीले की अखण्डता बन्दी लोगों के झुण्ड से प्रभावित नहीं होती है क्योंकि राजनैतिक

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दृष्टि से उनका कोई हिसाब-किताब नहीं होता है और नैतिक या धार्मिक दृष्टि से वे कबीले के नियमों के करीब आ जाते हैं।

आचार संहिता सामाजिक मेलजोल का तार्किक परिणाम होता है। वहाँ सामाजिक एवं बौद्धिक स्तर पर बहुत ही कम अन्तर होता है। जैसे-जैसे बौद्धिकता बढ़ती है तथा समाज का घेरा व्यापक होता है तो यह आचार संहिता उसी स्तर की ओर मुड़ने लगती है। पारिवारिक स्नेह, बड़ों के लिए आदर, वफादारी, किसी भी चुनौती को स्वीकार करने की नैतिक बाध्यता वाली बहादुरी, लड़ना या जुआ खेलना, सच्चाई एवं विश्वास, जैसे-जैसे लोग सभ्यता के निकट पहुँचते हैं, चाहे कोई भी प्राचीन संहिता क्यों न हो, वे किसी भी संहिता में गुण ही होते हैं। चोरी करना एवं झूठ बोलना कबीले का अतिक्रमण होते हैं। परिवार के अन्तर्गत पत्नियों से निष्ठा की आशा की जाती है क्योंकि सम्पूर्ण रूप से उनका सम्बन्ध मनुष्यों से होता है। पतियों की निष्ठा एक बाद का गुण है, जो भावना पर आधारित है जबकि स्वामीत्व पर आधारित होने के कारण स्त्री का गुण पुराना है। परन्तु यौन सम्बन्धी नैतिकता दूसरे आदिम नैतिक लक्षणों के समान इतनी एकरूप नहीं है, क्योंकि यह अधिकांश विभिन्न आर्थिक परिस्थितियों, बलात्कार, विजातीय विवाह, बाल-हत्या, मातृ सत्ता आदि पर निर्भर करती है। कुछ कबीलों में विवाह होने तक स्त्रियाँ 'सांझी' होती हैं। बाद में वे वर्ज़ना बन जाती हैं (निजी रूप में पतियों की होकर)। दूसरे कबीलों में लड़कियों से पवित्रता की आशा की जाती है। कुछ कबीलों में स्त्रियाँ पुरोहितीय प्रभुत्व प्राप्त कर लेती हैं जैसे पेटेगोनिया में, दूसरों में उनकी कोई धार्मिक शक्ति नहीं होती है। स्त्रियों के प्रति सहनशीलता का रवैया सामान्यतः एक उच्च नैतिकता का द्योतक नहीं होता है। अमरीकी भारतीय चिब्चा लोग कुछ दूसरे दक्षिणी अमरीकी लोगों से अच्छे नहीं थे। फिर भी चिबचा औरतों को अपने पतियों को पीटने का अधिकार प्राप्त था। कबीले के एक आदमी को मारने की अपेक्षा आइरोकिस रेड इंडियन पत्नी को मारना ज्यादा खर्चीला होता था परन्तु वह इसलिए था क्योंकि आदमी की कोई वैयक्तिक शक्ति नहीं होती थी, केवल कबीले की ही बलि दी जाती थी; जबकि स्त्री के सन्दर्भ में कबीले एवं स्वामी दोनों को ही मुआवजा मिलता था। यौन सम्बन्धी मामलों में अनेक असभ्य व्यक्ति दोनों ही लिंगों पर संयम पर बल देते हैं और दूसरे सन्दर्भों के समान इसमें भी परम्परा का प्रयोग ही नैतिक आचरण बन जाता है। दोनों व्यवहार एवं संयम में, इसके अतिरिक्त संयम के प्रस्ताव में शालीनता के चिह्न, जो अधिकांश रूप में परम्परावादी होते हैं, नैतिक आचरण बन जाते हैं। जादूई एवं धार्मिक उल्लास के अवसर पर यौन सम्बन्धी संयम में एक कर्तव्य के रूप में छूट देने की प्रवृत्ति को भी फिर देखा जाना चाहिए (मुख्यतः पहले उर्वरकता के उद्देश्य से) बाद में इसे एक अधिकार के रूप में देखना

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

चाहिए। आस्ट्रेलियाई खंदक सम्बन्धी विधि अपने आप में एक जादूई संस्कार है। वह दैनिक व्यवहार की आदत का विशेष रूप से विरोधी है। (ईसाईयों का) शनि महोत्सव यह प्रदर्शित करता है कि कैसे एक कर्तव्य धार्मिक ओट के अन्तर्गत अधिकार बन गया है। असभ्य व्यक्तियों के दैनिक जीवन की गति से उत्पन्न ऐसी अनेक श्रृंगारात्मक अभिव्यक्तियाँ होती हैं। यह हो सकता है कि ऐसी ज्यादतियों का सम्बन्ध एक ऐसे समय से हो जब ये परम्परा के प्रयोग रहे हों, परन्तु पारिवारिक अखण्डता के मामले में अधिकांश असभ्य व्यक्ति एक नैतिकता की भावना रखते हैं। कुछ चौंकाने वाले (स्मृतियाँ) अपवाद हो जाते हैं। मिस्र एवं पेरु का राजकीय नियम यह था कि वंश को पवित्र रखने के लिए भाई को वहन से विवाह करना चाहिए। जरथ्रसुवाद कौटम्बिक व्यभिचार को उत्पन्न करता है।

कबीले द्वारा स्वीकृत प्रयोग, जैसा हम देख चुके हैं, धर्म वन जाता है। पोलिनेशिया के देवता वहादुरी के लिए पुरस्कार प्रदान करते हैं और कायरों को खा जाते हैं। उत्तरी अमेरिका के असभ्य व्यक्तियों के लिए शौर्य एवं सच्चाई समान रूप से नैतिकता थी और दूसरे मामले में वे स्पारटा (यूनान) के लोगों से भी आगे बढ़ गए थे। अपने गैंर कबीलों के मित्रों से व्यवहार करते समय उनका शब्द ही उनका बन्धन था। सम्भवत: कबीले की सीमा से बढ़कर गुण के रूप में स्वीकार किया जाने वाला आतिथ्य ही पहला गुण था। अमरीकी भारतीयों के यहाँ समग्र रूप से लगभग वही आचार-सहिता थी, जैसी टेसिटस के जर्मन लोगों की थी। अपनी पत्नियों तथा दूसरे सामान को दाव पर लगाने के मामले तक में भी वही आचार-संहिता थी, क्योंकि एक भारतीय योद्धा कहता हैं: "एक पुण्यात्मा योद्धा के रूप में मैं किसी भी चुनौती से लड़ने या जुए खेलने के लिए मना नहीं कर सकता" ये दोनों ही साहस की परीक्षाएँ थीं।

भारतीय, कान्फुसियन, हिब्रू तथा मिस्री नैतिकता की तुलना यह प्रदर्शित करती है कि एक जाति दूसरे की अपेक्षा एक बिन्दु पर अधिक बल देती है। सभी का सामान्य रूप लगभग वही है। हिब्रू लोगों के दस आदेश झूठ बोलने की मनाही नहीं करते हैं (केवल झूठा प्रमाण), परन्तु लालच को मना करते हैं। भारतीय आचार-संहिता पुत्रीय स्नेह (एक कर्तव्य के रूप में) की उपेक्षा करती है और ईर्ष्या के विरुद्ध एक आदेश को इसमें सम्मिलित करती है। हालांकि धर्मशास्त्र के ग्रन्थों का अधिक विकास (नैतिक एवं उसके साथ-साथ कानूनी ग्रन्थ) और औपचारिक संहिताओं के बाहर की निन्दा स्पष्टत: यह प्रकट करती है कि इन सभी प्रकार के नियमों का तात्पर्य वैसी ही नैतिकता से है। उदाहरण के लिए, चीनी नैतिकता का आधार पुत्रीय स्नेह है, परन्तु माता-पिता के प्रति आदर एवं उनकी आज्ञा मानने पर भारतवर्ष में वैसे ही जोर दिया जाता है, जैसे चीन में। इस बिन्दु या उस बिन्दु पर बल देना अत्यधिक स्पष्ट रूप से इसके राष्ट्रीय चरित्र को

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार रोमन के लिए न्याय एक सर्वोच्च नैतिक रवैया है क्योंकि राष्ट्रीय चरित्र कठोर एवं न्यायिक था, बल्कि राष्ट्रीय चरित्र मिलनसार की अपेक्षा उचित था। जबकि दया एवं दयालुता, पशुओं के प्रति भी, भारतीय के लिए सर्वोच्च रूप से नैतिक थी, क्योंकि धार्मिक होने की अपेक्षा वह स्वाभाविक रूप से भावुक एवं स्नेही था। सामाजिक प्रगति के प्रतिबिम्ब के रूप में विकासशील संहिता को वहाँ आसानी से खोजा जा सकता है जहाँ साहित्यिक परतों को सुरक्षित रखा जाता है। ऋग्वेद में शौर्य युग को प्रतिबिबिम्बत करने वाला शौर्य एक गुण है। किसी भी परवर्ती काल में इसकी एक गुण के रूप में चर्चा नहीं हुई है। इसको केवल योद्धाओं के एक लक्षण के रूप में ही सुरक्षित किया गया है। जब जादू का प्रयोग कबीले के किसी सदस्य के विरोध में किया जाता था तो इसको पहले पाप समझा जाता था। सभी जादुई प्रयोगों की निन्दा की गयी है। नाटक एवं मूक अभिनय धार्मिक क्रिया-कलाप के प्राचीन प्रारतीय रूप थे, परन्तु बौद्धों के विशुद्धिवाद ने इनको पापपूर्ण मानकर इनकी मनाही कर दी थी। कन्या को बेचना एक प्राचीन प्रथा थी। बाद में इसको अनैतिक मानकर इसकी मनाही कर दी गयी, "पारिवारिक प्रयोग-परम्परा" मे ऐसा नहीं होता था। पारिवारिक प्रयोग परम्परा (यह सत्ता इतनी शक्तिशाली है) ने इसको निर्दोष मान लिया। आधुनिक आचार-संहिता अनेक प्रथाओं की मनाही करती है। ये प्राचीन काल में धार्मिक दृष्टि से नैतिक मानी जाती थीं, जैसे शराबीपन एवं माँस खाना।

असभ्य व्यक्तियों की नैतिकता को समग्र रूप से सौम्य बताने के माध्यम से सामाजिक विकास ने धर्म को सुधारा है, परन्तु नियम को श्रेष्ठ अनुज्ञा प्रदान करके क्रमशः धर्म ने नैतिकता को भी सुधारा है। हम देख चुके हैं (अध्याय १४) कि धर्म ने कैसे नैतिकता के लिए एक कृत्रिम रोगनिरोधक बना दिया है। न्यायिक प्रतिकार के विचार को व्यापक रूप में संवारने से ही यह रोगनिरोधक बनाया गया है। मनुष्य इस जीवन के उपरान्त भी जिन्दा रहेगा—इस सार्वभौम धारणा से न्यायिक प्रतिकार का भाव करीब-करीब सम्बद्ध है (कुछ असभ्य व्यक्ति ऐसा चाहते हैं)। परन्तु आध्यात्मिक शक्तियों का निर्णय दूसरी दुनिया के लिए सुरक्षित नहीं रखा गया है। कोई तुरन्त अग्नि परीक्षा की माँग करके इसकी अपील कर सकता है। यह अपील सामान्यतः झूठी गवाही एवं व्यभिचार में की जाती है (अधिक विस्तृत सांस्कृतिक अवस्था में यह संदेहास्पद जादू-टोना या दूसरी राक्षसी वृत्तियों के सन्दर्भ में ही होता है)। सामान्यतः पहले इसका आशय जल तथा अग्नि से होता है या अग्नि परीक्षा का विष संवेदनशील शक्ति के रूप में कार्य करता है। यह एक ऐसी शक्ति है जो नैतिकता को सुरक्षित रखती है। परन्तु बाद का आशय यह है कि ये शक्तियाँ, जिनको कभी संवेदनशील समझा जाता था,

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आध्यात्मिक शक्तियों, देवताओं या तन्निहित आधार के हाथों में निष्क्रिय साधन होते हैं। अतः अग्नि परीक्षा की तीन अवस्थाएँ होती हैं, उदाहरण के लिए अग्नि, या जल की परीक्षा, अपनी संकल्पना का कार्य, तब अग्नि का देवता या जल का देवता ज्वाला या बाढ़ को नियन्त्रित करता है, तब ईश्वर अग्नि या जल के चिह्न से अपनी इच्छा प्रकट करता है। ऐसी अग्नि परीक्षाएँ दोनों ही कथनों तथा अवस्थाओं को सिद्ध कर देती हैं या उनको झुठला देती हैं, अर्थात् वे मानव कथन या मानव अवस्था की पुष्टि कर देती हैं, चाहे कसम उठाई गयी हो या नहीं। जब एक जादूगर एक जादू को स्वीकार कर लेता है परन्तु घोषित किए जाने से पहले अग्नि परीक्षा द्वारा परीक्षा ली जानी चाहिए या आदमी यह सोचे कि उसके पास शक्ति है। परन्तु तत्त्वों के एक श्रेष्ठ नियन्ता के रूप में केवल अग्नि पथ पर चल कर वह अपनी स्थिति को सिद्ध कर सकता है। अपनी सिर की सौगन्ध खाना भी स्वयं अपने आप में एक अग्नि परीक्षा है, क्योंकि झूठी गवाही देने वाला उस स्थल पर विक्षत हो जाता है जिसकी वह कसम उठाता है और यह मान लिया जाता है कि उसकी अपील के लिए यह क्षति दिव्य उत्तर है।

ऊँचे धर्मों को, जिनमें वे धर्म भी सम्मिलित हैं, जिन्होंने वैयक्तिक प्रतिशोध के लिए सुप्रसिद्ध प्रायश्चित को स्थापन्न सा कर दिया है, भी इस समस्या का सामना करना पड़ा था कि क्या ईश्वर पूरी तरह से न्यायपूर्ण एवं साथ-साथ कृपालु भी हो सकता है। इस समस्या को सामान्यतः इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है : क्या वह ज्यादा न्यायपूर्ण है या ज्यादा कृपालु है ? कुछ लोग यह विवाद करते हैं कि ईश्वर को मनुष्य के समान ही कृपालु होना चाहिए और तब सम्प्रेषित प्रायश्चित की आवश्यकता पर प्रश्नचिह्न लगाया जाता है, बौद्ध यह विवाद करता है कि बुद्ध या बोधिसत्व के सन्दर्भ में, बुद्ध जिसके पास असीम पुण्य हैं, पश्चाताप वाले पापी को पुण्य प्रदान कर देता है और इस प्रकार पापी के पुण्य-भण्डार को इतना भर देता है ताकि प्रतिशोध उसकी प्रताड़ना नहीं करता है। यह बलि स्वैच्छिक थी, जबकि ईसाई बलि उस दोषी की थी जो अपने आपको स्वैच्छिक रूप में प्रस्तुत नहीं कर रहा था; "तुम्हारी इच्छा (मेरी नहीं) हो जाएगी।" ये समस्याएँ ऐतिहासिक दृष्टि से यह दिखलाने के लिए रोचक हैं कि किस हद तक नैतिकता ने धर्म को धक्का लगाया है तथा ईश्वर की सत्ता को नियन्त्रित किया है। नैतिकवादी मानवता एक अनैतिक ईश्वर को निन्दित करती है। यह केवल तत्त्वज्ञानियों के ऊहापोह में ऐसा होता है कि कोई यह अवधारणा खोजता है कि ईश्वर, जैसे परवर्ती जरथ्रुस्टवाद में, भले एवं बुरे दिमाग का मिला-जुला रूप है। भारतीय धर्म ज्ञाता, जो सभी दार्शनिक थे, यह मानते हैं कि भलाई एवं बुराई

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दो शाश्वत सिद्धान्त हैं और वे शाश्वत पदार्थ[५] एवं शाश्वत आत्मा में प्रकट होते हैं या पदार्थ आत्मा का एक भयात्मक प्रक्षेपण है। सर्वदेव आत्मा ही केवल सच्चा यथार्थ है। सत्, चित् एवं आनन्द इसके सार तत्त्व हैं, परन्तु इस परिभाषा में सत् एक विशुद्ध सत् है और इस प्रकार सभी पार्थिव गुणों के अभाव से इसका आशय है, नैतिक पवित्रता। एक तीसरी विचारधारा के अनुसार ईश्वर ही सब कुछ है, परन्तु पदार्थ एक भ्रम नहीं है। यह सर्वोच्च आत्मा का शरीर ही है क्योंकि रूह एवं शरीर से ही मनुष्य का निर्माण होता है। इस व्याख्या के अनुसार मनुष्य की रूह का तादात्म्य ईश्वर के साथ नहीं हो पाता है, परन्तु विशुद्ध होने पर यह ईश्वर के पास जाकर वहाँ रहेगी। जरथ्रुस्ट मत के अनुसार मनुष्य एवं सभी बुरे लोग अन्ततः नैतिक दृष्टि से पवित्र हो जाएँगे और अपने मूल शरीर को धारण करके आनन्द में रहेंगे। ईसाई विचारधारा के अनुसार ईश्वर ने पदार्थ को पैदा किया है और वह बुरा नहीं है, परन्तु रूह ही पापी है। जैसा पहले बतलाया जा चुका है, परलोकशास्त्र में तात्कालिक एवं भविष्य के पुनरुत्थान के बीच तथा मौलिक एवं और ज्यादा आध्यात्मिक शरीर के पुनरुत्थान के बीच अन्तर होता है।

चीन में इस दार्शनिक प्रश्न पर बड़ी गम्भीरता से विचार किया जाता था कि क्या मनुष्य स्वभावतः अच्छा या बुरा है। मानव स्वतः अच्छा काम करने के लिए अयोग्य है, यह बात मोहम्मद के द्वारा सुझाई गयी है परन्तु वे पूर्ण भ्रष्टाचार के अनैतिक सिद्धान्त को भी नहीं मानते हैं। इतिहास एवं मानव-जाति-विज्ञान के अनुसार यह स्पष्ट है कि बुराई का प्रादुर्भाव हानिकारक के रूप में हुआ तथा भलाई का प्रादुर्भाव लाभदायक के रूप में हुआ है। लाभ वास्तविक या सम्भावी हो सकता है। चोरी, कुत्ते एवं असभ्य व्यक्ति के लिए अपने आप में बुरी नहीं है परन्तु जब यह लूटे गए व्यक्ति को नुकसान पहुँचाती है तो यह उसके लिए बुराई है। असभ्य व्यक्तियों के लिए प्राणहत्या एक दिव्य नियम है और जब यह उनको अनिष्ट रूप में प्रभावित करती है तो यह उनके लिए बुराई है। जब वे स्वयं एक आदमी को मारते हैं तो यह "अच्छा एवं सुखद" है, जैसे असभ्य व्यक्ति किसी दूसरे आदमी की पत्नी की चोरी के बारे में कहा करते थे। "पाप" की बुराई सभी सन्दर्भों में इसके प्रभाव में होती है, स्वयं अपने आप में नहीं। बुराई कोई ऐसी समस्या नहीं है, जिसको भले ही ईश्वर द्वारा इस संसार में भेजा गया है या इसकी उसको अनुज्ञा प्राप्त है। समस्या मात्र इतनी सी है कि मनुष्य ने किस प्रकार इसकी एक वस्तुनिष्ठ यथार्थ के रूप में कल्पना की है। वह एक रहस्य ही

५. इस सिद्धान्त में मन पदार्थ का एक विकसित रूप है एवं आत्मा का विरोधी है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दिखाई देता है कि एक भला ईश्वर पापियों को फलने-फूलने देता है या क्रूर लोग कमजोर एवं पुण्यात्मा लोगों को दबाते हैं। इसका उत्तर प्लाईटोनियस विचार-धारा के अनुसार इस प्रकार किया जाता है : "कमजोर लोगों को कमजोर होने की जरूरत नहीं है और शक्तिशाली लोग उनको दबाएँ; अपने में शक्तिशाली बनाना उनका कर्तव्य है और पापियों को फलने-फूलने न देना या क्रूर लोगों को दबाना भी उनका कर्तव्य है; मूलत: कमजोर लोग ही पाप करते हैं न कि शक्ति-शाली लोग।" सभी पापों को पाप के रूप में स्वीकार किया जा चुका है क्योंकि यह हानिकारक है, पहले व्यक्ति के लिए और बाद में कबीले के लिए, बाद में जाति के लिए और बाद में मानवता के लिए हानिकारक है। जो मानव जाति के लिए हानिकारक है, उसके विरुद्ध लड़ना मानव जाति का कर्तव्य है। जाति की सुरक्षा एवं उन्नति के कारण यह कर्तव्य है, जो हानि पहुँचाता, वह पापपूर्ण है।

निस्सन्देह अन्त में बात वहीं पर आ पहुँचती है। पाप वही पाप बना रहता है तथा पापियों की भर्त्सना इसलिए नहीं की जाती है क्योंकि वे किसी अमूर्त रूप या गुण का विरोध करते हैं परन्तु जो हमारे लिए आवश्यक है वे उसका विरोध करते हैं और हानि पहुँचाते हैं। यह सम्भव नहीं है कि जिसको परम्परागत रूप में अच्छा कहा गया है, आम राय का बहुमत इसको वास्तव में अत्यधिक लाभप्रद मानने में भ्रान्त हो। भलाई एवं बुराई पहले की भाँति ही एक दूसरे के विरोधी बने रहते हैं। उसकी वही दिव्य सत्ता होती है और मानव जाति की उन्नति को संसार का नियमन करने वाली दिव्य शक्ति की इच्छा की अभि-व्यक्ति के रूप में उसको समझा जा सकता है। यह मात्र उपयोगितावाद को अतिक्रान्त करता है तथा सर्वोच्च अनुज्ञा के साथ यह सही एवं गलत के रूप को प्रभावित करता है। यह अमूत बुराई के विरोधी के रूप में अमूर्त भलाई की ध्वनि को प्रभावित करता है। जिन्होंने शैतानी का मन के रूप में इस परवर्ती अमूर्त भाव का मानवीकरण किया है, वे ही मानसिक रूप से इस मार्ग का अनु-सरण किया करते थे। यद्यपि इस मन के विषय में यह विचार किया जाता था कि अन्ततोगत्वा अच्छे मन द्वारा इस पर विजय प्राप्त करना ही इसकी नियति है। परन्तु हम देख चुके हैं कि यह असभ्य व्यक्तियों के बुरी आत्माओं के विश्वास का मात्र परवर्ती अवशेष ही है और कुछ असभ्य व्यक्तियों ने मूल भलाई के स्रोत के विरोधी रूप में एक मूल बुराई के स्रोत को उत्पन्न करके बुराई के सिद्धान्त के विचार का खाका खींच दिया है, यद्यपि असभ्य व्यक्तियों के धार्मिक विश्वास में इसका कोई संकेत नहीं है कि अच्छाई की भावना बुराई की भावना पर अन्ततो-गत्वा विजय प्राप्त कर लेती है।

परन्तु एक भली एवं सर्वोच्च भावना के रहने पर नैतिक रूप में यह क्या चाहती है? इसका पता लगाना एक कठिनाई बनी रहती है तथा प्रामाणिक रूप

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

से इस इच्छा को लोगों के सामने लाना भी एक कठिनाई है। इस सन्दर्भ में चीन ने बलपूर्वक यह कहकर सन्तोष कर लिया था कि इसका सर्वोच्च स्वामी, नियम का शासक व्यवस्थित आचरण के उल्लंघन पर साधारण रूप में आपत्ति करता है। दिव्य सत्ता के निकट रहने वाले प्रेरित पूर्वजों से हमें यह सही आचरण परम्परा रूप में प्राप्त हुआ है। अव्यस्थित राजा को गद्दी से उतार दिया जाता था या वह प्राणों से हाथ धो बैठता था क्योंकि पूर्वज या सर्वोच्च शासक उसको अपनी अनुज्ञा प्रदान नहीं करते थे। परन्तु यह अस्पष्ट था। भारतीयों ने भी पूर्वजों एव देवताओं को आदर्श मानकर ऐसे ही शुरुआत की थी ("देवता सच बोलते हैं, इसलिए मनुष्यों को भी सच बोलना चाहिए"); परन्तु उन्होंने यह समझ लिया था कि जब वैयक्तिक सत्ता को एक आचार-संहिता के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है तो इसको अच्छी प्रकार से समझा जाता है। इसलिए उन्होंने उनकी बातों की श्रृंखला से प्रारम्भ किया। इससे नैतिकता की उद्घोषित सत्ता को अत्यधिक बल प्राप्त हुआ, "ब्रह्म ने कहा", "जरथ्रुष्ट ने ऐसा बतलाया", बुद्ध एवं ईसा के तर्क यही बतलाते हैं। इससे पहले हिब्रू कुलपिता मोसेज की पूर्ववर्ती गुटिकाओं पर येवाह के शब्द अंकित थे और वाद में मोहम्मद के वैयक्तिक कथन एवं दिव्य इच्छा के दूसरे कथन भी इसी कोटि में आते हैं। यहाँ पर ईसाई धर्म को भूमध्यसागरीय धर्मों के ऊपर एक बड़ा भारी लाभ हुआ है। ये धर्म ऐसे न्यायिक कथनों को अपील नहीं कर सकते थे। इसके अतिरिक्त वास्तव में वहाँ कुछ विशिष्ट सन्दर्भों को औपचारिक आप्त पुरुषों को सौंप दिया गया था। परन्तु इन धर्मों में भारतवर्ष की मनु की आचार-संहिता एवं जूडा के मोसेज की आचार-संहिता के समान वहाँ कोई दिव्य आचार-संहिता थी ही नहीं। वहाँ कोई ऐसी आचार-संहिता हो ही नहीं सकती थी क्योंकि भूमध्यसागर के दिव्य पुरुष नैतिक उन्नति में पुरुषों से पीछे रह गए थे और वे आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक के रूप में कार्य करने की स्थिति में नहीं थे। यूनान एवं रोम की दार्शनिक नैतिक आचार-संहिता का आधार अधिकांश रूप में मनुष्य स्वयं ही था।[६] समझदार लोग भला रहने की

६. इस आम धारणा के विरुद्ध यहाँ एक विवाद करना आवश्यक है कि यूनानी नैतिकता का कोई धार्मिक आधार नहीं था। वहाँ कोई उद्घाटित आचार-संहिता नहीं थी परन्तु होमर से लेकर परवर्ती काल में नैतिकता कमोबेश रूप में धर्म से सम्बन्धित थी। सत्य, दया (माता-पिता के प्रति) आतिथ्य, भिक्षुक के प्रति आदर—ये सभी होमरकालीन गुण थे। दिव्य शक्तियाँ इन पर ध्यान रखती थीं। हेसोयाद में भाग्य (देवता) मनुष्यों को बुरे कर्मों के लिए दण्डित करता है। देवता आलस्य से घृणा करते हैं। जुएस् की पुत्री न्याय धृष्टता का विरोध करती है। मनुष्यों की नैतिकता पर ध्यान रखने के

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मानसिक जिम्मेदारी मानते थे क्योंकि मनुष्यों को वहाँ से प्रसन्नता मिलती थी जबकि अन्य जनता के नैतिक आचरण का आधार एक ह्रासोन्मुख विश्वास था कि देवता पापियों को सजा देंगे। दिव्य आदेश के उल्लंघन की अपेक्षा पाप स्वयं अपने आप में आत्म संयम का अभाव बन गया था। यह एक ऐसा अभाव था जो दूसरों के स्वाभाविक अधिकारों का अतिक्रमण करता था। न्यायिक रूप में नैतिकता का भाव व्यावहारिक रूप से एक बड़ी भारी पहल थी क्योंकि यह सीधी-सादी नैतिकता के मौलिक सिद्धान्तों की स्पष्ट एवं तर्कसंगत तरीके से स्थापना करता था। आप ऐसा करेंगे तथा "आप नहीं करेंगे" इन विचारों ने भारतीयों एवं ईसाई लोगों के दूसरे मापदण्डों को उखाड़ फेंका, वैसे ही चीन में कानफ्यूशियस के शब्द नैतिक नियम बन गए। परन्तु बाद के सन्दर्भ में, हालांकि कानफ्यूशियस अन्ततोगत्वा एक आधिकारिक बन गया था, वह एक पूजनीय परम्परा के कारण ऐसा बन गया था और दोनों ही ने, उसने एवं लोत्से ने दिव्य प्रेरणा की अपेक्षा प्रकृति को अपनी अपील की; "नम्र बनो, क्योंकि नदियाँ भी मेरी ओर बहती हैं, वे अपने आपको उन्नत नहीं बनातीं। उदार बनो, काटने वाले आदमी को भी वृक्ष छाया देता है। प्रकृति दूसरे की विपत्ति में शोक करने की शिक्षा देती है; कोई भी आदमी बिना दु:ख के मरे हुए बच्चे को देख नहीं सकता। इसलिए प्रकृति दयालु है; अत: दयालुता भलाई का हिस्सा है।" कुछ ऐसी ही चीजें हैं। ये दो बातें इतनी सुदूरगामी नहीं हैं या इतनी गम्भीर नहीं हैं, जितनी "परमपिता परमात्मा ने ऐसा बतलाया है।" तब पश्चिम में इस प्रकार वहाँ एक नई नैतिक शक्ति गिरिजाघर के रूप में आविर्भूत हुई। यह शक्ति इतनी आधिकारिक बन गयी कि इसमें राज्य के अन्तर्गत एक नए राज्य को पैदा कर दिया। एक ऐसा सम्प्रदाय बन गया जो नागरिक सत्ता के अन्तर्गत रहने की अपेक्षा कुछ ऊँचे नियमों के अन्तर्गत रहने की प्रतिज्ञा करता था। इस राज्य ने क्रमश: पाप की नई भावनाओं को धारण करने वाली आचार-संहिता को पैदा किया। धार्मिक नियमों में क्षन्तव्य पापों के लिए अपराधों एवं उचित तपश्चरणों का विधान बनाया। साथ-साथ यह

लिए जुएस् के पास तीस हजार पर्यवेक्षक हैं। "पवित्र विचार ही दया है" एस्क्लिपिओस् के चैत्य पर यह सूक्ति अंकित थी। यूनानी कवि पिण्डर के लिए सत्य एवं दया जुएस् के नाटकीय लक्षण थे। पाइथेगोरस तथा आरफिक के लिए संन्यास रूह को पवित्र करने के लिए बुराई के दमन का एक साधन था। संन्यास दिव्य (तत्त्व) से मिलने का एक साधन भी था। परन्तु जैसे-जैसे इसमें श्रद्धा घटती गयी, नैतिकता का आधार देवों से हटकर मानवों पर पहुँच गया। ऐसा कोई परम्परागत नैतिक नियम नहीं था जो कानून द्वारा अभिव्यक्त होता था या दिव्य उदाहरणों द्वारा अभिप्रेत था।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नियम कर्मकाण्ड, उत्सवों एवं व्रतों (पाप के लिए) का नियमन भी करता था तथा ये सब दिव्य परम्परा की कल्पना के माध्यम से सर्वोच्च सत्ता को धारण करते हुए इसकी सीमा एवं कथनों के अन्तर्गत आते थे। नैतिक आचरण एवं दैनन्दिन रीति-रिवाज मठों के नियमों द्वारा नियमित होते थे परन्तु वे ज्ञान तथा वैदुष्य पर आधारित नहीं थे अपितु ये विश्वास पर ही आधारित थे। तर्क सरणी के विरुद्ध आचरण को भी धार्मिक जिम्मेदारी के रूप में स्वीकार किया जाता था। ईश्वर की इच्छा मानव वाक्यों के माध्यम से अपने आपको अभिव्यक्त करती थी और यह अभिव्यक्ति निर्णायक ही होती थी। केवल प्रश्न यह था कि क्या नियम बतलाने वाली मानव सत्ता ईश्वर के आधार पर बोलने में सक्षम थी (एक बड़ी समस्या जब दो पुरोहित एक दूसरे को धिक्कार रहे हों)। प्रश्न यह भी नहीं था कि जब मनुष्य को एक सत्ता के रूप में स्वीकार कर लिया गया है तो उसका निर्णय मान्य है। ऐसे विश्वास में श्रद्धा उस सुरक्षात्मक विश्वास का एक अंग था। ईश्वर की कृपा से यह सुरक्षात्मक विश्वास मानवहित से भी ऊँचा स्थान प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार की नैतिकता की स्थापना करने में संस्थापक का विश्वास एवं आचरण निस्सन्देह अतुलनीय मूल्य के होते थे परन्तु विश्वास की नैतिकता के रूप में इसकी स्थापना प्राचीन जेविश आचार-संहिता के अकाट्य आधार पर पहले ही की जा चुकी थी। ईसाई मत एवं इसके पूर्ववर्ती मत में एक अन्तर था। नैतिक विशुद्धता को ग्रहण करके ईसाई धर्म ने कर्मकाण्डीय पवित्रता का परित्याग कर दिया था। आध्यात्मिक धर्म से मिलकर इसने कभी-कभी एक ऐसा आधार ग्रहण कर लिया जो धार्मिक नियम के बिलकुल विरोध में था। इस प्रकार एक नई आचार-संहिता उद्भूत हुई, क्योंकि कुछ व्यक्तियों ने आध्यात्मिक जीवन पर रहस्यात्मक ढंग से अधिक बल दिया था। भारतवर्ष में भी वैसा ही विकास हुआ। सबसे पहले प्रेरित[७] एवं कठोर आचार-संहिता को धर्म पर आरोपित किया गया और इसका कर्म-काण्ड घिसा-पिटा सा बन गया। इस प्रकार यज्ञीय एवं कर्मकाण्डीय पवित्रता का विचार इस विचार में विलीन हो गया कि आत्म-यज्ञ के अतिरिक्त सभी यज्ञ व्यर्थ हैं। यह एक पवित्र हृदय का यज्ञ है। अन्त में दोनों ही सम्प्रदायों में प्रचण्ड रहस्यवाद एवं दिव्य समागम के माध्यम से कभी-कभी अपने भक्तों को इस आध्यात्मिक रवैये द्वारा स्वेच्छाचारवाद के कीचड़ में डाल दिया गया। उदाहरण के लिए वहाँ परशिया, यूरोप तथा भारत में तथा अन्यत्र नैतिक सिद्धान्तों के होने

---

७. वैदिक युग में आत्म-पर्यवेक्षण से ही प्रेरणा उद्भूत होती थी। ऋषि जिन शब्दों को बोलता था, वह उनका "दर्शन" करता था। बाद में श्रुति को मुख के माध्यम से आगे सम्प्रेषित किया जाता था। एक सर्वोच्च आध्यात्मिक शक्ति या ऋषि द्वारा नियोजित साधु ही इस श्रुति को बतलाता था।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

के बावजूद भी ऐसी स्थिति पैदा हो गयी है। फिर क्योंकि रहस्यवादियों ने अपने आपको प्रखर चिन्तक सिद्ध कर दिया है, यह स्पष्ट ही है कि शृंगारिक रहस्यवाद की सड़ी हुई कीचड़ उस मलिनता से पैदा होती है जो इन्द्रियों से पैदा होती है, जिसका आध्यात्मिक विषयों में कोई भी स्थान नहीं है। इसके अतिरिक्त यह जानना आनन्दप्रद है कि विभिन्न सम्प्रदायों एवं दर्शनों से उत्पन्न होने के कारण नैतिक रहस्यवाद अपनी बारीकियों के लिए इस विचार या उस विचार पर आश्रित नहीं है (एक्हार्ड के समान ही प्लोटिनस भी एक महान् रहस्यवादी था)। इसका वहाँ ही निर्माण होता है जहाँ मनुष्य यह कल्पना करता है कि मनुष्य दिव्य के साथ समागम कर सकता है, शारीरिक या आध्यात्मिक रूप में, परन्तु सभी विकसित रहस्यावादी पद्धतियाँ आध्यात्मिक सन्दर्भ में ही समागम की कल्पना करती हैं। शृंगारिक रहस्यवाद भी सैद्धान्तिक रूप से यह मानता है कि शारीरिक भी केवल आध्यत्मिक का प्रतीक ही है।

ईसाई धर्म की नई नैतिकता ईश्वर की इच्छा पर आधारित थी (जैसा जैविश धर्म में हुआ है) परन्तु जैसा ईसा मसीह के केवल दस धर्मोपदेशों में अभिव्यक्त नहीं हुआ है, परन्तु उनके अतिरिक्त पूर्ववर्ती नैतिकता में एवं जीसिस क्राइस्ट के उदाहरण में अभिव्यक्त हुआ है। इसने पहले ईश्वर के पितृत्व एवं मानव के बन्धुत्व के विचार पर बल दिया तथा उसको विस्तृत बनाया था (जैविश भी)। आध्यात्मिक रूप से सजातीय लोगों के लिए यह संसार एक सांझी सम्पत्ति बन गया। यह विचार भी कोई नया नहीं था। "शिव के सांनिध्य में कोई जाति नहीं है, क्योंकि हम सब उसके बच्चे हैं।" एक भारतीय ने कहा, उसने यह भी कहा, "सारा संसार भी मेरा देश है।" यूनानी ने कहा, "वह हमारा पिता है, हम सब उसके बच्चे हैं।" हालाँकि वास्तव में केवल बौद्धों एवं ईसाइयों ने ही इस विस्तृत दृष्टिकोण पर कार्य भी किया है। आध्यात्मिक बन्धुत्व की भावना को स्वीकार करके दोनों का यही विचार था कि नैतिकता में दयालुता या प्रेम एक आवश्यक तत्त्व था। न यूनानी और न ही भारतीय दर्शन ने इसको समझा है। अधिक से अधिक भारतीय दार्शनिक ने परोपकारिता की संस्तुति की, जो वास्तव में "अहिंसा" के सिद्धान्त से कुछ ही ज्यादा थी, यद्यपि इसने कभी-कभी ही यह आदेश अभिव्यक्त किया कि दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो, जैसा तुम चाहते और चोट लगने पर पुनः चोट मत मारो। बौद्ध धर्म एव ईसाई धर्म के बीच पश्चिम में इस प्रकार एक अधिक सक्रिय एवं जबरदस्त प्रेम का उपदेश दिया गया है। बुद्ध का मानव जाति के लिए जो 'प्रेम' है उन्होंने इसकी शिक्षा दी है, यह एक प्रकार की सहनशील दया या शुभेच्छा थी। शान्ति की खोज करने के लिए उच्च मस्तिष्क वाले लोगों को इसको पैदा करना चाहिए। औपचारिक रूप से यह अब उपदेश दिया गया कि उपेक्षा एवं परम औदासीन्य के कारण आध्यात्मिक उन्नति

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

की उच्च अवस्था में ऐसी शुभेच्छा को अलग रख दिया जाए। हालाँकि गिरिजाघर की बन्धुत्व की भावना के घनिष्ठ बन्धन से पूर्व एवं पश्चिम दोनों स्थानों में प्रेम के महत्त्व को बढ़ावा मिला है, क्योंकि विशिष्ट रूप से दोनों ही धर्मों में, बुद्ध या ईसा के प्रति अभिव्यक्त की गयी प्रेम की व्याख्या मनुष्य के प्रेम के रूप में की गयी है तथा बुद्ध स्वयं मानव-प्रेम के लिए दिव्य आत्म-बलिदान के उदाहरण बन गए हैं। इस प्रकार संस्तुत यह भाव दार्शनिक के द्वारा दिए गए भाव को भी अतिक्रान्त कर गया है। स्टोइक नामक दार्शनिक द्वारा प्रकृति के दावों की व्याख्या "आपसी दावों के रूप में की गयी है, जिसके अनुसार उदारता को एक दिव्य सेवा का रूप समझा गया है। मनुष्य के प्रति प्रेम एक धार्मिक कर्तव्य था। दया एक पुण्य का रूप था।" बीमार एवं असहाय लोगों के लिए अधिक आदर, गरीबों के लिए अधिक अनुकम्पा, अत्याचार के प्रति अरुचि (उदाहरण के लिए वाक्पटुता क्रीड़ाओं के लिए आपत्ति), पहले से सहन की गयी कुछ बुराइयों का दमन या जिनको बुराई न समझा गया हो (जैसे शिशुओं को फेंका जाना) शालीनता की प्रशंसा—ये सभी ताओवाद के आधार पर ग्रहण नहीं किए गए थे, अपितु पश्चिम में ये सभी ईसा की नकल के कारण नए धर्म के कुछ नैतिक परिणाम थे।[८] पूर्व में, अधिक भद्रता एव दयालुता, यज्ञीय क्रूरता का दमन, इन्द्रिय निग्रह करने वाली नैतिक आचार-संहिता, वंश-सम्बन्धी विशुद्धि एवं वैयक्तिक त्याग—इन सबको ब्राह्मणवाद से चली आ रही परम्परा में दैनन्दिन नैतिक आचार-संहिता से जोड़ा गया है। ब्राह्मणवाद ने हत्या के पाप, चोरी, व्यभिचार, लालच, ईर्ष्या एवं ऐसे स्पष्ट दोषों पर काफी समय से बल दिया गया था। ब्राह्मणों ने कर्मकाण्ड के समय में ऋग्वेद की इस प्रकार की सादी नैतिकता को धर्म से पृथक् कर दिया था। उस समय पुरोहित लोग सड़ियल एवं घोर रूप से अनैतिक थे, जैसी अब कल्पना भी की जा सकती है। बुद्ध की सबसे बड़ी व्यावहारिक सेवा धर्म को नैतिक बनाने में ही थी। हिंसा न करना, मादक पदार्थों का सेवन न करना, झूठ नहीं बोलना, चोरी नहीं करना, अपवित्र न होना,—सर्वजन साधारण व्यक्ति के लिए ऐसे नियम विद्यमान थे; परन्तु उनके आदेशों के रूप में इन वर्जनाओं को सख्ती से पालन किया गया और इन्हें नैतिक आचार संहिता की स्थापना के लिए आवश्यक मानकर इनको भी ब्राह्मण धर्म में ले जाया गया। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि ब्राह्मणवाद के दश आदेश एवं बौद्ध धर्म के दश आदेश इन प्राचीन नियमों के अभिवर्द्धन ही हैं। ब्राह्मणों के ये नियम दशगुण धर्म में सन्निविष्ट थे; इसका आदेश है: सन्तोष, धैर्य, आत्म-संयम, ईमानदारी, पवित्रता, इन्द्रिय निग्रह, भक्ति

---

८. हेनरी सिजविक, आउटलाइन्स आफ् दि हिस्ट्री आफ् एथिक्स (लन्दन, १८८७)।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

(धर्म की) ज्ञान, सत्य, क्रोध से मुक्ति (जिसका आशय है स्पष्ट प्रकार के गलत कार्यों के परहेज अर्थात् अहिंसा, सत्य, ईमानदारी, पवित्रता, इन्द्रिय-निग्रह, मनुस्मृति (६.६२, १०.६३)। बौद्धों के दश आदेश हैं : अहिंसा, चोरी न करना, विषयी न बनना, झूठ न बोलना, कठोर रूप में नहीं बोलना,[६] द्वेषपूर्ण रूप से नहीं बोलना, औदासीन्य रूप से नहीं बोलना, लालची न होना, घृणा न करना, धर्म-भ्रष्ट न होना। सामान्य ब्राह्मण नियम था, "जो तुमको अरुचिकर है, वैसा दूसरों के लिए मत करो" (याज्ञ, धर्म ३.६५)।

अधिकांश नैतिक नियमावलियों में भारतीय पक्ष को लगातार इतना उपेक्षित किया गया है कि ईसाई नैतिकता एवं मूढ नैतिकता के अन्तर पर अधिक बल दिया गया है। इस प्रकार, आज्ञापालन, धैर्य, शालीनता, पवित्रता, औदार्य, संसार से विरक्ति, और ईश्वर के प्रति कर्तव्य (कट्टरपन को शामिल कर)—ये सभी "ईसाई आदेश आचार-संहिता के नये विशिष्ट लक्षण" प्रज्ञा, संयम, साहस एवं न्याय में हैं।[१०] यहाँ यूनानी एवं रोमन आदेश के विरोध को सम्भवतः अंशतः उचित ठहराया जा सकता है (परन्तु संयम पूर्णतया अन्ध विश्वासी नहीं है), फिर भी ये अधिकांश लक्षण ईसा-पूर्व धर्मों में पाए जाते हैं। यहाँ यह भी कह देना चाहिए कि गिरिजाघर के नियम के आठ (अन्ततः सात) "भयंकर पाप" अर्थात् अहंकार, लालच, क्रोध, पेटूपन, अपवित्रता, ईर्ष्या, झूठी शान (या अन्धकार) और शान्त उपेक्षा (या नैतिक शैथिल्य की अवस्था)—इन सभी की चर्चा बौद्ध नियमावलियों में पाप के रूप में की गयी है। इनके लिए तपस्या की आवश्यकता है।

अन्ततोगत्वा अमरीकी भारतीयों ने भी एक दिव्य आचार-संहिता को विकसित किया है जो यह प्रकट करती है कि व्यापक अर्थ में व्रात्यवाद सभ्यता या नैतिक विषयों में ईसाई मत से पीछे नहीं है। नात्सेज्ट भारतीयों के सूर्य देवता द्वारा प्रदर्शित नियम इस प्रकार हैं : "आत्मसुरक्षा के अतिरिक्त हत्या न करो, चोरी मत करो, मत्त मत बनो, झूठ मत बोलो, लालची मत बनो, उदार एवं सत्कारशील बनो।"

---

९. चीन में फान्ग वाग्न चिंग ने "कठोरतापूर्वक बोलो" इसके स्थान पर "मादक द्रव्यों का व्यापार मत करो।" इसको स्थानापन्न कर दिया है, "मूर्खतापूर्वक बोलो" (वेबकूफी की बात) इसके स्थान पर "गर्वोक्ति" को रखा है, "धर्म-भ्रष्ट बनो" इसके स्थान पर "गाली" को रखा है। "इन्द्रिय-निग्रह" तथा "आत्म संयम" में अन्तर किया गया है। इन्द्रिय-निग्रह को शारीरिक निग्रह की अपेक्षा मानसिक निग्रह एवं विनम्रता से अभिव्यक्त किया गया है।

१०. सीजविक्, वही, पृ० १२३, १४१

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नैतिक उत्पत्ति की आधुनिक व्याख्याएँ टामस एक्यूनस की मान्यता के साथ प्रारम्भ हुई कि नियम ईश्वर के शाश्वत तर्क को व्यक्त करता है, चाहे नियम प्राकृतिक हो या मानव। ईश्वर मनुष्य में सामान्य सिद्धान्तों को स्थापित करता है और एक अन्तःकरण[11], जो इनको मानने के लिए उद्यत होता है, वह इसको ईश्वरीय ज्ञान से पूरा करता है। तब इच्छा एवं तर्क का प्रश्न पैदा हुआ। तब यह कहा गया कि दैवी इच्छा निरंकुश है। वह तर्क पर आश्रित नहीं है। फिर, कुछ लोगों ने नैतिकता के कानूनी रूप को ईश्वर की एक व्यापक दृष्टि के अन्तर्गत बना दिया। पाप ईश्वर के प्रति अपमान के अलावा कुछ नहीं है जो चेतन अनुज्ञा द्वारा दोषपूर्ण व्यवहार के माध्यम से प्रकट किया जाता है। उचित कार्य करने का उद्देश्य वास्तव में सही है हालाँकि यह गलत मालूम पड़ सकता है। बाहर के काम उपेक्षा हैं। बोन वेन्चर (इतालवी विद्वान् सन्त) के अनुसार एक रहस्यवादी के लिए रूह के ईश्वर के साथ मिलने का स्वाभाविक परिणाम ही नैतिक आचरण है। इन आध्यात्मिक दृष्टिकोणों से इतिहासकार का कोई विरोध नहीं है।[12]

---

११. अन्तरात्मा को इस प्रकार समझा गया है कि जैसे मानो यह एक सत्ता हो और इसकी अपनी कोई आवाज हो। यह भारतीय "मनुष्य के अन्तर्गत मनुष्य" के समान है जो गलत काम का अनुमोदन नहीं करता। प्राचीन यूनानी या बाईबल सम्बन्धी साहित्य में इस विचार का कोई संकेत नहीं मिलता है (ओल्ड टेस्टामेण्ट में या गोस्पल में यह शब्द नहीं मिलता है) यद्यपि रूह के जरथुस्ट्र सम्बन्धी विश्लेषण में इसे देखा जा सकता है। ऋत की चैतन्य अवस्था की अर्ध मानवीकृत स्थिति से यह व्युत्पन्न हुआ है। यह शब्द पैगम्बरी भी नहीं है और न ही यह सुकरात के राक्षस के समान व्यवहारिक ही है। "सभी लोगों में एक दिव्य अन्तरात्मा होती है", मिनेण्डर का यह कथन है। प्राचीन बौद्ध, जो ईश्वर को नकारते हैं, मित्र देवताओं को अपनाते हैं। वे लोग उन देवताओं को फरिश्तों के समान एक धार्मिक आत्माओं के रूप में परिवर्तित कर देते हैं। ये देवता एक अन्तरात्मा का काम करते हैं। वे "देवता हैं जो हमारे मानव मन को जानते हैं।" हम अपने व्यावहारिक आचरण के मामलों में आधिकारिक रूप में उनसे अनौपचारिक तौर पर अपील करते हैं।

१२. ये यूनानी विचारधारा के ईसाई रूपान्तरण हैं। ये रोमन कानून तथा बोन-वेन्चर के रहस्यवाद पर आश्रित हैं। इसकी सधे हुए मन की छः अवस्थाएँ योग की प्रक्रियाओं की याद दिलाती हैं। इसलिए अपनी तर्क सम्बन्धी अपील में लॉक का नैतिकता का आधार स्टोइक सम्बन्धी गुण ही थे।

देखिए सिजविक, वही।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ईश्वर एवं रूह की सम्भव सत्ता को स्वीकार करते हुए कोई यह कह सकता है कि सभी ऐतिहासिक विकास केवल दिव्य रूप से बोये गए एक बीच का प्रस्फुटन ही ही हैं या मनुष्य का नैतिक विकास स्वयं अपने आप में एक दिव्य रूप से प्रस्फुटन एवं विकास ही है। परन्तु इतिहासकार को वास्तव में रूह एवं ईश्वर की सत्ता से कोई सरोकार नहीं है, उसका केवल इससे सम्बन्ध है कि मनुष्य के पास रूह एवं ईश्वर है।

दर्शन ने नैतिकता की अतिप्राकृतिक व्यवस्था का परित्याग करना प्रारम्भ किया, तब ग्रोटियस ने अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्यों पर यह सिद्धान्त लागू किया कि प्राकृतिक नियम ही सही तर्क का आदेश है, जो आपसी हिंसा को रोकता है और वह पैतृक एवं वैवाहिक सत्ता प्रदान करता है। कोई इस नियम का क्यों पालन करे, यह एक दूसरा ही प्रश्न था, जिसका होब्स ने यह कह कर उत्तर दिया कि मनुष्य अपने आपको तथा अपनी निजी खुशी को सुरक्षित रखने के लिए मर्त्य है। सभी जिम्नेदारियों का निर्णय सरकार करती है। नैतिकता सरकार पर आश्रित होती है, न कि ईश्वर की इच्छा पर (जैसा डन्स स्काउट्स की धारणा थी)। अच्छाई एवं बुराई के अन्तर में कोई वस्तुनिष्ठ यथार्थ नहीं है। इसके विरोध में दृढ़तापूर्वक यह कहा गया है कि वैशिष्ट्य का ज्ञान दिव्य तर्क से आता है जो नैतिक मापदण्डों को प्रामाणिकता प्रदान करता है। १६७२ में यह सिद्धान्त स्थापित किया गया (कंबरलैण्ड की पुस्तक दे० लेजिवस नेचुरे) कि "सभी की सांझी भलाई ही सर्वोच्च मापदण्ड है।"[१३] इसके अधीन सभी अच्छे गुणों का निर्णय किया जाना है। सांझी भलाई ही सर्वोच्च नियम है। यह लॉक के दृष्टि-कोण से भी मेल खाता है कि मनुष्य के लिए एक विचारशील प्राणी के रूप में नैतिक नियम अनिवार्य हैं।

नैतिकता की परवर्ती व्याख्या को उपयोगितावादी के रूप में नकारने के

---

१३. भारतीय काव्य किसी साधारण व्यक्ति की बात किए बिना एक विशिष्ट सन्दर्भ के विषय में कहता है कि "अनेक लोगों के बृहत्तर आनन्द" को ध्यान में रखकर आचार का निर्णय किया जाना चाहिए। भारतीय न्यायविद चार पाँव वाले "ऋत के बैल" के रूपक को सही मानता है। चार पाँव ये हैं— उद्घाटन, परम्परा, गुणों की एकरूपता एवं अन्तरात्मा("मन के अन्दर वाले मानव की सन्तुष्टि")। पहला सर्वोच्च है परन्तु अपूर्ण है। इसके अभावों को परम्परा, गुण तथा अन्तरात्मा से पूरा किया जाता है (जिनका आचार परम्परा से साधु रहा है।) इनका तात्पर्य उन दिव्य नियमों से है जिनका ऋषियों ने दर्शन किया है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

लिए यह संकेतित किया जा सकता है कि आचार्य ग्रीन[१४] आज अधिकारों एवं औचित्य के आधार रूप में व्यक्ति को सामर्थ्य प्रदान करते हैं। उस सामर्थ्य के अनुसार व्यक्ति अपनी भलाई तथा दूसरों की भलाई की कल्पना करता है। अधिकारों का निर्णय उसके विचार से होता है। इस प्रकार नैतिकता धर्म से बिल्कुल पृथक् हो जाती है।

भारतवर्ष में कर्म के प्रति सामान्य दृष्टिकोण आचार-संहिता की अपेक्षा नैतिकता का प्रबल उत्तेजक है। कर्म का सामान्य दृष्टिकोण यह है कि ब्रह्माण्ड के माध्यम से कार्य करने वाला यह एक प्राकृतिक नियम है जिसके द्वारा प्रत्येक कर्म का दूसरे जीवन में इसका प्रभाव होता है। कोई व्यक्ति अगले जीवन में इस जीवन के मानसिक एवं शारीरिक क्रिया-सलापों के अनुरूप ही दुःखी होता है या प्रसन्न होता है परन्तु व्यक्ति तर्कसंगत एवं आवश्यक रूप से कष्ट का अनुभव करता है। देवताओं के द्वारा दण्ड नहीं दिया जाता है (नरक के सिद्धान्त को कर्म के सिद्धान्त के साथ मिला मिला दिया गया था, वह दूसरा अंग नहीं है)। इसे कारण एवं कार्य का अन्धा एवं मशीनी नियम बतलाया गया है। परन्तु यह विचारणीय है कि यह कर्म का नियम नैतिकता के प्रति अन्धा नहीं है। यह मशीनी ढंग से कार्य करता है, परन्तु प्रभाव में यह सत्ता को नियमन करने वाला नैतिक नियम ही है। यह नैतिकता का पक्ष लेता है तथा अनैतिकता को हतोत्साहित करता है। संक्षेप में कर्म एक सर्व-व्यापी नैतिक शक्ति है जो ब्रह्माण्ड का नियमन करती है। इसके विषय में सबसे अधिक विशिष्ट बात यह है कि हमेशा ही एक निर्वैक्तिक शक्ति के रूप में इसकी कल्पना की जाती है। इसके सभी क्रिया-कलाप नैतिक प्रगति की सहायता के लिए ही होते हैं। "हम अपने-आप में कोई शक्ति नहीं हैं, जो औचित्य को उत्पन्न करते हैं", यह स्वाभाविक भलाई की कीमत पर ही नैतिक भलाई को धारण करता है। दिव्य सत्ता को अपील किए बिना पहली बार यह कर्तव्य एवं आत्म-प्रेम के अन्तर को स्पष्ट करता है।

संसार को सुधारना एवं इसके आध्यात्मिक तत्त्वों को पूर्णता की ओर लाना ही कर्म की प्रवृत्ति है। गलत को दण्ड देकर एवं उचित को पुरस्कार प्रदान करके यह गुण को प्रसन्नता का समवर्ती मानकर इसके साथ व्यवहार करता है। बिशप बटलर की उक्ति "इस संसार में गुण की आनन्दमयी प्रकृति" का प्रयोग कर्म के अन्तर्वर्ती भाव को उदाहृत करने के लिए किया जा सकता है। दूसरी ओर कर्म सिद्धान्त के नैतिक प्रभाव में एक कमी यह है कि यह मनुष्य की दयालुता-पूर्ण रुचि को उसके साथियों में अनुशासित करता है। व्यावहारिक रूप से यह

---

१४. टी० एच० ग्रीन, लेक्चेरस्ज आन दि प्रिंसिपलस्ज आफ् पालिटिकेल आबलि-गेशन, १९१७।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विचार कि अपंग या कोई अभागा मानव प्राणी केवल इसीलिए दुःख भोग रहा है, क्योंकि अपनी बुरी अवस्था के माध्यम से वह अपने पूर्व रूप के किसी अपराध या दोष के कारण प्रायश्चित करता है—कृत्रिम पापी की सहायता करने या उसको आराम देने के लिए एक उपेक्षा एवं अनिच्छा के भाव को पैदा करता है। कर्म एक प्रकार का देववाद बनने में प्रवण होता है, परन्तु भारतीय मन ने भाग्य को सिद्धान्त रूप में स्वीकार करते हुए भी इसके सहज फल को तिरस्कृत कर दिया है। "जो होना है वह होगा, आलसी कायर कहता है। असमर्थ के इस ज्ञान का परित्याग करो। भाग्य आपकी अपनी शक्ति में है। एक बहादुर आदमी अपने भाग्य का स्वयं निर्माण करता है।"

कर्म हालांकि बौद्ध धर्म में एक निराशावादी पद्धति की अभिव्यक्ति करता है, यह घोषणा करता है कि सभी सांसारिक क्रिया-कलाप और अधिक दुःख को पैदा करते हैं। कर्म भी उसी नैतिकता को पैदा करता है जिसे आशावाद पैदा करता है। यह आजकल के दर्शन की निराशावादी पद्धतियों के सन्दर्भ में भी सही है। अहंकार का निषेध नैतिकता को सार रूप में प्रस्तुत करता है। व्यक्ति को प्रेम एवं सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिए। वे स्वयं अपने आप में एक ऐसे ही निषेध हैं, यह शोपेनहावर का कहना है। वे इसी कारण से ब्रह्मचर्य की भी संस्तुति करते हैं तथा मानव जाति को अनुशासित करने के लिए इसके प्रभाव के लिए भी ब्रह्मचर्य की संस्तुति करते हैं। अचेतन इच्छा को निष्फल बनाने के लिए धार्मिक नैतिकता द्वारा इसके कट्टर अनुयायियों के लिए स्थित किए गए मापदण्ड का अनुसरण करना चाहिए। यह तथ्य कि सैद्धान्तिक रूप से नैतिकता, धार्मिक विश्वासों से निरपेक्ष रूप में वही है, यह दर्शाता है कि उनके बीच का संयोग बल्कि आकस्मिक है। जैसे नैतिकता प्रारम्भ होती है, वैसे ही यह समाप्त हो जाती है। धर्म का विषय होने की अपेक्षा यह संस्कृति एवं सभ्यता का विषय अधिक है, हालांकि धर्म प्रायः इसका सबसे शक्तिशाली सहायक रहा है (जैसे यह इसका सबसे बड़ा शत्रु हो सकता है) और जब इसे सही रूप में समझा जाता है तो यह आवश्यक रूप से नैतिक बन जाता है।

कर्मकाण्ड शीर्षक के अन्तर्गत यह पहले ही संकेत किया जा चुका है कि विधि तथा कर्मकाण्ड धर्म की आत्मा के लिए घातक हो सकते हैं। परन्तु यह नैतिकता की हत्या करने के समान है। नैतिकता अधिकांश रूप में धार्मिक आधार पर आश्रित होती है। लेखक ने एक बार एक बूढ़ी औरत को माला के मनके चलाते हुए देखा, तो एक धनाढ्य विदेशी महिला उसके पास झुकने लगी। प्रार्थना को बिना रोके ही उस बूढ़ी औरत ने उस स्त्री का रूमाल निकाल लिया। स्पष्ट रूप से औरत वहाँ चोरी करने के लिए नहीं बैठी थी। वह काफी धर्मात्मा दिखलाई पड़ रही थी और अपने फरेब के बाद ज्यादा उत्साह के साथ अपनी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भक्ति को और तेज कर दिया। सम्भवत: वह इस समय कृतज्ञता का अनुभव कर रही थी। यह एक संयोग ही था कि रूमाल दिखलाई पड़ गया और उसने मौके का लाभ उठाया। परन्तु स्पष्ट रूप से उसकी भक्ति मात्र एक कर्मकाण्ड था। लोग कहते हैं कि सिसली (इटली) का निवासी एक हाथ में एक पवित्र (धार्मिक) अवशेष को पकड़े हुए दूसरे हाथ से छुरा घोंप देगा, उसका धर्म एक विधि है। फिर ठग धार्मिक कर्तव्य मानकर गला घोंट देते हैं। धर्म ने प्राय: इस प्रकार नैतिकता का विरोध किया है। लाखों लोग में मर चुके हैं। भारतवर्ष में व्यभिचार धार्मिक विश्वास के साथ स्वीकार किया जाता रहा है और दुर्भाग्यवश आज भी किया जाता है। धर्म ने सूक्ष्म रूप से भी नैतिकता को चोट पहुँचाई है। इसके द्वारा स्वयं नियुक्त किए गए मित्रों या मंत्रियों ने घिसे-पिटे नैतिक नियमों पर बल दिया है। उन्होंने मनुष्यों को धार्मिक नियम के अनुकूल बनाने के दण्डादेश में उनको भून दिया है (रक्त बहाने के विरुद्ध) और नैतिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों को जलाकर उन्होंने स्वतन्त्र विचारों को दबा दिया है (एक नैतिक गतिरोध द्वारा)। ये ग्रन्थ धार्मिक एवं राजनीतिक रूढ़ियों के विरोधी हैं। इस समय स्वच्छन्द प्रेम, जिसका नैतिक प्रभाव स्वतन्त्र विचार के प्रभाव के समान नहीं है, की खुले आम धर्म के नाम पर इसकी वकालत की जाती है। इसका "एक गम्भीर और आध्यात्मिक महत्त्व है, यह ससीम एवं निस्सीम के रहस्मय संयोग का प्रतीक है।"[१५]

इस पर बहुत अधिक कहा जा सकता है परन्तु क्या लाभ? सर्वप्रथम, धर्म की अधिकांश नैतिक कमियाँ सामान्य रूप से किसी भी धर्म में क्रियात्मक नहीं हैं। इसकी छत्रछाया में नर बलि एवं अपराध कभी-कभी ही आश्रय प्राप्त करते हैं।[१६] अधिकांश विकसित सम्प्रदायों में रहस्यवाद आध्यत्मिक बन चुका है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह याद रखना आवश्यक है कि कान्सटेन्स (यूरोप का एक स्थान विशेष) की मन्त्री परिषद्, उदाहरण के लिए हत्या की निन्दा न करके मौन रूप से हत्या को अनुमति प्रदान कर दिया करती थी; परन्तु धार्मिक नियम का सांसारिक आवश्यकताओं के साथ ऐसा समझौता अब भूतकाल का मात्र दस्तावेज है। अंशत: इसकी व्याख्या एक ऐसे युग की अभिव्यक्ति के रूप में भी की जा सकती है जो हमारी अपेक्षा व्यक्ति के प्रति और अधिक उपेक्षा रखती है। धर्म ने जो नैतिकता के क्षेत्र में सेवा की है, इस समय उस अद्भुत सेवा को स्मरण करना अतीव महत्त्वपूर्ण है। यदि यह अभी भी एक दकियानूसी शक्ति है और इस रूप में कट्टरपन्थी में विश्वास करने वाले लोगों के बौद्धिक विकास में यह गतिरोध पैदा करती है, तो यह याद रखना चाहिए कि धार्मिक नैतिकता ही एक नैतिकता है।

१५. दि डान्स आफ शिव, न्यू० या० १९१८
१६. देखिए बेलिऊ, ले० अम्पायर डेस टी० आरस् III, पृ० ३६७

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पिछड़े लोगों के मनों में इसका ही अस्तित्व है। वे उस आम जनता के प्रतिनिधि होते हैं, जो (जनता) बौद्धिक रूप से सामान्यतया एक पीढ़ी पीछे होती है। धर्म अभी भी एक नैतिक शक्ति है और अनेक लोगों के लिए यह ही केवल मात्र एक आधिकारिक नैतिक शक्ति है। युग की नैतिक माँगों के सामने गिरिजाघर विरोध रूप में खड़ा नहीं होता है। यह राजनैतिक औचित्य में भी बाधा नहीं डालता है, बल्कि यह एक आश्चर्यपूर्ण बात थी कि इंगलैण्ड के इतने बड़े विरोधी चुनाव-क्षेत्र और जहाँ धर्म का मुखिया जर्मन लोगों की सहानुभूति रखता हो (यह बिलकुल स्वाभाविक है जब कोई जर्मन लोगों के बड़े भारी समूह पर विचार करता है) वहाँ इस देश में अमेरिका के युद्ध में उन लोगों के मित्र के रूप में प्रवेश करने के लिए धर्म का कोई विरोध न हो, उन लोगों को धर्म से बहुत ही कम आशा थी। यदि फिर उसी धर्म ने आयरलैण्ड की आजादी के लिए कार्य किया है, तो उस आजादी के राजनैतिक विरोधियों ने स्वयं उसे एक उचित उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया है। इस विषय में ऐसा ही पूर्वानुमान लगाया गया था। इन दोनों हाल के विशिष्ट उदाहरणों में धर्म ने एक उच्च नैतिक उद्देश्य का ही समर्थन किया है, चाहे वह उसके अपने निजी लाभ के विरोध में या हक में हो। नैतिकता एवं धर्म के बीच के सम्बन्ध को यदि एक सामान्य दृष्टि से देखा जाए तो यह स्पष्ट है कि वे एक-दूसरे के विरोधी होने की अपेक्षा वे एक-दूसरे का काफी सहयोग करते हैं। उनका संयोग अभी भी, जैसा हमेशा रहा है, काफी लाभप्रद है। भूतकाल में भी, जिसको भूतकाल के रूप में आँका जाना चाहिए, न कि मानो यह कोई प्रकाशमय आधुनिक काल हो, यदि नैतिक दृष्टि से विचार किया जाए तो धर्म अपार भलाई का रहा है, उसने मानवता को आध्यात्मिक बनाया है। इसने कर्तव्य को एक विस्तृत भाव प्रदान किया है। मनुष्य की सहानुभूतियों की वृद्धि करने में इसने अगाध रूप से सहायता की है। इसने समग्र रूप में नैतिकता को एक अमूल्य आधार प्रदान किया है।

सारांश में, यह देखना रुचिकर है कि आशावाद के समान ही निराशावाद की भी वैसी ही नैतिक अभिव्यक्ति होती है। इसलिए मानवता के सामान्य ज्ञान या व्यवसायिक दृष्टि के माध्यम से जान लिया गया है कि धर्म से पृथक् रूप में एक वैदुष्यपूर्ण परोपकारिता का धार्मिक उद्देश्य अभी भी प्रशंसनीय है। बॉय स्काउट की नैतिक आधार-संहिता बिना किसी स्पष्ट धार्मिक आधार के होती है परन्तु यह धार्मिक शिक्षा के अनुकूल होती है। जिस व्यवसायिक सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व रोटरियन द्वारा किया जाता है, उन्होंने अहंकारवादियों का विरोध करने की प्रतिज्ञा ली है। इनका (अहंकारवादियों का) एक ही नारा था, "प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए।" वे इसे अपने नारे के रूप में यह कहकर प्रसन्न होते हैं, "सेवा, आत्मा नहीं।" इस प्रकार वे रोमन शहनशाह मरक्यूइस ओरलूइस की

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सलाह पर वापिस लौट जाते हैं, "क्योंकि तुम स्वयं सामाजिक व्यवस्था के एक पुर्जे हो, इसलिए तुम्हारा प्रत्येक कार्य सामाजिक जीवन का एक पुर्जा होना चाहिए।" इसका यह तात्पर्य है कि व्यक्ति की भलाई को सम्प्रदाय की भलाई पर स्थापित करने में नैतिकता ईश्वर या प्रकृति के उस सिद्धान्त को स्वीकार करती है जिसने व्यक्ति का कबीले के लिए बलिदान किया है, क्योंकि इस बलिदान के बिना सामान्यतः व्यक्ति का भाग्य बहुत बुरा ही होता। सम्प्रदाय पर चोट करना व्यक्ति को नीचा करना है। एक व्यवसायिक संस्थान के लिए बोलते हुए हाल में एक व्यक्ति के शब्दों में, "नौकरों के साथ अनुचित व्यवहार, ग्राहकों की घटिया सेवा करना या उचित तत्परता से बिलों के भुगतान की असफलता—ये झगड़े के असामाजिक कार्य हैं जो सम्प्रदाय के विरोधी हैं" और फिर, "जो लोग उचित एवं जागरूक सहयोग को खोजते हुए अपने आपको उस स्थान पर स्थापित कर देते हैं, भौतिक उपलब्धि की दृष्टि से उनकी अपनी हानि होती है। असंदिग्ध निश्चिन्तता के कारण उनको उस काम से कम ही सन्तोष मिलता है। अपेक्षाकृत दूसरे कार्यों में उनको अधिक सन्तोष मिलता है।"[१७] वक्ता ने व्यक्ति के लाभ एवं सम्प्रदाय के लाभ के सबसे उपयोगी एवं सामान्य तालमेल पर बल दिया क्योंकि यदि परोपकारिता को अति की सीमा तक ले जाया जाए तो यह अपने उद्देश्य में विफल हो जाएगी तथा एक मुख्य उद्देश्य के रूप में व्यक्ति का लाभ एक प्रकार का व्यावसायिक मायोपिया (चौंधापन) बन जाएगा। व्यवसायिक संसार को यह पहचानना चाहिए कि एकता आवश्यक है तथा अपने आपको हानि पहुँचाए बिना व्यक्ति दूसरे को हानि नहीं पहुँचा सकता—यह इस बात का द्योतक है कि मनुष्य का भाईचारे का सिद्धान्त मात्र एक धार्मिक कपोल-कल्पना ही नहीं है।

१७. सर बिलियम स्कूलिंग के एक भाषण से, जून में, १९२१।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अध्याय १६

धर्म एवं दर्शन

आदिम समाज असंख्य वस्तुओं एवं स्थानों से सम्बन्धित असंख्य शक्तियों में विश्वास करने का आदी है। यह उनमें से कुछ से डरता है। यह उनमें से कुछ को मित्र रूप में पहचानता है। उन सभी के पास रहस्यमयी शक्तियां होती हैं। व्यक्ति उनसे घिरा हुआ है तथा संसार उनसे भरा पड़ा है। उनको सताना नहीं चाहिए, क्योंकि कोई यह आसानी से नहीं कर सकता है। कबीला इकट्ठा होकर प्रीतिभोज करता है, नृत्य करता है तथा अपने पूर्वजों को इसमें शामिल होने के लिए निमंत्रण देता है। ऐसे अवसर पर उपस्थित होने में एक सामान्य आह्लाद एवं उल्लास होता है। मृतकों की उपस्थिति में कुछ रहस्यमय वस्तु होती है। कबीला अपने पूर्वजों को सताने की इच्छा के बिन्दु से कहीं आगे बढ़ जाता है, यह उनको सन्तुष्ट करना चाहता है। इसके सदस्य अपने पूर्वजों से तादात्म्य स्थापित करके ऐसा करते हैं। उनकी खाल पहनकर काम में उनकी नकल करते हैं, जैसे मानो उनके पूर्वज आधे पशु हों, जैसी परम्परा बतलाती है। वे पुराने लोगों के समान ही कार्य करते हैं। कबीले को भोजन की आवश्यकता पड़ती है। अधिक भोजन प्राप्त करना एक रहस्यमय कार्य है। भोजन एक सजीव संकल्पनात्मक वस्तु है। शायद भोजन में आने की इच्छा न हो, परन्तु इसको प्रेरित किया जा सकता है। भोजन की अपनी आवश्यक शक्ति आधी निर्दिष्ट होती है। इसकी दूसरी आधी शक्ति को अपने आप को पुनरुत्थान करने के लिए तथा अधिक बनाने के लिए उकसाया जाता है। मानसिक क्षितिज विस्तृत हो जाता है। प्रत्येक बीज की आत्म-शक्ति को बुलाने की अपेक्षा ऐसा किया जाता है कि सभी बीज बढ़ना बन्द कर देते हैं और एक साथ मर जाते हैं। इसलिए एक सामान्य धान्य शक्ति होनी चाहिए, जो सर्दी आने पर मर जाए। क्या यह पुनः जीवित होगी ? कबीला इसको प्राप्त करने के लिए एक सुर में जो भी कर सकता है, करता है। उर्वकता की आत्मा को पुनः जीवित होना चाहिए। जहां पहले छोटी-छोटी शक्तियां थीं, वहां एक महान् शक्ति हो जाती है। वर्ष-आत्मा या उर्वकता की आत्मा वार्षिक उपज की स्वामी प्रजापति बन जाती है। परन्तु इसी बीच हजार शक्तियों के बीच दूसरे मुखिया बन

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जाते हैं, पहाड़ी एवं आंधी की स्थानीय शक्ति, सुदूर की सूर्य-शक्ति (प्रजापति से तादात्म्यीकृत)[1] अग्नि-शक्ति, जल-शक्ति कुछ सामान्य रूप में महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं। यह स्वीकार कर लिया जाता है कि एक देवकुल पहले से ही निर्माण की प्रक्रिया में होता है तथा वहाँ अनेक देवता भी होते हैं। परन्तु उन सभी के पास अपने-अपने क्षेत्र में एक अतिमानव एवं रहस्यमयी शक्ति होती है। इससे क्या अन्तर पड़ता है यदि विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती हुई ये सभी शक्तियां वास्तव में एक ही शक्ति हों। ऋग्वेद के कुछ ऋषि (ईसा पूर्व १०००) "देवताओं के एक आत्मतत्त्व" की पहले चर्चा करते हैं। इसका आशय (भारतवर्ष में) यह होता है कि "सभी देवता एक हैं।" वे एक ही शक्ति के रूप हैं। अन्यत्र सभी दूसरे देवता, जिनकी अभी पूजा की जानी है, एक बड़े देवता तथा एक उच्च शक्ति अर्थात् बेल मरदुक के अन्तर्गत एक स्थान पर न्यस्त कर दिए जाते हैं। या फिर सभी दूसरे देवताओं एवं आत्माओं को एक सर्वोच्च देवता के शत्रु रूप में समझा जाता है। अतः उन सभी का देश-निकाला होना चाहिए। उस अकेले की ही पूजा की जानी चाहिए, यहेव।

अन्तर्भाव, गौणत्व एवं निराकरण—ये तीन मार्ग हैं। इन तीन मार्गों के माध्यम से वस्तुओं के पास शक्ति तथा उनके पास विशिष्ट शक्ति संघटना है। इस पहले धुंधले विचार से मनुष्य एक महान् शक्ति के विचार पर पहुँचते हैं। वह शक्ति या तो दूसरी शक्तियों को आत्मसात् करती है या उनका नियमन करती है या उनको हटा देती है।[2] जैसा डरखेम महोदय कल्पना करते हैं[3] कि इनकी प्रथम प्रारम्भिक अवस्थाओं को "मानवता द्वारा अपने सदस्यों पर प्रयोग में लाई जाने

---

१. प्रजापति (इस नाम में प्रजा तथा आततायी के तत्त्व विद्यमान है, गृहस्वामी) अपने आप में सारांश है परन्तु सूर्य तथा वर्ष के साथ इसका एक उर्वरक शक्ति के रूप में तादात्म्य किया जाता है।

२. स्थानीय कबीले के देवताओं को परास्त करके हिब्रू येवाह ने दूसरे देवताओं तथा आत्माओं को भगा दिया (जिन देवताओं को निरस्त किया गया, वे भारतवर्ष के उसी कबीले के संघटनात्मक देवताओं के समान नहीं हैं), परन्तु उसी समय उसने उनकी विधियों, मन्दिरों एवं क्रिया-कलापों को स्वीकार कर लिया। इसलिए यह एक जीतने की प्रक्रिया थी। साथ-साथ यह एक अन्तर्भाव की भी प्रक्रिया थी। विशेष रूप से यह राक्षसी शक्तियों के अधिग्रहण की प्रक्रिया भी थी। यहाँ पर येवाह ने वैसा ही व्यवहार किया जैसे प्राचीन आत्माएँ पहले कर चुकी थीं, अर्थात् बीमारी फैलाना, लोगों को उत्तेजित करना आदि। देखिए एल० बी०, पेटन, स्पीरिटिज्म, पृ० २६०।

३. डरखेम, वही, पृ० ३४७, ३६३, ४११।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वाली शक्ति" के रूप में नहीं खोजा जा सकता। अर्थात् उसे स्वयं समाज में एक प्रथम धार्मिक विषय की वस्तु के रूप में नहीं खोजा जा सकता। मनुष्य अपनी स्वयं "सामूहिक वस्तु रूप शक्ति" की पूजा से प्रारम्भ नहीं करता है। यहाँ यह आम गलती देखने में आती है कि न ही वह यह कल्पना करता है कि शक्ति का प्रत्येक प्रदर्शन सार्वभौम शक्ति सामर्थ्य का एक अंग है। झरने, पुरोहित, साँप एवं ऊदबिलाव की शक्ति झरने की शक्ति के समान नहीं है। देवताओं की "एक आध्यात्मिकता" को प्रतिपादित किया गया है। आदिम निषेध की वस्तुओं के विषय में ऐसा कभी भी नहीं कहा गया था। ईश्वरीय शक्ति एक शक्ति है तथा बहुविध प्राणियों में भी एक शक्ति होती है, परन्तु किसी भी असभ्य व्यक्ति ने यह नहीं सोचा है कि पुरोहित की शक्ति एवं समुद्र की मछली की शक्ति में तादात्म्य है। वर्जना के भय के अन्तर्गत विद्यमान रहने वाली कोई वस्तु नहीं थी, क्योंकि वहाँ कोई देवता ही नहीं था। समग्र दैवीकृत मानवता में भी ऐसा नहीं था।

सर्वोच्च परमात्मा के लिए इन तीन मार्गों में से यूनानियों ने सामान्यतया गौणत्व के मार्ग का अनुसरण किया है परन्तु सेमिटिक एवं भारतीय लोगों की अपेक्षा वे एक अधिक व्यभिचारी मार्ग के द्वारा ही अपने उद्देश्य पर पहुँचे थे। भारतीयों के इन देवताओं को अपने-अपने क्षेत्र में निरस्त कर दिया गया था। जिस देवता पर विजय पायी गयी थी, ये देवता उसके लिए पराए नहीं थे। आर्य यूनानी हमलावरों को "असभ्य हब्शी" शत्रु नहीं दीखते थे, जैसा भारत के आर्य हमलावर यहाँ के मूल निवासियों को कहा करते थे, परन्तु वे प्राचीन परम्पराओं एवं संस्कृति के लोग थे जो हालाँकि अपने विजेताओं से बहुविध महत्त्वपूर्ण विषयों में भिन्न थे। वे एक प्राचीन धर्म का प्रतिनिधित्व करते थे परन्तु यह एक निम्न स्तर का धार्मिक आधार था। वे मातृकुलीय थे तथा अनेक पत्नित्व में उनको कोई आपत्ति नहीं थी। वे स्त्री देवताओं की पूजा करते थे तथा वे भूतों के भय में रहा करते थे। उनकी धार्मिक व्याख्याता अधिकांश रूप से स्त्रियाँ ही हुआ करती थीं। जैसा हम अमरीका में देख चुके हैं कि वहाँ स्त्रियाँ पृथ्वी सम्बन्धी सम्प्रदाय एवं साँपों में एक सूक्ष्म सम्बन्ध था। अतः सभ्यता के विकास से पूर्व वाले यूनान में स्त्रियाँ, मातृ-देवियाँ तथा सर्प—ये सभी पृथ्वी की आत्मा तथा पाताललोक के भूत के रूप में उद्भूत होते हैं। इन सभी ने मिलकर एक धार्मिक इकाई भी बना ली थी। यह आवश्यक रूप से एक पृथ्वी सम्बन्धी सम्प्रदाय था जिसमें साँप, उर्वरकता की आत्माएँ, लिंग (पुरुष), पुनरुत्पादक मातृ-देवियाँ, अनेक वृक्षों वाली आरटेमिस, गौ-देवी हेरा, डेमिटर, बहुप्रसवी वराही के रूप में पृथ्वी माता, गम्भीर रहस्यों का धर्म, भूत एवं यौन का धर्म एवं भय तथा विशुद्धि—ये सभी चीजें विद्यमान थीं। सम्भवतः ये प्राचीन हिब्रू लोगों से अनेक प्रकार से समान थीं। जैसे-जैसे आर्य हमलावर उत्तर दिशा से भूमध्य सागर के इन स्त्री-बहुल

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

निवासियों की ओर खिसके तो उनको यह सब कुछ ही मिला। सहमते हुए स्त्री देवताओं पर उन्होंने अपने धवल आकाश के पुरुष देवता जुएस् को स्थापित कर दिया तथा उसको सभी भूतों तथा धान्य के रहस्यों में पूजा की वस्तु बना दिया। इनका अब तक बिल्कुल कोई देवता ही नहीं था। या ये अब किसी छायामय आत्मा के अन्तर्गत ही विद्यमान थे। पहले जो अपने देवकुल का हो मुखिया था, जुएस् अब सम्पूर्ण आध्यात्मिक जगत् का मुखिया बन गया। यह शक्ति में प्रमुख था। इसमें एक उच्च पुरुषीय आत्मा थी। जुएस् जादूगरों की काली आत्माओं की अपेक्षा नैतिक दृष्टि से अधिक विकसित था। जुएस् आकाश (रूपी) पिता के रूप में पृथ्वी—आत्माओं एवं भूतों को गर्हित करता था। जुएस् आर्य रूप में बहादुरी, निष्ठा एवं सत्य का देवता था। जुएस् घरेलू एवं कबीले के गुणों का प्रतिभावान संरक्षक था परन्तु जुएस् वैवाहिक[४] एवं राजनयिक सम्बन्धों के कारण निवासियों की भयानक शक्तियों से सम्बद्ध था। अतः ऐसा कोई आध्यात्मिक पक्ष बच नहीं गया था जिससे उसका सम्बन्ध नहीं था। जुएस् सार्वभौम था क्योंकि वह किसी भी स्थानीय मन्दिर का प्रतिनिधित्व नहीं करता था तथा अन्तिम रूप से वह एक विशिष्ट सर्वोच्च शक्ति बन गया था। "हालांकि जुएस् को या केवल ईश्वर को ('एक जुएस्, एक हेडस्, एक हेलिओस्, एक दिओनिसोस्, सभी में एक ईश्वर') एक दिव्य शक्ति कहा जाता था, प्रथम, मध्य, अन्तिम, पुरुष, स्त्री सभी की रूह।" भारतवर्ष में जीवनदाता या शक्तिदाता नामक एक अमूर्त शक्ति सूर्य देवता का अभिधान बन गयी है तथा पूजा करने वाला जो चाहता था, यह शक्ति उसको अभिव्यक्त करती थी। अतः यूनानी लोगों ने इनमें कुछ मानवीकृत इच्छाओं का स्थान जुएस् को दिलवा दिया है। प्रारम्भ में इनका रूप छायामय प्रतीत होता था। इनका ऊपर जिक्र किया जा चुका है, जैसे सन्तुष्ट करने वाला, मेलिचिओस। यह सर्प के रूप में भूत को सन्तुष्ट करने वाले कर्मकाण्ड में आधिपत्य किया करता था (जैसे जुएस् ने भी पशु सांड को स्थापन्न कर दिया था)। मानवीकृत इच्छाओं के रूप में ये देवता भी देवताओं के संगठन को मजबूत करने का कार्य करते हैं। वे स्वयं भी सर्वोच्च बन सकते हैं, जैसे नाहुन राजा के सन्दर्भ में हुआ है, जिसको अफसोस हुआ और वह चिल्लाया—"मुझे आश्वस्त करने के लिए कोई देवता होना चाहिए", और इस प्रकार आश्वस्त करने वाले के रूप में एक सर्वोच्च देवता की कल्पना की गयी। नाहुन राजा ने उसको एक अज्ञात देवता बतलाया। परन्तु दर्शन तर्कपूर्ण होने की अपेक्षा भावनात्मक कम होता है और हमें यहाँ उस दूसरे अमरीकी बहुदेवतावाद के प्रति रवैयों को स्मरण रखना चाहिए जो दक्षिणी भारतीय अमरीकी लोगों द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं। वे तर्क-

४. उसकी पत्नी हेरा, निवासियों की प्रमुख स्त्री देवियों में से एक थी।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पूर्ण ढंग से ईश्वर को इस तथ्य से निकालते हैं कि उनका आदिम सर्वोच्च देवता सूर्य प्रतिदिन के कार्य के लिए एक नौकर के रूप में कार्य करता था, जैसे एक कमान से छोड़ा गया तीर। इसलिए (उसने कहा) इससे बढ़कर एक और सर्वोच्च देवता होना चाहिए, जो अपने नौकर को भेजता है, तीर को छोड़ता है।

देवप्रमुख के प्रति एकता के इन सभी मार्गों में से नैतिक मार्ग दार्शनिक या आदर्श के साथ-साथ चलता है। एक सर्वोच्च देवता बनने के लिए देवता को एक संगठित व्यवस्था का प्रमुख होना चाहिए, न केवल आत्माओं का अपितु नैतिकता का भी प्रमुख होना चाहिए। अस्त-व्यस्त आत्माओं की एक असंगठित भीड़ का वह नियमन नहीं कर सकता है। ऐसे प्राणी राक्षस होते हैं जिनके साथ उसका जब तक संघर्ष रहता है जब तक वे अभिभूत न हो जाएँ। उन्हें उसके अपने दरबार के सदाचार के स्वीकृत नियमों का पालन करना चाहिए। एक शब्द में कहें तो उसे एक नैतिक नियम को अभिव्यक्त करना चाहिए। इसलिए मौका पड़ने पर हम स्वयं ऋत को देखते हैं। यह शारीरिक एवं नैतिक, एक सर्वोच्च शक्ति के रूप में मानवीकृत हैं, जैसे ऋत में या जैसे चीन में स्वर्ग ऋतुओं के उचित क्रम एवं मनुष्यों के सदाचार के उचित क्रम का मानवीकरण करता है। इस पुर्ननिर्माण से पहले ही यूनानी लोगों का यह प्रमुख देवता उनके लिए एक सामान्य देवता था। वह अपने आप में किसी एक शहर या कबीले की प्रशाखा नहीं था। इसलिए जिस सामाजिक विकास को वह अभिव्यक्त करता था, वह सारे यूनान में फैल गया। इस प्रकार भाग्य सम्बन्धी यूनानी विचार ने ईश्वर के भाव को कम करना शुरू कर दिया। परन्तु वास्तव में, क्योंकि यूनानी धर्म अपने आपको पाताल-लोक से मुक्त करने में कभी भी सफल नहीं हुआ था, वह अपने देवताओं को उनके विषयों से मुक्त करने में कभी भी सफल नहीं हुआ। एकेश्वरवादी विचार कवियों एवं दार्शनिकों से आगे कभी भी नहीं बढ़ा। आम जनता के लिए नैतिक परिणाम को को यह कहकर सार रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है कि यहाँ धर्म को ऊँचा उठाया गया था। धर्म ज्यादा भद्र बन गया था। धर्म को एक विस्तृत भाई-चारे की भावना के लिए बनाया गया था। धर्म ने इस विचार का श्रीगणेश किया कि एक सर्वोच्च नैतिक शक्ति इस संसार का नियमन करती है।[५]

भारतवर्ष में, एकेश्वरवादी रवैये द्वारा सूर्य या किसी अन्य प्राकृतिक संघटना को सर्वोच्च स्थान पर स्थापित करने की प्रक्रिया को नहीं अपनाया गया। इस प्रवृत्ति ने बहुदेववाद को जन्म दिया है। इसके अतिरिक्त इसने पहले एक उत्पादक शक्ति को सिद्ध किया है। फिर उस शक्ति को देवकुल के प्रमुख रूप में

५. तुलना कीजिए, गिलबर्ट मुरे, फोर स्टेजिज्स् आफ् ग्रीक रिलीजन (१९१२) तथा क्लिफोर्ड एच् मूर, दि रिलीजियस् थाट् आफ् दि ग्रीकस् (१९१६)।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

स्थापित किया तथा अन्त में इसको एक सर्वोच्च ईश्वर के रूप में स्वीकार किया। इस सर्वोच्च ईश्वर के लिए दूसरे देवता मात्र अन्तवर्ती आत्माएँ ही थीं। सम्भवतः इन सभी सन्दर्भों में एक प्रमुख देवता का विचार एक अधिक विकसित सामाजिक अवस्था के साथ-साथ विकसित होता गया, जैसा अफ्रीकी असभ्य व्यक्तियों के सन्दर्भ में भी हुआ है। इसलिए, जैसे ही भारतीयों ने 'एक विशाल मन्दिर की स्थापना की, प्रमुख देवता का नियम अधिक साम्राज्यवादीय बनता चला गया। पहले भी देवताओं को वर्णों में व्यवस्थित किया जाता था, परन्तु पितृ-देवता के भाव ने सबसे पक्का आधार प्राप्त किया। सभी दूसरे देवता तथा सभी प्राणी इस पितृ-देवता के बच्चे थे। अनेकश्वरवादी विचारधारा के प्रवृद्धमान विकास के बावजूद भी एवं बौद्धों के निरीश्वरवादी रवैये के बावजूद भी, यह विश्वास कभी भी नष्ट नहीं हुआ है, हालांकि इसका प्रादुर्भाव दर्शन में हुआ है तथा दार्शनिक तत्ववेत्ताओं से ही इसने शक्ति भी प्राप्त की है।

परन्तु एकेश्वरवादी रवैया अभी भी एकेश्वरवाद नहीं है। कम महत्त्वपूर्ण देवताओं के एक समूह की शक्ति के क्षीण हो जाने के उपरान्त भी वे विद्यमान रहते हैं। सहनशील देवताओं को एक चिरस्थायी माँग की पूर्ति करनी चाहिए और सबसे निम्न कोटि के देवता कुछ समय के लिए ही रहते हैं या सबसे नीचे के बौद्धिक वर्ग में विद्यमान रहते हैं। पत्थर, वृक्ष, पशु एवं बीमारी रूपी राक्षस मनुष्य की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को सन्तुष्ट नहीं कर सकते हैं। एक सर्वोच्च देवता के लिए उनका विनाश करना आवश्यक नहीं है। उनको अपने असामर्थ्य के कारण तिरस्कृत कर दिया जाता है या वे जनता के उस अंश में लटकते रहते हैं जिसका विकास नहीं होता। उच्च संघटना के देवताओं में अधिक विकास का सामर्थ्य होता है और वे अधिक समय तक बने रहते हैं, हालांकि वे हमेशा ही एक ऊँची विचारधारा के अधीन होकर ही बने रहते हैं। वे उस विचारधारा की प्रतिच्छाया होते हैं। परिणामतः अन्त में उनमें बहत सुधार होता है। इस प्रकार प्रोन्नत किए गए देवता अपने आपको क्रमशः वर्गों में व्यवस्थित कर लेते हैं। ये वर्ग उनके पूजकों की मानसिक तथा सामाजिक स्थिति को प्रतिबिम्बित करते हैं। स्वर्गिक देवताओं, आकाश, सूर्य या चन्द्रमा की अपेक्षा असभ्य व्यक्ति के सीमित दृष्टिकोण के लिए स्थानीय देवता, नदियाँ, जंगल, पर्वत एवं भूत अधिकांशतः महत्त्वपूर्ण ही होते हैं। प्रत्येक गाँव का अपना एक परिवार का देवता होता है। यह भूत के समान ही एक सामान्य देवता बन सकता है, परन्तु इसके उपरान्त भी भूतों की तुलना में प्रकृति की संघटना ही प्रमुख देवताओं का निर्माण करती है, जैसे उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका एवं अफ्रीका में हुआ है। एक विस्तृत व्याख्या के द्वारा आर्य लोग ऐसी ही प्राकृतिक संघटनाओं की पूजा किया करते थे।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जरथुस्ट्र ने भी इनके विरुद्ध एक निष्फल लड़ाई लड़ी थी। सेमिटिक की तरफ बेबिलोन एवं असिरिया में सूर्य, चन्द्रमा, आंधी, जल, पृथ्वी—इन सभी का अत्यधिक विलक्षण स्थान है और वही बात पश्चिमी सेमिटिक लोगों के विषय में कही जा सकती हैं। इनके लिए आंधी, उर्वरकता, सूर्य एवं चन्द्रमा की आत्मा विशिष्ट रूप से अपील करती थी। चीन में, हालांकि यह एक पैतृक आत्माओं की पूजा ही थी, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, पहाड़ियां एवं नदियां—ये सभी भक्तिनिष्ठ पूजा की वस्तुएँ थीं।

यह सब इस तथ्य से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं के अनुसार अपने देवताओं को चुनते हैं। मजदूर एवं शिकारी लोगों की दृष्टि में उद्देश्य भिन्न होते हैं। किसान के लिए वर्षा एवं सूर्य प्रमुख महत्त्व वाले बन जाते हैं। शिकारी उनकी उपेक्षा कर सकता है परन्तु किसान उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता है। प्रेत भी उर्वरकता की आत्माएँ बन जाते हैं। इस प्रकार प्राकृतिक देवता अभिजात वर्ग के बन जाते हैं। दूसरे वही बने रहते हैं जो वे पहले थे, अर्थात् निम्न वर्ग के राक्षस। परन्तु क्योंकि इन राक्षसों की पूजा केवल निम्न लोगों द्वारा भी की जाती है, उच्च देवताओं के साथ भी ऐसा ही है। जैसे निम्न प्रकार की आत्माओं का पतन होता है, वैसे ही उनके पतन की भी बारी अवश्यमेव आती है। क्योंकि जैसे-जैसे मनुष्य उन्नत होता है, वह उन देवताओं को नीचे गिरवा देता है, जिनको वह अपने साथ उठा नहीं सकता है। जुएस् एवं लेडा के जुड़वां बच्चे केस्टर एवं पोलुक्स (डिओसक्यूराई) काफी समय तक जीवित रहते हैं, परन्तु अन्त में जेमिनी केवल "जिम्मीमि" में विद्यमान रह जाता है; क्योंकि महान् जावे स्वयं केवल एक निरर्थक चीत्कार में ही विद्यमान रह गया है। ऐसे देवता पहले ही अदृश्य हो सकते हैं या उनके स्वाभाविक जीवन की समाप्ति के बाद भी उनके नाम रूप बचे रहते हैं। परिवर्तनशील कालक्रम के बाद एक महीने का देवता तिरोहित हो जाता है। भारतवर्ष में विशिष्ट देवता केवल मास-देवता के रूप में ही जीवित रहे हैं। परन्तु दूसरी ओर मिस्र में प्रत्येक महीना तथा प्रत्येक दिन एक देवता को समर्पित किए जाते थे। जरथुस्ट्र लोगों ने प्रत्येक महीने एवं दिन का नाम साधु यजत्स के नाम पर रख दिया था, जैसे हमारे धर्म में दिनों के नाम अपने मनचाहे संन्यासियों के नाम पर रख दिए गए हैं। यह प्रक्रिया अनेक आत्माओं तथा संन्यासियों को सुरक्षित रखती है जो अन्यथा भुला दिए गए होते। जो मनचाहे हैं उनका विशिष्टि वर्ग का एक दल बन जाता है। वैसे ही देवताओं के रूप में महान् प्राकृतिक संघटना भी विशिष्ट वर्ग की आत्माओं के खास समूहों में विघटित होने लगती हैं। ये सबसे महान् देवता के राजदरबार के नौकरों के रूप में काम करते हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

एकेश्वरवाद

कुछ ऐसे ही वातावरण में एकेश्वरवाद की प्रवृत्ति सदैव पायी जाती है। वहाँ उत्कृष्ट शक्तियाँ एक चुने हुए उच्च वृत्त के रूप में पहले ही अपने आपको स्थापित कर चुकी होती हैं और यह आशा नहीं की जाती है कि कोई भी देवता आसानी से उन दूसरे देवताओं को नीचा कर सके जो मनुष्य की पर्याप्त सहायता के कारण उन्नत बन चुके हैं। एकेश्वरवाद का रास्ता लम्बा एवं क्रमिक होता है। आदिम एकेश्वरवाद एक आधुनिक सपना है। आधुनिक ईसाई धर्म में और मोहम्मदीय तथा जरथ्रुस्ट्र एकेश्वरवाद में भी यह प्रचलित विश्वास बहुदेववाद से ओतप्रोत रहा है। यूनानी ईसाई लोग आज भी भाग्य एवं जलीय अप्सराओं में विश्वास करते हैं। केल्ट लोगों ने उस प्राचीन देवविद्या को बिलकुल नहीं छोड़ा है। इन्हें अब परियाँ, चुड़ैल, बौना और स्त्री—आत्मा कहा जाता है। आध्यात्मिक शक्तियों में विश्वास रखने वाले जादूई कर्मकाण्ड, बुरी नजर तथा पुराने सामान्य विश्वास के दूसरे अवशेष अब भी तथाकथित एकेश्वरवाद धर्म में बचे हुए हैं।[६]

एकदेव पूजा तथा एकेश्वरवाद में बड़ी सावधानी से अन्तर करना चाहिए। एकदेव पूजा की स्थिति बिना लम्बे भटकाव के नहीं आयी थी। एक जाति के रूप में हिब्रू लोग एकान्तिक रूप में एक ही देवता की पूजा करने के लिए उदासीन थे और उन्हें यह कभी भी नहीं सूझा कि उनके देवताओं के अतिरिक्त और दूसरे देवता नहीं हैं। वे लगातार बहुदेववादी प्रवृत्ति को श्रद्धास्पद मानते रहे। जोर्डन के लोगों का चेमोश इजराइल के लोगों के लिए येहोवा के समान ही वास्तविक था (जजिज ११ : २३-२४); हालाँकि वे चेमोश की पूजा नहीं किया करते थे। पैगम्बर के वावजूद भी वे तामुज एवं दूसरे देवताओं की पूजा प्रसन्नता से किया करते थे। सिरियाई लोग भी येहोवा में भी विश्वास करते थे ("उनका देवता पहाड़ियों का देवता है"—१, किंग्स् २० : २३) एक देवता स्थानीय था : "तेरा देवता मेरा देवता होगा, तू जहाँ भी जाएगा मैं जाऊँगा।" सम्भवतः इजराइलियों ने हठात् यह सोचकर एक पेशकश की कि उनके देवता उनके साथ ही रेगिस्तान

६. तुलना कीजिए जे० सी० केम्पवेल, हाईलेण्डस् सुपरस्टीशियन्स, विचक्रेफ्ट एण्ड सेकेण्ड साइट इन दि हाईलेण्डस् एण्ड दि आइलेण्डस् आफ् स्काटलैण्ड। बौद्धों के यहाँ भी मृतकों का एक सम्प्रदाय हुआ करता था। प्राचीन हिब्रू लोग मृतकों को एक प्रकार के 'देवता' मानकर उनकी पूजा किया करते थे। जब येहोवा ने इन पवित्र स्थानों को समुचित ठहराया तथा इनको अपने लिए पवित्र घोषित कर दिया, तो ये मकबरे, चैत्य तथा शरणस्थल बन गए जहाँ पर प्रार्थनाएँ तथा बलि दी जाती थी।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

में चले जाते थे। आखिरकार वह केवल पहाड़ी लोगों का ही देवता नहीं था। सिनाई उसे रोक नहीं सका। परन्तु जैसे जिन देवताओं की बुद्ध से पहले पूजा की जाती थी, वे उसके सहायक देवदूत बन गए, वैसे ही ओरमुज्द ने प्राचीन देवताओं को आत्माओं एवं देवदूतों के रूप में अपने अन्तर्गत कर लिया। इसलिए अप्सरा एवं देवदूत, अजगर, तिमिंगल एवं हिब्रू मूर्तियाँ प्राचीन शक्तियों के अन्तिम रूप बनकर रह गए हैं। तामुज के लिए रोने वाली स्त्रियाँ एवं सूर्य की पूजा करने वाले पुरुष अद्भूत देवताओं का अनुसरण कर रहे थे, परन्तु अप्सरा एवं तिमिंगल (भूत) इजराईलियों के लिए उनके भूतकाल की आध्यात्मिक शक्तियाँ ही थीं।

देश-निकाले से मुक्त येहोवा ने वैसे ही लोगों को गुलाम बनाया, वह निस्सीम देवता बन गया और इसलिए वह बन्धन मुक्त देवता बन गया। उसके पूजकों के सामने एक विस्तृत क्षितिज खुल गया था। अपनी गहरी तथा संकुचित धार्मिक देशभक्ति के कारण उस देवता में एक आध्यात्मिक शक्ति देखने के लिए उन्होंने इन्कार कर दिया था। उस देवता की यह आध्यात्मिक शक्ति इनके अपने देश से भी ज्यादा बड़ी थी। पहले यह चौंकाने वाला नया विचार था कि येहोवा आवश्यक रूप से इजराइल से ही वंधा हुआ नहीं था (एमोस ९ : ७) और यह ज्यादा चौंकाने वाला था कि क्योंकि यह नैतिक विचारधारा पर आधारित था। येहोवा ने हमेशा ही नैतिक धर्म को बढ़ावा दिया था। परवर्ती नियम के अनुसार जबकि वह स्वयं एक संदिग्ध नैतिकता का देवता था। वह उन देवताओं की अपेक्षा एक महान् नैतिक विकास का प्रतिनिधित्व करता था जिनके साथ उसका कोई व्यवहार नहीं था। वह बलिदान करने के लिए एक विशुद्ध हृदय को भी अच्छा मानता था क्योंकि वह अपने लोगों के प्रति दया कर चुका था। इसलिए वह उनसे दया ही चाहता था न कि बलिदान। राज्य का विरोध करके भी येहोबा किसी ईमानदार आदमी की सहायता करता था। देशभक्ति एवं धर्म को अब साथ-साथ चलने वाला नहीं समझा जाता था। इस प्रकार धीरे-धीरे एक देवता के स्वरूप का प्रादुर्भाव हुआ जो दूसरे देवताओं के लिए सर्वोच्च था तथा किसी भी देश से महान् था। आध्यात्मिक शक्ति के समान ही उसकी नैतिक मांगें भी वैसी ही प्रबल थीं। तब से इजराइलियों के लिए केवल एक ही देवता रह गया—एक नैतिक, आध्यात्मिक संसार की सर्वोच्च शक्ति, ब्रह्माण्ड का एक नैतिक नियन्ता।

एक अनुबन्ध द्वारा येहोवा इजराइल का सबसे पहला राष्ट्रीय देवता बन गया है। इसके कारण वह अपने चुने हुए व्यक्तियों की सहायता करता है। यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि क्या उसका श्रीगणेश मोसिज के द्वारा किया गया था या क्या वह आँधी या पहाड़ी या चन्द्रमा या पौधों का देवता था। वह अपने लोगों की ढाल था, उनका युद्ध देवता, उनका रक्षक, एक व्यक्ति, जो उनको प्रिय था, परन्तु उसकी पूजा करने वालों से वह विशिष्ट था। एक व्यक्ति के अतिरिक्त ऐसे देवता

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

की कल्पना नहीं की जा सकती है। एक व्यक्तित्व के रूप में वह लोगों से अपील करता है। पूजा करने वाला यह अनुभव करता है कि उसके लिए लड़ते समय वह एक जीवित देवता के लिए तथा अपने देश के लिए लड़ रहा है। वह उसके घर के लिए, उसकी पवित्रता के लिए लड़ रहा है। उल्टे रूप में वह उसके लिए लड़ रहा है जिसे वह प्रिय समझता है। वह एक ईश्वर के लिए लड़ रहा है, एक व्यक्तिगत वस्तुनिष्ठ यथार्थ के लिए।

सेमेटिक लोग एक कल्पनाशील जाति नहीं थे। उन्होंने यूनान एवं भारतवर्ष की इतनी साधारण एवं अमूर्त शक्तियों को देवत्व भी प्रदान नहीं किया है। उनके यहाँ भारतीयों के सौजन्य, न्याय, भद्रता, शक्ति, एकरूपता एवं सौन्दर्य जैसे देवी-देवता नहीं थे। उन्होंने शक्ति नामक देवता को पैदा नहीं किया है। उन्होंने शब्द या वाणी[७] को देवत्व प्रदान नहीं किया है। इस प्रकार गौण आत्माओं का एक दल पैदा करने की अपेक्षा उन्होंने येहोवा की अपनी आत्माओं की चर्चा की है तथा येहोवा को अमूर्त गुण समर्पित किए हैं। वह ही सौन्दर्य एवं न्याय था। वैदुष्या ही उसकी आत्मा थी। परवर्ती मापदण्डों के अनुसार येहोवा दोषपूर्ण है। पैगम्बरी युग में वह क्रूर एवं चंचल है। रक्तपात एवं हत्या में उसको आनन्द आता है। जैकब के ससुर को ठगने के लिए वह जैकब का साथ देता है। वह स्वयं अहब को धोखा देता है। चुड़ैलों एवं अग्नि-परीक्षा आदि के विश्वास को वह बढ़ावा देता है। आज के मापदण्ड से उसको सीमित ज्ञान एवं लोगों के समान ही उनके विषयोपभोगों से सजीव "प्राणी बतलाया गया है।"[८] अन्ततः येहोवा अन्धकार एवं बुराई का सृष्टा है (इजाहे ४५ : ७)। मोहम्मदीय अल्लाह ने येहोवा की स्थिति को उत्तराधिकार में प्राप्त में किया है या बल्कि येहोवा को एक नए वातावरण में सुधार दिया जाता है, वह दयालु है, पिता की अपेक्षा वह न्यायाधीश है। वह उदार होने की अपेक्षा ईर्ष्यालु है।

बहुदेववाद सायास एकेश्वरवाद के दूसरे रूपों में जीवित है, जैसे भारतवर्ष एवं मिस्र में या एक व्यावहारिक नैतिक एकेश्वरवाद के रूप में जरथुस्ट्र के समान। इसकी जड़ें बहुदेववाद में इतनी गहरी गयी हैं कि यह अनेक देवताओं को आत्मसात् करने के बाद समाप्त हो जाता है या जैसे ताओवाद में प्रयत्न उद्देश्यपूर्ति से कहीं दूर ही रह जाता है। यूनान में देवताओं के अतिरिक्त धीरे-धीरे एक

७. संस्कृत वाक् (लेटिन वोक्स) ऋग्वेद में एक शक्तिशाली आध्यात्मिक शक्ति के रूप में देवता बन गयी है। इसके बारे में वेबर का यही विचार था कि इसने शब्दब्रह्म (लोगोस्) के भाव को प्रभावित किया है परन्तु अब इस मत को छोड़ दिया गया है।

८. प्रोफेसर ए० एच् किआने, इन दि हिब्बर्ट जर्नल, अक्टूबर, १६०५।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सदाचार का दर्शन विकसित हुआ है। केवल हिब्रू लोगों ने ही नैतिकता, धर्म एवं बहुदेववादी विरोधी दर्शन को मिला दिया था। एक नैतिक एकेदेववाद की समाप्ति तक वे अपने मार्ग पर चलते रहे और जैसे-जैसे वे विकसित हुए, एक विशुद्ध नैतिक देवता की छवि के उभरने तक, येहोवा के चरित्र में से उसके दोषों को निकाल दिया गया। वह न केवल जात्मा ही बन गया, अपितु मात्र एक ईश्वर भी बन गया, क्योंकि फरिश्तों को दोनों ही टेस्टामेण्टों में स्वीकार किया गया है तथा शैतान अभी भी अनेकों के मनों में गर्जना करता है तथा यही एक ईश्वर है। इस प्रकार धार्मिक दर्शन का सिद्धान्त संसार के विभिन्न पक्षों को एक सम्पूर्ण इकाई के रूप में समवेत करने में असफल रहा है परन्तु व्यावहारिक रूप में यह ही अकेला एक है, जो लोगों की भीड़ को अपील कर सकता है। अंशतः यह ही लोगों को अपील कर सकता है क्योंकि आत्मा एवं पदार्थ के तादात्म्य की अपेक्षा उनके विरोध को समझना सरल है, अंशतः क्योंकि यह आशावादी होता है, अंशत क्योंकि एक समझदार ढंग से काम करने वाली एक सक्रिय शक्ति में एक व्यक्तिगत समझदारी का भाव दिखलाई पड़ता है, और अंशतः क्योंकि भावनाओं का धर्म के साथ एक गहरा सम्बन्ध होता है। एक निर्वैयक्तिक अन्तर्निहित शक्ति ऐसी नहीं होती है कि इसे आसानी से अपील किया जा सके, जैसा एक वैयक्तिक वस्तुनिष्ठ ईश्वर के विषय में होता है। विपत्ति में आश्वस्त होने के लिए तथा "एक अत्यधिक तात्कालिक सहायता" के लिए इसके पास जाया जा सकता है।

द्वैतवाद

हिब्रू एकेश्वरवाद द्वैतवादी है। जैसे ईश्वर बुराई को उत्पन्न करता है; वैसे ही वह संसार को उत्पन्न करता है, परन्तु दोनों उत्पत्तियों का उससे तादात्म्य नहीं है। इस दृष्टिकोण की जड़ में पदार्थ एवं आत्मा, अच्छाई एवं बुराई का पुराना विरोध पड़ा हुआ है। सभी धर्म धर्म के रूप में और न कि दर्शन के रूप में उसी प्रकार से द्वैतवादी होते हैं। असभ्य व्यक्ति एक सिद्धान्त या भलाई के देवता के विरोध में बुराई के एक सिद्धान्त को स्वीकार करता है। वैसे ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि प्रकाश अन्धकार से भिन्न है। जैसे एक बढ़ई अपनी गाढ़ी से पृथक् है, वैसे ही ईश्वर भी अपनी सृष्टि से बाहर है। एक भला देवता एक साथ एक बुरा देवता नहीं हो सकता है। वह चंचल दिखलाई पड़ सकता है, परन्तु उस सन्दर्भ में उसको समझा नहीं जाता है या उसको बिल्कुल अच्छा नहीं समझा जाता है। अनेक स्वाभाविक विरोध द्वैतवादी भावनाओं को जन्म देते हैं जैसे लिंगों के बीच का अन्तर। इसके ऊपर चीन में दर्शन की पूरी व्यवस्था स्थापित की गयी है। विस्तृत रूप से जिस अन्तर पर बल दिया जाता है, वह पुरुष एवं स्त्री, या रूह एवं शरीर या आत्मा एवं पदार्थ का नहीं है परन्तु वह अन्तर अच्छाई एवं बुराई

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

का है। अन्त में भलाई देवता बन जाती है, बुराई पिशाच बन जाती है। इस अन्तर को योग-दर्शन में आत्मा एवं पदार्थ के विरोध के रूप में मिला दिया गया था। आत्मा परिवर्तनीय है। पुरुष भद्र है, पदार्थ सदैव परिवर्तनशील है, जैसे अन्य भारतीय पद्धतियों में भी प्रकाश एवं अन्धकार का विरोध हैं (उपनिषदों में ईश्वर संसार की महान् ज्योति है) जिस रूप में यह समस्या चली आ रही थी, तथा परम्परा ने इसकी जो व्याख्या प्रस्तुत की थी, हिब्रू लोग उससे सन्तुष्ट थे। ईश्वर ने संसार को शून्य से उत्पन्न किया है। वह अन्धकार एवं बुराई को पैदा करता है। वह सभी का स्वामी है शिओल का भी। परन्तु जरथ्रुष्ट्र के मन के लिएसंसार अपने आप में दो युद्ध करने वाले मनों के शिविरों में बँटा हुआ था। बुरा मन भद्र मन का विरोध करता है। प्रत्येक मन की अपनी ही आत्मा की सेना है तथा अपनी ही दुनिया है। यह संदिग्ध है कि क्या स्वयं जरथ्रुष्ट्र ने कभी यह कल्पना की थी कि ये एक के ही दो रूप हैं (जैसा परवर्ती सिद्धान्त बतलाता हैं) परन्तु उसका धर्म आशावादी था। उसका विश्वास था कि अन्त में भद्र मन बुरे मन को उखाड़ फेंकेगा, तथा स्वयं उस बुरे मन एवं बाकी समग्र बुराई पर भी विजय पा ली जाएगी। यह भाव आज भी ईसाई धर्म में चला आ रहा है। बुराई के परवर्ती भाव के लिए ईसाई धर्म सम्भवतः जरथ्रुष्ट्र का ऋणी है। इसके साथ-साथ इसके एक या अधिक फरिश्तों के लिए भी ऋणी है। ये फरिश्ते मूलतः पुरुष एवं स्त्री दोनों ही थे। जरथ्रुस्ट्रवाद तब हालांकि द्वैतवादी होने पर भी आवश्यक रूप में एकेश्वरवादी ही था, यह ब्रह्माण्ड के एक सर्वोच्च नैतिक शासक की सत्ता की शिक्षा दिया करता था। हालाँकि बुराई की शक्तियों तथा भद्र मन के मित्रों के बीच एक लम्बा संघर्ष का मार्ग था तथा यह देवता उस मार्ग पर चल चुका था। ये छद्मवेश में वास्तव में शत्रु ही थे, क्योंकि भद्र मन के लिए लड़ने वाली सभी बहु-देववादी प्राकृतिक शक्तियाँ नीचे तह में मायावी शत्रु ही थे। बहुदेववादी प्राकृतिक शक्तियाँ एक देवता के विश्वास की जड़ें काट रही थीं एवं प्राचीन आर्य देवताओं के पुनः संवर्धनशील विश्वास को स्थापित भी कर रही थीं।

एक अधिक सम्पूर्ण द्वैतवादी धर्म वह है जिसका ऊपर योग के रूप में उल्लेख किया गया है। वह अपने प्राचीन रूप में सांख्य दर्शन के समान ही है। यहाँ मन पदार्थ का विकसित रूप है। यह पदार्थ शाश्वत है तथा यह शाश्वत रूप ही आत्मा का विरोधी है या बल्कि असंख्य आत्माओं का विरोधी है। समाधि के विभिन्न उपायों एवं तन्मयता को पैदा करने वाली ऐकान्तिक अवस्थाओं के माध्यम से यथार्थ के बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करना ही योगी का उद्देश्य है। अन्त में वह भौतिक दोषों से परम "पार्थक्य" प्राप्त कर लेता है। अपने परवर्ती विकास में सांख्य ने ईश्वर नामक एक सबसे महान् आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया है। यह आध्यात्मिकता आवश्यक होने की अपेक्षा सहायक रूप में

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रयोग में लाई गयी थी। जिस देवता से आत्मा आई है, देवता बनने की अपेक्षा आत्मा का जो रूप बन सकता था, उसके लिए यह एक आदर्श रूप था। भारतवर्ष का आधुनिक निरीश्वरवादी जैन धर्म सांख्य के पुराने दृष्टिकोण को सुरक्षित रखता है। इसकी भक्ति एक देवता को अर्पित नहीं की जाती है परन्तु उन श्रेष्ठ सन्तों या भूतकाल की शरीरधारी आत्माओं को अर्पित की जाती है जो मनुष्यों के आचार्य बन चुके हैं। बौद्ध धर्म में भी ऐसे आचार्यों के प्रति श्रद्धा व्यक्त की जाती है परन्तु उसे इस बुद्धि के साथ व्यक्त नहीं किया जाता। परन्तु वहाँ कोई अमर रूह या किसी रूप में कोई आत्मा थी। जैन द्वैतवाद में आत्माएँ, शाश्वत सत्ताएँ, शाश्वत पदार्थ हैं। वहाँ उचित एवं अनुचित के रहस्यमय सिद्धान्त भी हैं। इनके विषय में यह कल्पना की जाती है कि वे आपाततः शाश्वत शक्तियों की व्याख्या करते हैं। इन पद्धतियों में से किसी पद्धति ने भी बहुदेववाद को समाप्त करने का प्रयत्न नही किया है परन्तु देवताओं की व्याख्या फरिश्तों या एक कोटि की राक्षसी शक्तियों के रूप में की गयी थी। इनको महत्त्वहीन प्राणी मानकर व्यावहारिक दृष्टि से इनको उपेक्षित कर दिया गया था।

सर्वेश्वरवाद

"सर्व-समन्वित एकता के ज्ञान के प्रति आकांक्षा" की अभिव्यक्ति ही दर्शन है और यह आकांक्षा दर्शन में पैदा होती है। जैसे वातावरण से एकेश्वरवाद का जन्म हुआ है, वैसे ही वातावरण से बहुदेवतावाद व्युत्पन्न हुआ है। दूसरे देवताओं को उपेक्षित करने की अपेक्षा इसने उनका आलिंगन ही किया है। सर्वेश्वरवाद आध्यात्मिक जगत् के एकीकरण से प्रारम्भ होता है तथा इससे भौतिक जगत् को व्युत्पन्न करता है। एक अगोचरीय सर्वोच्च शासक के रूप में प्रजापति वैदिक विचारधारा का दिक्पाल है। यह समय तथा वर्षों से अभिव्यक्त होता है, परन्तु इस सबके अतिरिक्त वह अपनी पितृ देवता की आकृति से सही तौर पर संसार को पैदा नहीं करता है। वह स्वयं संसार बन जाता है। वह अपने आपको इसमें रूपान्तरित कर देता है इसलिए अधिक विकसित विचारधारा में ब्रह्माण्ड ईश्वर नहीं बनता है। ईश्वर ब्रह्माण्ड बनता है। यह एक विचारणीय अन्तर पैदा कर देता है क्योंकि यदि ईश्वर का ब्रह्माण्ड से एकाकार हो जाए तब वह उस पदार्थ की अपेक्षा, जिससे ब्रह्माण्ड का निर्माण होता है, ज्यादा बुद्धिमान या आध्यात्मिक नहीं रहता है। परन्तु यदि ब्रह्माण्ड का ईश्वर के साथ एकाकार हो जाए तो यह भी बुद्धिमान एवं दिव्य बन जाता है। भारतवर्ष में दार्शनिकों ने इन सिद्धान्तों पर कार्य करते हुए दोनों ही बातें स्वीकार की हैं। पदार्थ वास्तव में विद्यमान नहीं था। वह एक बिशुद्ध आवश्यक था (सभी रूहें बिना लक्षणों के है)। सर्वोच्च रूह के समान ही संसार वास्तविक था। सर्वोच्च रूह वैयक्तिक रूह से

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

श्रेष्ठ है। आस्तिकता सम्बन्धी अर्थ में यह सर्वोच्च रूह व्यावहारिक रूप से ईश्वर बन गयी है। एक सर्वोच्च शक्ति जो बिना लक्षणों के नहीं है, मृत्यु के समय ईश्वर की उपस्थिति में विशुद्ध आनन्द को भोगती हुई यह विश्वासी रूह उसके पास चली जाएगी।[६] किसी भी सन्दर्भ में आध्यात्मिक वातावरण के स्वीकार होने पर धार्मिक तत्त्व बना रहता है। मनुष्य इस प्रकार अपना तादात्म्य अनुभव करता है। वह या तो बिलकुल इसके साथ एकाकार हो जाता है या सम्पूर्ण तादात्म्य के विना इसके अत्यधिक निकट रहता है। जो मनुष्य यह सोचता है कि लक्षणविहीन ब्रह्म अनैतिक है, उसका नैतिक मापदण्ड किसी दिव्य आदर्श की नकल पर आधारित नहीं है अपितु ज्ञान पर आधारित है। मनुष्य का ईश्वर से एकाकार है। ऐसे ज्ञान के माध्यम से मनुष्य भलाई एवं बुराई के अन्तर से ऊपर उठता है। ईश्वर जो सभी की रूह है, उसके विषय में भी ऐसा अन्तर नहीं रहता है। फिर ऐसे ज्ञान से कि सभी रूहें उसकी अपनी रूहें हैं, मनुष्य दूसरों को क्षति पहुँचाने से रुक जाता है, क्योंकि कोई भी मनुष्य अपने आपको नहीं मारता है। संसार की सच्ची रूह को जानने के बाद मनुष्य पाप नहीं कर सकता है, वैसे ईश्वर भी पाप नहीं कर सकता है, "जो भी ईश्वर से पैदा हुआ है पाप नहीं करता है।"

यूनान में एक्सनोफेन्स ने यह शिक्षा दी कि "सब कुछ एक है" और एक ही दिव्य है। उसके शिष्य, पारमेनिडिस ने शिक्षा दी कि प्राणी एवं विचार एक हैं। परन्तु एक ईश्वर के विचार को उत्पन्न करने के अतिरिक्त (कवि एवं धर्माचार्य एक ईश्वर की कैसे व्याख्या करते हैं) सांस्कृतिक क्षेत्रों को छोड़कर इन यूनानी सर्वेश्वरवादियों का धर्म पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अन्त में स्टोइक ने ईश्वर की अन्तर्व्याप्ति की शिक्षा दी। अन्तिम रूप से प्लोटिनस ने न्योप्लेटिनिस विचारधारा को आगे बढ़ाया तथा उसने अपने रहस्यमय अद्वैतवाद का आविष्कार किया। अनेक प्राचीन अभिव्यक्तियों की व्याख्या सर्वेश्वरवाद की अपेक्षा एकेश्वरवाद के रूप में की जा सकती है (पहले देखिए), जैसा मिस्र के तथाकथित सर्वेश्वरवाद के विषय में भी सही है।

कोई यह कल्पना कर सकता है कि एक निर्वैयक्तिक आध्यात्मिक शक्ति में, जैसा वेदान्त के विशुद्ध अद्वैतवाद में कल्पना की गयी है, धार्मिक विशेषताओं का अभाव रहेगा, परन्तु इस प्रकार उस गहरे धार्मिक सन्तोष को कम करना बिलकुल गलत होगा, जो सन्तोष दार्शनिक को अपने "ज्ञान" कि परमात्मा (ब्रह्म के रूप में आत्मा) को अपनी आत्मा में खोजा जा सकता है, से प्राप्त होता है।

---

६. दूसरी ओर अद्वैतवादी वेदान्त में ब्रह्म सत्ता नहीं है अपितु सत् है। वह ज्ञानवान प्राणी नहीं है परन्तु वह ज्ञान है। भारतीय त्रयी में आगे देखिए सर्वेश्वरवाद बौद्ध धर्म तथा चीनी दर्शन का परवर्ती परिणाम है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जैसा उपनिषद् में कहा गया है, "जो कुछ भी इस पृथ्वी पर विद्यमान है, सारे संसार को ईश्वर में ओत-प्रोत हो जाने दो। जो सब कुछ त्याग देता है, वही जीतता है। परमात्मा काफी दूर है, फिर भी पास है; यह वहाँ है, यह यहाँ है। प्रत्येक वाणी में ईश्वर विद्यमान रहता है, परन्तु जो उस ईश्वर का अपने आप में दर्शन करता है तथा स्वयं का ईश्वर में दर्शन करता है, जो यह जानता है कि ईश्वर ही सब कुछ है, उसको कोई भय नहीं है। यह परेशान नहीं होता है। उसी का वास्तव में ईश्वर से एकाकार होता है, जो सबका एकत्व जानता है। उसके लिए क्या तो मृत्यु का भय है, क्या शोक है, जो स्वयं अमर ईश्वर है?" यहाँ तथा औपनिषदीय धर्म में ईश्वर से एकाकार की रहस्यमय एवं आनन्दमय अनुभूति ही "ज्ञान" है। परमात्मा या जागतिक चैतन्य ही एक यह अनुभूति है।

इतना तो ऋषि के लिए। परन्तु प्राय: एक साधारण मनुष्य के लिए कुछ और चाहिए, या जैसा ऋषि का कहना है एक निर्वैयक्तिक परमात्मा की अपेक्षा कुछ कम की आवश्यकता है। जैसा कहा जा चुका है, उसको एक ऐसे आदमी की आवश्यकता है जो सहानुभूति रखता हो, जिसके पास वह अपनी अपील कर सकता है।[10] अद्वैतवादी के सक्रिय ईश्वर एवं सर्वेश्वरवादी दोनों में ही समान रूप से उसको ऐसा व्यक्ति मिल जाता है। परन्तु दोनों ही व्याख्याएं दार्शनिक दृष्टि से भोण्डी है। एकेश्वरवादी दृष्टि के अनुसार ईश्वर को अनुपाधिक परम तत्त्व तथा सक्रिय सहानुभूतियुक्त ब्रह्म रूप पिता—इन दोनों ही प्रकारों से समझा जाना चाहिए। सर्वेश्वरवादी दृष्टि से अनुसार ईश्वर अन्तत: इस रूप में मात्र एक आकृति है मायावी, वह ब्रह्माण्ड का सर्वस्व नहीं है।

फिर भी, धार्मिक दृष्टि से ईसाई अद्वैतवादी एवं वेदान्ती सर्वेश्वरवादी दोनों के पास ही एक व्यवहारिक विश्वास की वस्तु के रूप में ब्रह्माण्ड का एक वैयक्तिक सर्वोच्च नैतिक नियन्ता, ईश्वर है। वह इससे भी अधिक है। अद्वैतवादी एवं सर्वेश्वरवादी दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि परम देवता एक तीसरा रूप भी धारण कर सकता है। वह परम एवं सर्वोच्च ईश्वर का रूप नहीं धारण कर सकता, परन्तु वह और अधिक सहानुभूतिपूर्ण दिव्य पुरुष का, कृष्ण के रूप में विष्णु का अवतार, तथा "मैं एवं मेरा पिता एक है" वह इन सबका रूप धारण कर सकता है। इसके अतिरिक्त, जैसे-जैसे बौद्धों का निरीश्वरवादी दर्शन धीरे-

---

१०. हमेशा ऐसा नहीं होता है। थेरीक्लीज के लम्बे भाषण में 'धार्मिक सान्त्वना' का एक भी शब्द नहीं है। वहाँ केवल प्रगाढ़ देशभक्ति ही है। एक मूर्ति या देवता के प्रति भक्ति होने की अपेक्षा एक आदर्श के लिए श्रद्धा है। वहाँ एक सान्त्वना है कि एक व्यक्ति ने एक आदर्श के अनुकूल जीवन व्यतीत किया है। परन्तु वक्ता (या लेखक) कोई साधारण व्यक्ति नहीं था।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

धीरे बदलता गया, अन्त में इसमें स्वयं बुद्ध को एक देवत्व में परिणत कर दिया गया और उसी समय यह भी स्वीकार किया गया कि परम (देवता) को इस दृश्यमान जगत् के पीछे रहना चाहिए। यह धर्म इस दृष्टिकोण की पैरवी करने वाला भी बन गया कि देवता अपने आपको तीन प्रकार से अभिव्यक्त करता है।

परन्तु इस विषय पर विस्तार से विचार करने से पूर्व त्रयी के सामान्य धार्मिक महत्त्व के विषय में कुछ शब्द कहना उचित होगा।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अध्याय १७

त्रयी

तीन की संख्या "पवित्र संख्या" क्यों बन गयी—यह काफी समय से ऊहापोह का विषय रहा है। एक आधुनिक सिद्धान्त यह सुझाव देता है कि क्योंकि मनुष्य की अंगुली के तीन पोर हैं, उसकी गिनती का प्रादुर्भाव उसकी अंगुलियों से हुआ है और तीन की संख्या गणना पद्धति का एक आधार बन गया है, अतः यह पवित्र है। इसी सिद्धान्त का कहना है कि सभी लयात्मक गतियों का आधार तीन की संख्या है तथा मनुष्य एक लयात्मक प्राणी है। इसके अतिरिक्त एक अन्य सिद्धान्त यह भी है कि चूँकि कुछ असभ्य व्यक्ति दो से आगे की गिनती नहीं गिन सकते, तीन सर्व का या पूर्णता का पर्याय बन गया है। काफी समय पहले अरिस्टोटल ने कहा था कि तीन सर्व को अभिव्यक्त करता है, अतः यह एक पूर्ण संख्या है। अब यह सही है कि हम त्रयियों में सोचते हैं, क्योंकि तीन ही प्राकृतिक विभाजन है; कल, आज, कल; बचपन, जवानी, बुढ़ापा; यहाँ, ऊपर नीचे; सूर्योदय, दोपहर, सूर्यास्त; सूर्य, चाँद, तारे; पृथ्वी, वायु, आकाश; पिता, माता, बच्चा; तीन पूर्ण है, सर्व। परन्तु क्या द्वन्द्वों में सोचना बिल्कुल स्वाभाविक नहीं है, जैसा असभ्य व्यक्ति करने में प्रवण होते हैं, भूत एवं वर्तमान; यहाँ एवं अन्यत्र; दिन और रात; सूर्य चाँद; पृथ्वी और आकाश; शक्ति और कमज़ोरी; पुरुष और स्त्री ? जहाँ तक लय का सम्बन्ध है, "एक, दो, तीन", और "हम दूर चलें", "बच्चों का झूला" इसमें एक चौथा जोड़ दिया जाता है। वास्तविक रूप से कुछ असभ्य व्यक्तियों के लिए तीन की अपेक्षा चार की संख्या अधिक पवित्र थी, विशेष रूप से पूरी पश्चिमी दुनिया में यह पवित्र थी। जहाँ उत्तरी एवं दक्षिणी अमेरिका दोनों में ही चार दिशाओं, (प्रमुख दिक्‌बिन्दु) पर आधारित चार वास्तविक धार्मिक संख्या थी। पाँच की संख्या में भी एक सीमा तक ही पवित्रता है, विशेष रूप से भारतवर्ष में, जहाँ देवताओं तथा लोगों के समूह पंचायतों में दिखलाई पड़ते हैं। तब फिर, सात, कुछ भी हो, सही रूप में धार्मिक संख्या है। वह भारतवर्ष में ऐसे ही पवित्र है जैसे यूनान में है। भारतवर्ष में उपविभाजित मास ने सात दिवस के अन्तराल पर साप्ताहिक पवित्र दिन प्रदान किए हैं। परन्तु इन सात दिनों के मालूम होने से

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

काफी पहले ही सात का अपना एक वर्ग था—सात तारे, सात नदियां आदि। सात पहले मात्र "अनेक" को अभिव्यक्त करता है, और फिर, स्वयं अपने वर्ग में कर्मकाण्डीय दृष्टि से पवित्र यह बन गया।[1]

परन्तु तीन एवं सात की संख्या की पवित्रता में एक अन्तर है। इसे अब तक देखा नहीं गया है। सात धार्मिक है। तीन धार्मिक संख्या बनने से पहले यह पहली जादुई संख्या है। इसके आदिम पूर्णता के आशय या अति पूर्णता के भाव ने ही इसको जादुई आवश्यक क्रिया-कलाप में एक सार्वजनिक प्रयोग का रूप प्रदान किया है, जैसे शोधन, सभी प्रकार के झाड़-फूंक, शपथ आदि हैं। इस प्रकार धर्म से उद्भूत होने की अपेक्षा इसको बल्कि अपना ही लिया गया है, जबकि विकसित धर्मों के द्वारा इसको एक पवित्र संख्या के रूप में प्रयोग किए जाने तक सात की संख्या को व्यावहारिक रूप में बिल्कुल स्वीकार नहीं किया गया है। असभ्य व्यक्तियों के उन धार्मिक संस्कारों की तुलना करके, जो तीन एवं सात की संख्या का प्रयोग करते हैं, एक पक्का परीक्षण किया जा सकता है। इसकी तुलना असभ्य व्यक्तियों के जादू से की जा सकती है जो सात की उपेक्षा करता है और सर्वत्र (आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, भारतवर्ष, अमेरिका) प्रबल संख्या तीन का प्रयोग करता है[2]; जबकि शोधन में तीन की संख्या (अमरीकी) पवित्र चार के क्षेत्र में भी

---

१. एक अनिश्चित संख्या के रूप में सात काफी समय तक "अनेक" का पर्याय रहा है, जैसे यूनान में है—सात समुद्र, सात द्वीप, "सात मुख", "सप्त रूप वाला साहस" (एरिस्टिफोन्स)। स्ट्रैबो हेप्टापोरोस को पॉलिपोरोस का पर्याय मानता है। यह एक नदी का नाम है (तुलना करें भारतवर्ष की "सात मुख" वाली नदियां)। एक महान् भारतीय काव्य (महाभारत) में विष्णु को सप्त महाभाग्य कहा गया है। शेक्सपियर के "ये सात साल" का तात्पर्य केवल अनेक वर्षों से है।

२. अर्थात् जहां एक कबीले पर किसी मिशनरी या मुहम्मद धर्म का प्रभाव नहीं पड़ता है, जैसा गुआना के कफ़ीकी लोगों में हुआ है। वहां पर बपतिश्मा केवल सात की संख्या द्वारा किया जाता है (जन्म के "सात दिन बाद" एक लड़की का बपतिश्मा कर दिया जाता है)। शवों को जमीन में दफनाने के संस्कार तीन की संख्या पर ही आधारित होते हैं। शोकाकुल लोग तीन दिन तक प्रक्षालन नहीं करते हैं। मृत्यु के बाद तीसरे दिन मरे हुए आदमी को तीन बार जाने के लिए कहा जाता है। अमरीकी भारतीय लोग सात की संख्या का प्रयोग प्रायः एक संस्कार के रूप में करते हैं परन्तु शायद अपनी पहल से वे ऐसा नहीं करते हैं। यूनान तथा रोम में तीन की संख्या जादुई संख्या थी।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

घुसपैठ कर जाती है। असभ्य व्यक्तियों द्वारा तीन बार ली जाने वाली शपथ धर्म में "तीन देवताओं द्वारा" (जुएस्, एथेने, अपोलो) की शपथ बन जाती है। यूनान में सामान्यतया ऐसा ही होता था, परन्तु इसकी मजबूर करने वाली शक्ति पहले तीन की संख्या से आई है।[3] स्लाव-जाति के असभ्य व्यक्तियों में बीमार लोग पवित्र ओक वृक्ष के रन्ध्र में से तीन बार ऊपर चढ़ जाया करते थे। भारतवर्ष एवं चीन दोनों में ही कब्र के चारों ओर तीन बार परिक्रमा की जाती है। जब बाबर ने अपने मरने वाले बेटे के लिए "अपने आपको बलिदान किया" तो उसने उसके पलंग के चारों ओर तीन बार परिक्रमा की। इस प्रकार उसने बीमारी को वहाँ से निकाला तथा उसे अपने शरीर में प्रवेश करने के लिए मजबूर कर दिया। चीनी भूत को पानी के तिगुने तर्पण द्वारा सन्तुष्ट किया जाता है। शपथपूर्वक कहना, श्राप देना, थूकना, सभी प्रकार के झाड़-फूंक का भली-भाँति असर तभी होता है जब इन्हें तीन बार किया जाता है। यह बांधने वाली संख्या होती है इसलिए असभ्य व्यक्ति तीन बार शोधन करते हैं एवं सभ्य लोगों को यह उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ है। शोधन के बाद बपतिश्मा आता है। अतः यह तीन आह्वानों के द्वारा तिगुना होता है। बपतिश्मवाद के सन्दर्भ के त्रिकोणीय फार्मूले का सबसे पहले प्रयोग किया गया था। मृत्यु-संस्कार के सन्दर्भ में तीन की विशिष्ट पवित्रता को स्वाभाविक कारणों पर आधारित किया जा सकता है। सर्दी के मौसम के अतिरिक्त शव को स्पष्ट रूप से तीन दिन के भीतर ही दफनाया जाना होता है। इसलिए शक लोग तीन सप्ताह की प्रतीक्षा के बाद शवों को दफना दिया करते थे परन्तु सामान्यतया जैसे आस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका में भूत तीन दिन तक मंडराता रहता है और तब उठकर शरीर से पृथक् हो जाता है। एक मरा हुआ देवता भी "तीन दिन के बाद" उठ जाता है जैसे मेगेलेसिया संस्कार में एटिस के पुनरुत्थान में होता है।

यह सम्भव है कि तीन की संख्या इसमें तथा ऐसे उदाहरणों में अपने पवित्र होने की अपेक्षा पहले एक स्वाभाविक संख्या रही हो। फिर भी पूर्व के पवित्र महत्त्व के कारण ही यह अपने आपको पुनः पवित्र बना लेती है। उदाहरण के लिए एक बहुत अच्छा स्वाभाविक कारण था कि जिसके कारण भारतीय लोग दिन में तीन बार सूर्य को जल दिया करते थे, क्योंकि सूर्योदय, मध्याह्न एवं सूर्यास्त नमस्कार करने के लिए स्वाभाविक बिन्दु थे। अतः यह बिलकुल स्पष्ट

---

३. बुराई को दूर भगाने के लिए लकड़ी (मूलतः क्रास) को तीन बार स्पर्श करने का प्रयोग धार्मिक ढंग से किया गया था। यह स्पर्श त्रयी के तीन व्यक्तियों के आह्वान के रूप में किया जाता था। अब यह विधि एक जादुई रूप में परिवर्तित हो गयी है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नहीं है कि भारतीय लोग दिन में तीन बार देवताओं को इसलिए जल दिया करते थे क्योंकि तीन एक पवित्र संख्या थी। एक प्राचीन स्थिति से ही यह संख्या किसी भी कारण से पवित्र संख्या थी तथा इसका यह एक नया सन्दर्भ मालूम पड़ता था। इसलिए इस "पवित्र तिगुने तर्पण" की उन्होंने तर्कपूर्ण ढंग से काफी चर्चा की है परन्तु यदि स्वाभाविक रूप से तर्पण को दर्शाने वाला कोई चौथा विन्दु होता तो तीन की संख्या की उपेक्षा कर दी गयी होती।

तीन की पवित्रता को किसी "देवता की विषम संख्याओं में आनन्द के" द्वारा व्याख्या नहीं की गयी है। विषम संख्या अति-पूर्णता को बांधने वाली शक्ति का एक दूसरा उदाहरण है; जैसे तेरह एवं वैदिक देवताओं की तेतीस की संख्या। इसके अतिरिक्त भारतीयों का "एक सौ एक" का आम प्रयोग (पुरोहित, बीमारियां, नाड़ियां आदि) विषम संख्या के प्रयोग के दूसरे उदाहरण हैं। धार्मिक प्रयोग में इसका एक जादुई अस्तित्व भी होता है। जादू में तीन प्रबल होता है तथा यह बांधता भी है। धर्म में तीन की संख्या केवल एक पवित्रता का भाव प्रदान करती है। निःसन्देह अपेक्षाकृत वहां जहां धर्म एक जादुई विषय को सुरक्षित रखता है, जैसा यह प्रायः कुछ सन्दर्भों में करता है। भारत के धर्म के समान ही यूनान का धर्म भी श्राप एवं प्रार्थना, धर्म एवं जादू का ही मिश्रण था। "त्रिसप्त" भारतवर्ष में विशेष रूप से कर्मकाण्डीय है हालांकि यह भी एक अनिश्चित रूप से बड़ी संख्या को ही अभिव्यक्त करता है।[४]

तिगुने तर्पण के समान ही दिव्य त्रिक वास्तव में अपनी श्रेष्ठ प्रकार की पवित्रता के एक छोटे से भाग के लिए त्रिगुणात्मक रूपों का ऋणी है। राष्ट्रीय देवविद्या सम्बन्धी त्रयियों में सामान्यतया वे देवता सम्मिलित हैं, जो स्वयं श्रेष्ठ होने के कारण या दूसरे देवताओं से विशिष्ट रूप से भिन्न होने के कारण त्रयी के

---

४. आत्मयज्ञ में इक्कीस लकड़ी रूप प्रतीकात्मक इष्टिकाएँ होती हैं। इक्कीस पहाड़ियों में इन्द्र की बिजली चमकती है। इक्कीस सत्तर (?) इन्द्र के घोड़े होते हैं (ऋग्वेद ८.४६.२६, ९२.२ आदि)। बिना किसी सम्बन्ध के तीन एवं सात की संख्या को प्रायः मिला दिया जाता है। अग्नि-देवता तथा भयानक राक्षसों के बारे में यह वर्णन आता है कि इनके तीन सिर तथा सात ज्वालाएँ होती हैं (वही १.१४६.१; १०.८.८)। वैदिक देवताओं की गिनती पहले ३३ के रूप में की गयी थी, अर्थात् तीन बार ग्यारह। बाद में इनकी संख्या ३४ हो गयी तथा बाद में वे संख्या में ३३३९ हो गए। इसकी नकल के अनुसार बर्मा में आत्माओं की संख्या ३३ है। इन्द्र इनका मुखिया है (बाकी सभी नायक हैं)। इसके अतिरिक्त चार स्थानीय देवताओं द्वारा इनकी वृद्धि की जाती है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

एक स्वाभाविक वर्ग का निर्माण करते हैं। ये तीनों अंश विशिष्ट रूप से भिन्न क्षेत्रों को अभिव्यक्त करते हैं। आदिम देवताओं की प्राचीन शिन्तो त्रयी इसका एक सुस्पष्ट उदाहरण है। इसके देवता हैं—सूर्य, चन्द्रमा एवं आंधी (या जल)। वैसी ही बेबिलोनियाई त्रयी है: अनु, एनलिल, ए (आकाश एवं समुद्र और बीच में संदिग्ध तूफान)। होमर की जुएस्, पोसिडन, हेडस की त्रयी, जो भाईयों के रूप में मानवीकृत है, आकाश, समुद्र एवं पाताल लोक को अभिव्यक्त करती है। ऐसा वर्ग त्रिगुणात्मक होता है परन्तु इसमें त्रयी के आवश्यक तत्त्वों का अभाव है। यह समजातीय तत्त्वों से नहीं बनता अपितु विजातीय तत्त्वों से इसका निर्माण होता है। इसमें एकता इसलिए होती है क्योंकि यह वर्ग दूसरे वर्गों से पृथक् है। यह इसलिए नहीं है क्योंकि इसके अंग त्रयात्मक होते हैं। जुएस्, पोसिडन एवं हेडस इन तीन विभिन्न क्षेत्रों का नियमन करने वाली आध्यात्मिक शक्तियों के रूप में इनका एक वर्ग है; परन्तु "भाई" बनने से पहले वे किसी भी प्रकार से एकत्रित नहीं होते हैं और फिर वे परस्पर विरोधी भी हैं। इसलिए त्रयियों के सन्दर्भ में देव-विद्या सम्बन्धी विषयों में ऐसा नहीं होता है अपितु नैतिक विषयों में ऐसा होता हैं। जरथ्रुष्ट्र त्रयी "विचार, शब्द, कर्म" और जीवन के उद्देश्यों को अभिव्यक्त करने वाली बौद्ध त्रयी—"धर्म, आनन्द, धन" इन दोनों में समान रूप वाले अंग नहीं हैं अपितु इनमें विरोधी अंग हैं। यूनान की छोटी प्रचलित देव-विद्या सम्बन्धी त्रयियों के विषय में भी ऐसा ही मामला है—तीन भाग्य, तीन कृपाएं तीन बार तीन जुएस् की पुत्रियां (केलिओपे, क्लिओ, एराटो, यूटरपे, मेलवोने, पोलिहिमनिया, टरपीशोरे, थालिया एवं यूरानिया) इनमें एकता नहीं है अपितु विभिन्नता उनके तत्त्वों में अन्तर पैदा करती है। इनको वापिस खोजने पर ऐसा स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, मोईराई का प्राचीन रूप एक था, न कि तीन; और एक या दो मूलतः अप्सरा, कृपा, जलपरी ही थीं (सामान्यतया यह त्रिक् स्त्रियों का होता है)। केवल बाद का विचार ही इनको त्रयी में परिवर्तित कर देता है; परन्तु त्रयी कभी भी मात्र एक तिगुनापन नहीं होता है। यह एक नई विचारधारा का श्रीगणेश करता है।

विजातीय देवताओं के त्रयात्मक वर्ग तथा एक वास्तविक त्रयी की पहचान की विफलता ने अनेक विद्वानों के कार्य को दूषित कर दिया है।[५] अनु; एनलिल, ए और तदनुकूल जापानी देवता तथा होमर सम्बन्धी वर्ग (ऊपर) क्रमशः त्रयियों का निर्माण करते हैं। वे त्रिमूर्ति का निर्माण नहीं करते हैं। ओसिरिस, आइसिस और होरस विभिन्न देवता हैं और बाद में एक पारिवारिक

५. उदाहरण के लिए इस गलती ने एल० एल० पेन (१९०१) की पुस्तक दि एथिक्स ट्रिनीटीज् को प्रभावित किया है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

रिश्ते में जुड़ गए हैं। औरमुज्द, अनहित एवं मिथ्र जैसी अनेक जरथ्रुस्ट्र त्रयियाँ त्रिमूर्तियों से कहीं दूर हैं जैसा औरमुज्द, मिथ्र, अहरिमन की त्रयी में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जरथ्रुस्ट्रवाद में बुद्धिमान् आत्मा, (इसका) समुचित (क्रम) और (इसका) भला मन—यह ही वास्तव में एक त्रयी है, परन्तु वास्तव में अन्तिम दो एक ही बुद्धिमान आत्मा के मानवीकृत लक्षण ही हैं।

ऐसी सभी "त्रिमूर्तियों" का वर्गीकरण करना अनावश्यक है, जैसा कुछ कुछ असावधान लेखक उनके विषय में बतलाते हैं। जुएस्, पोसिडन, हेडस की त्रयी ने जुएस्, हेरा, एथने को जन्म दिया है[6] और इसने क्रमशः जुएस् एथने तथा अपोलो को भी जन्म दिया है। स्केण्डेनेविया की अपनी ओडहिन, थोर, फ्रे की त्रयी थी। बेविलोनिया की छुटपुट त्रयी थी। इसके अतिरिक्त एक और भी थी जिसकी पहले ही चर्चा की जा चुकी है; शामश, पाप, रम्मान (सूर्य, चन्द्रमा, आँधी) पाप, शामश, ईश्वर आदि। मिस्र के समान ही यह वर्ग प्रायः एक चौथे को और जोड़ देता है। यह स्थिर नहीं होता है या जब यह संस्कार में उसी रूप में रहता है तो इसके सदस्य बदल जाते हैं, यह कोई वास्तविक त्रिमूर्ति नहीं होती है।[7]

---

६. जुपिटर, जुनो, मिनर्वा की रोमन त्रयी यूनानी त्रयी की नकल करती है। डेल्फी तथा डोलिस के बीच स्थित फोक्लान नामक कस्बे में यह समूह विद्यमान था। यहाँ एक बड़े कक्ष में इनकी भूमि संरक्षकों के रूप में पूजा की जाती थी (पाउस १०.५.२)। इसलिए इन तीनों की एक भवन में स्थापना विशेष रूप से रोमन नहीं है। एक विशिष्ट स्थिति में एक अन्तर है। हेरा जुएस् के दाएँ स्थित है तथा जुपिटर के बाएँ जुनो स्थित है; परन्तु प्रत्येक सन्दर्भ में देवी को एक सम्माननीय स्थान मिला है। यूनान में यह स्थान दाएँ को स्थित था तथा रोम में बाएँ को स्थित था।

७. बेविलोन के सन्दर्भ में सायसे महोदय आकाश, पृथ्वी तथा सूर्य को गलती से अकादियन 'त्रिमूर्ति' कहते हैं। ह्यूगो राडाऊ महोदय ने इस विचार को बड़े ही विचित्र ढंग से विस्तृत किया है। बेल दि क्राइस्ट ऑफ एनशियंट टाइम्स नामक ग्रंथ में उन्होंने (१९०३ में)यह कहकर संतोष कर लिया था कि बेबि-लोनिया के धर्म में एकेश्वरवाद के प्रति यह एक रवैया था। आखिरकार यह एक विशुद्ध एकेश्वरवाद जैसा ही था। परन्तु कुछ सालों बाद (१९०८) यही सामग्री "एक एकेश्वरवादीय त्रिमूर्तीय धर्म" के रूप में दिखलाई देने लगती है। एनलिल, नीनिल तथा निनलिव के निप्पूर समूह के आधार पर इनका नमूना बनाया गया था। जैसा कि "निप्पूर त्रिमूर्ति" इसका बाद में नाम पड़ गया है। इसकी व्याख्या पिता, पुत्र एवं माता के रूप में की गयी है। दिव्य कर्मों की अस्पष्टता के कारण लेखक, जहाँ कहीं भी त्रयी है वहाँ वह त्रिमूर्ति

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इन देव सम्बन्धी त्रयियों में, विशेष रूप से जहाँ उनके सदस्यों में एक पारिवारिक रिश्ते की कल्पना की जाती है, वहाँ कभी एक ऐसा विश्वास विकसित हो जाता है कि मनुष्य एवं दिव्य वर्ग के किसी एक उच्च सदस्य के बीच एक मध्यस्थ होता है। परन्तु उन लोगों द्वारा एक दूसरी गलती की जाती है जो सर्वत्र ही यह मानने में त्रिमूर्तियों को खोज लेते हैं कि मध्यस्थता का सिद्धान्त पहले त्रिमूर्ति में उत्पन्न होता है। वास्तव में उससे इसका कोई सम्बन्ध नहीं होता है; क्योंकि यह किसी भी त्रिमूर्ति से काफी पुराना है। असभ्य शामन सबसे प्राचीन मध्यस्थ है। वह स्वयं अपने आप में कोई साधारण प्राणी नहीं है परन्तु एक ऐसा व्यक्ति है जो अति प्राकृतिक रूप से प्रेरित है। असभ्य व्यक्ति सामान्यतया (१) शक्ति, (२) स्वयं अतिप्राकृतिक शक्ति को खोजने वाला (३) मानव एवं शक्ति के बीच मध्यस्थता करने वाला शक्ति-पूरित मानव (वह एक पुरोहित हो सकता है) —इन तीनों को ही स्वीकार करता है। ऐसा मानव मध्यस्थ मानव एवं दिव्य के मिश्रण की अभिव्यक्ति करता है। वह मात्र मानव की सुरक्षा या मुक्ति के लिए काम करता है और वह इतिहास में पुरोहित या पैगम्बर के रूप में उदित होता है या एक उद्धारक या एक उद्धारक जैसे उच्च रूप में उदित होता है। त्रयात्मक व्यवस्था में यह विचार ठीक बैठ सकता है परन्तु वास्तव में इसका एक व्यापक आधार है। अनेक पथिक-यज्ञ, जिनकी पहले ही चर्चा की जा चुकी है, अन्ततोगत्वा मध्यस्थीय ही होते हैं। आइनु भालू एक मध्यस्थ है। यह इतनी व्यापक विचारधारा है कि सभी धर्मों की मध्यस्थीय रूप में व्याख्या करने में डॉ० श्रोदर ब्लोम[८] संकोच नहीं करते हैं, क्योंकि प्रत्येक धर्म एक अतिप्राकृतिक शक्ति को स्वीकार करता है। दिव्य एवं मानव का मिश्रण, वर्जना जैसा एक नैतिक परिणाम, एक नया आध्यात्मिक जीवन, एक पवित्र आत्मा और इस अर्थ में वे सभी को त्रयात्मक बतलाते हैं। परन्तु यह मात्र एक ऐसी व्यवस्था को जन्म देने वाली अतिरंजना है जिसमें कुछ भी ठीक बैठ सकता है। उदाहरण के लिए डॉ० श्रोदर ब्लाम ईसा एवं जादू-टोने को मध्यस्थ के रूप में प्रस्तुत करते हैं। परन्तु जादू-टोने का कोई भी मध्यस्थीय काम नहीं होता है। मनुष्य उसको तंग करता है या उसको सीधे-सीधे अपील करता है।

की कल्पना करने लगता है। दि क्रिएशन स्टोरि नामक ग्रन्थ (१९०२) में लेखक अधिक तर्कसंगत था और उसने केवल दो त्रयियों की ही चर्चा की है अर्थात् अनु, एआ, बेल तथा सिन, रम्मन, शामश। नीलसेन महोदय के ग्रन्थ डेर द्राइआइनिगे गोह (१९२२) में पिता, पुत्र तथा माता की सामान्य सेमेटिक त्रिमूर्ति को माना गया है परन्तु उसका प्रमाण सन्तोषप्रद नहीं है।

८. डी० एन० श्रोदर ब्लाम, फाटर, जॉन् उण्ड गेइस्ट (ट्युबिंगन, १९०९)।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

धर्मों द्वारा प्रस्तुत वास्तविक त्रिमूर्तियों पर विचार करने से पहले कुछ भ्रमात्मक रूपों की बात करना आसान होगा। अपने आप में ये कोई समस्या प्रस्तुत नहीं करते हैं। केवल आधुनिक व्याख्याकार ही उनकी गलत व्याख्या करते हैं। ये तीन सिर वाले एवं तीन शरीरों वाले भारत, यूनान एवं गैलिक के प्राचीन दानव हैं। तीन सिर वाले शिवों, केरबेरोस एवं गेरयोन, (यूनानी दानव)—त्रिसदस्यीय वाले रूप की आकृतियों के माध्यम से इनको सर्वोत्तम प्रकार से जाना जाता है। तीन सिर वाला राक्षस जैसे भारतीय है वैसे ही वह यूनानी है। क्रोमोस का एक राक्षस के रूप में, सांड एवं शेर के सिर के बीच में एक बकरे का सिर है। एक तीन सिर वाले राक्षस या कीड़े की चर्चा वेदों में हुई है। उजेनेर महोदय का यह दावा है कि तीन सिर वाली केल्टिक (गैलिक) आकृतियाँ तथा अन्य सभी त्रिशिरीय आकृतियाँ, जहाँ कहीं भी मिली हों, एक देवता के तीन रूपों में प्रत्यावर्तित हो जाते हैं। पहले वे दुगुने होते हैं और फिर वे तिगुने हो जाते हैं।[९] उदाहरण के लिए वे अरेबियन उज्जा को उद्धृत करते हैं। इसकी तीन पेड़ों में पूजा की जाती है और उसको तिगुना समझा जाता है। परन्तु उजेनेर महोदय इस तथ्य की उपेक्षा करते हैं कि द्विदलीय या त्रिदलीय रूप विशेषता या विभिन्नता का श्रीगणेश करता है जैसे विभिन्न रोमन जूपिटर या उसी नाम के आजकल के साधु हैं। परन्तु विभिन्न मन्दिरों के व्यावहारिक रूप वाले वे विभिन्न व्यक्ति हैं जो अधिकांश सन्दर्भों में बिल्कुल भिन्न प्रकार की शक्ति के जमघट से पैदा होते हैं और इस शक्ति का एक नाममात्र का ही रूप होता है। दक्षिणी-पश्चिमी फ्राँस लुडर्ज के एक मन्दिर की कुँवारी कन्या ही वहाँ चिकित्सा करती है। जूपिटर डोलिचेबुस वही नहीं है जो जूपिटर हेलियोपालिटेनुस होता है। न ही यह सम्भव है कि तीन सिरों का तात्पर्य प्रत्येक सन्दर्भ में तीन व्यक्तियों से ही होता है। तीन सिरों एवं तीनों आँखों (उजेनेर महोदय की दृष्टि में भी तीन व्यक्तियों को संकेतित करने वाला) का सम्बन्ध शिव तथा विष्णु द्वारा मारे गए राक्षस दोनों से ही है। परन्तु न तो देवता के या राक्षस के मीन शरीर थे। तीन सिर वाली हेकाटे देवी को दो दूसरी देवियों के साथ बाद में पहचाना गया है। पुराने लोग इस विचार के

---

९. उजेनेर रहाइनेजिशे म्यूजियम फयुर फिल १९०३, पृ० ३१, फुटनोट में इसकी तीन संभावनाओं में से एक के रूप में स्वीकार करते हैं। श्रोदरव्लाम भी वैसा ही करते हैं—अर्थात् सभी तीन सिर वाले देवता एक मूल आकृति के तीन पृथक्-पृथक् प्रतिरूप में प्रत्यावर्तित होते हैं। सभी त्रयियाँ द्वन्द्वों पर प्रत्यावर्तित होती हैं। तीन की संख्या मूलतः उससे भी बड़ी थी जिसके आगे मनुष्य मूलतः गिन नहीं सकता था। अतः वह "विशिष्ट अन्तिम संख्या" बन गयी, जैसा उजेनेर से पहले डेल महोदय ने कहा था।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

बारे में आश्वस्त नहीं थे कि उस देवी के पास तीन शक्तियाँ थीं या वह चन्द्रमा के तीन रूपों का प्रतिनिधित्व करती थी। ऋग्वेद में विनाश की तीन देवियों नैॠत्य; सम्भवतः पाताल लोक की एक ही पृथ्वी-देवी (नेरथुस् ?) का ही रहस्यमय विकास है ("विद्वानों को विदित")। प्रियायस (पुरुष प्रजनन शक्ति का देवता, डायनोसिस एवं एफ्रोडाइट का प्रेम) त्रिलिंगी इसलिए नहीं है क्योंकि उसके पास तीन लिंग थे अपितु उसके पास एक बड़ा सा लिंग था। इसलिए गेरयोम देवता की तीन आकृतियों का तात्पर्य एक मूल विशाल आकृति रहा होगा। मारीचि या तीन मुंह वाली माया (बुद्ध की मां) के सन्दर्भ में किसी भी प्रकार से तीन सिरों का तात्पर्य तीन शरीरों से है। एक मिस्र की देवी जिसके एक मानव का मुंह, कुत्ते का मुंह, बकरे या गाय का मुंह है, तीन सिर वाली मारीचि का बिल्कुल समानान्तर रूप है। हरेमस के तीन सिरों का मात्र तात्पर्य यह था कि वह सभी रास्तों को देखता था, जैसे जानुस दो ही तरफ देखता है और उसी कारण यूनान के जुएस् हरेकाइस की तीन आंखें थीं। सौ आँखों वाला दानव आरगुस एक सर्वोत्तम उदाहरण है। फेरेकाइडेस के अनुसार उसके अनेक नेत्र तीन के रूप में प्रतीत होते हैं। यदि इस सन्दर्भ में तीन आँखों का तात्पर्य तीन शरीरों से है, जैसा उजेनेर महोदय का कहना है, तो आरगुस की सामान्य आकृति का तात्पर्य शरीरों की बहुलता से होगा। परन्तु, जैसा पहले ही दिखलाया जा चुका है, आदिम रूप वाली कला उत्कृष्ट प्रकार की शक्तियों को द्योतित करने वाली अलौकिक शक्तियों को बहुत ही बढ़ा-चढ़ा कर प्रदर्शित करती है जैसे अनेक वक्षों वाली आरटेमिस, तिब्बत का ग्यारह सिर वाला अवलोकितेश्वर, तीन नेत्र वाले संरक्षक देवता, तीन सिर वाला दानव, जिसके पशुओं को इन्द्र द्वारा छीना गया था तथा इन्द्र द्वारा इसकी हत्या भी की गयी थी। उसके प्रतिपक्षी के पशु हेराक्लीज़ के द्वारा छीन लिए गए थे। परन्तु वास्तव में यदि यह दानव गेरयोम का मूल रूप ही है तो यह भारतीय रूप वाला खासतौर पर तीन शरीर वाला नहीं हो सकता है, हालांकि वह तीन सिर वाला हो सकता है। जब तक हम इस बात पर विश्वास करने के लिए तैयार नहीं होते हैं कि एकादश सिर वाले देवता का विकास एकादश शरीर वाले देवता से हुआ है; हम इस बात पर दृढता से बल नहीं दे सकते कि तीन सिर वाले देवता का तात्पर्य एक ऐसे रूप से है जिसकी तीन आकृतियां हैं।

परन्तु एक तीन सिर वाला देवता है जो वास्तव में इस अर्थ में त्रयात्मक है कि वह एक आध्यात्मिक शक्ति को लिए हुए तीन विभिन्न रूपों में उदित होता है। यह वैदिक "त्रिसिर वाला अग्नि देवता है" (लैटिन इगनिस), जिसका तिगुनापन उसको अनेक आख्यान एवं तदाश्रित आह्वान प्रदान करता है "तीन प्रकार की सुरक्षा से दयालु बनो" आदि। वह "तीन मुंह वाला सांड" है, और "तीन

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

माताओं से पैदा हुआ है", "तीन स्थानों का देवता है" और उसका कर्मकाण्ड भी उसी संख्या पर आधारित है। वह तीन बार यज्ञ के पास जाता है। वधू तीन बार अग्नि-देवता की परिक्रमा करती है। उसके पार्थिव यज्ञीय स्थान तीन हैं। जैसे आरफियस ने हेलिओस एवं अग्नि को पहचान लिया था, वैसे ही भारतीयों ने सूर्य, अग्नि एवं बिजली को पहचान लिया था, क्योंकि ऋग्वेद में कहा गया है "एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति।" देवताओं के पास आहुतियों को पहुँचाकर वह मनुष्य एवं देवताओं के बीच मध्यस्थता करती है और क्रमशः दिव्य आशीर्वाद प्रदान करती है। परन्तु वह मनुष्य एवं किसी ऊँचे देवता के बीच मध्यस्थता नहीं करती है। वह सभी देवताओं का 'दूत' है और वह स्वयं आहूति को प्रथम ग्रहण करने वाली है। उसका प्रतिदिन आह्वान किया जाता है, न केवल मध्यस्थ के रूप में, अपितु सहायता एवं धन के लिए प्रार्थनाओं सहित उसका आह्वान किया जाता है। अग्नि के रूप में वह ऊर्जा एवं उत्पादक शक्ति है। सूर्य एवं सभी पुनरुत्पादक शक्तियाँ, दोनों में ही वह उत्पादक शक्ति है। इसलिए वह उत्पादक देवता है। मनुष्य के लिए पितृदेवता एवं ब्रह्माण्ड का उत्पादक वह दोनों ही हैं; परन्तु साथ-साथ वह घरों एवं पापियों को जलाने वाली एक विनाशकारी शक्ति भी है। नियम के संरक्षक एवं पापियों के विनाशक के रूप में उसका आह्वान किया जाता है (सम्भवतः यहाँ अग्नि-परीक्षा से तात्पर्य है)। उसका आकाश में जन्म हुआ था एवं देवताओं की इच्छा द्वारा उसको मनुष्य के पास लाया गया था (दिव्य-इच्छा के विरुद्ध नहीं; जैसा प्रोमेथियस कहानी में है)। या कुछ "अग्नि-पुरोहितों" द्वारा उसको लाया गया था।

सूर्य, बिजली एवं अग्नि के "तिगुने प्रकाश, शाश्वत अग्नि, अनेक अभिधानों वाला ब्रह्मा—इसकी पूजा विष्णु, इन्द्र, वरुण एवं रुद्र के रूप में की जाती है, ब्रह्मा, सूर्य, भग (इस नाम के स्लावेनिक रूप का तात्पर्य 'ईश्वर' होता है)। जब वह दहन करता है।"—अग्नि के त्रयात्मक चरित्र के रूप का वर्णन इस प्रकार व्यक्त किया गया है। रहस्यात्मक रूप से वह पुरोहित एवं आहूति है (आहूति में दिव्य) क्योंकि वह कहता है "मैं त्रिधा प्रकाश, ऊर्जा एवं आहूति हूँ।" वह इन्द्र एवं वरुण है क्योंकि ये देवता ही आँधी, वर्षा एवं आकाश के देवता हैं, एवं अग्नि वर्षा में बिजली के रूप में "अपां नपात्" के रूप में पैदा होती है।[१०]

यह वास्तव में सबसे प्राचीन काल में विदित त्रिमूर्ति है। परन्तु यह विचित्र प्रकार की ही त्रिमूर्ति है। इसके घटकों में कोई आपसी सम्बन्ध नहीं है। अग्नि सूर्य का पुत्र नहीं है, वह सूर्य है। अधिक से अधिक ऋग्वेद (१.१६४.१)

---

१०. उद्धृत वैदिक प्रसंगों के संकेत लेखक की पुस्तक "रिलीजन्स ऑफ् इंडिया" में मिलेंगे।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

के रहस्यात्मक सूक्त में अग्नि (यज्ञ की) बिजली एवं सूर्य के लिए भाई है। परन्तु सामान्यतया ये तीन आकृतियाँ एक के ही तीन रूप नहीं है परन्तु एक ही तीन स्थानों में विद्यमान है। बिजली अग्नि का रूप या भाई नहीं है, परन्तु आकाश में जैसे सूर्य अग्नि है वैसे ही बादलों में अग्नि है। अतः "तीन रूप वाला" अग्नि का सामान्य अभिधान नहीं है अपितु "तीन स्थानों वाला" अग्नि का नाम है, वह पृथ्वी पर, बादलों में, आकाश में है, या जिस प्रकार कर्मकाण्ड इसकी शेष व्याख्या करता है—तीन वेदियों वाला। तीन रूपों की अपेक्षा उसके तीन नाम भी हैं और इसलिए इसे त्रिनामन् (तीन नामों वाला) कहा जाता है।[11] कालक्रम के अनुसार इन तीन अग्नियों में से दो नाम परवर्ती लोकप्रिय त्रिमूर्ति के सदस्य बन गए हैं, परन्तु वे विभिन्न नामों के अन्तर्गत त्रिमूर्ति के सदस्य बने हैं जैसे सूर्य विष्णु के रूप में तथा बिजली शिव के रूप में। इसका बिजली के देवता रुद्र के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया था। अग्नि के अनेक पक्ष हैं तथा इसकी त्रिमूर्ति के एक सदस्य द्वारा ही इसके उत्पादक-देवता के विचार को सुरक्षित रखा गया है।

इस भूमिका के साथ हम ब्राह्मणों, बौद्धों, यूनानियों या ईसाइयों की वास्तविक त्रिमूर्तियों के इतिहास की ओर मुड़ सकते हैं। जिनकी अब तक चर्चा की जा चुकी है, उनके समान वे पौराणिक नहीं हैं, अपितु दार्शनिक हैं, हालांकि वे एक पौराणिक अभिधान के अन्तर्गत छिपी हुई हैं।

११. ऐरोस, हिमेरोस तथा पोथोस की एक देवता के तीन नामों (पक्षों) के रूप में तुलना कीजिए। मित्र, अर्यमन, वरुण; अग्नि, पवन, सूर्य जैसी त्रयियाँ ऋग्वेद में सामान्य रूप से मिलती हैं; परन्तु अंश वही नहीं होते तथा त्रयी कभी-कभी आकस्मिक भी होती है। वर्ग में इसका देवता या नाम प्रायः जोड़ दिया जाता है। पृथ्वी एवं आकाश, वरुण एवं मित्र, इन्द्र एवं अग्नि जैसे द्वन्द्व वैदिक समूहों में ज्यादा सामान्य रूप से पाए जाते हैं। सेमेटिक देवशास्त्र के "देवी तथा पुत्र" के द्वन्द्व के समान कोई वैदिक समानान्तर द्वन्द्व नहीं मिलता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अध्याय १८

भारतीय त्रिमूर्ति

हिन्दू त्रिमूर्ति, बौद्ध त्रिमूर्ति से भिन्न होने के साथ-साथ दोनों ही रूपा में ब्राह्मणवादी है, परन्तु वास्तव में इसका प्राचीन भारतीय रूप पुरोहितीय एवं परम्परावादी होने की अपेक्षा लोक प्रचलित अधिक है। दोनों ही रूपों में यह मूल सूर्य देवता विष्णु को बनाए रखती है, हालांकि दार्शनिक व्याख्या में यह एक ऐसा मात्र नाम ही है। किसी अन्य सक्रिय सर्वोच्च शक्ति वाले नाम से भी काम चल सकता है, जैसे पहले भी अग्नि को ऋग्वेद में विभिन्न नामों से पुकारा गया है। वह वास्तव में जीवन एवं मृत्यु का देवता, स्रष्टा एवं विनाशक है।

त्रिमूर्ति या "तीन रूप", जैसा पहले ही सूचित किया जा चुका है, स्रष्टा की एक पौरोहितीय विचारधारा से लेकर, लोक प्रचलित प्रकार के वैदिक देवताओं का एक परवर्ती रूपान्तरण है। मूलतः यह दो तिहाई संघटनात्मक है तथा एक तिहाई दार्शनिक है। परन्तु दो प्रमुख देवताओं—विष्णु तथा शिव का रूप काफी समय पहले ही संघटनात्मक नहीं रह गया था, जैसे पहले जुएस् यूनानियों के लिए था। आकाश या थोर ट्यूटोनिक लोगों के लिए आंधी के समान था, वे अब सूर्य एवं बिजली ही नहीं रह गए थे। इन तीन देवताओं में से प्रत्येक के पीछे एक लम्बी पौराणिक गाथा थी। वैयक्तिक पराक्रम की गाथाएँ प्रत्येक को उन्नत बनाती थीं। प्रत्येक के अपने भक्तिनिष्ठ अनुयायी थे। उनको पहले एक वर्ग में संगठित किया गया था जैसे जुएस् एवं उसके भाइयों को संगठित किया गया था; क्योंकि वे अपने अनेक वातावरणों में श्रेष्ठ देवताओं के रूप में प्रमुख रूप से स्थित थे। ऐसा नहीं था कि वे किसी भी अंश में संगठित देवताओं या त्रयी को अभिव्यक्त करते थे। यह एक वर्ग था जो अपने आप पूरी तरह से त्रयात्मक भी नहीं था, क्योंकि प्रायः दूसरे महान् देवताओं को भी पूरे वर्ग का सदस्य बना दिया जाता था। इनको असावधानी से त्रयी के रूप से समझा जाता था हालांकि वे बिल्कुल ही त्रयात्मक नहीं थे। यह सबसे पहले उत्तर वैदिक काल में औपनिषदीय दार्शनिक स्रोतों में प्रकट होता है। उनके लेखकों ने एक सर्वोच्च आत्मा के विचार की कल्पना की थी, और वे इसके विषय में कहते हैं कि वह एक है

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"उसको ब्रह्म, शिव, इन्द्र, शाश्वत अधिपति कहा जाता है।" वह एक है, उसको इस उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। परन्तु इस सन्दर्भ में एक परवर्ती संस्करण[1] में शिव एवं इन्द्र के बीच विष्णु (हरि) को जोड़ दिया गया है। यह इस प्रकार त्रिमूर्ति में अग्रणी बन जाता है, हालांकि यह ऐसा इनके बाद के क्रम में नहीं है। ईश्वर पिता एवं पुत्र है जैसे मानो किसी प्राचीन ईसाई ने इस कथन को देखते हुए दोनों के बीच इस पवित्र आत्मा को बिठा दिया हो। एक अन्य स्रोत में परमात्मा को अग्नि, वायु एवं सूर्य की त्रयी में सक्रिय रूप से व्यक्त किया गया है और फिर उसको ब्रह्मा, रुद्र (शिव) एवं विष्णु के रूप में व्यक्त किया गया है। उसी स्रोत में एक अनुवर्ती सन्दर्भ में[2] परमात्मा का एक सूक्त आता है जो इस प्रकार प्रारम्भ होता है: "आप—ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र (शिव), प्रजापति, अग्नि, वरुण, वायु, इन्द्र एवं चन्द्रमा हैं।" फिर ब्रह्मा का ऊर्जा के साथ, विष्णु का विशुद्ध चित् (सद्) के साथ एवं रुद्र (शिव) का अन्धकार के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है, अर्थात् द्वैतवादी दार्शनिक विचारधारा के अनुसार सत् के तीन विभिन्न घटकों के साथ तादात्म्य स्थापित किया जाता है। उसी प्रकार ब्रह्मोपनिषद् में इन तीन से अधिक वाले वर्ग में से एक कथन में इन तीनों को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रूप में चुना गया है कि जाग्रत होने पर आत्मा ब्रह्म हो जाती है; स्वप्न देखती हुई विष्णु होती है; सुषुप्ति में रुद्र (शिव) होती है; जैसे लयावस्था में यह सर्वोच्च शक्ति होती है, "अमर आत्मा, वह सूर्य, विष्णु, शिव, आत्मा, रुद्र, अग्नि है।"

ऐसे वर्गीकरण से यह स्पष्ट है कि त्रयी मूलतः त्रयात्मक नहीं है और त्रयी स्वयं अपने आप में कमोवेश रूप में उच्च देवताओं का एक आकस्मिक संगठन है। ये सभी देवता अन्य तीन विरोधी कर्मकाण्डीय वर्गों से शिथिल रूप से सम्बद्ध हैं। उदाहरण के लिए जैसे ब्रह्मविद्योपनिषद् में इनको वेदों, अग्नियों आदि की त्रयी के साथ-साथ रखा गया है। परन्तु धीरे-धीरे वे परमात्मा के अतीव महत्त्वपूर्ण रूप बनते चले गए। इसलिए ध्यानबिन्दूपनिषद् में (उप० ११.१७) ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव इस प्रकार हैं। रामोत्तरतापिन्युपनिषद् का कथन भी इसके ही समानान्तर ही है कि "राम, ब्रह्मा, विष्णु एवं अधिपति (शिव) हैं।" पूर्ववर्ती योगोपनिषद् में भी हमें यह महत्त्वपूर्ण कथन उपलब्ध होता है। इसका हम बाद में संकेत करेंगे कि "विष्णु ने अपनी अनुकम्पा[3] के कारण मनुष्य रूप धारण किया" (वही)। परवर्ती स्मृति साहित्य में भी त्रयी का यही तात्पर्य है, जैसे विष्णु स्मृति

---

१. महानारायण, ११, १२
२. मैत्रेयी, ४, ५ तथा ५, १
३. इससे पहले भी मनुष्य को परमात्मा की अनुकम्पा से ही बचाया जाता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

३१.६ में इस बात पर बल दिया गया है कि माता, पिता एवं गुरू की त्रयी का वैसे ही आदर करना चाहिए जैसे "तीन वेदों, तीन देवताओं, तीन लोकों एवं तीन अग्नियों का" आदर किया जाना चाहिए। फिर भी, जो त्रयी आकस्मिक ढंग से एक चौथे सदस्य को स्वीकार कर लेती है, वह अभी भी एक त्रिमूर्ति नहीं होती है, और कैवल्योपनिषद् (८) में यही सन्दर्भ है, जहाँ "ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, विष्णु, विनाश की अग्नि एवं चन्द्रमा" को सर्वोच्च आत्मा घोषित किया गया है। शिवोपनिषद् (अथर्वशिख) में भी उनको सर्वोच्च शक्ति घोषित किया गया है। यह उपनिषद् "ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र" को परमात्मा शिव से उत्पन्न मानता है। विष्णु-सूत्रों में भी उसी प्रकार विष्णु ही सर्वोच्च शक्ति है। फिर वह विष्णु, शिव, ब्रह्मा इस त्रयी के शीर्षस्थ रूप में स्थित रहता है (नृसिंहतापिन्युपनिषद् ९)।

देवताओं की इस साम्प्रदायिक व्याख्या में हमें त्रिमूर्ति की कुञ्जी उपलब्ध होती है, जो तुलनात्मक ढंग में आधुनिक है। हमारे काल की तीसरी या चौथी शताब्दी से पहले इसको स्वीकार नहीं किया गया है। उस समय यह त्रिमूर्ति एक ईश्वर के तीन रूपों में औपचारिक ढंग से स्थापित हो चुकी थी। काव्य-साहित्य में इसके अन्त तक किसी प्रकार के समाप्ति का कोई संकेत नहीं मिलता है। उस समय में भी, जो वास्तव में विख्यात था, वह विष्णु एवं शिव का एक देवता के रूप में युगल ही था। ब्रह्मा इस वर्ग में एक आकृति के रूप में प्रविष्ट होते हैं, क्योंकि साम्प्रदायिक पूजा करने वालों के लिए प्राचीन एवं परम्परागत स्रष्टा को नकारना असम्भव था, जो वैदिक काल के अन्त से ही देवकुल के प्रमुख तथा देवताओं एवं मनुष्यों के पिता के रूप में चला आ रहा था। इसके अतिरिक्त परम्परागत पुरोहित कमोवेश रूप में स्वयं अपने आप में साम्प्रदायिक ही थे, अर्थात् वे विष्णु पूजक या शिव पूजकों के सान्निध्य में ही निवास करते थे और वे उस देवता की प्रतिष्ठा को नकारने के लिए तैयार नहीं थे, जिस देवता को सभी व्यक्ति सर्वोत्तम मानते थे, हालांकि कर्मकाण्डीय दृष्टि से वे अभी भी ब्रह्मा को प्रमुख देव के रूप में नमस्कार किया करते थे। तब भी जब इन देवताओं में से प्रत्येक अपने आप में पूर्ण था, प्रत्येक स्रष्टा, संरक्षक एवं संहारक था।[४] फिर भी ब्रह्मा की विशिष्ट ख्याति स्रष्टा के रूप में ही थी, विष्णु की संरक्षक के रूप में थी एवं शिव की ख्याति संहारक के रूप में थी। अतः कहने का तात्पर्य है कि प्रत्येक को विशेषज्ञ बनाना कठिन नहीं था और इन तीनों को इन तीन विशिष्ट कामों के प्रतिनिधि के रूप में समझना भी कठिन नहीं था। शिव को उनकी मूल तड़ित्-शक्ति पर वापस ले जाना एवं विष्णु को उनकी सूर्य-शक्ति पर वापिस ले जाना

४. ब्रह्मा के इन सभी कार्य करने के विश्वास के चिह्न महाभारत में पाए जा सकते हैं। देखिए लेखक का ग्रन्थ एपिक माइथोलॉजि, पृ० १९३

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कोई आसान मामला नहीं था। इन देवताओं ने अपनी इन शक्तियों का कभी भी परित्याग नहीं किया और यह कहा गया है, "यहाँ यह परम प्रकाश का देवता है, सूर्य जो स्थिति को अभिव्यक्त करता है, यहाँ विध्वंसक बिजली का देवता है और यह प्राचीन स्रष्टा है।" परम्परागत ब्राह्मणवादी विचारधारा एवं आपस में लड़ने वाले दो सम्प्रदायों में एक समझौता किया गया है। ये प्राचीन काल से ही चिल्ला रहे थे, "हमारा देवता ही सही देवता है।" वे आपस में मिल गए, परन्तु वे इस गुप्त स्वीकारोक्ति के साथ मिले कि प्रत्येक सम्प्रदाय अपने देवता को सबसे ज्यादा श्रद्धास्पद मानता रहेगा। शैवों ने कहा, "ये तीन एक है; परन्तु मेरा महान्तम है"; वैष्णव ने उत्तर दिया, "ये तीन एक हैं, परन्तु मेरा सबसे महान् है", इसलिए एक विष्णु-सूक्त कहता है कि तीन देवता एक ही ईश्वर के रूप हैं, परन्तु अन्य दो विष्णु के द्वारा पैदा किए गए थे या बनाए गए थे। शिव-सूक्त भी वही बात कहता है। वह केवल विष्णु के स्थान पर शिव को स्थापित कर देता है।[५] भारतवर्ष में यह रवैया आज तक चला आ रहा है और आज भी ये दोनों प्रचलित देवता हैं। इनके अनेक मन्दिर हैं, परन्तु ब्रह्मा के मन्दिर विरल या अनुपम ही हैं और त्रिमूर्ति का कोई भी मन्दिर नहीं है।[६] संक्षेप में "त्रयात्मक" आम जनता या तो विष्णु की पूजा करती है या शिव की, परन्तु विरल रूप में ही उन तीनों को मिलाती है और व्यावहारिक दृष्टि से ब्रह्मा का कभी भी ध्यान नहीं रखती है।

परन्तु जन्म, स्थिति एवं विनाश के तीनों पक्षों के अन्तर्गत देवत्व को अभिव्यक्त करने वाला औपचारिक समीकरण, बिजली के द्वारा होने वाले विनाश के मूल भाव से बाहर निकल गया था। इसको संसार के विनाश के भाव तक ही विस्तृत कर दिया गया है। इसलिए यह शृंखला ब्रह्माण्डीय विकास को अभिव्यक्त करने लगी है और त्रिमूर्ति ने भूत, वर्तमान एवं भविष्य को ही अभिव्यक्त किया है। फिर भी, वास्तव में इस त्रिमूर्ति के विचार पर इतना कम बल दिया गया है कि हरिवंश नामक अनुक्रमणिका में "हरि-हरौ" (हरि-शिव) नामक युगल ही प्रशंसा की वास्तविक वस्तु है : "ये दो सर्वोच्च देवता अपने स्वभाव में एक ही हैं" (१०६७२)। ये सम्प्रदाय आज भी भारत में सक्रिय हैं। आज भी इनमें एक प्रतिद्वन्द्विता विद्यमान है। इनके अनुयायियों में विभिन्न विधियाँ पायी जाती हैं।

---

५. सांख्य-दर्शन के तीन गुणों के साथ तीन देवताओं का आकस्मिक रूप में तादात्म्य स्थापित करके त्रिमूर्ति की व्याख्या करना लापरवाही है। ये गुण उस वर्ग के अनुकूल हैं जो पहले से ही विदित है।

६. एलिफेण्टा की गुफाओं में जो तीन मुँह वाली प्रतिमा है, वह शिव की प्रतिमा बतलाई जाती है। परन्तु "एका मूर्तिस्त्रयोदेवाः" वाला सिद्धान्त पहला है; जिसका आशय हैं एक शरीर में तीन देवता।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पुराणों में प्रत्येक देवता की पृथक् रूप से पूजा की जाती है। प्रत्येक सम्प्रदाय इस बात पर दृढ़ता से बल देता है कि हालाँकि यह समीकरण विष्णु=शिव=एक सही है, फिर भी शिव या विष्णु दूसरे प्रतिद्वन्द्वी देवता से विशिष्ट रूप से घटिया हैं। किसी भी भारतीय दार्शनिक ने इस त्रिमूर्ति को गम्भीरता से ग्रहण नहीं किया है और किसी भी तत्त्व वेत्ता ने इस पर विचार नहीं किया है।

शिव के प्रदर्शन में यह देवता उभयलिंगी है और इसका "स्त्री-सामर्थ्य" कभी-कभी इतना प्रमुख बन जाता है कि परिणामस्वरूप इस देवता की पूजा माता के रूप में की जाने लगती है। शैव धर्म के परवर्ती तान्त्रिक रूप (शाक्त) में इसका अत्यधिक प्रचलन है (बौद्ध धर्म से आत्मसात् होकर)। यह इस बात पर बल देता है कि दिव्य मातृ-शक्ति त्रिमूर्ति के सभी तीनों देवताओं से श्रेष्ठ है; परन्तु प्रचलित विश्वास में भी ऐसा सामान्य रूप से पाया जाता है। इस प्रकार दक्षिण भारत में ईश्वर का मातृ-रूप इतना महत्त्वपूर्ण बन गया है कि एल्लमा (मातृ देवी) को मुर्गी के रूप में वर्णित किया गया है और इसी से त्रिमूर्ति अण्डाकार के रूप में उद्भूत हुई है। इसके अतिरिक्त रहस्यवादियों में भी यह विश्वास पाया जाता है। विवेकानन्द के गुरु रामकृष्ण ने ईश्वर के मातृ-रूप की पूजा विशेष रूप से करवाई है। दुःख में या भावात्मक धर्म निष्ठा में लोग सहानुभूति के लिए माता की ओर मुड़ने के लिए प्रवण हो जाते है हालांकि जब मातृदेवी एक मध्यस्थ संन्यासी या कुंवारी भी नहीं है। इस भारतीय व्याख्या की तुलना आत्मा की प्राचीन ईसाई व्याख्या से की जा सकती है जहाँ पवित्र-आत्मा को ईश्वर की मातृ-शक्ति के रूप में माना गया है।[७]

ऐसा देखा गया है कि त्रिमूर्ति में सदस्यों में कोई मौलिक आपसी सम्बन्ध नहीं होता है। ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव का आपस में कोई पारिवारिक सम्बन्ध नहीं है या इनमें कोई प्राकृत संबन्ध भी नहीं है। जब सबसे पहले त्रयी का निर्माण हुआ था तो ये देवता भूत, वर्तमान एवं भविष्य को अभिव्यक्त नहीं करते थे। प्रत्येक सदस्य एक के ही एक विशिष्ट पक्ष को अभिव्यक्त करता था परन्तु केवल वह मात्र इसी प्रकार अभिव्यक्त करता था जैसे अन्य सदस्य भी करते थे। इनको आकस्मिक रूप से जोड़ने पर वे एक पक्ष को अभिव्यक्त करते थे। इस वर्ग में कुछ भी दार्शनिक नहीं था। सभी दिव्य पक्षों का यह मात्र एक पौराणिक उदाहरण ही था।

---

७. ईसाई धर्म के आध्यात्मिक श्रृंगारवाद के समानान्तर उदाहरण द्वारा भारतीय रहस्यवाद की श्रृंगारिक विधियों को उदाहृत किया जा सकता है (त्रयात्मक जैसे पिता, माता तथा पुत्र)। परन्तु भारत में ऐसा देखा गया है कि पुरुष तत्त्व की अपेक्षा दिव्य मातृ-तत्त्व ज्यादा सक्रिय तथा उत्तेजक है। चीन में पुरुष तत्त्व ज्यादा सक्रिय है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भारतीयों की वास्तविक महत्त्वपूर्ण त्रिमूर्ति, जैसा प्रत्येक ऐसी त्रिभूर्ति को होना चाहिए, किन्हीं ऐतिहासिक, पौराणिक एवं स्थानीय परिस्थितियों पर आधारित नहीं है परन्तु सार्वभौम सत्यों से ही इस त्रिमूर्ति का निर्माण होता है। इनमें से संसार में केवल तीन ही हैं (हम यूनानी-मिस्री देवता के भौण्डे त्रयात्मक-वाद को अलग कर सकते हैं)[८] और इनमें से दो ऐतिहासिक रूप से एवं प्राकृत रूप से इतनी घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई हैं कि उनको एक ही व्यवस्था के दो प्रतिनिधियों के रूप में समझा जा सकता है; परन्तु चूंकि दोनों में प्रत्येक की अपनी एक विशिष्ट भूमिका है, इसलिए प्रत्येक की स्वयं व्याख्या करने से मामला ज्यादा स्पष्ट हो जाएगा। प्रासंगिक रूप से यह कहा जा सकता है कि ईसाई त्रिमूर्ति की अपेक्षा ब्राह्मण एवं बौद्ध त्रिमूर्तियाँ—ये दोनों ही काफी परवर्ती हैं, हालांकि इनके साथ उनका कोई ऐतिहासिक सम्बन्ध नहीं है।[९]

हम पहले यह देख चुके हैं कि एक देवता के अवतार रूप का भाव उतना ही प्राचीन है जितना बर्बर लोगों का पशुओं का भाव। ये मनुष्यों की रूहों को आश्रय प्रदान करते हैं या पशु रूप में देवता हैं जिन्होंने अस्थायी रूप से यह आकृति धारण की हुई है (वास्तविक पशु देवताओं से विशिष्ट रूप से पृथक् रूप में)। भूत, राक्षस या देवता मानव रूप धारण कर सकते हैं या मनुष्य रूप में पुनः जन्म ग्रहण कर सकते हैं। एक देवता भी इस प्रकार पैदा हो सकता है और यूनान एवं भारतवर्ष की पौराणिक परम्परा के अनुसार फिर भी स्वर्ग में अपने सच्चे रूप में रह सकता है और जब यह होता है तो मनुष्य रूप में पैदा हुए प्रतिनिधि को देवता के बेटे या देवता के "अंश" के रूप में पहचाना जाता है। सामान्य सिद्धान्त के रूप में यह कहा जा सकता है कि एक विशिष्ट व्यक्ति खास तौर पर दिव्य बन सकता है और इसके विपरीत यदि एक आदमी खास तौर पर शारीरिक या आध्यात्मिक शक्तियों से पूर्ण दिखलाई पड़े तो इस शक्ति की व्याख्या प्रायः इस प्रकार से की जाती है कि उसने यह दिव्य शक्ति अपने दिव्य पितृत्व के परिणामस्वरूप प्राप्त की है। फिर उपनिषदों के प्राचीन काल में हम यह देख चुके हैं कि एक ईश्वरीय तत्त्व ने देवकुलीय वातावरण में अपना काम करना प्रारम्भ कर दिया था। यह परमात्मा की आध्यात्मिक शक्ति की सक्रिय ऊर्जा की

---

८. ओसिरिस तथा एपिस के रूप में सेरापिस।

९. ईसाई धर्म से पहले ही त्रिमूर्ति का निर्माण हो चुका था क्योंकि इसकी प्रयोगात्मक प्रारम्भिक स्थिति उपनिषदों में देखी जा सकती है। एक सम्पूर्ण सिद्धान्त के रूप में एक रूप में तीन देवताओं का भाव अर्थात् त्रिमूर्ति हमारे अपने (ईसाई) काल से भी बाद की है। पहले तीन या इससे अधिक देवता एक ही देवता के रूप होते हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

व्याख्या करने का पहले ही प्रयत्न कर चुका था। इसने यह मानकर इसकी व्याख्या की कि जब परमात्मा अपने आपको अभिव्यक्त करता है तो यह स्फूर्तिवान, सर्जनात्मक एवं आध्यात्मिक शक्ति के रूप में ऐसा करता है। इस आध्यात्मिक शक्ति को ही एक देवता कहा जाता है या किसी देवता के विशिष्ट नाम से इसको पहचाना जाता है। अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में विष्णु एवं शिव ही सबसे ज्यादा प्रचलित नाम थे और अन्तिम रूप से ईश्वर के नाम के रूप में विष्णु इतने महत्त्वपूर्ण बन गए कि उसको एक सर्वोत्तम प्राणी समझा गया। इसकी अनुकम्पा से ही मनुष्य बना था। तीसरे हम देख चुके हैं कि एक दार्शनिक को ब्रह्माण्ड के आधार के लिए एक ऐसे प्राणी की आवश्यकता है जो बिना खण्डों के हो। इसको केवल 'नेति-नेति' के माध्यम से ही जाना जा सकता है (अर्थात् अव्याख्येय) ब्रह्मन् (नपुंसक) परन्तु इसको परमात्मा भी कहा जाता है (इसकी आध्यात्मिकता पर बल देने के लिए मात्र पदार्थ के रूप में नहीं)। यह परमात्मा या विश्व-आत्मा परमब्रह्म शक्ति है।[१०]

ब्रह्म सम्बन्धी त्रिमूर्ति का निर्माण करने के लिए दार्शनिकों ने पौराणिक तथा प्राकृतिक तत्त्वों का प्रयोग किया है। वास्तविक रूप में उन्होंने इसके मानव दिव्य सदस्य की परवाह नहीं की है और विष्णु तथा शिव की तो बहुत ही कम परवाह की है। वे संसार की उत्पत्ति की व्याख्या करने पर तुले हुए थे और यह सिद्ध करके वे अपनी धार्मिक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करते थे कि वे स्वयं ब्रह्मा से एकाकार हैं। परन्तु उन्होंने उसी समय यह भी पहचान लिया था कि एक सर्वसाधारण आदमी को एक ज्यादा ठोस देवता की इच्छा थी और उनके असंख्य अनुयायी लोगों का यह विश्वास था कि ऐसा देवता विद्यमान है और उसने कृष्ण

---

१०. लेखक की राय में यह इसका प्राथमिक अर्थ था, क्योंकि यह इस ब्रह्मा शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है। वेदों के समय में यह प्रार्थना के रूप में शक्ति या जादू का पुञ्ज बन गया था। इसके अतिरिक्त अधिकांश लोग मूलतः 'ब्रह्मा' को एक प्रार्थना समझते हैं और उनके अनुसार इसका 'शक्ति' गौण अर्थ है। इसका अर्थ प्रार्थना है—ऐसा मत प्रस्तुत करने के बाद डाउसन महोदय इसका नियमतः'शक्ति' अनुवाद करते हैं क्योंकि दार्शनिक युग के प्रारम्भ होने तक यही इसका मौलिक अर्थ था। नपुंसक शब्द ब्रह्मन् (कर्मन् के समान् तथा ग्रीक प्रग्मन) एवं पुल्लिंग ब्रह्मा में अन्तर करना चाहिए। पुल्लिंग ब्रह्मा सृष्टि का देवता है—यह ही (दुर्भाग्यवश) ब्राह्मण का अंग्रेजी रूप है। दुर्भाग्यवश अनेक लेखक ब्रह्मा के स्थान पर ब्रह्मन् का प्रयोग करते हैं तथा ब्रह्मा का एक देवता के रूप में प्रयोग करते हैं। अपने मौलिक रूप में इन दोनों शब्दों में लिंग तथा स्वर का अन्तर था।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

या राम के रूप में पृथ्वी पर अवतार धारण कर लिया है।[११] इस प्रकार के देवता के रिवाज़ के बाद उन्होंने स्वयं इस पर विश्वास किया, परन्तु सामान्यतया ईश्वर को उन्होंने शिव के नाम से ही पुकारना उचित समझा। उस सन्दर्भ में उन्होंने विष्णु एवं उसके अवतारों की उपेक्षा की या उनको अनिच्छुक या कुछ घृणास्पद स्वीकृति प्रदान की। उन्होंने यही स्वीकृति त्रिमूर्तियों की "दिव्यता को आधार देने" के रूप में प्रदान की, जबकि वे स्वयं यह प्रदर्शित करने में ही लगे हुए थे कि संसार मात्र एक भ्रम है या संसार एक भ्रम नहीं है और 'ईश्वर' वास्तव में भ्रम है या परमात्मा का एक रूप या प्रक्षेपण है। यह प्रक्षेपण उन विचारधाराओं के अनुसार होता है जिसको वे अभिव्यक्त करते हैं, विशुद्ध आदर्शवाद का या 'मिश्रित' आदर्शवाद का।

विष्णु के अवतार रूप राम एवं कृष्ण पहले उसके माध्यम से दिव्य नहीं थे परन्तु अतिमानव या अर्द्ध-देवता के रूप में अपने अधिकारों के कारण दिव्य थे। फिर, उनको इन अवतारों या ईश्वर के पार्थिव वंशजों की सूचि में शामिल किया गया जो पृथ्वी पर पशु के भेष में प्रकट हो चुके थे, जैसे उस मछली के रूप में जिसने मनु की रक्षा की थी, ऋक्ष रूप में तथा एक वानर के रूप में। प्रत्येक सन्दर्भ में यह ध्यान रखना चाहिए कि अपनी सनक के कारण से नहीं अपितु अपनी अनुकम्पा के कारण ईश्वर पृथ्वी एवं उसके प्राणियों की शारीरिक विपत्ति या किसी नैतिक बुराई से सहायता करना चाहता था या उनकी सुरक्षा करना चाहता था। भगवद्गीता एवं मूल रामायण के अन्त तक के परवर्ती काल में नायक कृष्ण एवं राम अभी भी स्वतन्त्र ही थे। वे अभी विश्व-आत्मा के रूप में या विष्णु की विश्व-आत्मा के रूप में अभिव्यक्त नहीं हुए थे। परन्तु ईसा काल के कुछ पहले ही इन प्राचीन नायकों के लोक प्रचलित चाटुकारों ने इनको विष्णु के मानव वंशजों (अवतार) के रूप में लोगों के द्वारा स्वीकार करवा दिया। विष्णु असंख्य लोगों के लिए सर्वोच्च आत्मा थे। उनके विश्वास को इस प्रकार कहा जा सकता है: वह एक सर्वोच्च आत्मा है, स्रष्टा, संरक्षक एवं संसार का अन्तिम संहारक। वह—भला एवं दयालु है। जब संसार शारीरिक या नैतिक दृष्टि से गलती करता है तब वह मनुष्य की असहाय स्थिति पर दया करता है। यह देवता इस संसार की सहायता के लिए पार्थिव रूप में जन्म ग्रहण करके पृथ्वी पर अवतरित होता है। इस प्रकार दिव्य होने पर भी वह सत्य एवं उचित का उपदेश देता हुआ, बुराई करने वाले के विरुद्ध लड़ता हुआ मनुष्यों में मनुष्य के रूप में रहता है एवं मनुष्य को सर्वोच्च आत्मा ईश्वर के पास वापिस लाता है। जो कोई भी उसके इस मानव अवतार में विश्वास करता है और इस विश्वास के प्रमाणस्वरूप उसके नियम का

११. इसी ग्रन्थ में पहले देखिए।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पालन करता है वह इस विश्वास को वाचिक रूप से अभिव्यक्त करता हुआ या उसके आदेश का पालन करता हुआ मृत्यु के समय उसके सान्निध्य में पहुँच जाएगा एवं स्वर्ग में उसके साथ रहेगा।

यह विश्वास सही अर्थ में एक सुघरा हुआ देववाद ही है। यह अपने आप में बहुदेववादी है, क्योंकि यह दूसरे देवताओं के एक वर्ग की सत्ता को नकारता नहीं है परन्तु यह अभी भी आवश्यक रूप से एकदेववादी ही है। केवल एक ईश्वर ही सही-सही वर्णन वाला है। उदारवादी सम्प्रदाय में विश्वास करने वालों ने यह मान लिया था कि राम एवं कृष्ण दोनों ही विष्णु के सच्चे अवतार हैं।[१२] संकुचित प्रकार के लोगों का विचार था कि केवल राम या कृष्ण ही सच्चे हैं, परन्तु दोनों इस बात पर सहमत थे कि विष्णु ईश्वर है। आदर्शवादी दार्शनिकों ने इस सम्प्रदाय का काया-कल्प कर दिया था। ये लोग एक अलौकिक परम तत्त्व के रूप में परमात्मा पर वापिस पहुँच गए थे तथा यह सम्प्रदाय एक भिन्न ही तरीके से प्रकट हुआ था। न केवल उन्होंने यही माना कि सभी के लिए राम एवं कृष्ण दोनों ही विष्णु के रूप हैं अपितु उन्होंने यह भी कहा कि विष्णु एवं शिव दोनों ही विश्व-आत्मा के समान रूप से दिव्य रूप हैं। उसके सभी गुणों का अभाव उसको अवर्णनीय बना देता है (ब्रह्मा के रूप में)। हालांकि उसकी सत्, चित एवं आनन्द के रूप में व्याख्या की जा सकती है या उसको समझा जा सकता है। परमात्मा के रूप में ब्रह्मा के विषय में जो भी कुछ कहा जाए, यह उसका सारांश ही है। उनके लिए यही ईश्वर था, अर्थात् अवर्णनीय सार्वभौम आत्मा, अनावश्यक तत्त्वों से विनिर्मुक्त। आदर्शवादियों के लिए यह एक उपेक्षा का मामला था। कोई ईश्वर को विष्णु के नाम से पुकारे या शिव के नाम से पुकारे क्योंकि दोनों एक ही के केवल दो रूप हैं। यह और भी ज्यादा उपेक्षा का मामला था कि कोई विष्णु की पूजा कृष्ण के रूप के अन्तर्गत करता था या राम के रूप के अन्तर्गत किया करता था, परन्तु प्रचलित धर्म के क्षेत्र में इन भेदों ने एक खाई खोद दी। इसने भोले-भाले लोगों को पुण्यात्मा बनाए रखने के लिए एक अच्छा काम किया। इसके अतिरिक्त विष्णु की व्याख्या किए जाने पर इसकी ऋग्वेद में प्रशंसा की गयी और वैदिक कालीन समय में शिव एक सर्वोच्च देवता बन गए। रूढ़िवाद के झण्डे के नीचे दोनों ही श्रद्धास्पद बन गए और दार्शनिकों के लिए भी रूढ़िवाद केवल एक सही विश्वास ही बन गया था। दार्शनिकों ने भी रूढ़िवादी बनने का प्रयत्न किया। प्रत्येक सत्य को, जिसको वे प्रतिपादित किया करते थे, रूढ़िवाद के प्रति

---

१२. कृष्ण के दैवीकरण के समान ही यह एक आधुनिक समानान्तर आम विश्वास है कि कबीर (१५०० ईस्वी) ईश्वर के अवतार थे। धार्मिक दृष्टि से ईश्वर कबीर बन गया; ऐतिहासिक दृष्टि से कबीर ईश्वर बन गया।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अपील द्वारा उसको सहारा प्रदान किया जाता था। "पवित्र वेद ने ऐसा कहा है" अन्य किसी कथन की अपेक्षा यह एक बढ़िया युक्ति थी। यह प्रयत्न उनके लिए बहुत मँहगा पड़ा। इसने उनको परम्परा पर आश्रित बना दिया, एवं विश्व-चिन्तकों के रूप में उनको कमजोर बना दिया। जैसे नेमोसिस (इंजील का पहला अध्याय जिसमें सृष्टि का वर्णन है) से सहमत होने के लिए इसको बाध्य करने पर दर्शन का आधुनिक सिद्धान्त दुर्बल हो जाता है।

परन्तु द्वन्द्वात्मक तर्क की दृष्टि से इसके अपने लाभ थे, क्योंकि पवित्र परम्परा में प्राय: इतने विरोध थे कि कोई भी किसी भी सिद्धान्त के लिए हमेशा ही आश्रय खोज सकता था। इस प्रकार इसकी महत्ता में एक ज्वलन्त प्रश्न यह था कि क्या सृष्टि भ्रमात्मक या वास्तविक है, और यदि वास्तविक है तो भौतिक जगत् का ब्रह्मा के साथ तादातमय है या नहीं? प्रेरित वेदों तथा उपनिषदों (जो आदर भाव में अब वेदों के समान हो गए थे) में दोनों ही दृष्टियों के लिए समान प्रमाण विद्यमान था। इसलिए दार्शनिक शंकर का मत, जो विष्णु एवं संसार की व्यावहारिक वास्तविकता को नकारता नहीं था और यह मानता था कि अन्तवर्ती आत्मा के अतिरिक्त, प्रत्येक वस्तु की वास्तविक सत्ता भ्रमात्मक है, परम्परा एवं तर्क पर आधारित था, जबकि रामानुज का मत विरोधी था कि संसार माया नहीं है एवं वास्तविक है और जैसे मानो ईश्वर का शरीर है। रामानुज का यह मत परम्परा पर आधारित था एवं तर्क को भी स्वीकार्य था। मानव आत्मा के विषय में शंकर ने यह शिक्षा दी कि यह ब्रह्म शाश्वत है और यह वैयक्तिक नहीं है (हालाँकि यह ऐसी प्रतीत होती है) जबकि रामानुज ने यह समझाया कि यह शाश्वत है परन्तु इसका परमात्मा से तादात्म्य नहीं है। रामानुज ने अपनी अन्तर्दृष्टि से यह सिद्ध किया कि ब्रह्म का विकास होता है परन्तु शंकर मत था कि विकास मायामय है।

इन दो विचारधाराओं के बीच धर्म स्वाभाविक रूप से उस विचारधारा की ओर मुड़ गया जो यह शिक्षा देती थी कि एक भ्रमात्मक व्यक्तित्व की अपेक्षा एक वास्तविक व्यक्तित्व वहाँ विद्यमान रहता है जिसे सामान्य आदमी ईश्वर के नाम से पुकारता है। गुणों के लिए एक वास्तविक ईश्वर की आवश्यकता है। इसके लिए एक रूह की आवश्यकता थी जिसका व्यक्तित्व मात्र धोखा नहीं था। चूंकि इस विचारधारा का संस्थापक दक्षिण-भारत में निवास करता था, जहाँ विष्णु का सम्प्रदाय भली-भाँति विदित था (हालांकि उसने खास तौर पर "राम का अनुसरण" नहीं किया जैसा उसका नाम बतलाता है), उसकी विचारधारा के धार्मिक दर्शन ने विष्णु को दिव्य रूप में स्वीकार किया (बल्कि शंकर ने तो शिव को एक नाम के रूप में ही उचित समझा था)। यह महत्त्वपूर्ण है कि इस धार्मिक

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दर्शन की वृद्धि पहले एक धर्म के रूप में भी हुई है। इस धर्म का पालन-पोषण "भक्ति-गीतों" द्वारा किया गया था, लगभग कुछ वैसे ही जैसे किसी त्रयात्मक सम्प्रदाय के उदय होने से पहले प्राचीन ईसाई लोग ईसा के गीत उसको परमात्मा मानकर गाया करते थे। तर्कसंगत दर्शन की अपेक्षा पवित्र सूक्तों ने इस धार्मिक विश्वास को अभिव्यक्ति प्रदान की, अर्थात् ईश्वर मानव रूप नहीं है—इस विचार के लिए ये भक्ति सूक्त मानव रूप में उत्तर रूप ही थे। इन भक्ति सूक्तों को नवीं शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक अकाट्य रूप में स्वीकार किया जा चुका था। शंकर एवं उसके भ्रमात्मक ईश्वर एवं भ्रमात्मक रूह के विषय में सामान्य लोग यह नहीं जानते थे कि वे क्या कहें। उन्होंने इस विषय में कुछ भी नहीं कहा। महान् आध्यात्मिक सौन्दर्य के गीतों के माध्यम से वे उस नर-देवता राम को प्यार करते रहे एवं उसकी ईश्वर के रूप में पूजा करते रहे। तब उन लोगों में श्रेष्ठ बुद्धि वाले लोग पैदा हुए जिन्होंने कहा, "हमारे विश्वास को सिद्ध किया जा सकता है" और अन्तिम रूप से रामानुज ने उनके लिए इसे सिद्ध भी किया[13] यह विश्वास ईश्वर के प्रेम पर आधारित था। रामानुज के अन्तर्गत इस सम्पूर्ण व्यवस्था ने तीन शाश्वत सिद्धान्तों का रूप धारण किया, सर्वोच्च अधिपति (ईश्वर), विचारशील प्राणी (आत्माएँ) और जड़ संसार (पदार्थ)। ये तीनों ही ब्रह्म हैं। एक महान् उपनिषद् में यह कहा गया है कि एक सर्वोच्च अधिपति या नियमन करने वाली आत्मा सभी वस्तुओं में निवास करती है "और इसके अतिरिक्त सब कुछ कष्टदायक है" **अतोऽन्यत् आर्तम्**।[14] जो विरोध यहाँ भौतिक जगत् की लौकिक बुराई एवं उस परमात्मा में प्रस्तुत किया गया है, जो परमात्मा वैयक्तिक आत्मा से एकाकार है, उस विरोध को इस प्रकार समझाया गया है। वैयक्तिक आत्मा एवं भौतिक संसार उस परमात्मा के ही शरीर हैं। ब्रह्मा ही मात्र एक ऐसी सत्ता है जो परमात्मा का नियमन करती हुई वैयक्तिक आत्मा एवं भौतिक संसार में निवास करती है। संसार की उत्पत्ति से पहले परमात्मा सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहती है और सृष्टि के समय ब्रह्माण्ड के रूप में विकसित हो जाती है। निमित्त कारण के रूप में अन्तरात्मा सभी की सृष्टि करने की इच्छा

१३. रामानुज की भव्यता ने अपने पूर्वजों को धूमिल कर दिया है, परन्तु यह मानने के लिए एक कारण है कि अपने धार्मिक दर्शन के प्रवर्त्तक होने की अपेक्षा वे उस दर्शन को पूरा करने वाले थे। वे ग्यारहवीं शताब्दी में हुए; शंकर (जन्म ६८८) के ग्रन्थ का सम्बन्ध नवीं शताब्दी से है। वरीयता के कारण रामानुज ईश्वर का नाम वासुदेव या नायायण स्वीकार करते हैं।

१४. बृहदारण्यकोपनिषद् ३.७.२३। रामानुज वैष्णवों के पंचरात्र मत को मानते थे।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

करती है परन्तु यह वर्तमान संसार का भौतिक कारण भी है। यह परमात्मा ईश्वर एवं अधिपति है। वह दोषों या बुराइयों से मुक्त है। वह सभी में व्याप्त है। वह सभी का नियमन करता है। वह विशुद्ध आनन्द है एवं ज्ञानवान् तथा शक्तिमान् है। वह स्रष्टा एवं संहारक है। वह आशीर्वाद, समृद्धि, धार्मिक पुण्य एवं मुक्ति प्रदान करता है। वह स्वर्ग की दिव्य नगरी का वास्तविक स्वामी है।

शंकर के मतानुसार वैयक्तिक आत्मा ब्रह्मा का अंश नहीं हो सकती क्योंकि ब्रह्मा "अखण्ड" है। परन्तु रामानुज ने आत्मा को ईश्वर के एक अंश के रूप में ही स्वीकार किया है एवं उसके उत्तराधिकारी माधवाचार्य उससे एक कदम आगे बढ़ गए हैं। माधव आत्मा को ब्रह्मा से भिन्न वस्तु के रूप में स्वीकार करते हैं (यह प्रेरित सत्ता का सीधे-सीधे विरोध करता था), जबकि उत्तर भारत में धर्मशास्त्र ने आत्मा की व्याख्या ब्रह्मा के रूपान्तरण के रूप में की है और यह शिक्षा दी है कि ईश्वर के चरित्र के अनुकरण से ही ईश्वर की अनुकम्पा को प्राप्त किया जा सकता है। यह बात इन सम्प्रदायों पर छोड़ दी गयी थी, जैसे हम कह सकते हैं सभी एक हैं, चाहे एक आदमी राम को प्यार करना उचित समझे, या कृष्ण को प्यार करना उचित समझे, परन्तु वैष्णव सम्प्रदाय की अपेक्षा राम के सम्प्रदाय ने एक स्वच्छ आध्यात्मिक रहस्यवाद को आगे बढ़ाया। कृष्ण के भक्त अपने आपको शृंगारिक रहस्यवाद में लीन करने में प्रवीण बन गए। वे "भक्ति" का व्यवहार करने लगे। इसके विषय में कुछ प्रमुख विद्वानों का विचार है कि यह ईसाई मत के ईश्वर के "प्रेम" से प्रभावित है। वह कुछ भी हो, एक प्रबल धार्मिक ज्वार-भाटा संसार की एक व्यावहारिक एकदेववादी व्याख्या की ओर मुड़ रहा था, हालांकि यह नाममात्र से बहुदेववादी था। धर्म का पूरा बल ईश्वर (स्रष्टा, भ्रमात्मक नहीं) के व्यक्तित्व पर बल देने पर ही था। मनुष्य की आत्मा इस ईश्वर पर आधारित थी तथा ईश्वर का तादात्म्य परमात्मा के साथ स्थापित किया जाता था। मनुष्य की आत्मा स्वयं प्रकाश है। वह आनन्दमय एवं अमर है। वह ईश्वर के अधिकार के अधीन है एवं अपनी सत्ता के लिए ईश्वर पर आश्रित है। वह अपनी आत्म-चेतना, ज्ञान, आत्मा एवं शरीर के योग तथा निमित्त के लिए ईश्वर को सहभागी मानता है (परमात्मा एवं संसार का केन्द्र बिन्दु)।[१५] इस विश्वास के साथ मनुष्य को सब कुछ ईश्वर के अर्पण कर देना चाहिए कि वह उसकी सुरक्षा करेगा तथा उसको बचाएगा; वह उसको बचाने के लिए प्रार्थना करता रहेगा। ईश्वर के लिए प्रपत्ति ही धार्मिक जीवन की कुञ्जी है। दो परवर्ती

१५. दूसरी ओर शंकर के अनुसार परमात्मा में बुद्धि के गुण नहीं हैं परन्तु वह विशुद्ध माया है तथा जीवात्मा में न तो पार्थिव तत्त्व है न निमित्त हैं; न ही यह ईश्वर पर आश्रित है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विरोधी विचारधाराएँ विद्यमान हैं। ये ईश्वर की अनुकम्पा तथा मुक्ति प्राप्ति के लिए मानव प्रयत्नों के बीच के रिश्ते पर आधारित है। उत्तरी विचारधारा के अनुसार (यह शब्द सापेक्ष है; दोनों ही विचारधाराओं का सम्बन्ध दक्षिण भारत से है) पहल पूजा करने वाले से की जाती है, जैसे अपने आपको बचाने वाला एक युवा बन्दरअपनी माँ के गले से चिपटा रहता है। दक्षिणी विचाँरधारा के अनुसार पहल ईश्वर के द्वारा की जाती है, जैसे अपने बिलौटे को बचाने वाली बिल्ली उसको अपने मुँह में पकड़े रहती है, बिलौटा कोई प्रयत्न नहीं करता है। बिल्ली के सिद्धान्त के अनुसार आत्म-समर्पण आवश्यक है। बन्दर-सिद्धान्त के अनुसार यह लोगों के लिए मुक्ति का एक साधन है। इसका प्रयोग केवल उन लोगों द्वारा किया जाता है जो बौद्धिक रूप से किसी अन्य साधन का प्रयोग करने के लिए असमर्थ होते हैं। शायद इस अन्तर के सम्बन्ध के बिना यह सम्भव नहीं है कि केवल बिल्ली-सिद्धान्त को मानने वाली विचारधारा ही निम्न वर्ग के लोगों तथा सामाजिक रूप से उत्कृष्ट लोगों के साथ समान व्यवहार करती है। उसने यह अनैतिक दृष्टिकोण अपना लिया है कि दुष्टता ईश्वर को प्रिय है क्योंकि यह उसको अपनी अनुकम्पा एवं प्रेम का प्रयोग करने के लिए अधिक अवसर प्रदान करती है (दोषभोग्य)। उत्तरी भारत की कृष्ण-पूजा के अनुसार चैतन्य के तत्त्व ज्ञान में कृष्ण ईश्वर के रूप में, ज्ञान, चेतना, प्रेम एवं आनन्द (या प्रफुल्लता) के रूप में मानवीकरण हुआ है। यहाँ प्रेम मन को स्थानान्तरित कर देता है तथा प्रफुल्लता रामानुज के प्राचीन सिद्धान्त में स्वीकृत चेतना को स्थानान्तरित कर देती है। रामानुज के सिद्धान्त में ये सभी उस परम पिता ईश्वर से ही व्युत्पन्न हुए हैं।[१६]

धर्म समग्र रूप से, हालांकि नाममात्र से बहुदेववादी है, न केवल एकेश्वरवादी ही है, अपितु त्रयात्मक भी है। इसका मत यह है कि ईश्वर अन्तवर्ती है, परन्तु आत्म-चेतना के रूप में ईश्वर की आत्मा ही एक व्यक्तिनिष्ठ पवित्र आत्मा होती है। मनुष्य को पाप से मुक्ति दिलवाने के लिए ही परमात्मा इसी रूप में पृथ्वी पर अवतरित हुआ है। उसके अन्तर्गत ही उस पवित्र आत्मा ने शरीर रूप धारण किया है। अतः ईश्वर के समान ही उस देव पुरुष को हमारे द्वारा पूजा एवं प्रेम देय है।

रहस्यवाद में "ईश्वर के प्रेम" एवं ईसाई सन्तों के रहस्यमय शृंगारवाद की परवर्ती समान स्थिति की पहले ही आलोचना की जा चुकी है। इस बात पर

---

१६. तुलना करें, सर आर० जी० भण्डारकर, वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजियस सिस्टम्स, पृ० ५२। फुटनोट, तथा वेदान्त के लिए तुलना करें पाल डायसन, आउट लाइन्स ऑफ इंडियन फिलॉस्फी (१९०७)।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अधिक बल देने की आवश्यकता नहीं है। वास्तव में ईश्वर के विशुद्ध प्रेम, माधुर्य, सौजन्य, विनम्रता एवं आह्लादक दृष्टि के सुन्दर उदाहरणों के लिए कोई भी भारत के शैव एवं वैष्णव सन्तों—दोनों की ओर ध्यान दे सकता है, क्योंकि वे इस लोचदार धर्म में सन्तप्त भी हुए हैं तथा आनन्दित भी हुए हैं। वहाँ प्रायः पूजा करने वाले के द्वारा त्रिमूर्ति के एक सदस्य पर ही विचार किया जाता है। परन्तु चाहे वह हरि का नाम पुकारे या राम का नाम पुकारे, चाहे उसकी प्रार्थना शिव या विष्णु के प्रति हो, या उसकी प्रार्थना विष्णु के अवतार-भूत प्रतिनिधि के प्रति हो। यह हमेशा ही इस दृढ़ विश्वास के साथ किया जाता है कि ईश्वर एक ही है; हालाँकि सन्त एवं दार्शनिक इसे काफी स्वाभाविक रूप से विभिन्न दृष्टिकोणों से देखते हैं। पहले (सन्त) के लिए ईश्वर परमपिता परमेश्वर के रूप में इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना शासक तथा स्रष्टा के रूप में है। इस प्रकार वह विनम्र पूजा करने वाला ईश्वरवाद पर वापिस लौटने के लिए प्रवण हो जाता है, जहाँ से उसका धार्मिक सिद्धान्त प्रारम्भ हुआ था। वह ईश्वर के प्रति विश्वास एवं पृथ्वी पर उसके अवतारभूत दिव्य प्रतिनिधि के विश्वास पर लौट आता है। इसके अतिरिक्त परम्परा से उसको एक विस्तृत आध्यात्मिक सिद्धान्त प्राप्त हुआ है। यदि उस पर प्रश्नचिह्न लगाया जाए, तो वह यह व्याख्या करेगा कि सक्रिय आत्मा बनने से पहले वह, जो वास्तव में ईश्वर से एकाकार है, विश्व आत्मा के रूप में सारे ब्रह्माण्ड में वैसे ही अन्तर्वर्ती है जैसे वह मानव आत्मा में भी अन्तर्वर्ती है। ईश्वर के लिए संसार वैसे है जैसे मनुष्य का शरीर उसकी आत्मा के लिए है। विशुद्ध शैव भी शिव में उसी का दर्शन करता है जो ईश्वर एवं देव प्रमुख दोनों ही है। उसका धर्म एक ऐसे सिद्धान्त पर वापिस पहुँच जाता है जिसमें ईश्वर को वह उस संसार से भिन्न मानता है जिस संसार को वह उत्पन्न करता है। धार्मिक दृष्टि से एकेश्वरवादी होने की अपेक्षा वह द्वैतवादी विचारधारा की ओर मुड़ा हुआ है जबकि वह ईश्वर के किसी भी अवतार को स्वीकार नहीं करता है।

लोक प्रचलित एवं दार्शनिक त्रिमूर्ति के बीच का सम्बन्ध सीधा है। त्रिमूर्ति एक की ही तीन अवस्थाओं या अभिव्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करती है : स्रष्ट्यात्मक, संरक्षात्मक एवं संहारात्मक दिव्य शक्ति, अर्थात् त्रिमूर्ति उसको एक सक्रिय ईश्वर दर्शन के परमात्मा (देव प्रमुख) से भिन्न रूप में अभिव्यक्त करती

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

है, परन्तु इसके सक्रिय एवं चैतन्य होने के बावजूद भी यह शक्ति ब्रह्माण्ड भी है। यह तुरन्त ही ईश्वर तथा देवप्रमुख बन जाती है।[१७]

१७. यह सम्भवतः ईसाई प्रभाव का द्योतक है कि रामानुज के अनुयायी माधव ने तेरहवीं शताब्दी में एक ईश्वरवादी धर्म की स्थापना की। इसकी न केवल यह मान्यता थी कि ईश्वर जीवात्मा तथा संसार से एकाकार है, परन्तु उसने विष्णु, लक्ष्मी तथा इनके दिव्य पुत्र वायु की त्रिमूर्ति की स्थापना की। माधव के अनुसार (वायु एक पुण्यात्मा के रूप में एक अवतार है, वायु व्युत्पत्ति के रूप में लैटिन वेन्टस से सम्बद्ध है)। दक्षिण के शैव सम्प्रदाय में नारायण भी एक वैसा ही दिव्य पुत्र-देवता है। यह पिता शिव तथा माता विष्णु का पुत्र है (विष्णु की स्त्री रूप में अभिव्यक्ति है), यद्यपि मौलिक नारायण एक स्वतन्त्र देवता था तथा यह एक अर्द्ध-एकेश्वरवादी देवता था। त्रिमूर्ति की दो महान् विभूतियों के पुत्र के रूप में ग्रहण करने से इसको इनसे गौण बना दिया है। सामान्यतया पुरुष देवताओं को स्त्री-देवियां बनाने की प्रवृत्ति ब्राह्मण परम्परा की अपेक्षा बौद्ध-परम्परा में पायी जाती है (तुलना करें बुद्ध माता)। एक उभयलिंगी आत्मा विष्णु की अपेक्षा शिव बनने में ज्यादा सक्षम है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अध्याय १९

बौद्ध त्रिमूर्ति

बौद्ध त्रिमूर्ति अविश्वसनीय ढंग से अपनी सीधी-सादी प्रारम्भिक स्थिति पर वापिस पहुँच जाती है अर्थात् उस स्वीकारोक्ति के सिद्धांत पर वापिस पहुँचती है जिसे इसके बुद्ध धर्म के प्रचारक बुद्ध ने उस समय अपनाया था जब वे एक संघ के सदस्य बने थे :

"बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि।"

यही वह सिद्धान्त था, जिसे आदरणीय गौतम बुद्ध ने, जो दिव्य आचार्य नहीं थे, संसार को यह उपदेश दिया कि कोई ईश्वर नहीं है और मनुष्य के पास एक अमर आत्मा नहीं है। बाद में शीघ्र ही बुद्ध के सर्वोच्च प्रभु रूप के विचार का प्रादुर्भाव हुआ। शारीरिक बोधिसत्व के रूप का भी विचार आया परन्तु यह एक श्रेष्ठ प्रकार की पवित्र आत्मा ही थी। इसके साथ-साथ यह विचार भी प्रादुर्भूत हुआ किगौतम दिव्य बुद्ध के अवतार हैं। यह ध्यान रखना चाहिए, ये दोनों ही त्रयी हैं, आचार्य, धम्म एवं संघ तथा सर्वोत्तम स्वामी, पवित्र आत्मा, अवतार भूत त्राता। परन्तु किस प्रकार से यह दूसरी त्रयी पहली त्रयी से उद्भूत हो सकती थी ?

आदिम बौद्ध के लिए व्यक्तिनिष्ठ गौतम बुद्ध उसके धर्म की प्रमुख धारा थे। बुद्ध पहले ही एक अलौकिक पुरुष बन चुके थे और उनकी मृत्यु के पश्चात् स्वाभाविक रूप से वे एक आध्यात्मिक प्रभु के रूप में प्रतिष्ठित पुरुष बन गए थे। सभी प्राणियों द्वारा उनकी पवित्र रूप से पूजा की जाती थी, क्योंकि वे पृथ्वी पर लगभग एक एकेश्वरवादी भक्ति के साथ श्रद्धास्पद बन गए थे। जीवित रहते हुए उनका व्यक्तित्व चुम्बकीय था। वे एक आश्चर्य पुरुष रहे होंगे, आध्यात्मिक, सहानुभूतिपूर्ण, बुद्धिमान एवं दयालु। इन सभी गुणों को एक दूरी से भी देखा जा सकता है। एक ऐसा पुरुष, हालांकि मर गया था, वह मर नहीं सकता था। अलौकिक पुरुष के प्रति वैयक्तिक निष्ठा को उनमें एक आत्मा के रूप में स्थानान्तरित कर दिया गया था। बुद्ध का मनुष्य रूप गौण हो गया था। संघ के परवर्ती मठाधीश के लिए सर्वोच्च आध्यात्मिक प्राणी ही मात्र एक 'शरण' था। उसको

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भी उसने वही शीर्ष स्थान प्रदान किया अर्थात्—बुद्ध। इसलिए गौतम एक आध्यात्मिक शक्ति बन गए। जहाँ तक धम्म का सम्बन्ध है, इस पार्थिव प्रभु के शब्द को एक प्रेरित धम्म के रूप में संघ को दे दिया गया। इस धम्म का उन्होंने स्वयं आदेश दिया था और उसकी मृत्यु के पश्चात् वह धम्म ही उसका प्रतिनिधित्व करता था। अतः वे सशरीरी धम्म बन गए थे। इसीलिए ही संघ ने कहा था, "धम्म ही बुद्ध है।" फिर जहाँ तक संघ का प्रश्न है, संघ के अधिक गम्भीर सदस्य, अपने प्रभु के ज्ञान में निष्णात, उसी के समान ही अतिमानव शक्तियों से युक्त बन गए थे (ऐसा विचार किया जाता था) और उन बोधिसत्वों को विशिष्ट ज्ञानियों के रूप जाना जाता था। वे सर्वोत्तम प्रकाश से युक्त थे (परन्तु अपनी शक्ति, जादूगरी एवं पण्डितमन्यता के गुणों के कारण भी)। संघ इनको एक वर्ग के रूप में आदर्श मानता था। जैसे उनके प्रभु ऐतिहासिक विकास के साथ मानव से अतिमानव, अतिमानव से दिव्य एवं अतिदिव्य रूप में प्रतिष्ठित हुए, ये बोधिसत्व भी वैसे उन्नत होने लगे। अन्त में बुद्ध एक सर्वोच्च आध्यात्मिक प्रभु बन गए। संघ का प्रतिनिधित्व करने वाले बोधिसत्व आध्यात्मिक शक्तियों के रूप में अभी भी बुद्ध के साथ ही रहते थे (भक्तों के विचार में)। ये आध्यात्मिक शक्तियाँ बुद्ध को आवृत करती थीं और वे उनके समान ही "लगभग वैसी ही बुद्धिमती थीं।" वास्तव में उन शक्तियों की एक तरह से स्वयं बुद्ध के साथ एकाकार के रूप में कल्पना की गयी थी। उस विधि को शीघ्र ही समझाया गया था। अतः क्योंकि धम्म बुद्ध थे एवं बोधिसत्व के रूप में संघ बुद्ध ही थे, स्वीकारोक्ति की आदिम त्रयी एक प्राकृत बुद्ध का प्रतीक बन गयी। ये बुद्ध तुरन्त ही सर्वोच्च आत्मा, पवित्र आत्मा एवं सशरीरी आत्मा बन गए। अब बोधिसत्व प्राचीन विश्वास वाले पूर्ण सन्त नहीं रह गए थे। वे फरिश्तों से भी ऊँचे उठ गए थे। वे आत्माओं का एक झुण्ड बन गए थे। वास्तव में उनमें से प्रत्येक एक भ्रूणीय बुद्ध बन गया था। यह विश्वास किया जाता था कि किसी छिपे हुए कर्म के कारण से ही वे सत्ता में आते हैं। इनका कोई बाह्य कारण ज्ञात नहीं है। वे बिना आज्ञा माता-पिता के होते हैं, वे बिना किसी संघटना के सशरीरी सत्ता मात्र थे, जो सभी प्रकार की जादुई शक्तियों का प्रयोग कर सकते थे, अदृश्य हो सकते थे, पक्की जमीन पर चल सकते थे, पानी पर चल सकते थे, आकाश में चल सकते थे, कम महत्त्वपूर्ण शक्तियों का तो कहना ही क्या है, भूकम्प पैदा करने वाली सभी शक्तियाँ तो मानव दक्षों के पास ही थीं। "जब कभी भी एक बोधिसत्व बुद्ध के अवतार रूप में पृथ्वी पर जन्म ग्रहण करने के लिए अपने स्वर्ग का जान-बूझकर परित्याग करता है" तो हमेशा ही उसके बाद एक भूकम्प आता है।

इस अन्तिम कथन में बुद्ध एवं बोधिसत्व की एकता का तात्पर्य निहित है। बोधिसत्व का रूप योगी प्रकार के साधु से ही प्रारम्भ हुआ था, परन्तु प्रारम्भिक

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

संघ ने भी इसकी एक पूर्ण स्वर्गिक प्राणी के रूप में प्रशंसा करनी शुरू कर दी थी और यह समझा जाता था कि यह सशरीरी है, एवं इसमें जादुई कार्य करने की क्षमता है। साधुता के मुकुटमणि के रूप में बोधिसत्व स्त्री से पैदा होने के लिए जान-बूझकर अपने आपको नीचे लाते हैं एवं पृथ्वी पर मनुष्यों के त्राता के रूप में प्रकट होते हैं। दूसरे शब्दों में बोधिसत्व के रूप में बुद्ध की यह पूर्व अवस्था होती है। तथागत नाम से विदित सर्वोच्च प्राणी ही एक पूर्ण बोधिसत्व है। महासंघ ने लगभग ३०० ईसा पूर्व, जिसमें महायान का केन्द्रबिन्दु विद्यमान था, पहले ही बुद्ध की व्याख्या अलौकिक, सर्वज्ञ, आध्यात्मिक बुद्ध के रूप में कर दी थी। वह बोधिसत्व, एक पूर्ववर्ती स्वर्गिक सत्ता के रूप में पृथ्वी पर गौतम के रूप में निवास कर चुका था। बुद्ध एवं बोधिसत्व का अन्तर अन्यथा मात्र केवल एक सापेक्ष बुद्धि या ज्ञान का ही है। एक बोधिसत्व लगभग सभी चीज़ों को जानता है परन्तु एक बुद्ध प्रत्येक वस्तु को जानता है। अवलोकितेश्वर के रूप में समझा जाने वाला वोधिसत्व रूप अभी भी बुद्ध नहीं बनता है। ऐसी महान् आत्माएँ भक्ति-भाव तथा अश्रेष्ठता के प्रतीक रूप में हवा करते हुए बुद्ध के दाएँ एवं बाएँ खड़ी रहती हैं। हमारे काल की प्रथम शताब्दियों में रचित सद्धर्मपुण्डरीक नामक ग्रन्थ उनको "संसार के प्रभु का पुत्र" बतलाता है "लोकाधिपत्यस्य पुत्रः" और यह कहता है कि तथागत बुद्ध ने ही उनको "प्रारम्भ से ही" (आदितः) बोधिसत्व बनने के लिए उद्भूत किया था (सद्धर्म १४ : ३७)। इस सद्धर्मपुण्डरीक में "धर्म के राजा" के रूप में बुद्ध स्वयं अपने विषय में कहते हैं "मैं संसार का पिता हूँ, स्वयंभू, रोग-विनाशक, सभी प्राणियों का संरक्षक हूँ।" दूसरे शब्दों में बुद्ध ने यहाँ ब्राह्मणवादी सृष्टा—पिता ब्रह्मा का स्थान ग्रहण कर लिया है, और उसके समान ही बुद्ध कमलपीठ पर आरूढ़ हैं। भगवद्गीता की सीधी नकल के अनुसार पुण्डरीक कहता है कि अधिपति "विश्राम नहीं करता है," यद्यपि वह ऐसा करे भी, वह न तो किसी से प्यार करता है और न ही किसी से घृणा करता है, वह नैतिकता एवं अनैतिकता के प्रति उदासीन है, वह विधर्म एवं रूढ़िवादिता के प्रति भी उदासीन है: "मैं अधिपति हूँ जो संसार को बचाने के लिए प्रकट होता हूँ। मैं किसी से प्यार नहीं करता, किसी से घृणा नहीं करता। मैं नैतिक एवं अनैतिक के प्रति समान रूप से अनुभव करता हूँ, विधर्मी एवं सच्चे विश्वासी के प्रति समान रूप से अनुभव करता हूँ।"[1]

---

१. सद्धर्मपुण्डरीक ५.२२. फुटनोट, १४.२३ (आदित्य); अध्याय १५.२१. तथा २१.२६. अनुक्रमणिकाओं जैसे हैं। सद्धर्मपुण्डरीक का लगभग २६५-३१६ में चीनी भाषा में अनुवाद किया गया था और लगभग २०० ए० डी० के रूप में इसे उद्धृत किया जा सकता है। अनुक्रमणिका लगभग पचास

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

परन्तु बुद्ध अभी भी चिरस्थायी व्यक्तिनिष्ठ ईश्वर नहीं हैं। वे चक्रीय बुद्धों की लगभग अनन्त श्रृंखला में से एक हैं। आज के बुद्ध एक आकृति के रूप में शाश्वत होने की अपेक्षा अर्धशाश्वत हैं। फिर जब अधिपति यह कहते हैं कि वे चिरस्थायी हैं तो उनका तात्पर्य है कि उनसे पहले एवं बाद के बुद्ध उनकी ही आकृति के हैं। केवल एक ही बुद्ध है जो क्रमिक चक्रों में क्रमिक रूप में उदित होता रहता है। इस सर्वोच्च बुद्ध एवं सशरीरी बुद्ध के (जैसे गौतम) बीच बोधिसत्व एक जोड़ने वाला सूत्र है। वह एक छायामय शरीरी वस्तु है जिसका प्रतिबिम्ब ही पार्थिव बुद्ध है। पूर्ववर्ती बुद्धों का विचार बिल्कुल पुराना है। फिर सबसे पहले वे तीन, छः, चौंतिस तक ही सीमित थे फिर बाद में वे असंख्य बन गए और उनको एक सार्वभौम बुद्ध के रूप से ही पहचाना गया था। यह विश्वास व्यावहारिक रूप से यहां तक पहुंच गया कि प्रत्येक चक्र (और मानव गणना के अनुसार एक चक्र बहुत ही छोटी-सी शाश्वतता का होता है) का क्रमशः एक सर्वोच्च अधिपति बुद्ध होता है। इसका एक विशिष्ट बोधिसत्व होता है और इसका एक पार्थिव अवतार बुद्ध भी होता है।

पुण्डरीक स्वयं उद्भूत एक अधिपति है जो कभी एक बार अवतार गौतम के रूप में अपने आपको महिमा-मण्डित करता था, जबकि परवर्ती अनुक्रमणिका बल्कि अवलोकितेश्वर को महिमान्वित करती है जो करण्डव्यूह में भी श्रद्धास्पद है जहाँ उसको मूल बुद्ध से एक निःसरण के रूप में समझा गया है और एक त्राता के रूप में समझा गया है जो पापियों को उनके संचित कष्टों से मुक्त करने के लिए नरक में जाता है। यह मत इस विश्वास पर आधारित है कि पुण्यों के एक असीम भण्डार से त्राता अपने पुण्य के पापों को स्थानान्तरित कर सकता है, जिसका मुक्तिमूल्य त्राता द्वारा द्वारा इस प्रकार चुकाया जाता है। अपनी करूणा एवं दयालुता में प्रत्येक बोधिसत्व अपने आनन्द का बलिदान करने का निश्चय करता है। सभी पापियों की मुक्ति के लिए अपने पुण्य के ऐच्छिक दान के माध्यम से वह संसार को बचाने की प्रतिज्ञा करता है। प्राचीन ज्ञानवादी ईसाई विश्वास के कारण जैसे ईसा नरक में गए, वैसे ही बोधिसत्व असंचित यातनाओं को भोगने के लिए नरक में जाता है, ताकि उस प्रकार से वह संसार को बचा सके। अपनी

वर्ष बाद की है। इसका बोधिसत्व का भाव अंशतः उन बड़े लोगों से मिलता-जुलता है जैसे मानों वे पृथ्वी के संन्यासी हों। तुलना करें वही, ३ तथा १८, १७। गीता के लिए तुलना करें ३.२२ तथा ९.२९, "कोई भी आदमी (ईश्वर के लिए) घृणास्पद नहीं, न ही उसके लिए प्रेमास्पद है (स्वयं अपने लिए) देखिए कर्न का सद्धर्मपुण्डरीक, भूमिका सेक्रिड बुक्स ऑफ दि ईस्ट २१।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

असीम करुणा में वह सभी पापों को अपने ऊपर ग्रहण कर लेता है एवं इस प्रकार सभी प्राणियों को मुक्ति प्रदान कर देता है। वह "अपने आपको बदले में दे देता है, क्योंकि असंख्य लोगों के कष्ट झेलने की अपेक्षा यह अच्छा है कि एक ही आदमी कष्ट झेले।" इसलिए उनकी प्रतिज्ञा है—"अपनी यातना के माध्यम से मैं संसार को नरक एवं पुनर्जन्म से मुक्ति दिलवाऊँगा। सभी प्राणियों के भले के लिए संसार के सभी दुःख मेरे हो जाएँ। मैं सबके लिए निःस्तार बनूँगा और बुद्ध बनूँगा, अपनी खातिर नहीं परन्तु संसार को मुक्ति प्रदान करने के लिए। संसार के सारे दुःख मेरे साथ ही समाप्त हो जाएँ।"

बोधिसत्व इस प्रकार एक बिचौलिया नहीं होता है, परन्तु उसकी अपनी स्वतन्त्र इच्छा के कारण वह त्राता होता है, हालांकि बुद्ध के विचार के उत्तर में उसका विचार एक हलचल पैदा कर देता है। प्राचीन बौद्ध धर्म में 'पुण्य का दान' अज्ञात नहीं था, परन्तु परवर्ती बौद्ध धर्म के महायान में यह एक सतत उपदेश ही बन गया था। मानवता के प्रति प्रेम वैसे नहीं है जैसे प्राचीन बौद्ध धर्म में है; व्यक्तिगत मुक्ति की इच्छा ही महायान की कुन्जी है और आत्मबलिदान द्वारा ही यह प्रेम अभिव्यक्त होता है। हालांकि हीनयान में यह स्वीकार किया गया था कि गौतम बुद्ध स्वयं आत्म-बलिदान के जीते-जागते उदाहरण हैं। फिर भी अपनी स्वयं की मुक्ति में आत्म-केन्द्रित विलय ही बल्कि एक आदर्श माना जाता था।[२]

बुद्धों एवं बोधिसत्वों के नाम से विदित विभिन्न आध्यात्मिक शक्तियों के नामों की उत्पत्ति को धार्मिक इतिहास के रूप में जानना रुचिकर है एवं अमहत्त्वपूर्ण नहीं है। सारांशतः ये नाम अधिकांश रूप में हिन्दू देवताओं के शीर्षक ही हैं। दूसरे शब्दों में, जैसे प्राचीन स्लावनिक देवताओं को स्लावनिक ईसाई गिरिजाघर के फरिश्तों एवं संन्यासियों में बदल दिया गया था और जैसे संन्यासी डेमेटरा के नाम के अन्तर्गत यूनान में (१८०१ के वर्ष तक) डेमेटरा की सतत पूजा की जाती थी। हमें यहाँ भी एक वैसी ही समानान्तर संघटना उपलब्ध होती है।

---

२. अंशतः क्योंकि महायान हीनयान को घटिया समझता है। सद्धर्मपुण्डरीक में निम्न लोगों के लिए हीन शब्द का प्रयोग मिलता है तथा अर्हत एवं प्रत्येक भिक्षुकों द्वारा बतलाए गए आदर्शों को निन्दित करता है। अंशतः क्योंकि इन दोनों यानों का अन्तर हमारे ऊँचे तथा नीचे धर्म के सादृश्य पर नहीं है। हीनयान तथा महायान इन दोनों शब्दों में अन्तर बतलाना सम्भव है। परन्तु जैसा हमारे यहाँ ये दोनों विचारधाराएँ या धर्म कभी एक-दूसरे से अलग नहीं हुए, ये हमेशा ही बुद्ध भगवान् के एक ही संघ थे। इनमें चाहे कितना भी अन्तर क्यों न रहा हो। सुधार ने आध्यात्मिक एकता को चोट नहीं पहुँचाई है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इसके अतिरिक्त हिन्दू धर्म से बौद्ध धर्म पर यह ऋण केवल आत्माओं के नामों तक ही सीमित नहीं है। महावस्तु (१.१.६३) में बुद्ध के सूक्त में पौराणिक हिन्दू धर्म की गन्ध आती है। संक्षेप में जैसे इससे आशा की जाती थी, बौद्ध धर्म ने भारतवर्ष में अपने आसपास के वातावरण से अनेक हिन्दू तत्त्वों को नए रूप में ग्रहण कर लिया। बौद्ध धर्म ने असंख्य देवताओं एवं आत्माओं के सिद्धान्तों को उनकी प्रामाणिकता पर बिना कोई प्रश्न चिह्न लगाए वैसे ही उनको पकड़े रखा, और इसने नरक को भविष्य के दण्ड के रूप में ग्रहण भी कर लिया।

इन नामों में से सबसे बड़ा नाम बोधिसत्व अवलोकितेश्वर का है। आधुनिक विचारधारा के विरुद्ध तात्पर्य यह है, जिसके विषय में परम्परा का कहना है : "दया के साथ नीचे की ओर देखने वाला अधिपति" ('दृष्ट का स्वामी' 'नहीं या प्रकटित अधिपति')। दयाभाव से देखने वाले प्राचीन वैदिक देवता के भाव की ही यह एक प्रतिध्वनि नहीं है, क्योंकि इस बोधिसत्व का दूसरा अभिधान लोकनाथ "संसार का स्वामी" भी विष्णु[3] का एक पुराना अभिधान है। ललित-विस्तार में अवलोकितेश्वर की प्रतिमा मूलरूप में महान् एवं करुणा से पूर्ण बोधिसत्व की है; परन्तु न तो इस ग्रन्थ को या प्राचीन महावस्तु को इस नाम का कोई बोधिसत्व ज्ञात है। वह हीन बोधिसत्व मैत्रेय को अतिक्रान्त कर देता है और वह "अनन्त प्रकाश" के बुद्ध, अमिताभ जितने महान् रूप में प्रकट होता है, जिसके लिए वह फिर, सूर्य प्रकाश एवं असीम प्रकाश से सम्बन्धित होकर स्थिर रहता है। हालांकि पश्चिमी स्वर्ग के शासक के रूप में वह अमिताभ की तेजोमय स्थिति का भी अनधिकार रूप से अधिग्रहण कर लेता है। निःसन्देह यह विशिष्ट रूप से उसकी करुणा ही है जो उसे मेरी के समान धार्मिक रूप प्रदान करती है; क्योंकि अपनी करुणा के कारण ही वह एक सीरियन देवी बन सकी थी। स्वयं अवलोकितेश्वर सुदूरपूर्व में स्त्री रूप धारण कर लेते हैं। इसने शैव धर्म से मिश्रित बौद्ध धर्म को उत्तराधिकार में प्राप्त करने के पश्चात् चीन एवं जापान में अवलोकितेश्वर में से "दया की देवी" को उत्पन्न किया था (कुआन्यिन, कुआन्नन)। यहाँ बोधिसत्व को कभी-कभी पुरुष या लिंगविहीन समझा जाता है परन्तु सामान्यतया वह स्त्री ही होता है। अधिकांशतः तदनुकूल स्त्री रूप का एक स्थानीय देवता के साथ तादात्म्य स्थापित किया है।[4] तिब्बत में अवलोकितेश्वर को ही दलाईलामा में अवतार रूप में माना जाता है।

---

३. इसलिए "ब्रह्माण्ड के अधिपति" के रूप में बुद्ध एवं विष्णु दोनों का अभिधान जगन्नाथ है।

४. वु-ताई में स्वयं बुद्ध की पूजा मातृ-बुद्ध के रूप में की जाती है ("बुद्धों की माता") से इसमें अन्तर करना चाहिए—यह दार्शनिक "शून्यता" का मानवीकरण है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इन महान् आध्यात्मिक शक्तियों के दूसरे अभिधानों में जो उनके व्यवस्थित नाम बन चुके हैं, "वज्रधर" यह एक ऐसा अभिधान है, जिसको सीधे इन्द्र से लिया गया है। "दूर तक चमकने वाला" यह सूर्य देवता का एक प्राचीन अभिधान है और इससे मिलते-जुलते अभिधान "अनन्त प्रकाश" की उत्पत्ति भी सूर्य से मानी जाती है। गौतम (जो था), अवलोकितेश्वर (जो है), और मैत्रेय (जिसे होना है), इन श्रद्धास्पद आकृतियों से कभी-कभी एक त्रयी का निर्माण किया जाता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव से अभिव्यक्त होने वाली काल शृंखला से भी इसकी तुलना की जा सकती है; परन्तु एक ऐसे वर्ग का तात्पर्य त्रिमूर्ति से नहीं है। ऐसी अनेक त्रयी हैं। करूणा की आत्मा के रूप में अवलोकितेश्वर, शक्ति की आत्मा के रूप में वज्रधर (या वज्रपाणि "वज्र का धारण करने वाला") एवं त्राता-आचार्य के रूप में मञ्जु श्री की त्रयी उत्तर भारत में प्रचलित है। यह मञ्जु श्री (श्री एक श्रद्धास्पद शीर्षक है जिसका तात्पर्य कृपा है) सम्भवत: एक धर्म प्रचारक था जो उत्तरी भारत के जंगली प्रदेशों में काफी घूमा था और (स्वयं बुद्ध के समान) इसका व्यावहारिक रूप से बोधिसत्व के रूप में दैवीकरण कर दिया गया है। जापानी बौद्ध केगन सम्प्रदाय में आज भी एक पन्थ के रूप में इसकी पूजा की जाती है। मैत्रेय नाम के प्रेम (के स्वामी) का आशय है या "प्रेमपूर्वक विन्यस्त" और यह सूर्य का एक पौराणिक शीर्षक है। यह एक ऐसा नाम है जिसका तात्पर्य "करूणा" से जुड़ा हुआ है। यह हमेशा ही एक आने वाले बोधिसत्व की ओर संकेत करता है। यह ब्रह्माण्ड का शासन करने वाली प्रेम की आत्मा की घोषणा की ओर संकेत करता है।

हिन्दू त्रिमूर्ति के विश्लेषण में हमने यह देखा कि यह भारतीय विचार-धारा में जितनी यह एक प्रबल एकेश्वरवादी प्रवृत्ति की ओर वापिस जाती है, बहुदेववादी आधार पर उतना यह वापिस नहीं जाती है। इसलिए (जैसा अभी समझाया गया है) बौद्ध धर्म में त्रिमूर्ति के पूर्ण होने से पहले लगभग एक एकेश्वर-वादी अभिव्यक्ति उपलब्ध होती थी, जिसको सद्धर्मपुण्डरीक के कथनों में प्रदर्शित किया गया है, जहाँ पर एक पितृ-देवता ब्रह्म-आत्मा की वास्तव में एक देवता के रूप में पूजा की जाती है। आनन्द लोकों के रहस्यमय सिद्धान्त में यह अभिव्यक्ति पुन: सामने आती है। वहाँ इन आनन्द लोकों के पाँच वर्ग हैं और प्रत्येक को आनन्द-बुद्ध अर्पित किया गया है। प्रत्येक आनन्द-बुद्ध (ध्यानी बुद्ध) का अपना एक तदनुकूल अवतार रूप एवं उसका बोधिसत्व होता है। बुद्धों में पहला वैरोचन "दूर तक चमकने वाला" है जो जावा में वास्तव में एक परमात्मा ही बन गया है और जैसे (बिरोशन) जापानी शिगन सम्प्रदाय में इसको श्रद्धास्पद माना जाता है। आधुनिक काल में बुद्ध अमिताभ है ("अनन्त प्रकाश")। उसका बोधिसत्व अवलोकितेश्वर है और उसका पार्थिव अवतार (ऐतिहासिक) गौतम

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

है। प्राचीन धर्म के द्वारा इन शक्तियों को मूलरूप में आध्यात्मिक प्रदर्शन के रूप में स्वीकार किया जाता था। निःसरण का विचार, जो आनन्द सिद्धान्त को संकेतित करता है, प्रतीयमान रूप से बाद का है। यह सम्भवतः सातवीं शताब्दी से प्राचीन नहीं है। कुछ विद्वान् इसको दसवीं शताब्दी का भी मानते हैं। यह वास्तव में एक एकेश्वरवादी दृष्टिकोण है। इसके अनुसार दूसरा सदस्य पहले का निःसरण है। तीसरा सदस्य दूसरे का निःसरण है और इस प्रकार पाँच केवल समय के एक विभाजन हैं और यह संख्या आवश्यक रूप से पंचायत तक ही सीमित नहीं है। आदि बुद्ध का विचार सद्धर्मपुण्डरीक के "आदितः बुद्ध" तक वापिस जा सकता है, जिसकी पहले ही चर्चा की जा चुकी है। आनन्द-बुद्धों का विचार भी इसमें सम्मिलित था। अपने पूर्ण रूप में यह सिद्धान्त हीनयान के आदि बुद्ध के समान प्रतीत होता है, जिससे पाँच लयों में आनन्द के पांच बुद्ध निःसरित होते हैं। इनमें से प्रत्येक मानसिक क्रिया-कलाप में पैदा होता है। मूल या पूर्ववर्ती बुद्ध से निकलने के बाद वह बोधिसत्व को जन्म प्रदान करता है, जो क्रमशः शारीरिक ब्रह्माण्ड को पैदा करता है। सभी पार्थिव बुद्ध (जैसे गौतम) अपने बोधिसत्व का प्रतिबिम्ब मात्र ही हैं। बोधिसत्व एवं अवतार बुद्ध इस प्रकार आदि बुद्ध से एकाकार ही हैं। इस पूरी व्यवस्था में परम्परा की छाया का अभाव दिखलाई पड़ता है और बौद्ध होने की अपेक्षा यह तार्किक अधिक मालूम पड़ता है, परन्तु एक परमात्मा के विचार को दृष्टिपथ में लाने के लिए यह बहुत ही प्रभावी था। हालांकि यह रहस्यमय रूप वाला ही था।

अब हम त्रिमूर्ति पर आते हैं। ब्रह्माण्ड के सन्दर्भ में यह मूल त्रयी का ही बढ़ा हुआ रूप है। आदिम बौद्ध धर्म का दर्शन भौतिकवादी था। इसके अतिरिक्त यह ब्राह्मणों में प्रचलित दर्शन से जा मिला। यह एक ओर शून्यवाद में विकसित हो गया परन्तु दूसरी ओर आदर्शवाद में विकसित हो गया। ब्राह्मणवाद एवं बौद्ध धर्म के ये दोनों सिद्धान्त आदर्शवादी परिणति में लगभग समान हैं। बौद्ध आदर्शवाद में वस्तुओं की कोई शाश्वत प्रवृत्ति नहीं होती है। अहंकार की भ्रान्ति ही अन्तर पैदा करती है। सभी वस्तुएँ मात्र मानसिक संघटनाएँ हैं। इस प्रकार मानसिक संघटना विचार के सर्वोच्च यथार्थ पर आश्रित है। सभी प्राणियों का आधार अभिन्नीकृत विचार ही है। यह धम्म है। यह वही शब्द है जिसका प्रयोग आदि-बौद्ध धर्म में धम्म को बतलाने के लिए किया जाता है। धम्म-निकाय या धम्म के रूप में बुद्ध ही परम बुद्ध बन जाते हैं; जैसे शंकर के विशुद्ध आदर्शवाद में ब्रह्मा विशुद्ध ज्ञान रूप ही हैं। इसके अतिरिक्त जैसे ब्राह्मणवाद में ब्रह्मा की आत्म-चेतना ही विष्णु देवता है, वैसे ही बौद्ध आदर्शवाद इस विशुद्ध जीव (या परम) की व्यक्तिनिष्ठ शक्ति के रूप में सक्रिय है। इस बिन्दु पर आकार कुछ आधुनिक व्याख्याकार यह विवाद करते हैं कि स्वयं विशुद्ध जीव के अपने विकसित

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

रूप के क्रिया-कलापों के कारण उसके विषय में यह माना जा सकता है कि उसमें इच्छा एवं प्रेम है।[५] परन्तु यह प्रचलित दार्शनिक दृष्टिकोण नहीं है; बल्कि यह इसकी धार्मिक व्याख्या है। फिर भी, बोधिसत्व इस रूप में तथा विकसित अवस्था में बुद्ध के रूप इन दोनों में तथा धम्म के रूप में एक सक्रिय व्यक्तिनिष्ठ अधिपति है, जिसको आनन्दकाय का नाम दिया जाता है। तीसरे स्वरूप को "निर्माणकाय" कहा जाता है, अर्थात् "उसी परम (विशुद्ध मन के समान) का" "बदला हुआ रूप" व्यक्तिनिष्ठ अवतार रूप में। अर्थात् ब्राह्मणवाद के समान, यहाँ भी एक मन की त्रिमूर्ति है, सक्रिय ज्ञान के रूप में, अधिपति के रूप में और गौतम के रूप में, या कोई अन्य अलौकिक पुरुष या आचार्य के रूप में (कलाकार भी) उसी मन के एक विशुद्ध प्राणी के रूप की अवतारभूत अभिव्यक्ति। निःसन्देह गौतम राम एवं कृष्ण से इस अर्थ में भिन्न हैं कि त्रिमूर्ति के रूप की कल्पना किए जाने से पहले भी ये दिव्य प्राणी थे; परन्तु जिस श्रद्धास्पद प्रेम से उस ऐतिहासिक गौतम बुद्ध को उसके अपने जीवन में देखा जाता था, उसने उसको एक अलौकिक प्राणी बना दिया था।[६]

बौद्ध विचारधारा से सम्बन्धित आधुनिक लेखक स्वाभाविक रूप से यह सोचने के लिए तैयार हैं कि जैसा सापेक्ष सत्यता के सिद्धान्त से अभिव्यक्त होता है, ब्राह्मणवादी दर्शन बौद्धों से उधार लिया गया था और वे शंकर के विरोधियों की निन्दा का संकेत करते हैं (विशिष्ट रूप से रामानुज के पूर्ववर्ती लोगों द्वारा) कि वे अपने मायावाद के सिद्धान्त में केवल "एक छद्म बौद्ध[७] सिद्धान्त" की ही

---

५. प्रोफेसर सुज़ुकी की यही व्याख्या है, आऊट लाइन्स ऑफ महायान बुद्धिज्म (१९०७) यद्यपि वे स्वयं यह मानते हैं कि बहुत थोड़े लोग ही उनसे सहमत हैं। धम्म के रूप में बौद्ध परमतत्त्व अभी भी एक अपरिपक्व एवं बौद्धिक तत्त्व ही दिखलाई पड़ता है या एक ऐसा धर्म जो अभी भी अविकसित है तथा "धम्म" के रूप में काम कर रहा है। धम्म के विषय में यह कल्पना करना कठिन है कि यह अपने सभी पुराने अभिप्रायों से मुक्त है, यद्यपि आधुनिक व्याख्याता इसको 'आधार' या सत्ता के आधार के रूप में अनूदित करते हैं।

६. इस प्रकार उनकी मृत्यु का ब्यौरा इस दुर्घटना के अवसर पर प्रकृति को दुःख से प्रकंपित रूप में वर्णित करता है, तथा विभिन्न स्वर्गों के निवासी एवं देवता-गण भी स्वयं दुःख से विक्षिप्त मालूम पड़ते हैं। आदिम बौद्धों के प्रथम स्तोत्र ग्रन्थ यह स्वीकार करते हैं कि गौतम "सूर्य के वंशज" हैं—एक दिव्य पुरुष।

७. मायावादम् असच्च शून्यं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते। इस बात के लिए तुलना करें, लुइस डेला वेले-ब्रोसिन, जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटि १९०८, पृ० ८८५

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शिक्षा दे रहे हैं। परन्तु दूसरी ओर यह भी नहीं भूलना चाहिए कि शंकर से काफी पहले सभी प्रमुख बौद्ध दार्शनिक धर्मान्तरित ब्राह्मण ही थे। ब्राह्मण रूप में वे जिन बातों पर पहले से विश्वास किया करते थे, निःसन्देह उन्होंने उन्हीं बातों को अपने दर्शन का आधार बनाया था, और उनके इस नए विश्वास के अनुयायी लोग, जिस प्रकार वे कुछ भी ग्रहण करते थे उसको भी उन्होंने अपने दर्शन का आधार बनाया था।

"कुछ भी दृढ़ता से नहीं कहा जा सकता है" इस शून्यवादी दृष्टिकोण से सहमत होने की अपेक्षा आदर्शवादी मन के यथार्थ को स्वीकार करता है। कुछ लोगों के अनुसार वह पदार्थ एवं व्यक्तित्व के यथार्थ को भी स्वीकार करता है। उसके लिए बुद्ध इस वास्तविक ब्रह्माण्ड के लिए एक नाम बन गया है, "शून्य" एक "खाली विचार" बन जाता है; जिसको लक्षणविहीन, विशुद्ध मन, कर्ता, ध्येय से हीन, या चेतन कर्म के रूप में सोचा जाता है; परन्तु धार्मिक उद्देश्य के लिए परमात्मा के विचार से इसका हठात् तादात्म्य किया जा सकता है। शान्त मन "बुद्ध का गर्भ" है जिससे सभी व्यक्तित्व निःसरित होते हैं। एक पुण्यात्मा के लिए पार्थिव एवं स्वर्गिक पदार्थ यथार्थ होते हैं। एक दार्शनिक के लिए मायावी (पदार्थ) मात्र प्रदर्शन है। इस प्रकार धर्म को यह आज्ञा दी जाती है कि वह (यथार्थ) "शून्यता के बिन्दु" को एक सर्जनात्मक शक्ति में बदल सके, संभोगकाय ही धर्मकाय बन जाता है। आदि बुद्ध का नेपाल का सिद्धान्त इस व्यवस्था में ठीक जम जाता है, क्योंकि उसको निर्वैयक्तिक बुद्ध का मात्र एक मानवीकरण ही समझा जाना चाहिए, जबकि आनन्द रूप ध्यानी बुद्धों एवं बोधिसत्वों के अनुकूल है, हालांकि कड़ी व्याख्या के अनुसार, ध्यानी बुद्ध आदर्शरूप हैं और वे स्थायी नहीं हैं तथा आदि बुद्ध भी केवल इसी युग के ही है[८] जबकि आनन्दरूप का सम्बन्ध सभी समय से है।

आदि बुद्ध एक ऐसे देवता नहीं हैं जिनकी प्रार्थना के साथ पूजा की जाए। वे विशुद्ध प्रकाश हैं। वे आत्म-प्रकाश तथा सभी रूपों वाले हैं ओर वे शून्य से पैदा होते हैं। इसलिए विशुद्ध मन भी इतना निर्वैयक्तिक है कि इसकी पूजा नहीं की जा सकती है। जैसे कहा जाता है कि नए चन्द्रमा की अपेक्षा पूर्ण चन्द्रमा अधिक भव्य होता है। फिर भी लोग पूर्ण चन्द्रमा की पूजा नहीं करते अपितु नए चन्द्रमा की

---

८. करोड़ों कल्पों के व्यतीत होने पर बुद्ध वृद्ध होने लगते हैं; परन्तु उन्हें वृद्ध होना ही चाहिए और उनका समय शाश्वत नहीं होता। प्राचीन विश्वास के अनुसार साधारण बुद्ध निःसरण नहीं है और वे मायावी रूप के नहीं है। गौतम मायावी हैं—यह सिद्धान्त महायाम तथा हीनयान दोनों में पाया जाता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पूजा करते हैं। इसलिए लोग निर्वैयक्तिक बुद्ध की पूजा नहीं करते हैं अपितु बोधिसत्व की पूजा करते हैं। इनकी आध्यात्मिक शक्ति बुद्ध के कारण ही है और इस प्रकार जैसे मानो, बुद्ध से ही पैदा हुए हों; परन्तु जैसे बोधिसत्व भी बुद्ध बन जाते हैं। बोधिसत्व भी प्रत्येक बुद्ध के आदि रूप का पूर्वज है। केवल पथभ्रष्ट तान्त्रिक विश्वास ने ही बोधिसत्व को ऐसे प्राणी में परिवर्तित कर दिया जिसको भुला दिया गया है और जो "बुद्ध एव उसकी पत्नी" से पैदा हुए थे।

धार्मिक मामलों में दर्शन एक घुसपैठिया होता है और वह मानसिक ऊँचाई से अवतरित होता है तथा अपने सन्तोष के लिए उसकी व्याख्या करने की कोशिश करता है जिसे विश्वास करने वाला पहले से ही जानता है। इस कोटि के असंख्य बोधिसत्व हैं जो बौद्ध धर्म का धार्मिक मूल्यांकन प्रस्तुत करते हैं। जहाँ तक वे बुद्ध में संसार के दिव्य आधार को स्वीकार करते हैं, वे उस दर्शन को भी स्वीकार करते हैं; परन्तु वे बुद्ध को अपना वास्तविक, बुद्धिमान एवं प्रेमी त्राता एवं अपना व्यक्तिनिष्ठ अधिपति मानते हैं। अन्तिम रूप से वे यह विश्वास करते हैं कि इस मानव आचार्य के शरीर में इस अधिपति ने अवतार धारण किया था। इस बिन्दु पर निचिरेन महोदय को (जापानी लेखक) को बोलने दिया जाए जिसके अनुसार जापानी तत्त्व ज्ञान ही बौद्ध धर्म की एक आधुनिक अभिव्यक्ति है: "ये तीन, शाश्वतता का अधिपति, करूणा की आत्मा एव गौतम बुद्ध—यह एक त्रिमूर्ति है। पहला जीवन का अधिपति है एवं असीम भव्यता को लिए है—अमिताभ।[६] दूसरा करुणा का अधिपति है। तीसरा शक (गौतम) है। परन्तु ये तीनों एक हैं और यह एक तीन हैं।" सुखावती के सम्प्रदायों में जो सद्धर्मपुण्डरीक को वापिस जाता है, सुखकर या सुखावती स्वामी अमिताभ का स्वर्ग है। जो अपनी करुणा द्वारा उस पूजा करने वाले को भी मुक्ति प्रदान कर देता है "जो एक रात्रि के लिए भी उसका नाम संकीर्तन करता है।" प्राचीन जापानी सम्प्रदाय उस करुणा को प्राप्त करने के लिए पुण्य कर्मों पर पूर्वदशा के रूप बल दिया करते थे, परन्तु इसके परवर्ती उपदेश "कर्मों" की आवश्यकता की उपेक्षा करते हैं और श्रद्धा को ही मुक्ति के लिए मात्र एक साधन मानते हैं। अमिताभ के नाम का उच्चारण करना ही श्रद्धा का एक पर्याप्त कार्य है। यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसको इस सीमा तक ले जाया गया है कि यदि कोई उसके शुभ नाम का पाखण्ड रूप से भी उच्चारण करता है तो परिणामत: आवश्यक रूप से पापी को भी इसके बाद आनन्द की प्राप्ति हो जाएगी; परन्तु यह मानना चाहिए कि इस प्रकार यह धर्म को जादू में परिवर्तित कर देता है। इस समय इस प्रकार की धार्मिक पथ-

---

६. अमिद, यह अमिताभ का जापानी रूप है। "अनन्त प्रकाश का' यह बुद्ध की उपाधि है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भ्रष्टता से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। यह पुराना जापानी विश्वास है। यह उन ग्रन्थों में विद्यमान है जिसे हमारे समय की दूसरी शताब्दी में चीनी भाषा में अनूदित किया गया था। बुद्ध वास्तविक स्नेहिल स्वामी एवं पिता हैं। करुणा की आत्मा के रूप में उन्होंने संसार के पापों को अपने ऊपर ले लिया है एवं मनुष्यों को नरक एवं कर्म की पकड़ से मुक्त कर दिया है; पार्थिव आचार्य गौतम के रूप में उन्होंने एक स्त्री से आश्चर्यात्मक ढंग से जन्म ग्रहण किया[10] (कुछ लोग कहते हैं कि मायावी रूप में)। इस प्रकार वे दिव्य एवं मानव दोनों ही हैं। तत्त्व ज्ञानी यह विवाद करते हैं कि क्या मानव गौतम "आध्यात्मिक या वास्तविक" थे, और क्या वे पापों से युक्त होकर पैदा हुए थे; परन्तु इस विवाद के कारण हमें रुकना नहीं चाहिए। वे आध्यात्मिक महत्त्व के "बत्तीस चिह्नों एवं अस्सी चिह्नों" से युक्त पैदा हुए हैं; जो विष्णु के "चिह्नों" से कुछ सादृश्य को प्रदर्शित करता है। वे बोधिसत्व एवं बुद्ध के बीच खड़े रहते हैं। ये एक छायामय सर्वोच्च आध्यात्मिक शक्ति के ही दो रूप हैं। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष में शून्यवाद की माध्यमिक विचारधारा के विषय में भी, जो यह विश्वास करती थी कि सभी कुछ शून्य है, कुछ भी जाना नहीं जा सकता। यह एक सर्वोच्च आत्मा या अन्तर्वर्ती यथार्थ के रूप में विशुद्ध ज्ञान के सिद्धान्त को स्वीकार करती थी। पहले यहाँ एक प्रकार की छूट थी जिसका तात्पर्य यह था कि ईश्वर मात्र एक नाम है, तो बाद में मात्र एक श्रद्धा के सिद्धान्त के रूप में इसकी समाप्ति हो गयी। इस प्रकार रमई पण्डित, जो मध्यकाल में "महान् शून्य" के सिद्धान्त का एक पार्थिव व्याख्याता (और बाद में वे शीघ्र ही चमत्कारों को करने वाले एवं एक अलौकिक शक्ति वाले पुरुष के रूप में श्रद्धास्पद बन गए थे), इस "शून्य आकृति" को शून्यमूर्ति के रूप में बतलाते हैं एवं उसको "सभी लोगों के एक मात्र अधिपति" के रूप में मानते हैं तथा वरदान प्रदान पाने के लिए इसकी "सर्वोच्च देवता" के रूप में प्रार्थना करते हैं। भारतवर्ष में कृष्ण-सम्प्रदाय बौद्ध धर्म से इसके शून्यवादी रूप में भी इस सीमा तक घुल-मिल गया था कि बलरामदास (लगभग १६००) यह कह सकता है कि "महान् शून्य ने एक मानव प्राणी का रूप धारण कर लिया था।" उसी समय आदि बुद्ध के सम्प्रदाय के पाँच बुद्धों की व्याख्या विष्णु के पाँच रूपों के रूप में की गयी ताकि ब्राह्मणवाद एवं बौद्ध धर्म का एक एक पूर्ण संयोग बन जाए।

---

१०. अवतार गौतम बुद्ध का स्त्री रूप में जन्म का प्रामाण्य हीनयानी ग्रन्थ महावस्तु में पाया जाता है। महायान में यह श्रद्धा की बात ही है। परन्तु बौद्ध धर्म में यह कोई आदिम विश्वास नहीं है। बुद्ध तथा बोधिसत्व की पूजा तृतीय शताब्दी ई० पू० जितने प्राचीन काल में पायी जाती है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शून्य की व्याख्या "मातृशून्य" के रूप में की गयी थी[11] एवं इसी शून्य नाम को निर्वाण तथा "विष्णु के स्वर्ग" के पर्याय के रूप में समझा गया था।

अंशतः यह सम्मिश्रण स्थानीय ही था। यह एक ह्रासोन्मुखी श्रद्धा की आवश्यक परिणति ही थी जो अपनी पौराणिकता को पुनरावर्तित कर रही थी; परन्तु यह उन्हीं धार्मिक आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति से कहीं ज्यादा थी जिसने उत्तर भारत में शंकर की शून्यता को रामानुज के ईश्वर में परिवर्तित कर दिया था। इस बात का प्रमाण यह है कि इसके प्रतिद्वन्द्वी को भारतवर्ष के बाहर खोजा जा सकता है, जहाँ पर किसी भी पूर्ववर्ती विष्णु ने इसकी ईश्वरवादी व्याख्या प्रस्तुत नहीं की थी। इस अन्तर्वर्ती रूप को, जो संघटना की सभी सीमाओं का अतिक्रमण कर देता है, विश्वास करने वाला नकारता नहीं है, अपितु वह इसकी अभिव्यक्ति में एक शक्ति के रूप में अपना विश्वास जमा लेता है जिसमें हमारा अपना प्राणी विद्यमान है। ज्ञान के सभी पक्ष एवं प्रेम उसमें एक व्यक्तिनिष्ट अधिपति के रूप में व्यक्त होते हैं। वह पृथ्वी पर प्रत्येक श्रेष्ठ आत्मा द्वारा कम अंशों में अभिव्यक्त होता है एवं सर्वोच्च रूप से करुणा की आत्मा के रूप में व्यक्त होता है। वह मनुष्य को मुक्ति दिलवाने के लिए पृथ्वी पर अवतरित आचार्य के रूप में पैदा होता है। जापानी जेन विचारधारा के बुद्ध का रूप धार्मिक दृष्टि से ईसाई मत की पवित्र आत्मा ही है। यह एक विचित्र तथ्य है कि विष्णु को भी धर्म (बौद्ध धम्म) कहा गया है, परन्तु इसका आशय "नैतिक" आधार से है। वह बुद्ध के समान ही सत्य को स्थापित करता है एवं संसार में पाप का विनाश करता है।

बौद्ध धर्म की आधुनिक दृष्टि यह है : प्रत्येक श्रेष्ठ आत्मा शाश्वत ज्ञान की भव्यता को अभिव्यक्त करती है परन्तु ऐसी आत्माओं की आध्यात्मिकता को भी जगाने की आवश्यकता है। यह जागृति प्रेम या ज्ञान की इच्छा द्वारा आती है। अपने प्रारम्भिक रूप से मिलने का प्रयत्न करने वाली आत्मा सामान्यतया वासना एवं अज्ञान से इतनी बँधी रहती है कि वह ऐसा कर ही नहीं सकती है। परन्तु गौतम एक ऐसे आदर्श मानव प्राणी थे जो समुचित प्रेम एवं ज्ञान से पूर्ण थे। यह कहा जाता है कि प्रेम अन्धा होता है और ज्ञान पंगु होता है। प्रत्येक को दूसरे की सहायता करनी चाहिए; परन्तु ज्ञान की अपेक्षा प्रेम ज्यादा महत्त्वपूर्ण है

---

११. नेपाल में धम्म का रूप नियमतः स्त्री का ही पाया जाता है अर्थात् रचनात्मक शक्ति, स्त्री धम्म का रूप ग्रहण कर लेती है। उड़ीसा तथा बंगाल के "प्रच्छन्न बौद्ध धर्म" के बढ़िया उदाहरण एवं इसके वैष्णव धर्म और आधुनिक कृष्ण-वाद में आत्मसात् होने के लिए देखिए—दि माडर्न बुद्धिज्म, नगेन्द्रनाथ वसु, (१९११)।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

क्योंकि "प्रेम से ही ज्ञान प्रारम्भ होता है।" बौद्ध की यही शिक्षा है। अपने आचार्यों की अपेक्षा दूसरे महान् आचार्यों की अवतारी दिव्यता को बिना नकारे हुए इसकी सहिष्णुता जीसस एवं सोक्रेटीज़ की दिव्यता को भी स्वीकार करती है जबकि इस दिव्यता की सबसे बड़ी अभिव्यक्ति उसे अपने गौतम में ही उपलब्ध होती है, जिसे वह सर्वोच्च प्रेम एवं ज्ञान जैसे लक्षणों को समर्पित करता है। वे मानवीकृत रूप में उसके सेवकों के रूप में उनका प्रतिनिधित्व करते हैं। हीनयान के मन्दिरों में मूर्तियों के एक समूह द्वारा इस भाव को प्रस्तुत किया गया है, जहाँ बुद्ध बीच में बैठे हैं और उनके दाएँ हाथ में ज्ञान पुरुषाकार रूप में स्थित है एवं प्रेम उनके बाएँ हाथ में पुरुषाकार रूप में स्थित है।[१२]

सद्धर्मपुण्डरीक में उपलब्ध होने वाले बौद्ध धर्म के इस ईश्वरवादी रूप को चीन में द्वितीय शताब्दी में लाया गया था और त्रिमूर्ति के रूप में दार्शनिक ऊहापोह का इस पर प्रभाव पड़ा है। बिल्कुल वैसे ही जैसे हमने इसकी अभिव्यक्ति जापान एवं भारतवर्ष में देखी है। दार्शनिक का निर्वैयक्तिक "अवर्णणीय-विशुद्ध प्राणी" एक व्यक्तिनिष्ठ ईश्वर बन गया है। शून्य ज्ञान बन गया है। बुद्ध त्रिरूप हैं : विशुद्ध प्राणी, विशुद्ध आनन्दमय बौद्धिक प्राणी एवं विशुद्ध मानव प्राणी।

ईश्वरवादी बौद्ध धर्म में "धम्म निकाय" ही व्यक्तिनिष्ठ सर्वज्ञ ईश्वर बन गया है। जापान में भी (हमें बतलाया गया है) "दार्शनिक लोग ईश्वर की बात करना ही बिल्कुल पसन्द नहीं करते हैं" क्योंकि उनका विश्वास है कि अधिपति निर्वैयक्तिक विश्व ज्ञान का एक व्यक्तिनिष्ठ सशरीरी प्रतिबिम्ब है। वह पार्थिव प्रतिबिम्ब गौतम के समान ही मायावी है। परन्तु यह इस बात को स्वीकार करने के समान है कि ईश्वर वैसे वास्तविक है जैसे गौतम बुद्ध थे। धर्म का निर्माण करने के लिए इसी बात की आवश्यकता है। स्वर्गिक पिता एवं परमतत्त्व, प्रोन्नत ईसा एवं शाश्वत शब्दों के सम्बन्धों पर विवाद के द्वारा ईश्वर के प्रति विश्वास

---

१२. त्रयी में ऐसे वर्ग त्रिमूर्ति वाले नहीं हैं परन्तु यह उस शक्तिशाली प्रभाव का दृश्य प्रमाण है जो करुणा की भावना के रूप में लोगों में था। बुद्ध को प्रायः इस प्रकार के समूहों में चित्रित किया है। कभी-कभी उनको तीन से अधिक मूर्तियों में भी चित्रित किया गया है। प्राचीन जापानी विश्वास ने मौलिकता को बनाए रखा था, शोतुकू के नियमों में (लगभग ६०० ए० डी०)। "पुरोहित, कर्मकाण्ड और संस्थापक" क्रमशः संघ, धम्म और गौतम को अभिव्यक्त करते हैं। यह पहली त्रयी का उलटा हुआ रूप है। भारतीय त्रिमूर्ति भी उदार रूप से कृष्ण एवं राम दोनों को ईश्वर के अवतार रूप में स्वीकार करती है और वहाँ पर बौद्ध तथा जैन धर्म के संस्थापकों को भी अवतार रूप में ग्रहण किया गया है। इस मत के लिए देखिए सुज़ुकी, वही।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

को डिगाया नहीं जा सकता, विश्वास करने वाला चाहे बौद्ध हो या ईसाई। दार्शनिकों की कल्पना की अपेक्षा वे लोग धर्म में बहुत छोटी सी भूमिका ही निभाते हैं। धर्म अन्त: प्रेरणीय है। यह युक्तिपूर्ण नहीं है। जैसा ईसाई भक्तिगान में समुचित प्रकार से बतलाया गया है; "उसको जानने से पहले हमें उसकी पूजा करनी चाहिए।" इसलिए महत्त्व की दृष्टि से करुणा एवं प्रेम की भावना त्रिमूर्ति के पहले परम्परागत दार्शनिक सदस्य को बहिष्कृत कर देती है, और बुद्ध की परमपिता के रूप की अपेक्षा वैरोचन या अमिताभ की पूजा की जाती है, ब्रह्मा की अपेक्षा विष्णु की पूजा की जाती है। सर्वोच्च पार्थिव रूप में विश्वास करने वाला सर्वत्र दिव्यता का एक सच्चा प्रतिबिम्ब ही देखता है। दार्शनिक लोग जो भी चाहे कह सकते हैं। कुल मिलाकर जो कुछ भी वे कहते हैं वह एक नए सत्य का मात्र प्रस्तुतीकरण ही नहीं होता है, यह उनकी अपनी भाषा में उस सत्य का दोबारा कथन ही है परन्तु जो वे कहते हैं सत्य उससे भी पुराना है।[१३]

---

१३. बौद्ध धर्म में मुक्ति का विचार सम्प्रदाय के अनुसार बदलता रहता है। प्राचीन बौद्ध धर्म ने किसी भी प्रकार की मुक्ति को स्वीकार नहीं किया था, यद्यपि मनुष्य कष्ट के द्वारा कर्म के बन्धन से अपने आपको मुक्त कर सकता था परन्तु बड़े ही अतार्किक ढंग से यह पुण्य की अदला-बदली के लिए अपनी स्वीकृति प्रदान करता था जिसके द्वारा जीवित और मृत लोगों को लाभ हो सकता था या वे दूसरे लोगों के अच्छे कर्मों के द्वारा मुक्त हो सकते थे। महायान के इस विचार का काफी विस्तार हुआ और इसने इस धारणा को अपनी स्वीकृति भी प्रदान कर दी कि बोधिसत्व अपने दुःख के द्वारा संसार को मुक्त कर सकते हैं। पुण्य की अदला-बदली का विचार ईसाई धर्म में बिल्कुल अनुपस्थित नहीं है, जैसा यह नियोजित विशुद्धीकरण के रूप में दिखलाई पड़ता है : "अविश्वासी को उसकी पत्नी के द्वारा शुद्ध किया जाता है" (I कोर। ७.१४) भारतीय देवशास्त्र में एक परित्राता देवता है परन्तु वह पापी को मुक्त नहीं करता है। वह पापी श्रद्धा या सत्कर्म या ज्ञान से मुक्त होता है अर्थात् दिव्य तत्त्व से उसके अपने सायुज्य के द्वारा। देव मनुष्य वाले सम्प्रदाय श्रद्धा के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु को श्रेयस्कर मानकर इसकी उपेक्षा करते हैं। आदिम बौद्ध धर्म भी बुद्ध में विश्वास तथा इसके उपदेशों में धार्मिक जीवन के लिए आवश्यक रूप से बल देता था।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अध्याय २०

ईसाई त्रिमूर्ति

ईसाई मत ने, यद्यपि इसका निर्माण पीटर की चट्टान पर किया गया था, अपने धर्म को बचाने के लिए पर्याप्त प्रतिमापूजक सामग्री का प्रयोग किया है। इसकी कुछ सामग्री तो जैविश (जिव सम्बन्धी) स्रोतों से छन-छन कर आयी है तथा कुछ सामग्री भूमध्यसागरीय एवं यूनानी सम्प्रदायों से उत्तराधिकार में प्राप्त हुई है। बपतिश्मा, व्रत, विशुद्धीकरण, जागरूकता, अमृतत्त्व एवं पुनरुत्थान की आशा, आश्चर्यपूर्ण चिकित्सा, मदिरा में परिवर्तित हुआ जल—ये सभी ईसा से पूर्व की चीज़ थीं। दिव्य मातृ देवी एवं मित्र (देवता) का धर्म पहले ही एक मुक्तिदाता के सिद्धान्त की शिक्षा दे चुका था, जिसका अनुभव इस धर्म में दीक्षित एवं इसमें विश्वास करने वाले व्यक्ति के द्वारा किया जाता था। मर्त्य मानव मृत्यु एवं देवता के पुनरुत्थान के माध्यम से कर्मकाण्डों में भाग लेकर दिव्य प्रकृति में भी भागीदार बन गया था। उसको रक्त या जल द्वारा रहस्यात्मक ढंग से पाप से विशुद्ध कर दिया जाता था तथा वह दिव्य अमृतत्त्व में भागीदार बन जाता था। डायोनिसिस (यूनानी देवता) का आविर्भाव ईसामसीह का भी आविर्भाव बन गया था। प्रतिमापूजक देवताओं का अभी भी एक नए रूप में स्मरण किया जाता था या उनको राक्षसों के रूप में समझा जाता था। कभी-कभी उनको फ़रिश्तों एवं फ़कीरों में बदल दिया जाता था जिसके लिए मनुष्य अभी भी प्रार्थना किया करता था। गिरिजाघर द्वारा उत्सुकतापूर्ण ढंग से यह समझाया जाता था कि ईसाई कर्मकाण्ड अपनी काफ़िराना समानता के लिए इस तथ्य का ऋणी था कि राक्षसों ने ईसाई मत को विद्रूपात्मक बना दिया था। अवचेतन रूप से जादुई दृष्टिकोण की ओर मुड़ते हुए इगनोटियस ने घोषणा की थी कि समागम की रोटी ही "अमृतत्त्व की दवा" है। गिरिजाघर की गोपनीय बिरादरी का भाव यूनानी रहस्यवादियों का ही था तथा उनके समान ही एक संयोग का भाव प्रस्तुत करता था। यह संयोग दिव्य शक्ति तथा मानव प्राणियों के एक चुने हुए दल के बीच

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

रहस्यात्मक ढंग से पतिपादित किया जाता था।[1]

जैसे आम लोगों में होता है, वैसे ही गिरिजाघर के चिन्तकों में प्रतिमा-पूजक प्रभाव आवश्यक था। तरसुस, जहाँ पाल रहता था, वहाँ स्टोआइक दर्शन भली-भाँति विदित था। यह संसार में एक आध्यात्मिक शक्ति, एक शब्द ब्रह्म या ब्रह्माण्ड के अन्तर्वर्ती तर्क की कल्पना करता था। प्राचीन गिरिजाघर ने यह घोषणा कर दी थी कि ईसामसीह शब्द ब्रह्म था एवं शब्द ब्रह्म ईश्वर था। हालाँकि इस रूप में प्राचीन उपदेश इस प्रकार का कोई संकेत नहीं देते हैं। जॉन में ईसामसीह को अपनी पूर्व सत्ता का स्मरण करते हुए अभिव्यक्त किया गया है। पॉल यह नहीं कहते हैं कि ईसामसीह ईश्वर है परन्तु वह पवित्र आत्मा के साथ ईसामसीह का तादात्म्य स्थापित करता है तथा ओल्ड टेस्टामेंट के ईश्वर के शब्दों को उसके लिए प्रयुक्त करता है: मैं ईश्वर हूँ, मेरे प्रति प्रत्येक घुटने को झुकना पड़ेगा" (४५.२२.२३; २.१०)। ईसामसीह स्वर्ग से मनुष्यों में राज्य करने वाली ईश्वर की आत्मा है। यह अधिपति एवं स्वामी है, माँस का विरोधी हैं (एडम)। इस प्रकार पाल के रहस्यवाद का सम्बन्ध ईसामसीह से था, जबकि जॉन के रहस्य वाद का सम्बन्ध ईश्वर से था। न ही यह आत्मा और न यह मांस था, परन्तु यह प्रकाश एवं अन्धकार था। यह एक नास्टिक ज्ञान सम्बन्धी विरोधाभास था। न यह जैविश था और न यह प्राचीन यूनानी ही था। शब्द ब्रह्म सिद्धान्त के बीज पॉल के परवर्ती धर्मपत्रों में पाए जाते हैं। जस्टिन, टेटियन एवं अन्य प्राचीन लेखक आत्मा एवं शब्द-ब्रह्म के बीच तादात्म्य स्थापित करते थे। त्रिमूर्ति के सिद्धान्त का प्रारम्भ जॉन (लगभग १००) में पहले ही दिखलाई पड़ता है। जीसस एवं पाल के लिए त्रिमूर्ति का सिद्धान्त आपाततः अज्ञात था। कुछ भी हो, वे इस विषय में कुछ भी नहीं कहते हैं। त्रिमूर्ति शब्द का प्रयोग यूनानी एवं लातीनी रूप में १८०-२०० से पहले नहीं होता है। जैसे भारत एवं बौद्धों के यहाँ पूजा की पृथक्-पृथक् वस्तुएँ थीं, बाद में व्यावहारिक या दार्शनिक कारणों से उनको एक साथ जोड़ दिया गया था।

पश्चिम का यह व्यावहारिक मन ही था जिसने पिता, पुत्र एवं पवित्र आत्मा के संयोग को प्रेरित किया। यह प्रेरणा पहले प्राकृत कारणों से नहीं आयी थी परन्तु क्योंकि वहुदेववाद के लिए मार्ग बनाने के लिए एक कठोर एकेश्वरवाद को प्रस्तुत किया जाना था। यह दो या तीन देवताओं की पृथक् पूजा में सन्निहित

१. परन्तु यह असम्भव है कि ईसाई मत ने अपने संस्कार तथा कर्मकाण्ड सीधे-सीधे उधार लिए हो। इसने इन सभी चीजों का ही प्रयोग किया जो काफी लम्बे समय तक विदित थी।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नहीं था और ईसाई लोगों के विरुद्ध खुलकर यह दोष लगाया जाता था कि ये द्वैतवादी हैं या त्रैतवादी हैं।

परन्तु प्राचीन गिरिजाघर के मठाधीश ईसामसीह एवं पवित्र आत्मा की व्याख्या करने में अर्थ की दृष्टि से अपने आप में एकमत नहीं थे। पहला ईसाई सुधारक मारकिओन ईसा को दया के सच्चे ईश्वर की अपार्थिव अभिव्यक्ति समझता था, जो झूठे येहोवा की विरोधी थी, तथा वह इसके सच्चे अवतार को नकारता था। पचास वर्ष बाद (१८०—२००) नोएटस ने यह शिक्षा दी कि स्वयं ईश्वर को सूली पर चढ़ाया गया था; जैसा प्रेक्सिस ने समझाया है, ईसा ईश्वर का अस्थायी स्वरूप है। उसी समय थियोडोटस ने यह विवाद प्रस्तुत किया था कि पवित्र आत्मा पहले जीसिस के ऊपर उसके बपतिश्मा के समय आयी थी। इस प्राचार्य के कुछ अनुयायियों ने जीसिस की दिव्यता को बिल्कुल नकार दिया था। वह ईश्वर का वास्तविक पुत्र नहीं था अपितु गोद लिया हुआ पुत्र था। यह एक ऐसा दृष्टिकोण है जो ईसाई विद्या के एक प्राचीन रूप का प्रतिनिधित्व करता है। पॉल ऑफ सेमोसटा, एण्टिओख के पादरी (लगभग २००) ने यह घोषणा की कि शब्द ब्रह्म एक निर्वैयक्तिक दिव्य लक्षण है जिसको ईश्वर के पुत्र के रूप में वर्णित किया गया है।[२] इस शब्द ब्रह्म ने मनुष्य रूप जीसिस में दिव्य शक्ति भर दी ताकि नैतिकता एवं प्रेरणा की दृष्टि से वह ईश्वर के साथ एकाकार हो सके, परन्तु तत्त्वतः वह ईश्वर से एकाकार नहीं हुआ था। सामान्यतः एण्टिओख सिद्धान्त के विरोध स्वरूप कि पुत्र एक प्राणी है तथा अपनी सृष्टि से पृथक् निवास करता है। एलक्जेण्ड्रियन विचारधारा ने समझाया कि पुत्र एक प्राणी नहीं है तथा ईश्वर अपनी सृष्टि में अन्तर्वर्ती है। ओरिजेन (एलक्जेण्ड्रिया का लेखक, ईसाई तत्त्व ज्ञानी एवं प्राचार्य) के लिए ईसा एक गौण ईश्वर था, वह ईश्वर तथा संसार के

---

२. "प्रिय पुत्र ही" इन शब्दों का पहले प्रयोग इज़रायल के लिए किया गया था। संसार को अविज्ञात पिता को बतलाने के लिए इन शब्दों को चुना गया था। यह भाव ईसाई मत द्वारा ग्रहण करने के बाद ईसा के सन्दर्भ में इनका प्रयोग किया गया था। ईसा में ही ज्ञान की आत्मा (जैसे इज़रायल) विश्राम करती है। फिलिस्तीन में यह ज्ञान की आत्मा तोरव में सशरीरी बन गयी थी तथा बौद्ध धर्म में इसका तादात्म्य धम्म से किया गया था। एलेक्जेण्डि-रिया में इसकी शब्द ब्रह्म के रूप में व्याख्या की गयी थी। ईश्वर, उसके शब्द तथा उसका ज्ञान—इनको मिलाकर एण्टिओख में एक त्रिमूर्ति की स्थापना की गयी थी। ईसा के पुत्रत्व तथा ज्ञान के इज़रायल से परिवर्तन के लिए देखिए प्रोफ़ेसर बेकन का लेख "दि सन एज़ आरगन ऑफ़ रिवेलेशन" हार्वर्ड थियौलोजिकल रिव्यू, पृ० ३८२

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

बीच ज्ञान था। इस "रंग-विरंगी ईसाइयत" में आत्मा कभी-कभी शब्द-ब्रह्म से एकाकार हो जाती है, क्योंकि ईसा में शब्द-ब्रह्म का तादात्म्य पिता से किया जाता है, और कभी-कभी ईसा ईश्वर का मात्र एक प्राणी या एक अभिव्यक्ति ही रह जाता है। मातृ-आत्मा के रूप में भी इसकी व्याख्या की जाती थी, जो एक त्रयी में पिता एवं पुत्र से जुड़ जाती है; परन्तु फिर, अर्ध आर्य लोग इसकी दिव्यता को नकारते हैं। दूसरी ओर सीरियाई ईसाई लोग "ईश्वर के अतिरिक्त, दो देवताओं, जीसिस एवं मेरी की पूजा किया करते थे।" मेरी को भी पवित्र आत्मा के रूप में समझा जाता था। एक क्रोधित मतभेद ने प्राचीन गिरिजाघर को इस बात पर विदीर्ण कर दिया था कि क्या मेरी ईश्वर की माता है? परन्तु मातृत्व दो दूसरे भावों में सामने आया। एक तो गिरिजा के मातृ रूप में, देवशरीर के रूप में तथा दूसरे उस आदरभाव में, जो तीसरी शताब्दी में गिरिजाघर के दानाधिकारी को पवित्र आत्मा के रूप में उसके प्रति दिखलाया जाता था। यह बौद्ध संघ के बोधिसत्व रूप सदस्यों के देवशरीरों के समानान्तर था क्योंकि प्राणियों में सबसे ज्यादा श्रद्धा का भाव मेरी के प्रति दिखलाया जाता था। आम जनता के प्रेमभाव में उसने पवित्र आत्मा को स्थानान्तरित करना प्रारम्भ कर दिया या तथा एक अनधिकृत धर्मोपदेश में जीसिस ने "मेरी माता को पवित्र आत्मा" के रूप में कह दिया है।[3] परन्तु इसके अतिरिक्त ईसाई गिरिजाघर का रहस्यवाद भी उसी स्थिति में पहुँच गया है जिस स्थिति में भारतवर्ष का राम-कृष्ण का रहस्यवाद पहुँच गया था। इस प्रकार अंग्रेज रहस्यवादी जुलियन (लगभग १४००) कहता हैं कि ईश्वर ही माता है।

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि प्राचीन ईसाई तत्त्व ज्ञान स्टोइक, नॉस्टिक तथा प्लेटोनिक तत्त्वों का सम्मिश्रण था। ईश्वर के पुत्र के रूप में कार्य करते हुए ईश्वर की आत्मा या ईश्वर के ज्ञान की प्राचीन जैविश विचार-धारा में इन सब तत्त्वों को बेमेल रूप से संयोजित किया गया था। इस ईश्वर की व्याख्या जीसिस क्राइस्ट के रूप में की गयी थी। परन्तु पहला ईसाई तत्त्व ज्ञान इन शब्दों में दिया गया था "मैं और मेरा पिता एक हैं" तथा प्राचीन गिरिजाघर के सदस्यों का, जो सिद्धान्तवादी नहीं थे, यही सीधा-सादा विश्वास था और इससे

---

३. भारतवर्ष में रोमन कैथोलिक धर्म को अब भी धर्म के नाम से जाना जाता हैं। इसमें तथा प्रोटेस्टेण्ट धर्म में अन्तर है। वेलिंटिनस की नास्टिक विचार-धारा में एक मातृ-मिथ था। वह उसको एक परित्राता के रूप में खोज लेती है और उसका "दूसरा विवाह" हो जाता है। इसलिए रहस्यवादी तथा श्रृंगारात्मक प्रतीकवाद के रूप में रूह को एक फ़रिश्ता परित्राता के रूप में मिल जाता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ज्यादा कुछ नहीं था। जीसिस ही ईश्वर है। पहले सूक्तों में यही घोषणा की गयी थी। प्राचीन गिरिजाघर ने इन सूक्तों का ही गान किया था। सेमोस्टा के पॉल को ईसामसीह की ईश्वर रूप में स्तुति करने वाले सूक्तों पर पाबन्दी लगानी पड़ी थी। इसलिए इगनेटियस ने, जिसके पास अभी तक कोई त्रिमूर्ति का फार्मूला नहीं है, घोषणा की, "जीसिस क्राईस्ट ही एक ईश्वर हैं" तथा उसने गिरिजाघर के दानाधिकारियों को "क्राईस्ट ईश्वर के सेवक" के रूप में वर्णन किया। सेलसस, पॉल के साथी, बरनाबस तथा शान्त प्रकृति वाले सन्तों (क्लीमेण्ट) के लिए ईश्वर के पुत्र के रूप में क्राईस्ट ईश्वर से एकाकार हैं। जस्टिन द्वारा जिन लोगों की निन्दा की गयी है कि "वे नकारते हैं कि वह ईश्वर है।" तीसरी शताब्दी में रोम का पादरी कहता है कि कुछ लोगों का यह विश्वास है कि क्राईस्ट का उद्गम ईश्वर से हुआ है। कुछ लोग तीन सार तत्त्वों को मानते हैं; और कुछ लोग पुत्र एवं पवित्र आत्मा को मात्र ईश्वर के प्राणी के रूप में स्वीकार करते हैं। ओरिजेन (अलेक्ज़ोण्ड्रिया का लेखक) "यह स्वीकार नहीं करेगा कि त्राता ईश्वर है, हालांकि कुछ लोग ऐसा विश्वास करते हैं" (ओरिजेन के लिए "शब्द ब्रह्म, ज्ञान, न्याय, ईश्वर की सत्ता के रूप में" उसकी सत्ता थी)। उसी पर्यवेक्षक का कहना है कि "कुछ लोग ईश्वर के प्रति प्रार्थना करते हैं एवं कुछ लोग जीसिस के प्रति प्रार्थना करते हैं।"

त्रिमूर्ति की अन्तिम परम्परागत परिभाषा अधिकांशतः गिरिजाघर की राजनीति का विषय रही है। जीसिस क्राइस्ट में कितना दिव्यत्व है और उसमें कितना मानवत्व है, इन विषयों पर अनन्त वाद-विवाद के बाद उस परिभाषा को प्राप्त किया गया था, जब उनकी दिव्यता का प्रारम्भ हुआ तो क्या वे प्राणी थे, क्या वे एक उद्गम थे या ईश्वर के साथ एकमूर्ति थे, क्या वे पवित्र आत्मा से एकाकार थे, क्या पवित्र आत्मा ईश्वर से एकाकार थी, और अन्तिम रूप से क्या एक ज्ञान सम्बन्धी पद का उद्देश्य त्रयात्मक सम्बन्ध की परिभाषा देना था या नहीं—यह इन सभी प्रश्नों के सन्दर्भ में तत्त्वज्ञान की बाल की खाल निकालना ही था। इन सभी प्रश्नों का उत्तर केवल पार्टी के मत द्वारा ही दिया जाता था। जो कुछ भी एक आदमी समझ सकता था वह यह था कि ईश्वर, पवित्र आत्मा एवं "ये तीन व्यक्ति तथा एक ईश्वर हैं।" गिरिजाघर का यह विश्वास था कि एक सक्रिय सर्जनात्मक शक्ति के रूप में "ईश्वर" हिब्रू लोगों की पवित्र आत्मा ही था। इसका तात्पर्य यह था कि जैसे यूनानी देवशास्त्र में है, पवित्र आत्मा के पीछे, शब्द ब्रह्म के पीछे एक ऐसी शक्ति विद्यमान है जो इतनी व्यक्त नहीं है, जबकि पहले सीधे-सादे ईसाइयों का यही विश्वास था कि जीसिस क्राईस्ट पृथ्वी पर

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ईश्वर हैं। करुणा की दिव्य आत्मा तथा ज्ञान[४] एवं सत्य की आत्मा के रूप में पवित्र आत्मा की कल्पना की गयी थी जो अपने आपको जीसिस में अभिव्यक्त करती है और कुछ लोगों के अनुसार वह मातृ-आत्मा के रूप में हैं। परन्तु हिन्दू तथा बौद्ध व्याख्या के समान ईश्वर की इस उभयलिंगी व्याख्या को पश्चिमी तत्त्व ज्ञान में कोई चिरस्थायी स्थान प्राप्त नहीं हो सका। अन्यथा ईश्वर का विचार ईश्वर की अभिव्यक्ति के रूप में करुणा की आत्मा, शब्द ब्रह्म तथा ईश्वर का एक पार्थिव अवतारी रूप—ये सभी मौलिक रूप से उस पूर्वी विचारधारा से भिन्न नहीं हैं जिस तरह वे हिन्दू धर्म तथा बौद्ध धर्म के महान् मन्दिरों तथा संघों में प्रकट हुए हैं। तीनों में यही प्रश्न था कि क्या ईश्वर का मानव रूप वास्तविक या अपार्थिव था?

परन्तु मध्ययुग के रहस्यवाद के माध्यम से नवप्लेटोवाद के एक स्वरूप का गिरिजाघर पर काफी प्रभाव पड़ा था। इस नवप्लेटोवाद पर अभी तक विचार नहीं किया गया है।

उसी समय जब ओरिजन (एलेजेण्ड्रिया का लेखक) ऐतिहासिक रूप में प्रस्तुत तथा दार्शनिक रूप से कल्पनीय त्रिमूर्ति के विद्रूप प्रकार से परिभाषित स्वभाव पर काफी परिश्रम कर रहे थे। पवित्र आत्मा के लिए उनके सिद्धान्त में कोई स्थान नहीं था—प्लोटिनस (२०५—२७०) जैविश परम्परा से अप्रभावित था परन्तु नॉस्टिक सम्प्रदाय के सिद्धान्त से मुक्त भी नहीं था। भारतीय रहस्यवाद में निष्णात कुछ लोगों के अनुसार उसने एक ऐसे प्लेटोवाद को विकसित किया (परन्तु यह असम्भव है) जिसकी परिणति बौद्ध एवं ब्राह्मणवादी परम्परागत त्रिमूर्ति के समान ही होती है। उस तत्त्व-ज्ञान का, जिसे प्लेटॉनिक कहा जाता था, ईसाई मत के नेताओं पर बिल्कुल भी प्रभाव नहीं पड़ा।

प्लेटो के विशुद्ध आदर्शवाद ने एक दिव्य ज्ञान एवं मन की परिकल्पना की थी। उसने एक विश्वात्मा की भी परिकल्पना की थी जो दिव्य एवं वैयक्तिक आत्माओं के बीच मध्यस्थ थी। मन इसका प्रवर्त्तक था। यह विचार एवं संघटना के बीच ईश्वर द्वारा निर्मित मध्यस्थ प्राणी था। परवर्ती प्लेटोवाद ने ब्रह्मज्ञान, ज्ञान, शब्द तत्त्व को पर्याय के रूप में प्रयोग किया था और फिलो महोदय की

४. ज्ञान की देवी, चाहे उसकी कल्पना मूलतः हेलिनिक प्रभाव के अन्तर्गत की गयी हो या नहीं, का रूप येहोवा की आत्माओं के हिब्रू विचार के अनुकूल है, जैसे शक्ति की आत्मा। इनकी कल्पना ईश्वर के लक्षणों या ईश्वर की सेवा में लीन आत्माओं के रूप में की गयी है। इस आत्मा में एकपैगम्बर विद्यमान है जैसे इसमें पियूथिया या सिबिल विद्यमान था। यह मनुष्य का दैवीकरण करता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्तिनिष्ठ एवं निर्वैयक्तिक के बीच इसे अभी भी भटकने वाला प्राणी समझा जाता था जो या तो स्वर्ग से या शब्द तत्त्व से उद्भूत था, जिसको अभी भी परित्राता के रूप में समझा जाता था। वह प्राणी ईश्वर की सार्वभौमता को ललकारता है। फिलो महोदय की व्यवस्था विशुद्ध रूप से परिकल्पनात्मक थी[५] परन्तु उसकी पौराणिक भाषा जीवित बनी हुई थी। ठोस व्यक्तिनिष्ठ ज्ञान के पीछे (प्लेटो जिसको उत्पादक एवं पिता समझता है) नवप्लेटोवादियों ने साररूप एक नपुंसक तत्त्व की परिकल्पना की थी। प्लोटिनस इसे अभी भी पिता तथा ईश्वर के नाम से पुकारता था, हालाँकि यह गुणों से रहित है। विचारों का संसार (प्लेटो के अनुसार ज्ञान के रूप में ईश्वर में अन्तर्वर्ती है) एक दूसरे दिव्य प्राणी के मन में स्थित है, अर्थात् ज्ञान का सिद्धान्त एक मात्र सारतत्त्व से उत्पन्न किया जाता है, ताकि जैसे द्वितीय शताब्दी के न्यूमेनिस (देवता विशेष) में है, संसार ईश्वर का प्रपौत्र है। प्लोटिनस ने इस विचार का परित्याग कर दिया था कि भौतिक जगत् का प्रत्येक व्यक्ति एक चैतन्य बौद्धिक प्राणी है। वह अपना प्राणतत्त्व विश्व- आत्मा से ग्रहण करता है। प्लेटो पर वापिस पहुँचने पर हम यह पाते हैं कि उसने आध्यात्मिक तत्त्व को आवश्यक रूप से संघटना से भिन्न रूप में यथार्थ बना दिया था। हालाँकि फिलो महोदय के साथ-साथ उसने यह माना था कि तारों के भी जीवन तथा मन होता है। मध्यस्थ रूप वाला ज्ञान कभी-कभी अवतार रूप नहीं होता है परन्तु दो दूसरी सत्ताओं के समान ही (देवशरीरों) अनुभवातीत होता है, ताकि हमें एक (परमतत्त्व) मन तथा आत्मा की त्रिमूर्ति मिल सके। आध्यात्मिक होने के कारण मानव-आत्मा अमर है। संसार का निर्माण करने से पहले ईश्वर अपरिवर्तनीय अखण्ड से विश्व आत्मा का निर्माण करता है एवं (सशरीरी) परिवर्तनीय एवं खण्ड का निर्माण करता है। मध्यस्थता का सिद्धान्त एक बीच का सारतत्त्व है जो शाश्वत अध्यात्म एवं वस्तुओं के भौतिक आधार से बनता है। यदि नकारात्मक रूप से कहें तो वह सृष्टि की सेविका के रूप में आकाश ही है।[६]

---

५. प्लुटारख में बहुदेववाद की व्याख्या प्लेटोनिक सिद्धान्तों के आधार पर की गयी थी परन्तु यह द्वैतवादी दृष्टि से किया गया था। ओसिरिस, इसिस, होरस (शब्द ब्रह्म तथा मन के सम्मिश्रण से एक संघटना के रूप में अन्तिम परिणति)—ये सभी टाईफोन के विरोधी थे—बुरे सिद्धान्तों के विरोध में एक अच्छाई की त्रिमूर्ति।

६. पारिभाषिक रूप से समानता तथा विभिन्नता में से ज्ञान से उत्पन्न होने वाली "विभिन्नता" द्रव्य के सम्पर्क में आने पर रूह के सन्दर्भ में पूरी स्वतन्त्रता रखती है। द्रव्य अपने आप में अनन्त है। द्रव्य सबसे कम रूप में वास्तविक है क्योंकि यह अन्तिम तथा सबसे निम्न कोटि की रचना है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इस सिद्धान्त के अन्तर्गत बुराई का कोई सक्रिय सिद्धान्त नहीं है, परन्तु यह अच्छाई का उत्सर्ग एवं अध्याहार है। ईश्वर किसी भी अमूर्त या व्यक्तिनिष्ठ का विरोधी नहीं है; परन्तु उसी समय वह प्लेटो का चैतन्य पिता भी नहीं है। वह व्यक्तिनिष्ठ नहीं है एवं नैतिक गुणों से युक्त भी नहीं है। प्लेटो ने जिसकी ईश्वर रूप में कल्पना की थी, प्लोटिनस ने उसको एक घटिया देवता बना दिया। उसका अपना ईश्वर अरिस्टोटल के ज्ञान के समान है। फिर भी प्लोटिनस का ईश्वर पारिभाषेय रूप से एक (नपुंसक) है। वह सभी क्रिया-कलापों का कारण है, सबसे श्रेष्ठ क्योंकि सभी उसी से उत्पन्न होते हैं। इसका यह फलितार्थ है कि जो कुछ भी व्युत्पन्न होता है वह सब घटिया है, यह सिद्ध नहीं होता है।[७]

एक (ईश्वर) विचारहीन है। सभी चेतन विचार ज्ञान (मन) में होते हैं। परन्तु एक को अच्छा ही होना चाहिए क्योंकि अनैतिक नैतिक संसार को उत्पन्न नहीं कर सकता है (बौद्ध धर्म में भी वही प्रमाण प्रयुक्त होता है)। वह सभी अच्छाइयों से भी अच्छा है, क्योंकि यह सभी सुन्दर वस्तुओं से भी सुन्दर है, और कभी-कभी मन एवं ज्ञान को इसकी तरफ मोड़ देता है। वह वहाँ से शाश्वत ऊर्जा एवं अच्छाई ग्रहण करता है। ज्ञान से मन पैदा होता है, आत्मा भी पैदा होती है जो इससे घटिया है। मन ज्ञान की ओर मुड़ता है जैसे ज्ञान एक (ईश्वर) की ओर मुड़ता है (जीवन की शाश्वत क्षमता मन से प्राणतत्त्व ग्रहण करती है)। पदार्थ का स्वभाव ग्रहणशील आकृतियों का होता है। इसमें अच्छाई के स्थायी स्वत्व को ग्रहण करने की क्षमता नहीं होती है। यह "असत्" रूप में बुराई है। मन का एक ऊँचा भाग है। यह भाग सशरीरी वस्तुओं से अभिज्ञ है। एक भाग उनके बीच में स्थित रहता है। यह संसार को पैदा करता है[८]। एक (ईश्वर) मन, आत्मा व्यक्तिनिष्ठ वस्तु नहीं है। फिर भी प्लोटिनस का दर्शन ही धर्म हैं; तथापि यह दृष्टि एवं आह्लाद का धर्म है। दृष्टि ही श्रद्धा का माध्यम होती है और श्रद्धा तर्कसंगत ज्ञान से ऊंची है। धार्मिक व्याख्याकार (प्रोक्लूस) ने यही कहा था। प्राकृत सिद्धान्तों की समझ की अपेक्षा श्रद्धा ही यहाँ है, परन्तु यह सामान्य सिद्धान्त कि श्रद्धा विज्ञान का अतिक्रमण करती है, सभी रहस्यवादियों में

---

७. अमृतत्त्व के सन्दर्भ में प्लोटिनस का कथन है कि मानव शाश्वतता में भाग ग्रहण करता है क्योंकि वह समझदारी से इसके विषय में बात कर सकता है।

८. ऐसे विचार रखने वाला प्लोटिनस सर्वेश्वरवादी था या नहीं—यह विवाद का प्रश्न है। जैलर महोदय के अनुसार प्लोटिनस स्वतन्त्र इच्छा में विश्वास करता था। दूसरों का मत है कि वह नियतिवादी था।

—देखिए व्हिाटेकरर्ज प्लोटिनस, पोस्सिम

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सामान्य रूप से पाया जाता है।[६]

अब हमें प्लोटिनस में भी वही चीजे उपलब्ध होती हैं जिनको गिरिजाघर के कुछ मठाधीश चाहते थे परन्तु परम्परा के विरोध में उनको माँगने का साहस उनमें नहीं था। ईश्वर सम्पूर्ण है। वह तर्क नहीं है। उसको तर्क द्वारा समझा नहीं जा सकता है। वह परम एकता है, प्राथमिक कारण है, विश्व-शक्ति है परन्तु वह इस संघटना को सीधे-सीधे पैदा नहीं करता है। जैसे सूर्य से किरणें निकलती हैं; उसी प्रकार उससे सम्पूर्ण सिद्धि के रूप में ज्ञान निःसृत होता है। वहाँ विचार अन्तर्वर्ती होते हैं और प्राणियों के रूप में सभी के कारण पैदा होते हैं। तब वैयक्तिक आत्माओं में विस्तृत होती हुई विश्व-आत्मा निकलती है। जन्म से ही शरीर धारण करने वाली ये वैयक्तिक आत्माएँ अपने देवत्व को भूल जाती हैं और वस्तुओं को आध्यात्मिक न समझती हुई स्वतन्त्र रूप से जीना चाहती हैं। वे ज्ञान एवं तपस्या के माध्यम से ईश्वर के पास वापिस लौटती हैं। माँस की वश्यता के कारण आत्मा अपने आध्यात्मिक घर को वापिस जाने के लिए स्वतन्त्र हो जाती हैं और परमात्मा के समान बन जाती हैं। पुण्य आचरण की विभिन्न अवस्थाओं के माध्यम से आत्मा आध्यात्मिक चिन्तन के पवित्र जीवन पर पहुँचती है तथा इस अवस्था में मनुष्य दिव्य बन जाता है। परन्तु वह अभी भी, दिव्य ज्ञान से सम्बन्धित होने के कारण ही केवल दिव्य मन एवं ईश्वर की खाई को पार नहीं कर पाता है। अपने आपको भुलाकर तथा सभी विचारों का परित्याग करके सहज आह्लाद में मानव को, जो पहले से ही दिव्य है, एक (परम ईश्वर) से सायुज्य प्राप्त करना चाहिए।

एक (ईश्वर) से एकाकार होने का यह आनन्दातिरेक उसी के समान है जिसको भारत के साधुओं एवं संन्यासियों के आह्लाद में देखा जाता है। कभी-कभी ब्रह्मा को एक मानकर इस पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। कभी-कभी करुणा की आत्मा या अवतारभूत ईश्वर के रूप में अभिव्यक्त व्यक्तिनिष्ठ देव प्रमुख के ऊपर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। परन्तु भाव हमेशा ही, क्योंकि यह विशुद्ध भाव है, वही होता है। ज्ञान से ऊपर, तर्क से ऊपर आवेग की अत्यधिक उत्तेजना में आत्मा ईश्वर को पहचानती है। ईश्वर की यह तात्कालिक चेतना ईश्वर के सामीप्य के समान ही है जिसके विषय में सभी रहस्यवादी अपना गम्भीर अनुभव बतलाते हैं। जैसे दिव्य शक्तियों के नामों के सन्दर्भ में होता है, इस रहस्यात्मक उन्नयन की वस्तु के सन्दर्भ में भी ऐसा ही होता है। चाहे ब्रह्मा या ईश्वर या विष्णु कृष्ण या जीसिस क्राइस्ट के साथ संयोग की अनुभूति हो, इससे

६. विश्वास ही यथार्थ ज्ञान है। "ज्ञान" से उपलब्ध होने वाली मुक्ति के सन्दर्भ में सभी भारतीय सत्य वचनों में यह छिपा हुआ रहता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कोई अन्तर नहीं पड़ता है। वैज्ञानिक दृष्टि से प्रभाव वैसा ही होता है। धार्मिक दृष्टि से भी वही प्रभाव होता है। यह उस सामीप्य की पहचान ही है। यह श्रद्धा की विशेष वस्तु नहीं होती जिसका प्रभाव पड़ता है, इससे साधन पर भी प्रभाव पड़ता है।

वह विश्वास ब्राह्मणवाद, बौद्ध धर्म तथा ईसाई धर्म में भी (वैज्ञानिक) ज्ञान से ऊँचा है—इसका यह आशय नहीं है कि हमें एक ही रूप में विश्वास करना चाहिए परन्तु इसका आशय है कि हम ईश्वर को केवल ध्यान के माध्यम से ही जान सकते हैं। उसकी सत्ता एवं अच्छाई के प्रमाण के कारण हमें यह विश्वास करना चाहिए।

त्रिमूर्ति के सभी तीन रूपों में परमतत्त्व के लिए वही स्वाभाविक दार्शनिक वरीयता पायी जाती है। व्यक्तिनिष्ठ ईश्वर के लिए भी वैसी ही आवश्यक धार्मिक वरीयता पायी जाती है। एक महत्त्वपूर्ण विशिष्टता के अपवाद के अतिरिक्त कि यूनानी दर्शन में आत्मा एक पतित प्राणी है, जो अपनी आदिम पवित्रता को पुनः प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रही है, सभी तीनों सिद्धान्तों में विश्वास की एकरूपता पायी जाती है। वह इसलिए सम्भव है, क्योंकि यह सत्य की पहुँच की इतनी निकटता पर आधारित है जिसे मानव बुद्धि विमर्श के द्वारा प्राप्त कर सकती है। सभी तीनों सिद्धान्त कठिनाई से ईश्वर को पारिभाषित करने का संघर्ष कर रहे हैं और कुछ के स्थान पर कुछ ही पारिभाषित कर देते हैं। ईश्वर, स्वर्गिक आत्मा एवं रूह एक त्रिमूर्ति है जिसे दार्शनिक पुनः व्यवस्थित करके एक सम्पूर्ण, आत्मा (ईश्वर) एवं रूह में अभिव्यक्त करता है। ईश्वर यहाँ एक सक्रिय सृष्टा होना चाहिए, परन्तु ईश्वर की परिभाषा अपरिभाषेय होने के साथ पितृ ईश्वर अपरिभाषेय एवं संपूर्ण नहीं हो सकता है। अतः सृष्टि या विकास या माया की कल्पना करके, जिससे विश्वास करने वाले का तात्पर्य ईश्वर से होता है, दार्शनिक इसकी व्याख्या परमतत्त्व के एक गौण रूप में ही करता है। सुस्पष्ट का यहाँ अस्पष्ट से विरोध हो जाता है। संभाव्य शक्ति की अपेक्षा ऊर्जा शक्ति बन जाती है। इस रूप में यह ईश्वर स्वर्गिक आत्मा एवं शब्द ब्रह्म से एकाकार है और ओरिजेन (अलेग्जेण्ड्रिया का लेखक) के अनुसार जब एक अवसर चुन लिया जाता है, तो दूसरे का कोई वास्तविक प्रमाण्य नहीं रह जाता है परन्तु इसका प्रयोग परम्परा की दृष्टि में सुविधा के रूप में किया जाता है।

इस प्रकार हमारे पास ब्राह्मण, बौद्ध तथा ईसाई त्रिमूर्तियों में भक्त तथा दार्शनिक की दोहरी शृखला है। सूक्ष्मता की दृष्टि से यदि ऐसे अभिधान का प्रयोग किया जाए तो (हालांकि भक्त का अपना दर्शन होता है जैसे दार्शनिक की अपनी धार्मिक निष्ठा होती है) यह दोहरी शृखला है. अर्थात्, (१) ईश्वर प्रमुख सृष्टा,

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आत्मा रूह और (२) परिपूर्ण सृष्टा, आत्मा रूह। इस परवर्ती श्रृंखला में आत्मा वास्तव में पितृ सृष्टा के रूप में ईश्वर का एक सक्रिय रूप होता है। परन्तु त्रिमूर्ति मौलिक रूप से धार्मिक होती है जबकि पूर्व में या पश्चिम में इसका दार्शनिक रूप एक नहीं होता। धार्मिक व्याख्या सर्वत्र एक जैसी ही होती है। दूसरे शब्दों में धार्मिक अभिव्यक्तियों के रूप में तीनों ही त्रिमूर्तियां समरूप हैं। प्रत्येक में एक सर्वोच्च प्राणी एवं पितृ ईश्वर त्रिमूर्ति के प्रमुख रूप में विद्यमान है। दूसरा सदस्य पवित्र आत्मा है, जो मानव बनकर त्रिमूर्ति के तीसरे सदस्य के रूप में जन्म ग्रहण कर लेता है। कोई कह सकता है कि मैं देव प्रमुख के रूप में ईश्वर में विश्वास करता हूँ, मैं दिव्य अवतार में विश्वास करता हूँ और एक ईसाई, वैष्णव या बौद्ध के रूप में मैं सर्जनात्मक पवित्र आत्मा में विश्वास करता हूँ। तीन त्रिक् एक ही हैं। धर्म के साम्राज्य की कोई जातीय सीमाएँ नहीं होती हैं, जैसा पॉल का विचार था, जब उन्होंने कहा, "वह जिसकी तुम अबोध रूप से पूजा करते हो, वह ईश्वर है।"

कुछ लोगों के लिए यह एक अजेय आपत्ति होगी कि पूर्वी ईश्वर स्वभाव से अन्तर्वर्ती है, वह बहुदेववादी है न कि एक श्रेष्ठ ईश्वर है। परन्तु एक भक्त के लिए ईश्वर हालांकि देव प्रमुख के रूप में श्रेष्ठ एवं अवर्णनीय है, फिर भी वह पिता जैसे व्यक्तिनिष्ठ लक्षणों से युक्त है। वह मुख्य रूप से जीवित एवं एक सक्रिय प्राणी है, और व्यवहारिक दृष्टि से धार्मिक अर्थ में यह बिल्कुल भी श्रेष्ठ नहीं है (उदाहरण के लिए, प्राचीन ईसाई सुधारकों का यही रवैया था)। इस प्रकार उससे कोई धार्मिक अन्तर नही पड़ता है कि क्या ईश्वर को आवश्यक रूप से बिल्कुल अलग समझा जाता है या उसको स्वभाव में अन्तर्वर्ती समझा जाता है। जैसे पितृ-सृष्टा के रूप में बहुदेववादी तथा एकदेववादी दोनों के लिए वह एक ही है। फिर यदि हम यह कहें कि ईश्वर ने शून्य से संसार को पैदा किया, तो मौलिक रूप से संसार कुछ भी नहीं है, जो वास्तव में उसे एक आदर्शवादी मानता है जब वह उसको (संसार को) ईश्वर की मायावी रचना कहता है। फिर भी आत्मा का पदार्थ से सम्बन्ध वास्तव रूप में एक मौलिक धार्मिक प्रश्न नहीं है। कम से कम यह ईश्वर में विश्वास करने वाले के रवैये को बिल्कुल प्रभावित नहीं करता है जिसको वह अपना सृष्टा एवं पिता मानता है।[१०] विष्णु की पूजा करने वाला एवं बौद्ध या करुणा का प्रशंसक यह नहीं पूछता कि पदार्थ के सन्दर्भ में उसका ईश्वर

---

१०. जिंठिगलि महोदय के अनुसार ईश्वर अनन्त सार या परम तत्त्व है। कर्मरूप में प्रकृति ईश्वर की शक्ति है। सभी प्राणी एक हैं क्योंकि सभी प्राणियों की सत्ता उसके अन्दर है तथा उसके कारण ही विद्यमान है। यथार्थ सम्बन्धी ईसाई दृष्टिकोण वास्तव में भारतीयों का सुधरा हुआ आदर्शवाद ही है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

से क्या रिश्ता है। वह उसको एक दिव्य आत्मा के रूप में जानता है जिससे प्रेम किया जाना चाहिए और उसकी पूजा की जानी चाहिए।

दूसरी ओर, निःसन्देह ऐतिहासिक कारण भी धार्मिक महत्त्व का है। ईश्वर का भाव उत्तराधिकार में काफी समय से चला आ रहा है और उस भाव को ऐतिहासिक विभूतियों के साथ इतना जोड़ा गया है कि एक विनम्र भक्त अपने आपको इस भावना से मुक्त ही नहीं कर पाता कि उसके लिए एक ही नाम के अन्तर्गत केवल एक ही ईश्वर है—केवल जोसिस या गौतम बुद्ध या रामकृष्ण आदि के नाम से विदित से पुरुष ईश्वर के अवतार रूप ही हैं। ऐतिहासिक जीसिस क्राईस्ट के किसी भी पूजा करने वाले से यह आशा नहीं की जाती कि वह किसी अन्य मुक्तिदाता के लिए प्रार्थना करे। परन्तु उसके लिए यह अतीव प्रसन्नता का विषय होना चाहिए कि दूसरे लोगों ने भी अपने-अपने क्षेत्रों में अपने नामों के अन्तर्गत दिव्य अवतारों के तथ्य को पहचान लिया है। उन्होंने यह भी स्वीकार कर लिया है कि पूर्वी विचारधारा के अन्तर्गत आत्मा ने मुक्ति देने के उद्देश्य से अवतार धारण कर लिया है और पूर्व एवं पश्चिम में ईश्वर भी वही ईश्वर ही हैं, जैसे एक गणित का सिद्धान्त वही सत्य बना रहता है चाहे उसे अंग्रेजी, संस्कृत या जापानी भाषा में कहा जाए। धार्मिक दृष्टि से कहा जाए तो ब्राह्मणवाद एवं बौद्ध धर्म का ईश्वर न केवल सर्वोच्च आत्मा ही है, वह भव्य, स्नेहयुक्त एवं करुणायुक्त ईश्वर है। सेण्ट ऑगस्टाइन एवं उपनिषदों के ऋषि एक साथ गाते हैं "ईश्वर को नेति-नेति के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है" परन्तु उसी समय ही भारतवर्ष एवं रोम में वह ईश्वर पितृ ईश्वर बन जाता है जिसकी कृपा से मानस की सुरक्षा होती है। प्लोटिनस भी, जो प्लेटो के मन को सर्वोच्च रूप में नकारता है, अच्छाई, सौन्दर्य एवं दिव्य ज्ञान को जीवन रस के रूप में ईश्वर के सिर पर मढ़ देता है। चौदहवीं शताब्दी में एकहार्ट ने ईश्वर-प्रकृति एवं देव-प्रमुखता को स्वीकार कर लिया था।[11] राम की पूजा करने वाले ईश्वर में विश्वास करते हैं। उसकी स्नेहमयी कृपा में श्रद्धा रखते हैं और स्वर्ग में उसके पास रहने की आकांक्षा करते हैं। मानवता के लिए ईश्वर का आत्म-बलिदान ही महायान बौद्ध धर्म की कुन्जी है। स्नेहमयी श्रद्धा एवं ईश्वर विष्णु या राम के प्रति भक्ति ही वैष्णव धर्म की कुन्जी है।

बौद्धधर्म एवं ब्राह्मणवाद के दो दिव्य पुरुष एक ही हैं—यह बात न केवल दार्शनिकों के द्वारा ही कही गयी है अपितु कम्बोजिया के मिश्रित धर्म के द्वारा भी कही गयी जहाँ ब्रह्मा, विष्णु एवं बुद्ध के द्वारा स्थानीय त्रिमूर्ति का निर्माण हुआ

---

११. जोन्स, मिस्टीकल रिलीजन्स, पृ० ३१३, द्रव्य तथा रूह ईश्वर के सार तत्त्व हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

था। जावा में भी बुद्ध, शिव एवं विष्णु एक ही थे। नेपाल में शिव का तादात्म्य बुद्ध एवं करुणा की आत्मा अवलोकितेश्वर के साथ स्थापित किया गया था। विभिन्न नामों से विदित ईश्वर रूपों की एकरूपता को बिल्कुल सामान्य ढंग से स्वीकार किया जाता था। चाहे कोई ईश्वर के आशय से शिव या बुद्ध का नाम ले, यह महत्त्वपूर्ण नहीं था। पश्चिम में यह सार्वभौमता इतनी सामान्य नहीं है परन्तु लेखक को यह स्मरण है कि आचार्य लॉड ने, जो रूढिवादी था, भारतवर्ष के एक भ्रमण से लौटकर कहा था, "मैं एक वेदान्ती के यहाँ गया और उससे बात-चीत करने के बाद मैंने केवल यही देखा कि हम उसी एक ईश्वर की पूजा किया करते थे।" देव प्रमुख के रूप में ब्रह्मा, बुद्ध एवं ईश्वर एक ही हैं। कृपापूर्ण आत्मा एवं सृष्टा के रूप में हमारा ईश्वर विष्णु से एकाकार है एवं बौद्ध दर्शन द्वारा स्वीकृत देव प्रमुख के दूसरे रूप में भी वह ईश्वर एकाकार है। एक आत्मा के अवतार रूप में, क्राईस्ट, बुद्ध एवं कृष्ण एक ही विचार को अभिव्यक्त करते हैं। गिरिजाघर की दुनियां में, जहाँ एक ग्रामीण प्रकार का धर्म दिखाई देता है, जैसे विश्वबन्धुत्व की भावना देशभक्ति के प्रति होती है, यह एक नयी त्रिमूर्ति होगी, देव प्रमुख, स्वर्गिक आत्मा, अवतारी आत्मा; क्योंकि ये सभी उच्चधर्म ईश्वर को सभी वस्तुओं के दिव्य उद्गम, दिव्य प्रेम या कृपा एवं मानव में दिव्य आत्मा के रूप में स्वीकार करते हैं। क्राईस्ट में ईश्वर की आत्मा विद्यमान है और "क्राईस्ट मेरे में निवास करता है।"

भारतवर्ष के सुधरे हुए आदर्शवादी बहुदेववाद का सारतत्त्व एक व्याख्याकार के शब्दों में निम्नलिखित है : "ईश्वर एक है, जिसको दार्शनिक परम ब्रह्म कहते हैं। वह सभी प्रकार की बुराइयों के विरोधी स्वरूप का है। उसका स्वभाव सार्वभौम रूप में उत्तम है। वह असीम श्रेष्ठ गुणों वाला है, जैसे असीम ज्ञान एवं आनन्द। उसकी सभी इच्छाएँ सच्ची होती हैं। वह ईश्वर है, फिर भी वह परिपूर्ण है। दूसरे धर्मों में स्थित (दूसरे नामों के अन्तर्गत) सभी सत्ताओं का वह आधार है। वह परिपूर्ण है और फिर भी वह ईश्वर है। वह मानव आत्मा तथा दिव्य रूप मानव अवतारों के रूप में अपने आपको अभिव्यक्त करता है। वह ईश्वर ही है जो आत्मा, मन, आत्मचेतना के रूप में अभिव्यक्त होता है। वह संसार का क्रियात्मक एवं ठोस कारण है। उससे ही वैयक्तिक आत्मा उद्भूत होती है जो कभी भी ईश्वर से पृथक् नहीं होती है एवं मृत्यु के समय वह आनन्दलोक तथा ईश्वर सायुज्य को प्राप्त करेगी।"

ईश्वर तथा आत्मा सम्बन्धी हमारे अपने विचारों से यह ज्यादा भिन्न नहीं है। इस सुसंस्कृत भारतीय आदर्शवाद में स्वामी ईश्वर सृष्टा है, परन्तु जब वह उत्पत्ति नहीं करता है एवं स्वयं को अभिव्यक्त नहीं करता है तो उस समय यह देव प्रमुख होता है और जब वह अपने आपको अभिव्यक्त करता है तो वह पृथ्वी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पर आचार्य एवं उद्धारक के रूप में अवतरित होता है।

हम यह देख चुके हैं कि जापान में निचिरेन महोदय ने बौद्धधर्म में विदित ईश्वर की एक त्रिमूर्ति के रूप में परिभाषा की है। चीन में भी उसी त्रिमूर्ति को निम्न प्रकार से पारिभाषित किया गया है : "एक सुदृढ़ सारतत्त्व में सभी तीनों सम्मिलित हैं। तीनों एक रूप में वही हैं, फिर भी एक नहीं हैं, और फिर भी भिन्न नहीं हैं; बिना खण्डों या विभागों के हैं। जब इनको एक समझा जाता है, तीनों व्यक्तियों को एक पूर्ण (तथागत) के रूप में बतलाया जाता है। उनमें कोई वास्तविक अन्तर नहीं है (त्रिमूर्ति के तीन व्यक्तियों के बीच में), वे अभि-व्यक्तियाँ हैं, उसी अपरिवर्तनशील सारतत्त्व के विभिन्न पक्ष हैं।"[१२]

परन्तु अन्ततोगत्वा त्रयात्मक ईश्वर पूजा की एक व्यक्तिनिष्ठ वस्तु होने की अपेक्षा एक रहस्य अधिक है। फिर भी बौद्ध के लिए हिन्दू के समान ही ईश्वर एक पिता भी है। उसी ग्रन्थ में जिससे त्रिमूर्ति की परिभाषा अभी उद्धृत की गयी है बौद्धों की "दैनन्दिन प्रार्थना" भी विद्यमान है। "बुद्ध के सामने नमस्कार करते समय" इस छोटी-सी प्रार्थना को गाया जाता है। सच्चाई इस बात को स्वीकार करने के लिए बाध्य कर देती है कि सम्भवतः यह बुद्ध की कोई प्रतिमा है। परन्तु हमें चिल्लाकर यह नहीं कहना चाहिए "अरे दुष्ट मूर्ति पूजक"। इसके पीछे क्या है हमें उसे देखना चाहिए या अधिक सच्चाई से मूर्ति के ऊपर उस व्यक्ति के हृदय में देखना चाहिए जो इस प्रार्थना को करता है :

> "धर्म के स्वामी एवं अत्यधिक प्रतिष्ठित स्वामी,
> तीनों लोकों में अप्रतिम
> मानव एवं आत्माओं के गुरु एवं पथ-प्रदर्शक
> हमारे स्नेहिल पिता तथा उनसे जो प्राणवान
> है, मैं आपके प्रति श्रद्धा नत हूँ और प्रार्थना
> करता हूँ कि आप मेरे सभी पुराने पापों
> का विनाश करेंगे,
> मैं यदि आपकी स्तुति करूँ,
> आपकी पूर्ण स्तुति के लिए
> अनन्त भी अपर्याप्त होगा।"

१२. बील के केटेना, पृ० १२४ से उद्धृत, फाह—कै—आन—लिह तो ये जिन चाओ से। धर्मकार्य, संभोगकाय, निर्माणकार्य—यही तीन तथागत हैं।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अध्याय २१

धर्म का यथार्थ

अब तक हमने धर्मों के उत्पत्ति विषयक तथ्यों का परीक्षण किया है। उनकी उत्पत्ति को एक वस्तुनिष्ठ ऐतिहासिक संघटना मानकर एवं बिना यह प्रश्न उठाए कि क्या ये तथ्य किसी यथार्थ वस्तु के अनुकूल नहीं है, हमने इनका परीक्षण किया है। फिर, इस अन्वेषण की समाप्ति पर यह लगभग आवश्यक हो गया है कि हम अपने आप से यह प्रश्न पूछें कि क्या धर्म के यथार्थ में विश्वास करने के लिए कोई कारण है। क्या ईश्वर एवं देवताओं सम्बन्धी नीहारिकीय परिकल्पनाओं का मात्र एक जमघट है? क्या दूसरी मानव भ्रान्तियों के समान इनकी भी ऐतिहासिक उत्पत्ति के रूप में परीक्षा की जा सकती है, जैसे दार्शनिक की पारसमणि एवं युवा उत्स? या क्या संसार की धार्मिक संघटनाएँ इतनी दुर्बल हैं परन्तु वे एक अन्तवर्ती सत्य की प्रकाशमय अभिव्यक्तियां ही हैं? विश्वास व्यापक होता है, परन्तु विश्वास सम्बन्धी सत्यता की स्थापना द्वारा हम उसके यथार्थ की स्थापना नहीं करते हैं जो विश्वास किया जाता है। हम केवल विश्वास करने के यथार्थ की ही स्थापना करते हैं। एक असभ्य व्यक्ति के अतिरिक्त किसी भी व्यक्ति के लिए एक सार्वभौम बर्बर विश्वास भी किसी भी प्रकार के विश्वास का आधार नहीं हो सकता। चीन से लेकर पेरु तक के असभ्य व्यक्ति ऐसी अनेक बातों में विश्वास करते हैं जो बिलकुल बेतूकी हैं। उदाहरण के लिए, जैसे पशु चीनी भाषा में बातें करते हैं, क्योंकि यह एक ऐसा विश्वास है जो अर्ध संस्कृत क्षेत्रों में हाल के समय तक चला आया है। मध्ययुग में यह विश्वास किया जाता था कि वर्ष में एक बार मछलियां पूजा समारोहों को सुनने के लिए आती थीं एवं पक्षी संन्यासियों से तत्त्व ज्ञान की चर्चा किया करते थे। इसका परीक्षण होना चाहिए कि क्या धर्म सभी असभ्य व्यक्तियों के लिए सच्चा नहीं है परन्तु सभी सुसंस्कृत व्यक्तियों के लिए सच्चा है। परन्तु ऐसे अनेक सुसंस्कृत लोग हैं जो यह सोचते हैं कि धार्मिक विश्वास का बिल्कुल कोई आधार ही नहीं है। संसार में कोई आध्यात्मिक शक्ति नहीं है, जैसा ईसा से छः शताब्दी पूर्व एक व्यंग्य करने वाले भारतीय ने कहा था कि "आत्मा पानी के झाग के समान एक शारीरिक बुलबुला है।"

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

फिर ऐसा नहीं होता है, क्योंकि यह प्रश्न हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है कि हम यहां इसे समुचित प्रकार से उठा सकते हैं परन्तु इस प्रकार का प्रश्न करना एक प्रकार से हमारे ऐतिहासिक सर्वेक्षण की तार्किक समाप्ति ही होगी। धार्मिक सिद्धान्तों के अध्ययन के निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले यदि सम्भव हो सके तो हमें धर्म को उसके स्रोत तक वापिस ले जाना चाहिए। यदि ऐसा करना है तो हमें मनुष्य के इतिहास से बाहर निकलने का प्रयत्न करके दूसरे प्राणियों के इतिहास में प्रवेश करना होगा तथा स्वयं मनुष्य को उसकी अमानव प्रारम्भिक अवस्थाओं तक वापिस ले जाना होगा। ऐसा करने से हम वास्तव में इतिहास के क्षेत्र को ही विस्तृत कर रहे हैं।

परन्तु एक क्षण के लिए पहले हमें इस कथन पर विचार कर लेना चाहिए कि धर्म सार्वभौम है। जब एक सुविज्ञ लेखक ऐसा कहता है तो उसका आशय यह नहीं होता कि सभी असभ्य व्यक्ति ईश्वर तथा अमर आत्मा में विश्वास करते हैं, परन्तु इसका आशय यह होता है कि असभ्य व्यक्तियों के "ऊंचे प्राणियों के विषय में कम से कम प्रारम्भिक अवस्था से सम्बन्धित उनके कुछ विचार हैं।" (टेलर) या कोई भी ऐसी जाति नहीं है जो "धर्म के सम्पूर्ण विचार" से रहित है (जेवान्स)। जिन अनेक असभ्य व्यक्तियों को उद्धृत किया गया है, वे सभी भूतों में विश्वास करते हैं। ये भूत मात्र मानव प्राणी हैं जो दृष्टि से ओझल हो गए हैं। अनेक असभ्य व्यक्तियों का यह विचार है कि यदि इन भूतों की उस मरणोपरान्त सत्ता का बारीकी से विश्लेषण किया जाए तो ये विलुप्त हो जाएँगे। वे भूत मृत्यु के समय एक सत्ता में प्रवेश कर जाते हैं। भूत-प्रेत का विश्वास मनुष्य के जीवन के सातत्य में विश्वास मात्र है। यदि गम्भीरता से देखा जाए तो यह उच्च प्राणियों में भी विश्वास नहीं है। यह केवल उन लोगों का विश्वास है जो मृत्यु के उपरान्त जीवित रहते हैं और उस अवस्था में प्रायः वे इतने समर्थ नहीं हो पाते हैं जितने वे तब थे जब वे जीवित थे। यह स्वयं धर्म की सार्वभौमता पर आधारित तर्क के प्रामाण्य को क्षति पहुँचाता है, परन्तु तथ्य यह है कि कुछ असभ्य लोग मृत्यु के उपरान्त जीवन में विश्वास नहीं करते हैं और किसी भी आध्यात्मिक शक्ति में उनका विश्वास बिल्कुल दिखाई नहीं पड़ता है। मनुष्य के अपने विश्वास में, जैसा इस प्रकार उद्घाटित किया जा चुका है, धर्म के यथार्थ के लिए कोई प्रबल तर्क नहीं है।

निस्सन्देह देवताओं, फरिश्तों तथा राक्षसों आदि में आध्यात्मिक शक्तियों के विशिष्ट रूपों में आज हमारा विश्वास वैयक्तिक प्रामाण्य या किसी मूर्त प्रमाण पर आधारित नहीं है परन्तु परम्परा के विश्वास पर आधारित है। उदाहरण के लिए ऐसी परम्परा वेदों, बौद्ध ग्रन्थों, कोरान एवं बाईबल में उपलब्ध होती है। ये सभी उन लोगों के लिए अनिन्द्य प्रामाण्य की वस्तुएँ हैं जो यह विश्वास करते हैं

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कि वे दिव्य रूप से प्रेरित हैं। ऐसे लाखों लोग हैं जो यह विश्वास करते हैं उनमें से प्रत्येक दिव्य रूप से प्रेरित हैं, परन्तु ऐसे विश्वास एवं श्रद्धा पर जब हम वस्तु-निष्ठ रूप में विचार करते हैं तो वे स्वयं विश्वसनीयता को प्रदर्शित करने में असमर्थ होते हैं क्योंकि प्रत्येक उस व्यक्ति के लिए जो वेद या कोरान के प्रामाण्य में विश्वास रखता है, ऐसे बहुत से लोग हैं जो ऐसा विस्वास नहीं करते हैं। यदि कोई एक ही पवित्र परम्परा होती तो कम से कम यह उन लोगों के सार्वभौम विश्वास द्वारा समर्थित होती जो इस परम्परा में बिल्कुल विश्वास रखते हैं। जैसा इस समय है, संसार के पवित्र ग्रन्थ संसार के एक भाग के लिए ही पवित्र हैं। तब हम धर्म के सिद्धान्तों को ही लेते हैं। धर्म की प्राक् अवस्था तक इन सिद्धान्तों को विस्तृत करके हम यह देखते हैं कि क्या स्वयं मनुष्य का इतिहास एक ऐसे विश्वास के लिए कोई आधार प्रस्तुत करता है। मनुष्य के अपने आपमें ही उसके उर्ध्वमुखी विकास का हलका-सा हिसाब-किताब विद्यमान है। मनुष्य के शरीर में कुछ निरर्थक एवं खतरनाक संरचनाएँ भी यह दिखलाने के लिए अभी अवशिष्ट हैं कि अब जो मानव है, कभी वह उससे भिन्न प्राणी था, जैसे छिपकली की छः बड़ी-बड़ी नसें होती हैं, जहाँ केवल एक ही की आवश्यकता पड़ती है। वे छः नसें किसी एक पूर्ववर्ती रूप पर प्रत्यावर्तित होती हैं जहाँ अभी छः नसें लाभप्रद थीं या जैसे ह्वेल मछली की संरचना अभी भी यह दर्शाती है कि वह एक बार चतुष्पद बालों वाला पृथ्वी पर रहने वाला प्राणी था। विकासशील कोशाणु मानव की प्रगति को प्रति-बिम्बित करते हैं। एक बार उसका दिमाग मछली के दिमाग जैसा था। बाद में उसका दिमाग एक रेंगने वाले प्राणी के दिमाग जैसा बन गया तथा इस प्रकार पक्षियों एवं शिशुधानीय रूप में से गुजरता हुआ उसका दिमाग उच्च स्तनधारियों के दिमाग जैसा बन गया। पहले केवल एक बढ़ी हुई रीढ़ की हड्डी के रूप में दिमाग अनेक गुच्छिकाओं में विस्तृत हो जाता है, जिससे आगे चलकर एक जवान दिमाग बन जाता है। वह सबसे छोटी गुच्छिका होती है। तब बड़ा दिमाग धीरे-धीरे अक्षीय पिण्डों को आवृत्त कर लेता है, जैसा एक पक्षी की अवस्था में होता है। अन्त में यह इतना बड़ा हो जाता है कि यह ऊपर लटकने लगता है तथा सभी दूसरे भागों को भी छिपा लेता है। ये गम्भीर परिवर्तन विकास की अवस्था को पुनरुत्पादित करते हैं तथा उसी प्रकार से मानव के दिमाग के ये आन्तरिक परि-वर्तन क्रमशः मछली, रेंगने वाले प्राणी, पक्षी की अवस्था के अनुकूल होते जाते हैं। अन्त में वह युवा स्तनधारी का दिमाग बन जाता है। बड़ा दिमाग पहले चिकना होता है तथा मनुष्य के सन्दर्भ में सबसे अधिक असमानताओं के होने पर भी वह कुण्डलित हो जाता है। जितनी अधिक असमानताएँ होती हैं, भूरे पदार्थ का धरातल उतना ही अधिक होता है। मछलियाँ सबसे पहली रीढ़धारी प्राणी हैं। मनुष्य के पास एक ऐसा दिमाग है, जिसका सबसे प्राचीनतम रूप भ्रूण में मछली

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जैसा होता है। मछलियों के बाद क्रमशः रेंगने वाले प्राणियों की बारी आती है। फिर पक्षी आते हैं, बाद में शिशुधानी प्राणी आते हैं तथा उसके बाद ऊँचे स्तनधारी प्राणी आते हैं। यह श्रृंखला मानव भ्रूण के विकास तक आकर संक्षिप्त रूप में आवृत्त हो जाती है। तब मानव अचानक पैदा नहीं हुआ था।

परन्तु क्रमशः मनुष्य कैसे पैदा हुआ ? इस बात का परीक्षण करते हुए जीवशास्त्री यह व्याख्या नहीं करता है कि जीवन क्या है ? कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि एक व्यवस्थित परिवर्तन या विकास था, जैसे एक नक्षत्रवेत्ता यह दिखलाता है कि एक क्रमबद्ध रूप में आकाश में पदार्थ का अपकर्ष हुआ है। यदि हम एक मध्य स्थिति वाले स्वर्ग की कल्पना करें तो हमें यह कहना चाहिए कि व्यवस्था ही स्वर्ग का सबसे बड़ा नियम है। इस व्यवस्था को स्थापित करने के लिए एक स्वाभाविक प्रक्रिया को स्वीकार करना चाहिए, परन्तु एक निर्देश देने वाली शक्ति को भी नकारा नहीं जा सकता। यह एक ऐसी शक्ति है, जो वेगवान रूप में कार्य नहीं करती है परन्तु सतत ढंग से कार्य करती है। इस प्रक्रिया की क्रमबद्धता इस बात का संकेत करती है कि यह किसी यदृच्छा का परिणाम नहीं था। वैदिक कवि ने काफी पहले ही यह कह दिया था कि मौसम की संघटना ही एक व्यवस्थित श्रृंखला ही "हमारी श्रद्धा" थी और यूरिपिडीज् ने यह घोषित किया था कि सार्वभौम नियम को स्वीकार करने से ही देवताओं में विश्वास पैदा होता है। इसलिए इस नियम के उद्भव का हल कोई नया नहीं है परन्तु आचार्य रोयसे ने इस सत्य को निम्नलिखित प्रमाण के माध्यम से नए ढंग से प्रस्तुत किया है।

यदि ब्रह्माण्ड के अधिकार में कोई शक्ति है तो यह बिना रीढ़ की हड्डी से लेकर रीढ़धारी हड्डी वाले प्राणियों को एक व्यवस्थित ढंग से निर्देशित करती है। वह रीढ़धारी प्राणी से चैतन्य, आत्म चैतन्य तर्क युक्त एवं व्यवस्थित प्राणी को भी निर्देशित करती है। वैज्ञानिकों द्वारा इस सहज क्रमबद्धता का एक अलौकिक प्रदर्शन प्रस्तुत किया गया है जिन्होंने दो पीढ़ियों से या इससे अधिक समय से श्रम करके उनकी दृष्टि में आने वाले ब्रह्माण्ड के सभी भौतिक तत्त्वों को एकत्रित किया है और उनको क्रमबद्ध रूप से व्यवस्थित किया है। उन्होंने वहाँ होने वाले मशीनी परिवर्तनों को सारणियों में प्रस्तुत किया है तथा मौलिक जगत् के अपरिवर्तनशील नियमों की जाँच भी की है तथा अन्त में भौतिक तत्त्वों में विशिष्टता प्राप्त की है। अन्त में उन्होंने इसको इतनी भली-भाँति जान लिया है कि वे इसको एक शक्ति के रूप में समझने लगे हैं। परन्तु पदार्थ एवं इसके नियमों को उन्होंने इतना समय एवं श्रम क्यों प्रदान किया है ? स्पष्टतः क्योंकि वे एक क्रम चाहते हैं। प्रारम्भ से ही मनुष्य ने दुर्व्यवस्था में क्रम को खोजने का प्रयत्न किया है। दुर्व्यवस्था में उसको परेशानी होती है। वह इससे बचना चाहता है और वह इस भावना का आनन्द लेना चाहता है कि वह एक सुव्यवस्थित संसार में रहता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उसने जादू के द्वारा संसार को व्यवस्थित करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया था। वह अब उसको समझकर व्यवस्थित करता है। वह यह अनुभव करता है कि इसको समझने मात्र से वह अपना भला कर सकता है। एक भारतीय साधु के समान, हालांकि उसका आशय भिन्न होता है, वह यह सोचता है कि ज्ञान ही उसकी मुक्ति है।

सम्भवत: यह ऐसा हो सकता है, परन्तु ज्ञान को प्रभावी बनाने के लिए एकांगी नहीं होना चाहिए। एक चुने हुए तत्त्वों का समूह केवल यही सिद्ध करता है जो कुछ तथ्य सिद्ध करते हैं। सभी तथ्य मिलकर उस बात को सिद्ध नहीं करते हैं। वही अन्वेषक जो एक अकाट्य तथ्यों की सरणि द्वारा यह सिद्ध करता है कि प्रकृति मशीनी नियमों के अधीन है और फिर इससे वह यह मत प्रस्तुत करता है कि जीवन भी मशीनी है। वह स्वयं प्रकृति का अंग होता है। परन्तु कोई भी यह पूर्ण घोषणा नहीं करता है कि वह क्या करेगा। वह अपनी संकल्पना में भौतिक नियमों के अधीन नहीं है। प्राकृतिक तथ्यों की उसकी पंक्ति तब तक पूर्ण नहीं होती है जब तक इच्छा का क्रियान्वयन उसमें सम्मिलित नहीं किया जाता है। न केवल उसकी इच्छा ही अपितु दूसरों की इच्छाएँ भी उसमें सम्मिलित होनी चाहिए और उनकी इच्छा उसके व्यक्तिनिष्ठ आकलन पर आधारित नहीं होगी, परन्तु यह एक वस्तुनिष्ठ तथ्य होगा। दूसरे की आदर्शवादिता वैयक्तिक इच्छाओं की सृष्टि कर देती है। यह मशीनी नियमों के अधीन नहीं होता है। अन्वेषक की अपनी व्यवस्था का आदर्श यह सिद्ध करने के लिए काफी दूर है कि प्रकृति में कोई आदर्श नहीं है। इससे यह प्रकट होता है कि कोई ऐसा आदर्श विद्यमान है। आदर्शवादिता के विरुद्ध भौतिकवादी विरोध व्यवस्था के आदर्श पर ही आधारित होता है। जैसा आचार्य रोयसे ने कहा है, आदर्शों का विकास तथा इनके प्रति बढ़ता हुआ प्रेम सभ्यता का अंग होने के कारण प्रकृति का भी अंग है। क्योंकि मनुष्य प्रकृति का अंग है और उसके आदर्श भी मनुष्य के अंग हैं।[1]

तब जीवन में एक अपार्थिक तत्त्व होता है जो वास्तव में एक वस्तुनिष्ठ यथार्थ के रूप में विद्यमान रहता है। चाहे प्रकृति द्वन्द्वात्मक हो या इन स्थितियों में से एक दूसरे की अभिव्यक्ति ही हो, दोनों ही सन्दर्भों में एक अपार्थिव शक्ति को स्वीकार किया जाना चाहिए। यदि हम पदार्थ एवं शक्ति को उसी वस्तु की विभिन्न अभिव्यक्तियों के रूप में परिवर्तित कर देते हैं, फिर भी हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ऊर्जा के रूप की व्याख्या नहीं की जा सकती है, उदाहरण के लिए जैसे बिजली। क्योंकि बिजली में कोई शक्ति नहीं होती है, एक शक्ति होनी चाहिए जिसका तात्पर्य इच्छा होता है। बिजली उसकी एक अभिव्यक्ति है, क्योंकि

१. इन्टरनेशनल क्वाटरलि VII, पृ० ८५ फुटनोट।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इच्छा की विना शक्ति के पदार्थ को संकेतित नहीं किया जा सकता है। इसकी केवल शक्ति या ऊर्जा को ही संकेतित किया जा सकता है। चाहे इसे ऊर्जायुक्त इच्छा कहें या इच्छामय ऊर्जा कहें या किसी अज्ञात शक्ति के नाम से पुकारें, किसी एक अच्छे शब्द के अभाव में इसको एक आध्यात्मिक शक्ति के रूप में वर्णित किया जा सकता है। यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। कुछ लोग इसको ईश्वर कहते हैं।

जीवन जो अब इस रूप में स्थित है, वह अपार्थिव शक्ति, अनन्त ऊर्जा या इच्छा की व्याख्या को खोजता है। यह इच्छा ब्रह्माण्ड में कार्यरत है तथा इसका नियमन करती है। जीवन, जिस प्रकार भूतकाल में रहा है, यह प्रकट करता है कि कोई भी शक्ति सत्ता में क्यों न हो, यह जीवन को एक ऊँचे धरातल के लिए निर्देशित करती है। यह बिना रीढ़ के अचेतन जीवन से ऊँचे रीढ़दार प्राणियों के रूप में तर्क युक्त नैतिक जीवन के लिए निर्देशित करती है। भूतकालीन एवं वर्तमानकालीन जीवन इस प्रकार कुल मिलाकर एक ऊँचे धरातल के प्रति एक सतत विकास को दर्शाता है जिसमें आत्म चेतना ही अन्तिम एवं सीमित अभिव्यक्ति है। यह एक ऐसा विकास है जो आपातत: नियंत्रित प्रतीत होता है और इस रूप में यह इच्छा की अभिव्यक्ति ही है, जो पदार्थ में अन्तर्वर्ती है या इससे बाहर है। प्राकृतिक संटघनाएँ अपार्थिव विचार के वस्तुनिष्ठ रूप होते हैं या होने चाहिए। यह मेरे विचार का कोई रूप नहीं है परन्तु यह असीमित विचार का रूप है, जो अन्तर्वर्ती भी हो सकता है और नहीं भी। क्योंकि यह हमेशा ही उच्च रूपों को ही पैदा करता है, यह एक चैतन्य शक्ति ही होनी चाहिए। चैतन्य रूप से एक इच्छा युक्त होकर तथा एक बौद्धिक शक्ति ही ब्रह्माण्ड को नियंत्रित करती है तथा इसके विकास का निर्देशन भी करती है। ले काण्टे महोदय का कहना है, 'ईश्वर' जो एक तत्त्व ज्ञानी के रूप में नहीं बोलता है अपितु एक वैज्ञानिक के रूप में बोलता है, "निस्सीम आत्मा या इच्छा ही ईश्वर है।"[२] एक वैज्ञानिक के रूप में लॉर्ड केलविन का कहना है, "यदि आप अतीव दृढ़ता से विचार करते हैं तो विज्ञान के द्वारा तुमको ईश्वर के विश्वास में बाध्य कर दिया जाएगा।"[3] यह जानना रुचिकर है कि विज्ञान क्रमश: भौतिकवाद से विलग हो रहा है। यथार्थ एवं आदर्श में अब कोई विशेष विरोध नहीं रह गया है। सम्भवत: केवल यथार्थ ही आदर्श होता है।

फिर भी यह पूछा जा सकता है कि इससे हमारा सम्बन्ध ही क्या है? बौद्धिक या आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास चाहे वह शक्ति ब्रह्माण्ड में अन्तर्वर्ती है या नहीं—यह क्या है। प्राचीन भारतीय ऋषियों की एक समस्या है जिसका

---

२. ले काण्टे, एवोलुशन एण्ड इटस् रिलेशन टू रिलिजियस थॉटस।

३. दि नाइनटिन्थ सेन्चिरि, १९०३, पृ० १०६६

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उन्होंने समाधान इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

"वह एक शाश्वत चिन्तक है जो अशाश्वत विचारों को सोचता है।"

यह आज मानव को किस प्रकार प्रभावित करता है ? इसका सबसे बड़ा स्पष्ट उत्तर यह है कि यदि हम स्वयं उस शक्ति की अभिव्यक्ति हैं जो हमेशा ही ऊँचे-ऊँचे रूपों में अपने आपको अभिव्यक्त करती रहती है, तो अपने उच्च विकास के लिए हमें यह अभ्यास करना चाहिए कि वह उस उच्च अभिव्यक्ति के अनुकूल हो, अन्यथा हमारा अधःपतन होगा। सावधान अनुशीलन से उत्पन्न होने वाले सभी रूप प्रवृत्त होते हैं परन्तु उपेक्षित होने पर प्रत्यावर्तित होने लगते हैं। उदाहरण के लिए एक सधा हुआ परन्तु उपेक्षित कुत्ता या बिल्ली या सन्तरे का वृक्ष तुरन्त ही निम्न रूप को प्राप्त हो जाता है। जैसे अनैतिकता की अपेक्षा नैतिकता अधिक विकसित सामाजिक एवं मानसिक प्रक्रिया का परिणाम है। तार्किक आवश्यकता के माध्यम से हम नैतिक बनेंगे, हम गिरेंगे नहीं, अर्थात् हम उस आध्यात्मिक शक्ति द्वारा उठ सकेंगे जो हमको नियन्त्रित करती है, क्योंकि एक नैतिक विचार के विश्वास का आधार तर्क एवं इतिहास होता है। अनैतिकता उस विश्वास का प्रत्याखान ही है। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि मानव का विकास ही नहीं हुआ है या उसका विकास रुक गया है[४] तथा उन्नत चीजों पर पहुँचने एवं उनका अधिग्रहण करने से सम्भवतः वह उस विकास में मदद कर सकता है। यह हमें एक आदर्श की अनुरूपता के विचार के प्रति अग्रसर करता है, जिसको सभी उच्च धर्मों में ईश्वर की इच्छा के प्रति अनुरूपता के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। इस अनुरूपता के व्यवहार में आश्चर्यमय भय तथा सहानुभूति का समान भाग है। सहानुभूति के कारण फिर हमारा दूसरे लोगों से सम्बन्ध होगा, क्योंकि ब्रह्माण्ड की शक्ति का सम्बन्ध आपाततः न केवल हमारे से है अपितु दूसरी जातियों से भी है। यदि कोई इस शक्ति के विषय में ऐसा कहना चाहे तो उनमें (जातियों में) हम उसको (ईश्वर को) प्रेम कर सकते हैं। कुछ भी हो, इस दृष्टि से तथा ईसाई दृष्टि से सबसे निम्नतम के प्रति भी किया गया कार्य उच्चतम के प्रति किए गए कार्य के समान है। ऐसा करना प्रायः आत्मा को नकारने के समान होता है परन्तु बड़े के लिए छोटे को अतिक्रान्त करना एक ऐसा यज्ञ है जिसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए और दूसरों के लिए अपने आपको प्रदान करना एक दूसरे रूप में एक बलिदान को आवश्यक बना देना ही है।

---

४. मनुष्य का सामाजिक विकास श्रेष्ठ है यद्यपि एक व्यक्ति के रूप में पुराने मनुष्य की अपेक्षा वह बौद्धिक दृष्टि से समर्थ नहीं है। मनुष्य न केवल अपने पूर्वजों के मन को ही उत्तराधिकार में प्राप्त करता है अपितु वह उसको भी प्राप्त करता है जिसे मन ने उपलब्ध किया है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अधिक विकसित सभ्यता द्वारा स्थापित किए गए मापदण्डों को बनाए रखकर उनकी उपेक्षा करना हानिकारक है। इस प्रकार की उपेक्षा से ही नैतिक बुराई पैदा होती है। जैसा पहले कहा जा चुका है, काफी हद तक जिसे हम आज पापपूर्ण मानते हैं, उसको एक समय पर उचित समझा जाता था, अर्थात् जाति एवं व्यक्ति की मुक्ति के लिए आवश्यक समझा जाता था। वैयक्तिक सुरक्षा एवं विकासशील सभ्यता के लिए प्रतिशोध-सिद्धान्त को एक समय शर्त समझा जाता था, बाद में यह हानिकारक बन गया, अर्थात् बुराई। शारीरिक बुराई ने भी हानि की अपेक्षा भलाई ज्यादा की है। भूख, अभाव तथा कमजोरी ने मनुष्यों को सम्प्रदायों में रहने के लिए बाध्य कर दिया है, सांझे उद्देश्यों के लिए काम करने के लिए, दल को कबीले के लिए बदलने के लिए, विकास करने तथा सभ्यता का उद्घाटन करने के लिए मनुष्यों को बाध्य कर दिया है। विज्ञान, जो अब मानसिक विकास के लिए आवश्यक है, का तात्पर्य असभ्य व्यक्ति के लिए एकान्त तथा स्थिरता था और एक थमे हुए सम्प्रदाय में विकास असम्भव होता है। जिसे योग्यता की जय कहा जाता है, उसके लिए संघर्ष एवं झगड़ा आवश्यक थे, क्योंकि राय के मामलों में वे आज भी आवश्यक होते हैं, और व्यक्ति में वांछनीय समझे जाते हैं, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य शारीरिक एवं नैतिक संघर्ष के माध्यम से ही एक समर्थ मानवता तक पहुँचा है। हमें अपने वरदानों के लिए मूल्य चुकाना चाहिए। व्यक्ति का विनाश हो चुका है, शारीरिक कष्ट शेष रह गया है, परन्तु जाति का विकास ही इसका परिणाम है। हम पाने के लिए खोते हैं। अधिक प्राप्त करने के लिए बलिदान करते हैं। ईश्वर शून्य के लिए कुछ भी नहीं देता है। शारीरिक एवं नैतिक दोनों ही रूप में जो कुछ भी जाति प्राप्त कर पाती है, व्यक्ति का उसमें हिस्सा होता है। अकेला आदमी अपने जन्म सिद्ध अधिकार का परित्याग कर सकता है और जाति के संघर्ष ने जो कुछ भी उसके लिए जीता है, वह उसको छोड़ सकता है, परन्तु दूसरी ओर उस उत्तराधिकार में उसका हिस्सा होता है। ज्ञान एवं सत्य के परिणामों की जिस प्रकार विज्ञान द्वारा व्याख्या की जाती है, वह उसका पालन करता है। इस प्रकार वह उस सर्वोच्च इच्छा का पालन करता है जो पूर्ण ज्ञान में प्रकट होती है। चाहे उसे दिव्य कहें या नहीं, नियन्त्रण करने वाली एक चैतन्य बुद्धि नैतिक आदर्श को प्राप्त करने के प्रति अपनी इच्छा को चेष्टित करती हुई प्रतीत होती है। उस नैतिक आदर्श में हम सभी ग्रहण करते हैं। ऐसा लगता है कि मानो कोई अज्ञात शक्ति इस सीमा तक ज्ञात हो जाती है कि इसे नैतिक होना ही चाहिए, अन्यथा उसने एक नैतिक उद्देश्य को पाने के लिए मनुष्य का पथ-प्रदर्शन ही न किया होता। दिव्य इच्छा के विरुद्ध मानव इच्छा का संघर्ष ही बुराई है। परन्तु नैतिकता का विचार सीमित है और ब्रह्माण्ड का एक नैतिक नियन्ता भी हो सकता है, मानव अज्ञान को धीरे-धीरे समाप्त

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

करने के अतिरिक्त इसका अभी भी अज्ञान से बहुत ही कम सम्बन्ध है। हमारे कुछ नैतिक नियम अस्थायी हो सकते हैं। एक उच्च प्रकार का सामाजिक वातावरण सम्भवत: उनको एक समय आवश्यक उत्कर्ष की प्राप्ति के लिए मात्र उपाय के रूप में स्वीकार करेगा।

अन्ततोगत्वा धर्मों का इतिहास वैयक्तिक आत्मा की प्रकृति के विषय में हमें बहुत कम ही शिक्षा प्रदान करता है। यह केवल उन नियति सम्बन्धी विचारों को ही बतलाता है जो मानव के विषय में अब तक रहे हैं। इन विचारों की पहले ही व्याख्या की जा चुकी है। सामान्यतया यह स्पष्ट है कि आध्यात्मिक प्रतिरूप या अन्य आत्मा की अपेक्षा यह आत्मा ही है जिसकी परवर्ती सत्ता में कल्पना की जाती है। यह एक ऐसी आत्मा है जिसको पहले सन्देहास्पद चिरायु के रूप में समझा जाता है परन्तु बाद में उसको असीम रूप से विद्यमान रहने वाली (सत्ता) के रूप में उस पर विचार किया जाता है और अन्त में ईश्वर—इसके सृष्टा या स्रोत के समान ही इसको भी अमर समझा जाता है। इसी दृष्टिकोण से ही इस विचार को ग्रहण करते हुए, जो मानव एवं ईश्वर के सन्दर्भ में स्वीकार किया जाता है, हम यह पाते हैं कि प्रगतिवादी श्रृंखलाएँ आत्मा के दो समाधान प्रस्तुत करती हैं। किसी एक क्षण में इन श्रृंखलाओं में एक नया सिद्धान्त जोड़ दिया गया होगा। जैसे पशु में जीवन होता है, उद्दीप्त गैस में कोई जीवन दिखाई नहीं पड़ता। किसी क्षण में, जीवन का श्रीगणेश कर दिया गया होगा। वैसे ही विकास की किसी परवर्ती अवस्था में इस श्रृंखला में जीवन सिद्धान्त को जोड़ दिया गया होगा। यह उद्दीप्त गैस के विकास की मात्र एक उपज नहीं हो सकता है। ले काण्टे महोदय द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त के अनुसार संवेदनशील जीवन एवं आत्म-चेतना ऐसी ही दूसरी अवस्थाओं को संकेतित करती हैं, और जब आदमी आत्म-चेतन बन गया तो आदमी में आत्मा को फूंक दिया गया (व्यक्ति नहीं अपितु जाति)। पहले जीवन द्वारा पदार्थ को श्रेष्ठ बनाया जाता है और बाद में विचार एवं अन्त में आत्मा द्वारा पदार्थ को श्रेष्ठ बनाया जाता है परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि ले काण्टे महोदय के विश्वास के साथ इसका तालमेल कैसे बैठता है कि "चैतन्य एवं इच्छा, जो प्रकृति में विद्यमान रहती है, आन्तरिक रूप से प्रकृति से सम्बन्धित है।"

इस सिद्धान्त के विरोध में यह व्याख्या प्रस्तुत की जाती है कि जैसे-जैसे श्रृंखला में उन्नति होती है, ब्रह्माण्ड की सहज ऊर्जा अधिक वैयक्तिक रूपों में व्यक्त होती है। जीवन, विचार, आत्म-चेतना प्रत्येक ही उसी ऊर्जा या शक्ति के अन्तर्गत एक उच्च कोटि में एक रूप ही होता है। यह ज्ञात नहीं है कि वनस्पति सम्बन्धी जीवन में कोई नयी वस्तु प्रविष्ट होती है और इसको पशु में परिवर्तित कर देती है। इसके बीच की रेखा स्पष्ट नहीं है। कुछ चीजें पशु एवं वनस्पति

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दोनों ही हैं तथा दूसरी ओर वनस्पति का विकास एक पशु नहीं बन पाता है। दोनों ही एक पूर्ववर्ती रूप के विभेद मालूम पड़ते हैं। बिना रीढ़ वाले की बुद्धि ही रीढ़ वाले की बुद्धि होती है। उसमें केवल कम होती है क्योंकि विभिन्न रीढ़ वालों में यह केवल बुद्धि की उपाधि का प्रश्न है। अतः यह प्रतीत होता है कि सारे ब्रह्माण्ड में एक ही सार्वभौम बुद्धि व्याप्त है। यह विभिन्न उपाधियों तथा विभिन्न रूपों में अपने आपको'अभिव्यक्त करती है। जैसा अतीव युवा बालक आत्म-चेतन नहीं होते हैं, वैसे ही मानव शृंखलाएँ भी एक चेतना पर वापिस लौट जाती है परन्तु आत्म-चेतन मानव या मानव प्राक्रूप पर वापिस नहीं जाता है। "स्वचालित की एक मूल शृंखला अचानक ही एक बौद्धिक शृंखला को स्थान नहीं देती परन्तु अविभेदीकृत शरीर में एक साधारण-सी मिश्रित बुद्धि धीरे-धीरे नाड़ी तन्त्र में विशिष्ट बन जाती है तथा आकार एवं रूप में काफी विकसित हो जाती हैं।" आचार्य शैलर की यही व्याख्या है। आचार्य शैलर आत्मा की परिभाषा आध्यात्मिक शक्ति की पूर्ण वैयक्तिक अभिव्यक्ति के रूप में करते हैं। यह आध्यात्मिक शक्ति सर्वोच्च या अत्यधिक विभेदीकृत शारीरिक वातावरण में उपलब्ध होती है। इस प्रकार आत्मा सर्वोच्च शक्ति का एक अंग है। पोलिनेशियाई लोगों ने इस विचार को सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया है। उन्होंने यह कहा था कि जैसे वे एक बालक का बपतिश्मा करते हैं, एक देवता इसमें आत्मा को (प्राणी रूप में) फूंक देता है। जैसा हिब्रू लोगों का कहना है और उनका भी यही मत था कि यही आत्मा ही ईश्वर का विश्वास है, जो मृत्यु के समय उसके पास वापिस चला जाता है।

यह विकास की शृंखला मानव आत्मा के अमरत्व की ओर भी संकेत करती है। वहाँ पदार्थ धीरे-धीरे नियन्त्रित करने वाली शक्ति नहीं रह जाता है, जैसे उपनिषदों की भाषा में आत्मा अन्त में अपने आपको पदार्थ से बिल्कुल मुक्त कर लेती है "जैसे उत्तम कोटि का एक महान् अश्व जमीन में गढ़ी खूंटी से काफी समय तक बँधे रहने के बाद अपने आपको मुक्त कर लेता है, तब संघर्ष करता हुआ तथा बन्धन के नैराश्य से ऊपर उठता हुआ अन्त में इसको (बन्धन को) तोड़ देता है और इस प्रकार सभी बन्धनों से मुक्त होकर उछल जाता है।" इस प्रकार अन्त में वह अपने बारे में अपने हृदय के पदार्थ रूप में जागरूक हो जाता है। स्वयं धर्म, जिसे हम रहस्यात्मक रूप कहना उचित समझते हैं, एक अनुभव है जिसमें इस प्रकार दिव्य रूह से एकाकार रूप में स्वयं रूह अपने आपके विषय में चैतन्य बन जाती है। यह एक ऐसा अनुभव है जो उसे ही विश्वस्त करता है जिसने इसका अनुभव किया है परन्तु उसके लिए इसका प्रमाण अकाट्य है और इसके कहने की आवश्यकता नहीं है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शब्दानुक्रमणिका

अ

अकबर—५२
अगमेनन—१५३
अगारिया—६८
अग्नि—६२
अजेटेक्स—१८६, २१६
अण्डेमान—६२
अतन—१३१
अथर्ववेद—११५
अथर्वशिख—२८६
अथेन—१३, ७६
अनु—२७७, २७६ (टि)
अन्हू—१३४
अनहित—२२६ (टि), २७८
अपोलो—२३, २२४, २७५, २७८
अपोलोनुएस्—१३४ (टि)
अफरीका—५, १२, १६, २८, ३३, ३८, ३९, ४१, ४५, ६४, ६८, १२६, १४४, १५६, १८३, २०० (टि), २०१, २१७, २६२, २७४, २७५
अमरीका—१२, १३, १८, २७, २८, ३३ (टि), ३६, ४० (टि), ४४, ५२, ५३, १०१, १८३, २०१, २१५, २३९, २५५, २५९, २६२, २७३, २७४
अमिताभ—३०४, ३०५, ३०९
अमेनहोटप—५२, ५७
अमेजन—१९, २४
अर्यमन—२८३
अरब—१८०
अरिस्टोटल—९३, २७३, ३२१
अरेबियन—३६, ६४, २०४ (टि)
अल्लाह—२६६
अलब्रेख्ट ड्राईटिस—१७ (टि)
अली मुहम्मद शिराज—६२
अलेजेण्ड्रिया—३२३
अवलोकितेश्वर—२८१, ३०१, ३०२, ३०४, ३०५, ३२६
अवेस्ता—४४
असिरिया—२६३
अशोक—२०३
अहब—२६६
अहमदाबाद—१७६
अक्षयवट—५१ (टि)

आ

आइनु—४२, ८१, १५६
आइरोकिस—२३८
आइसिस—१७७
ऑगस्टाइन—१७९, ३२५
आचार्य लॉर्ड—३२६

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आदम—२१४
आयसिस क्रिस्टोस थ्यो—३९ (टि)
आयरलैण्ड—७३, २२१, २५५
आरगीव हेरा—१३
आरगुस—२८१
आरथूसा—४२
आरटेनिस—३६, १७९, २५९, २८१
आरफिक—२४५ (टि)
आरफियस—१८५, २८२
आरमिनिया—७१
आरमुज्द—१३४
आरोनिका—१९४ (टि)
आर्य—१८८ (टि), २०५ (टि), २५९, २६०, २६८
आलगोल्किन निकाबो—२१७
आस्ट्रेलिया—२, ५, २८, ४९, ६९, ८१, ९४, १२८, १३१, १४१, १५०, १५४, १५५, १७१ (टि), १७९, २१२, २२०, २७४, २७५
आह्रिमन—१३४, २२५, २२६, २७८

इ

इगनेटियस—३१८
इजराईल—१०९ (टि), १६५, २६४, २६५, ३१६ (टि)
इटली—५१
इण्डोनेशिया—१०७
इन्द्र—३६, ४३, ५६, ७६, ९०, ९२, २२४, २८५, २८६, ३०५
इफिगोनिया—१५३
इब्राहीम—१७०
इरोक्वाइस—२०२
इलियट स्मिथ—३३ (टि), ४० (टि)
इव—१२७, १४२
इसिस—३२० (टि)
इस्लाम—१९३
इश्तर—७१
इंग्लैण्ड—६८
इंजील—२९३
इंटीच्यूआमा—१५५

ई

ईसा (मसीह)—३९, ५३, ९४, ९५, १३९, १५३, १६५ (टि), १६६, १८५ (टि), १९६, २१०, २४७, ३१४, ३१५, ३१६, ३१७, ३१८

उ

उओटा—६५
उङ्कुलङ्कु—६५
उजेनर—२८० (टि), २८१
उज्जा—२८०
उनु—१३१
उपनिषद्—२६८, २७१, २८६, २९३, २९४, ३२५, ३३७
उपासला—१६१
उरवन—१३४
उराल—१६

ए

ए (बेबिलोनियाई)—२१७, २२४, २७७
एआ—२७९ (टि)
एकिलस—१११
एक्सनोफेन्स—२७०
एक्ससेक्स—१६२
एकहार्ड—२४७, ३२५

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

एजेटेक्स—७३, १८४
एटलस—२२४
एटिस—१५७ (टि), २७५
एटोनरिट्ज—१२२
एटोनरिबन्—१२२
एडवर्डटेलर—२
एडम—१४२
एडेन—२१७ (टि), २२४, २२५ (टि)
एडोनिस—२३, २७, १७५, १८५(टि)
एथने—२७५, २७८
एथेन्स—२०६
एनोख—७१
एण्टिओख—३१६
एनड्रियु—२५
एनलिल—२७७, २७८ (टि)
एनिमा—१२१
एनिमस—१२१
एफ्रोडाइट—३७, ६४, १७६, २८१
एबिपोन्स—५३, १०५
एम्पेडोक्लीज—१०४, १०५
एरालेक—२२२
एराटो—२७७
एरिस्टोफोन्स—२७४ (टि)
एलिफेण्टा—२८७ (टि)
एलिजाह—७१
एलिस—२३५ (टि)
एलेस—१२८ (टि)
एलोआइदो—२२४
एलोहिम—२३६
एललमा—२८८
एल्युऐट्स—२०० (टि)
एस्क्लोपोइस—१७६, १६५, २२८
एशिया—३३ (टि), २०१, २२७ (टि)
एश्चिलियन—१४७

ऐ

ऐतरेय ब्राह्मण—१५४
ऐदिरोण्डेक—३४
ऐनिआस—३२
ऐनिड—१५७
ऐनिस—१५७
ऐपिमेण्डीज—१६५
ऐरोस—२८३ (टि)

ओ

ओडेहिन—२७८
ओडिन—२१
ओरमुज—२२५, २६५, २७८
ओरान—५३
ओरिजेन—१३६, ३१६; ३१८, ३१६; ३२३
ओरिसओको—३६
ओल्डटेस्टामेण्ट—२३, २५० (टि) ३१५
ओलंपस—२२४
ओस—२२४
ओसिरिस—२३, १३२, १३५, १५७ (टि), १५८, २७७, २८६ (टि); ३२० (टि)

अं

अंगकोर—२०२

ऋ

ऋग्वेद—१५, ४५, ५५ (टि), ५७; ६०; ६२, ११८, १४१; २२०; २४०, २४८, २५० (टि), २५१ (टि), २५८, २६६ (टि), २७६ (टि), २८१, २८२, २८३ (टि), २६२
ऋत—५७, ५८, २६१

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

क

क—१२७, १३३
क्र—१२७, १२८
कबीर—२६२ (टि)
करटिस—१२३
काकेशियन—१५०
कार्डिनल—२४०
कानफुकस—६४
कार्तिकेय—२३
कान्सटेन्स—२५२
कारटेन—२७
कामाख्या—१२ (टि)
क्रास—१८४, २७५ (टि)
किआने ए० एच०—२६६ (टि)
किंग (प्रोफेसर)—५, ७ (टि)
किंग्सले—१२३ (टि), २३५ (टि)
क्लिओ—२७७
क्लिफोर्ड एच० मूर—२६१ (टि)
क्लिमेण्ट सी० जे० वेब—७ (टि)
क्रिसिपस—१२२
कुमायुँ—४२ (टि)
क्रुक—४२ (टि), १०६
क्रुक जे०—१६५
केगन सम्प्रदाय—३०५
कैनिनिइटस्—१२
केडमोस—२१७
क्रेटन बेटल—१३
कैटलिन—१२३, १२४, १६२
केटेना—३२७ (टि)
केवलिन—२३६
केम्पवेल जे० सी०—२६४ (टि)
केयर—१६
केरबोरस—२६ (टि), २८०
केलिओपे—२७७
केल्ट—१२, ४४, ५१, ७२, १८८ (टि), २६४
केल्टीक—१२१ (टि), १२२
केस्टिन—१५
केस्टर—२६३
कैथोलिक चर्च—१६६(टि), ३१७(टि)
कैरालाइन—२६
कैलिफोर्निया—४१
कैवल्योपनिषद्—२८६
कोटल—२१७
क्रो—११३
क्रोनोस—१३
क्रोमोस—२८०
कोरान—१७७, ३२६
कोलोन्सो—२१६
कंफुसियाई—१६, ३२, ३६, २४५
कंबोजिया—१८७ (टि), २०२, २०३ (टि)
कंबरलैण्ड—२५१
कृष्ण—६४, ६५, १६७, २०३, २२८ (टि), २६१, २९२ (टि), २९८, २९६, ३१०, ३१२ (टि), ३१७, ३२२
क्यूएट्जल—२१७

ख

खवाजा हिज्र—३१
खोण्ड—५३

ग

गणेश—१८६
गिलगेमिश—६५
गिलबर्ट मुरे—२६१ (टि)
ग्रीन टी० एच०—२५२ (टि)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

गुवाना—२३६ (टि), २७४ (टि)
ग्रुपे—८
गेटस् अजार—२१८
गेबराइल—८२
गेरयोन—२८०, २८१
गेवान्स—१७९, ३२९, ३३७
गैलिक—२८०
गोंड—६८, ११६, १३८
गौतम बुद्ध—२१ (टि), २९९, ३००, ३०२, ३०५, ३०७, ३०९ (टि), ३१० (टि), ३१२, ३२५
गोल्ड कोस्ट—१११, १२७
गोल्डन बो—१५८
गौतेमाला—१२३

घ

घाना—६८, ७०

च

चन्द्रसेन—६२
[illegible]—७६
चॉर्ल इलियट—१८९ (टि), २०३(टि)
चिरोकी—१७५
चीन—२३, ५० (टि), ५१, १३०, १५३, १७१ (टि), १९२, १९३, २०८, २४२, २४४, २४८ (टि) २६१, २६३, २६७, २७५, २८८, ३०४, ३२७
चेमुत्ग—१२३
चेमोश—२६४
चेरी—१६१

छ

छिबचा—१९३, २३८

ज

जर्मन—१७
जर्मनी—३६, ४० (टि), ४१, ८३
जरथ्रुस्टवाद—१३५, १३८, १३९, १६६, २०७, २११, २१६, २१७, २१९, २२५, २२६ (टि), २३९, २४१, २४२, २४४, २५० (टि), २६३, २६४, २६६, २६८, २७८
जस्टिन—३१५, ३१८
जॉन—२२८, ३१५
जान्ते—१०९ (टि)
जानुस्—२८१
जापान—२१ (टि), २२, ५० (टि), ६१, ७४, ८१, २०३, २३७, ३०४, ३१२
जावा—१८९ (टि), ३२६
जावे—२६३
जिठिगलि—३२४ (टि)
जीसीस—२२८, ३१२, ३१५, ३१७, ३१९, ३२५
जीसिस क्राइस्ट—१५८, १८२, २४७, ३१२, ३१५, ३१७, ३१८, ३१९, ३२२, ३२५
जुएस्कसिओस्—१३, ३६
जुएस्—२४४ (टि), २४५ (टि), २६०, २६३, २७५, २७७, २७८, २८१, २८४
जुलियन्—३१७
जुनी—१२३
जुनो—२७८ (टि)
जूडाइज्म—४१
जूपिटर—१४, १५, ४६, २७८ (टि), २८०
जे० जी० फ्रेजर—४

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जेन—३११
जेस्ट्रो—११२, ११७ (टि)
जैमिनी—२६३
जैलर—३२१ (टि)
जैकब—१२, २६६
जैविश—१८८
जोर्डन—२६४
जोन्स—३२५ (टि)
जोरोस्टर—२४, ६३, ६७, १५५, १६२
जोरास्ट्री—१३४

ट

टरटुलियन—१३६
टरपीशोरे—२६६
ट्यूटोनिक—१६१, २१५
ट्यूटन—८८
ट्ललोक—१६०
टामस एक्यूनस—२५०
टीले—८५, ८६ (टि), ६२, ६८, १५४ (टि)
टुबलकाईन—२१७
टुगुसे—७४
टेकिनस—६८, १०७
टेटियन—३१५
टेरा डेल फ्युगो—४६, १३८
टेलर—१०८, १४२, ३२६
टेलोकल्लि—१८६
टेसिटस—२३६
टेरटूलियन—१३६
टेस्टामेण्ट—२६७
टेनकमाण्डमेण्टस्—२१७
टोंगा—१२२
टोंगालोआ—४७
टोटम—४, ५; १२, १४, २१, २५; २६, ३०; ३१, ३२, ३५, ३७; ७७, ६०, १४१, १४३, १४४, १५२, १५४, १५५, १५६, २०५ (टि)
टोडा—५, १७१
टोयज—२२६ (टि)
ट्रोलेसे—२०

ड

डकोटा—१२३
डरखेम—४, ७, ८, १०, ८८, १४७ (टि), १५५, १६८, १७१, १७२ (टि), १७६ (टि), १७८ (टि); २१२, २५८ (टि)
डाउसन—२६० (टि), २६६ (टि)
डामर—४४
डायनोसिस—१८०, २८१, ३१४
डिओसक्यूरोआई—२२८, २६३
डेमिटर—२७, ६४, १४२, १७६; १६५, २५६, ३०३
डेविड—१७४ (टि)
डेल्फी—१३, २७८ (टि)
डोलिचे बुस—२८०
डोलिस—२७८ (टि)
डब्ल्यू० आर० स्मिथ—११२ (टि)
ड्यू बोइस—१८

त

तरसुस—३१५
तरास्कान्—१६२ (टि)
ताईकोन—३२० (टि)
ताओवादी—१६३, २४८; २६६
तामूज—६५, २६४, २६५

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तिब्बती—२९, १२६, १९८ (टि); २०३, ३०४
तिर्मिगल—२१७, २२६
तियामत—२१७, २२६
तुलसी—२०, २१, २३, ६२
तेज परसे—१९२ (टि)
त्सी—१२७
तृत—१५२

थ

थलेन (सर्पराक्षस)—१५९
थालिया—२७७
थियोडोटस—३१६
थेराबलीज—२७१ (टि)
थेस्पाई—१९४
थोर—२७८

द

दएन—१३४, १३५
दलाईलामा—२०३, ३०४
दस्तूर मेहरजी—२२८
दहोमी—३७, ४५, ७०, १०१
दिओनिसोस—२६०
देवदारू—२५ (टि)
द्रविड़—१२, १६, ३३, ३४

ध

धर्मकाय—३०८, ३२७ (टि)
ध्यानबिन्दूपनिषद—२८५

न

नगेन्द्रनाथ बसु—३११ (टि)
नतुब—१२३
नाइजीरिया—१२
नागा—१५९
नाग-संप्रदाय—३३
नात्सेज्ट—३४९
नारायण—२९८ (टि)
नार्वे—१८
नॉस्टिक—३१७, ३१९
नाहुन—२६०
नाहोटी—१२३
निओबाफिङ्ग टर लपेड़िया—१५
निकोलस—२५, ६१
निचिरेन—३०९, ३२७
नित्से, डब्लू० ए०—१८५ (टि)
निनलिव—२७८ (टि)
निप्पूर त्रिमूर्ति—२७८ (टि)
निर्माणकाय—३०७, ३२७ (टि)
नीग्रो—२, १२७, १४४, १४५, १७४; २३६ (टि)
नीबिल—२७८ (टि)
नीम—२१
नीलसेन—२७८ (टि)
नेपाल—३०८, ३११ (टि)
नेफेस—१२१, ३२६
नेमोसिस—१९२
नेरथुस—२८१
नैऋत्य—२८१
नोएट्स—३१६
नोर्से असेन—१२१
न्यूगिनी—२०६
न्यूजीलैण्ड—१०७, १५७
न्यूमेनिस—३२०
न्यूयार्क—७ (टि)
न्योप्लोटिनस—२७०
नृसिंहतापिन्युपनिषद—२८६

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प

पटियाला—१८६

परशिया—२३, २४, ४३, ५०, ७१, १३८, १६२, २२२ (टि), २४६

पाइडपाइपर—३२

पाइथेगोरस—२४५ (टि)

पार्कमेन—३८, १२८ (टि)

पारमेनिडिस—२७०

पारसी—१३८, १३६

पॉल—२६, १३५, ३१५, ३२४

पॉल ऑफ समोस्टा—३१६, ३१८

पॉलिपोरोस—२७४ (टि)

पिण्डर—५१, २४५ (टि)

पिशेल—३६ (टि)

पीटर—२२८, ३१४

पीपल—२१

पेटन—२२२ (टि), २५८ (टि)

पेटेगोनिया—२२, २३८

पेण्टियाक—१२८ (टि)

पेट्रोक्लास—१११

पेट्रोनियस—८५

पेन० एल० एल०—२७७ (टि)

पेरु—१२, १५, ५२, ६०, ७७, १३८, १६३, १६७, १६६, २००, २१६, २३६

पेलिआन—२२४

पोटावोटेमिस—४४

पोथोस—२८३ (टि)

पोप—२०१, २०३ (टि)

पोलिनेशिया—३५, ६०, ६५, ८८; १२६, १३२, १५७, १८३, १८४, २०६, २१५, २१६, २३६, २३७, २३६

पोलिहिमनिया—२७७

पोसिडन—२७७, २७८

प्रजापति—२५७, २५८ (टि)

प्रियापस—२८१

प्रेक्सिस—३१६

प्रोमेथियस—२८२

प्रोमेथ्युस—११८

प्रोटेस्टेण्ट—३१० (टि)

प्रोक्लस—२६३

प्लुटारख—१६०, ३२० (टि)

प्लेटो—१२१, १६७, २०८, ३१६; ३२०, ३२१, ३२२

प्लोटिनस—२४७, २७०, ३१६; ३२०, ३२१ (टि), ३२२

प्यूरिम—७३

पंजाब—४६, १८६

फ

फर्गुसन—३३, १८६ (टि)

फाग्न वाग्न चिन—२४६ (टि)

फार्नेल पेस—१६२ (टि)

फार्नेल एल० आर०—२२७ (टि)

फ्रांस—८६

फ्रावशी—७१, १३४ (टि)

फिजी—११७, १२६

फिनलैण्ड—१२, १३, २२

फिलिस्तीन—३१६ (टि)

फिलीपीन—६५

फिलीपीनो—२१६

फिलो—३१६, ३२०

फ्रे—२७८

फ्रेजर—४, १०६, १०८, ११०, ११२ (टि), ११७, १५८

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

फेरेकाईडेस—२८१
फोक्लान—२७८ (टि)
फोस्ठर—२३२
फोस्टर जी० ई०—२८१ (टि)
फोस्टर जी० डब्ल्यू०—२३२ (टि)
फ्लोरेन्स—१८१

ब

ब—१३३, १३४
बनारस—१८ (टि), १७८
बण्टु—१३४
बवेल—२२४
बपतिश्मा—१८४, १९६ (टि), २७४ (टि), २७५, ३१३, ३१६
बर्मा—१४, २०१
बाइबल—७१, १७७, २१३, २२२, २५० (टि), ३२९
बाबर—२७५
ब्राइनहिल्ड—२२१
ब्राजील—४९
[illegible]—९२
बील—३२७ (टि)
बुद्ध—६३, ९४, १३६, १३७ (टि), १८० (टि), १८२, १८३, २०६, २२८ (टि), २४१, २४४, २४८, २७२, ३०५, ३२५, ३२६, ३२७
बुशमेन—९३
बेओटिया—१९५
बेकन—३१६ (टि)
बेतूल डिस्ट्रिक्ट—१७५ (टि)
बेबिलोनिया—२३, २६, ३०, ३३, ३७, ३८, ४१, ४७, ५० (टि), ५२, ६०, ६५, ७१, ७३, ८३, ९२, ११८, १२६, १२८ (टि), १२९, १३०, १३२, १३४, (टि), १३५, १३९, १६४, १७२, १८२, १८७, १९३, १९५, १९६, १९९, २०१, २०५, २१५, २१६, २१७, २२४ (टि), २२६ (टि), २२७, २६३, २७७, २७८
बेलियाल—२२२
बेले—२२४, २५८
बेसन—२३४
ब्लेकमेयर—१३
ब्लैटलोई—१३
ब्लैकफीट—११३
बोगोटा—१९५
बोधिसत्त्व—२४१, ३००; ३०१; ३०२, ३०३, ३०५, ३०६, ३०७, ३०९, ३१०, ३१३ (टि), ३१७
बोधिवृक्ष—३१ (टि)
बौन वेन्चर—२५० (टि)
बोरनियो—१३२, १५६
बंगलोर—२९
बंगाल—१७, २९, ३२, ४६, ४९
ब्रह्म—२९० (टि)
ब्रह्मपुत्र—१२ (टि)
ब्रह्मा—२३, ३१, ३८, ५५, ५६, ६१, ६५, ८३, २४४, २७०, २८५, २८६ (टि), २८७ (टि), २८८, २९०, २९३, २९४, ३०५, ३२२, ३२५
ब्रह्मोपनिषद्—२८५
ब्रह्मविद्योपनिषद्—२८५
बृहदारण्यकोपनिषद्—२९४ (टि)
ब्रेण्डस्टेट आर,—१२२ (टि)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भ

भगवद्गीता—२९१, ३०१
भण्डारकर आर० जी०—२९६ (टि)
भुवनेश्वर—१२ (टि)

म

मक्का—१७८
मञ्जु श्री—३०५
मण्डन—१२३, १२४
मर्दुक—७१, १२५, २२२, २२६, २५८
मनगंजा—६९
मनु—३१, २२३, २४४, २९१
मम्मी—१३५, १३८
मयस—१३
मरक्यूइस ओरलूइस—२५५
मस्खागोईयन—४४, २७४ (टि), २८६ (टि)
महाभारत—५५ (टि), २२८ (टि)
महायान—३०३ (टि), ३०८ (टि), ३१० (टि), ३१३ (टि)
महावस्तु—३०४
महानारायण—२८५ (टि)
माइक्रोनेशियन उलिया—६१
माइक्रोनेशिया—६४, १२८ (टि), १३१
माउस—१५६
माओरी—१५७, २०४, २०६
मार्टिन—२५
माधव—२९५, २९८ (टि)
मारकिओन—३१६
मारिया—१६५
मारीचि—२८१
मिकाडो—२३७
मिर्जापुर—६६
मिथ्र—२७८
मित्र—२८३
मिनेण्डर—२५० (टि)
मिनर्वा—२७८ (टि)
मिसूरी (नदी)—१२७
मिस्र—१२, २२, ३०, ३३, ४० (टि); ४८, ५० (टि), ५२, ५४, ६०; ७२, १२५, १२७, १३२, १३३, १३४, १३५, १३८, १८३ (टि), १८७, १८६, १९२ (टि), १९५, १९६, १९७, १९९, २००, २०३, २०७, २२२, २३९, २६३, २७०; २७८, २८१
मूसा—३९
मेक्सिको—२२, २४, ३०, ३३, ३४; ३६, ४३, ५२, ६०, ७७, १२२; १६०, १६१, १६५, १७० (टि), १८४, १८९ (टि), १९२ (टि), १९५, १९७, १९९, २०५ २०८; २१९
मेंगेलेसिया—२७५
मेटेनिया—१३
मेरी—३१७
मेरी कोरिल्ली—२१८
मेलवोने—२७७
मैत्रेय—३०४, ३०५
मैत्रेयी—२८५ (टि)
मैक्समूलर—३, ४, ११, ९२, ९८; २१७, २१८ (टि)
मोइराई—२७७
मोसेज—२४४

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मोरिल्यु—४५
मोहम्मद—६३, २११, २४२, २४४, २७४ (टि)
मोहाक्—१२२

य

यग्द्रेसिल—२१ (टि)
यजत्स—२६३
यहोवा—३०, १३१, १३२, २२१, २२६, २५८ (टि), २६४ (टि), २६५, २६६, २६७, ३१६
यिन—१३०, २१६
युकाटन—१८९ (टि)
युधिष्ठिर—३०
यूइअस सोटर—३९ (टि)
यूग्रोफिनिश—१९२
यूटरपे—२७७
यूनाईटिड स्टेटस्—१७६
यूनान—१३, १४, १५, १६, २२, २३, २५, २८, ३० (टि), ३२, ३३, ३४, ३८, ३६, ३८, ३९; ४४, ४७, ५० (टि), ५१, ७३, ७७, ८३, ११८, १२४, १२८, १३३, १३८, १४२, १४४, १७५, १८०, १८१, १८४, १८८, १९४, १९५, २०७, २०९, २१५ (टि), २२१, २२२, २२४, २२६ (टि), २३४, २४४, २५९, २६१, २६६, २७०, २७४ (टि), २७५, २७६, २७७, २७८ (टि), २८०, २८१, २८८, ३०३
यूरानिया—२७७
यूरोंपिडीज—३३१
यूरोप—१४, २०, २२, २३, २५, २६, २७, ११७, १५१, १६२, २००, २०३, २०४, २४६, २५४
यूलियस—२३४
योगोपनिषद्—२८५
योगदर्शन—२६८
योरूबा—३९
यंग—१३०

र

र सम्प्रदाय—१३६
रम्भा—१५
रम्मान—२७८, २७९ (टि)
राम—१८३, २०९, २८५, २९१, २९२, २९४, ३१२ (टि), ३१७, ३२५
रामकृष्ण—२८८, ३२५
रामानुज—२९३, २९४, २९५, २९६ (टि), २९८ (टि), ३०७, ३११
रामायण—२९१
रिचर्ड स्मिथ—११६
रुद्र—२८३, २८५
रूस—६०
रेकल—१२
रोडोस—५१
रोबर्टसनस्मिथ—१५४ (टि)
रोम—१४, ४३, ५० (टि), ७३, १४५, १७१, १७६, १९६, १९९, २०५, २१७, २४४, २७८ (टि)
रोमन कैथोलिक—२०६
रोमुलस—६४, ११७
रामोत्तरतापिन्युपनिषद्—२८५
रोयसे—३३१, ३३२

ल

लन्दन—७ (टि)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ललितविस्तर—३०४
लक्ष्मी—२६८ (टि)
लार्ड कैलविन—३३३
लातीनी—१५७
लामा—१६८ (टि)
लामावाद—१७६, १८०
लायल—१४२
लिथुनियन—१२१
ली राबा—६४
लुईरस—१७८, २८०
ले काण्टे—३३३ (टि)
लेगबा—९३
लेंगरेगें एम० जे०—१५८ (टि)
लेनोरमेण्ट—१४
लेमुरिया—७२
लेमुयर—६६
लैटिन—१६८
लोत्से—२४५
लंका—२०१, २०२, २०३ (टि)

व

वज्रधर—३०५
वर्जिल—१५७, २२८
वरुण—४१, ४२, ७७
वालकाईज—१२३ (टि)
विक्टोरिया—१०१ (टि), २३४
विलयम स्कूलिग—२५६ (टि)
विलुत्जकाई—२०६ (टि)
विवेकानन्द—२८८
विष्णु—१६, ३१, ५३, ५५, ५६, ८३, १६२, २७४ (टि), २८३, २८४, २८५, २८६, २८७, २८८, २९०, २९१, २९२, २९३, २९६, २९८ (टि), ३०४ (टि), ३०५, ३१०, ३११, ३१३
विष्णुसूक्त—२८७
विष्णुसूत्र—२८६
विष्णु-स्मृति—२८५-८६
वुण्ड—११०, १२४, १२७, १२९, १३०, १६८
वेड्डा—६७, १७२ (टि)
वेद—३२६
वेनिगर—९६
वेस्टकोस्ट—१४४, २३५
वेस्टन, जे० एल०—१८५ (टि)
वेस्टरमार्क ई०—१५८
वेस्ट मिनिस्टर—१४
वैस्पसीयन—१२५
वेस्ले—२२९
वैरोचन—३१३

श

शतपथब्राह्मण—१५१ (टि), १६३ १६४
शमी वृक्ष—२२ (टि)
शामन—२७९
शामश—१२, २७८, २७९ (टि)
शामस—५२
शामवाद—७४
शामानीधर्म—१७७, १९२, २२५
शालिग्राम—१६, २० (टि)
शिओल—७१, १३१, २६८
शिगंज—७८
शिव—५३, ९१, १२९, १६४, १८० (टि), २२८, २४७, २८३, २८४, २८५, २८६, २८७ (टि), २८८, २९०, २९१, २९२, २९३, २९७, २९८ (टि), ३०५, ३२६

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शिवोपनिषद्—२८६
शिवसूक्त—२८७
शिवाजी—६४
शीतला—७८
शैतान—२२५ (टि), २६७
शैलर—३३७
शंकर—२९३, २९४ (टि), २९५
श्याम—१३८, २९५
श्रीलंका—६७
श्रोदर ब्लाम, डी०एन०—२७९ (टि), २८० (टि)

स

सद्धर्मपुण्डरीक—३०१ (टि), ३०२ (टि), ३०३ (टि), ३०५, ३०६, ३०९, ३१२
समोअन जाति—१३७
सरमा—२९ (टि)
साइबेरिया—७४
साइबेले—१३
सारीताऊ—६४
सायसे—२७८ (टि)
सांख्यदर्शन—२६८, २८७ (टि)
सिनाई—२६५
सिबिल—३१९ (टि)
सिसली—२५४
सीरिया—८, १३, १७५
सुखावती—३०९
सुजुकी—३०७ (टि), ३१२ (टि)
सेखेम—१३४
सेगोएन्स—९९
सेरापिस—२८९ (टि)
सेरेम—१०७
सेलसस—३१८
सैमेटिक—१३, २२, २३, २४, २५; ३०, ३३, ५१, ६०, ७० (टि); ७१, ७७, १२६, १५४, १६४, १८०, २०२, २०६, २१७, २२१; २२६ (टि), २५९, २६३, २७९; २८३ (टि)
सोक्रेटीज—१०४, ३१२
सोड्डुलमाता—७८
सोमलता—९०
सौसाये—११, ४३, ९८, १०४
संडुसकाई—१६५
संभोगकाय—३०८, ३२७ (टि)
स्काटलैण्ड—११६ (टि), २१४
स्कैण्डेनेविया—२८, ३३, ४० (टि); २२१, २७८
स्टोइक—२४८, २७०, ३१५, ३१७
स्टारबक—९६
स्ट्रेबो—२७४ (टि)
स्टोनहेञ्ज—२२
स्पारटा—२०९, २३९
स्याम—१८७ (टि), २०२
स्लोआन—१२७
स्लोव—२७५, २८२
स्लावनिक—३०३
स्विटजरलैण्ड—२२
स्वीडन—२२
सेण्टपॉल—२२८

ह

हदाद—७६
हट्टो—२२
हरदोर—१२९
हरबर्ट स्पेन्सर—२, ४५, १०६
हरि—२८५, २८७, २९७

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हरेक्राइस—२८१
हरेमस—२८१
हवाई—२०६
हाउहाउ (सम्प्रदाय)—१५७
हारपाईज—१२३ (टि)
हिब्रू—५, २४, ३० (टि), ७१, ७४, १२१, १२६, १३०, १३१, १३५, १३८, १३६, १६४, १८३ (टि), १८५, १८८, १८६, १६१, १६२ (टि), १६७, १६६, २०२, २०७, २१६, २१७, २२२, २२४, २२५ (टि), २३६, २३६, २४४, २५८, २५६, २६४ (टि), २६५, २६७, २६८, ३१८, ३१६ (टि), ३३७
हिमेरोस—२८३ (टि)
हीनयान—३०३, ३०८ (टि), ३१० ३१२
हेकाटे—२६ (टि), १४२ (टि), २८०
हेडस्—२६०, २७७, २७८
हेनरी—३३
हेनरी सिजविक—२४८ (टि), २४६ (टि), २५० (टि)
हेप्टापोरोस—२७४ (टि)
हेब्रोदेस—१६
हेरन—५० (टि)
हेरमम—२६ (टि)
हेरमस्—१६
हेरा—२५६, २६० (टि), २७८ (टि)
हेराक्लीज—१६४, २८१
हेराजुएस्—८३
हेलिओस्—५१, २६०, २८२
हेलिनिक—१२१, ३१६ (टि)
हेलेसपाण्ट—१६२
हेलियोपालिटेनुस—२८०
हेवविग, ए०—२०७ (टि)
हेसोपाद—२४४ (टि)
होमर—४३, ४४, ५१, ६१, ११८; १२६, १६२ (टि), १८८, १६४; १६६, २७७
होरस—२७७, ३२० (टि)
ह्यूगो राडाउ—२७८ (टि)
ह्यूवर्ट—१५६
ह्यूरो—७

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal